॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्य वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १ | पौष, संवत् १९८९ वि०, जनवरी, सन् १९३३ ई० | सं० ४

वेदोपदेश

मधुमन्मे निःक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ अथर्व १ । ३४ । ३ ॥

"मेरा आना मीठा हो, मेरा जाना मीठा हो। वाणी से मैं मीठा बोलूं, शहद के समान मैं हो जाऊं।"

लोकोक्ति है कि तलवार का कटा मिल जाता है, पर वाणी का कटा नहीं मिलता। आपस के व्यवहारों में कटु वचन वास्तव में बहुत हानिकर होते हैं। गुरु शिष्य के पारस्परिक व्यवहार में भी यथासम्भव वाणी के कटुपन को स्थान न मिलना चाहिये। गुरु लोग शिष्य को सीधे मार्ग पर लाने के लिये प्रायः कटु वाणी का प्रयोग कर देते हैं। बिगड़ा हुआ शिष्य प्रेमपूर्वक समझाने से, जितना सीधे मार्ग पर आ सकता है उतना कटु वाणी की डांट-डपट से नहीं आता। गृहस्थ के पारस्परिक व्यवहारों में भी वाणी की कटुता एक दूसरे के दिलों को मिलने नहीं देती। यह मिले दिलों को भी फाड़ देती है। यही हाल सामाजिक जीवन का है। सामाजिक व्यवहारों में एक दूसरे पर जान बूझ कर निन्दात्मक आक्षेप करना अपने दिल की कटुता का प्रकाश करना है। सामाजिक जीवन में कई ऐसे महानुभाव कभी २ मिल जाते हैं जो सच्चाई के नाम पर कटुता के तीव्र

तीर छोड़ने में सकुचाते नहीं। यह लोग अपने आप को "महात्मा" गिना करते हैं। ये लोग सच्चाई के नाम पर सामाजिक जीवन की वास्तविक सच्चाई का घात किया करते हैं। ये पहले तो सच्चाई के स्वरूप को अपने ढंग से समझा करते हैं और अपने ढंग पर सच्चाई के रूप को जान कर उसे दूसरों पर जबरदस्ती थोपना चाहा करते हैं।

इनके मार्ग पर दूसरों ने चलने से इन्कार किया नहीं, या ढील दिखाई नहीं कि इनकी मनमानी सच्चाई की तलवार–उग्रवाणी के रूप में–म्यान से बाहिर निकल आती है, और सामाजिक कलहों और अशान्ति का कारण बन जाया करती है।

इन्हीं व्यक्तियों की श्रेणी में एक और प्रकार के भी सज्जन शामिल हैं जो समाज में किन्हीं कारणोंवश प्रचार का कार्य किया करते हैं। ये लोग प्रवर्त्तक नेता के लेखों और अभिप्रायों की आड़ में सामाजिक जीवन के प्रेममय तथा शान्तिमय स्वरूप को कलुषित कर दिया करते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि इन्हें अपने आपको काबू में रखने की आदत तो होती नहीं, इनकी जबान को लम्बी २ बातें हांकने की आदत पड़ी हुई होती है. जबान को हिलाया, और बड़े २ कार्यकर्त्ताओं की हजामत करनी शुरू करदी और नेता के वास्तविक अभिप्राय को बिना समझे बूझे अपने दिल के फफोले फोड़ने शुरू कर दिये।

सामान्य लोग भी कई बार–जो कि प्रायः सिद्धान्तों पर स्वयं नहीं चला करते, और इसीलिये जिन्हें क्रियात्मक कठिनाइयों का परिज्ञान भी नहीं हुआ करता जो कि इस मार्ग पर चलते हुए उच्चात्माओं को प्रतीत हुआ करती हैं—इस कटु मार्ग का अवलम्बन कर लेते हैं। बस तू २ मैं २ का बाजार गरम हो उठता है, और इनका सामाजिक जीवन केवल एक दूसरे की निन्दा करने और एक दूसरे पर आक्षेप करने में ही समाप्त हो जाता है।

ऐसे व्यक्तियों के प्रति मनु महाराज ने भी कहा है कि:—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

अर्थात्—"मनुष्य सत्य बोले, पर प्रिय सत्य बोले, अप्रिय रूप के सत्य का तो न बोलना ही अच्छा है। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अपने शब्दों को इतना प्रिय भी न कर देना चाहिये कि उसमें सच्चाई का रूप दीखे ही नहीं, वह असत्य का ही रूप दीखने लगे। इस प्रकार मनु महाराज उपदेश देते हैं कि—ऐसी सच्चाई को कहना ही न चाहिये जिस सच्चाई को कि मीठा न बनाया जा सके।

वेद भी उपदेश दे रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने जाने आने के व्यवहारों और अन्य सामाजिक तथा गृहस्थ सम्बन्धी व्यवहारों को सदा मीठा बनाता रहे। प्रत्येक व्यक्ति सदा यत्न करता रहे कि वह शहद से भी अधिक मीठा होजाय। शहद अन्दर, बाहिर, ऊपर–नीचे, सब ओर से मीठा ही मीठा होता है। इसी प्रकार मनुष्य को भी सब प्रकार से मीठा ही मीठा होना चाहिये। वह विचार की दृष्टि से मीठा हो, वाणी की दृष्टि से मीठा हो, कर्म की दृष्टि से मीठा हो, चाल–ढ़ाल की दृष्टि से मीठा हो, इस प्रकार वह सभी दृष्टियों से मीठा हो। तभी सामाजिक जीवन में शान्ति और प्रेम का राज्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अभ्यास मार्ग

[ले०—श्री पं० प्रियरत्नजी, वैदिक अनुसन्धानकर्त्ता]

(२)

रसाभ्यास

कारण-गन्ध के पीछे रस का अभ्यास करना चाहिये। यद्यपि कारण गन्धाभ्यास के अनन्तर ही कारण-रस का अभ्यास किया जा सकता है, क्योंकि कारण गन्धाभ्यास की पक्वावस्था में जिह्वाग्र पर रस की भावनाएं आरम्भ होने लगती हैं, उसी समय मन को जिह्वाग्र पर रख कर कारणरस का अभ्यास कर सकते हैं, तथापि कार्यरस का अभ्यास ही किया जावे तो अच्छा है। क्योंकि ऐसा करने से मन तृप्त और सांसारिक रसों से निर्विण्ण (विरागी) हो जाता है। तदनन्तर कारणरस का अभ्यास करना चाहिये। प्रथम कार्यरस के अभ्यास का प्रकार यह है कि जो वस्तु आपको खाने में रुचिकर, मधुर और प्रिय लगती हो उसे लीजिये, (स्वयं उत्पन्न कोई फल आदि, न कि बनाई मिठाई आदि) जैसे कि अत्यन्त मीठा चिनिया आदि, केला, कलमी मधुर आम, या कश्मीरी मीठा सेव इत्यादि। उदाहरण के लिये मान लीजिये आपने केले को पसन्द किया। अभ्यास के समय केले को साथ ले जावें, छिलके के अन्दर ४-५ टुकड़े काट कर रखलें। फिर अभ्यास काल में तीन प्राणायाम के पश्चात् केले के एक टुकड़े को उठाकर जिह्वा के अग्रभाग पर आधे मिनट तक स्पर्श करें। (यहां स्पर्श का तात्पर्य दबाव या रगड़ से है) और मन से उसके रस को निश्चय करें कि यह किस प्रकार का रस है। फिर उस टुकड़े को फेंक कर दो मिनट तक जिह्वाग्र पर ही मन को रखते हुए उस रस को याद करें। फिर दूसरी बार दूसरा टुकड़ा उठाकर वैसे ही स्पर्श करके उसको फेंक देवें, और दो मिनट तक मन से याद करें। इसी प्रकार चार बार टुकड़ों के द्वारा अभ्यास करें। अन्त में चौथी बार पांच मिनट तक याद करके उठ जावें और पांचवें टुकड़े को उठा कर खा लेवें, दो, तीन मिनट घूमते हुए उसके रस पर मन को लगाए रखें।

इसका अभ्यास क्रम भी कपूर के समान समझना चाहिये। अर्थात् पहिले दिन ४ बार, दूसरे दिन तीन बार, तीसरे दिन दो बार, चतुर्थ दिन एक बार, इत्यादि। यह रसाभ्यास पहिले कपूर गन्धाभ्यास की अपेक्षा शीघ्र सिद्ध होने वाला है। इसलिये यदि चाहें तो समयानुसार इसमें हेर फेर कर सकते हैं, यानी प्रातःकाल ४ बार सायं ३ बार, दूसरे दिन प्रातः २ बार और सायं १ बार, तीसरे दिन प्रातःकाल दो घण्टा पहिले कुछ केले के टुकड़े का स्पर्श करके अभ्यास करें और सायंकाल चार घण्टा पहिले चक्खें, फिर केले के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। पहिले समय दो मिनट का अन्तर और अन्त में पांच मिनट बैठना, दूसरे समय ३ मिनट का अन्तर और दस मिनट पीछे याद करने बैठना, तीसरे समय पांच मिनट का अन्तर और अन्त में पन्द्रह मिनट बैठना, चतुर्थ समय बीस मिनट तक अभ्यास करना, इत्यादि कपूर के समान सब क्रम समझना चाहिये।

इसके अभ्यास में दूसरे दिन से ही कुछ परिवर्त्तन

शुरू होने लगेगा। यानी केले का रस रोचक होता चला आवेगा और जिस दिन से केले का आश्रय छोड़ दिया जावेगा उसी दिन से इसके अन्दर दिव्यता अधिक आने लगेगी।

अभ्यास करते समय प्रतिदिन या प्रति समय मन को धीरे २ जिह्वाग्र की ओर विशेष रूप से लाते रहना चाहिये। यानी अन्त में जिह्वाग्र की नोक अर्थात् तिल बिन्दु पर पांचवें दिन मन को ले आना चाहिये। और उसी पर अभ्यास करते रहना चाहिये।

दूसरे दिन के अभ्यास में जिह्वाग्र पर रस का पानी जैसा आने लगेगा। इसको बारम्बार निगलने की चेष्टा न करना। हां यदि वह स्वयं ही अन्दर चला जावे तो जाने दो। किन्तु अपने मन को जिह्वा पर ही रखना। धीरे २ रस का आना सूक्ष्म होता जायगा और जिस दिन से केले का आश्रय छोड़ दिया जायगा उसी दिन से वह केले का अभ्यस्त रस जल के रूप को छोड़ कर जिह्वाग्र से किरणों जैसी अवस्था में निकलेगा और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता जायगा। जैसे २ वह सूक्ष्म होता जायगा वैसे २ ही उसके अन्दर रोचकता और आनन्द अधिक बढ़ता जायगा। यह कार्य रस का अभ्यासक्रम है।

विशेष अभ्यास से इसके अन्दर भी कपूर अभ्यास के समान सिद्धियां आने लगती हैं। दूसरे मनुष्य को भी यह रस चखाया जा सकता है। अभ्यास के समय उपलब्ध जिह्वारस की पवन दूसरों के वस्त्र या कागज़ आदि पर डाल कर दूसरों को चखा सकते हैं। किन्तु यह सब त्याज्य मार्ग है, आगे अभ्यास में वाधा पड़ती है।

जब कार्यरस सिद्ध हो जावे और लगभग दो सप्ताह उस अभ्यास को करते हुए हो जावें तब कार्य रस से मन को हटाते जावें, यानी जिह्वाग्र (जिह्वा की नोक) पर मन रहे किन्तु कार्यरस को भुलाते जावें, जिस प्रकार कार्यगन्ध को भुलाया था। यद्यपि भुलाते समय अन्य रस भी उपस्थित होंगे तथापि सभी रसों से मन को हटाते रहना। जब दो तीन दिन में कार्य-रस भूल जायगा तब कारणरस यानी स्वभाविक जल का रस जिह्वाग्र पर उपस्थित होगा। फिर उसी का अभ्यास निरन्तर करते रहना। उत्तरोत्तर उसमें सूक्ष्मता आती जायगी और कार्यरस की अपेक्षा रोच-कता भी बढ़ती जायगी। इस अभ्यास को भी लग-भग दो सप्ताह तक करते रहना।

रसनाशक्ति भी गन्धशक्ति के समान तीव्र हो जायगी और भिन्न २ प्रकार के रसों के आकर्षण की सिद्धि भी हो सकेगी। दूसरे को भी रसास्वादन कराया जा सकेगा।

रूपाभ्यास

रसाभ्यास के पश्चात् रूप का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि

"तैजसस्याणो रूपतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः"

(योग १। ४५।)

जलीय रस के पश्चात् आग्नेय रूप तन्मात्रा का अभ्यास करना चाहिये। इसका प्रकार यह है कि यदि कारण रसाभ्यास के आगे कारण रूप मन्मात्रा का भान होने लगे तो भले ही सीधे उस पर जा सकते हैं। नहीं तो प्रथम कार्य-रूप तन्मात्रा का अभ्यास कर लेवें। अर्थात् किसी सुन्दर हरी ताजी पत्ती या गुलाब के फूल को सामने रख कर अभ्यास के समय कपूर आदि के समान

आधे मिनिट तक आंखों से देखें और फिर आंख बंद करके दो मिनट तक याद करें इत्यादि सब क्रम गन्धाभ्यास और रसाभ्यास के समान समझना चाहिये। इसका कारण रूप बनाने के लिये भी, कारणगन्ध और कारणरस के समान ही, क्रम समझना चाहिये।

मुख के अन्दर तालु में (जहां अंगुलि जैसा काकुवा लटकता है, या जिसको कोमल तालु भी कहते हैं) मन को रखकर रूप का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि—

"तालुनि रूप संवित्" । (योग० १।३५ पर व्यास)

कारण रूपाभ्यास आरम्भ में अग्नि से भी सूक्ष्म विद्युत् जैसा प्रतीत होगा किन्तु उत्तरोत्तर अभ्यास से विद्युत् से भी अधिक सूक्ष्म, रोचक और शुभ्र प्रतीत होगा। जिसकी तुलना किसी प्रकार नहीं की जा सकती।

कारण रूपाभ्यास की परिपक्वावस्था ही, भुवन विज्ञानार्थ सूर्य संयम करने की भूमि है।

अग्नि के रूपाभ्यास के आगे अच्छा तो यह है कि मन को तालु से हटाकर उसके (तालु के) नीचे जिह्वा के मध्य में (जो कि त्वगिन्द्रिय का केन्द्र है) मन को रखकर वायु के स्पर्श का अभ्यास करें। यह कारणस्पर्शाभ्यास है। यदि कार्यस्पर्शाभ्यास भी परीक्षण के लिये करना हो तब भी मन को तालु से हटाकर उसे जिह्वा के मध्य में रखते हुए किसी चिकने या मृदु कांच के गोले आदि वस्तु का हस्त आदि किसी अनुकूल अंग से, कपूर आदि के समान अभ्यास द्वारा, स्पर्श का अभ्यास दृढ़ करें। पराङ्ग स्पर्श का अभ्यास सर्वथा त्याज्य है।

स्पर्शाभ्यास

यदि कार्यस्पर्श का अभ्यास किया हो तो उसको भी अधिक से अधिक दो सप्ताह रख कर फिर भुलाते हुए कारणस्पर्श की ओर चला जाना चाहिये और मन को जिह्वा के मध्य में रखते हुए कारणस्पर्शाभ्यास करना चाहिये। इसमें पहिले वायु जैसा स्पर्श होगा। फिर रोचकता बढ़ती चली जावेगी और स्पर्श की विचित्र सूक्ष्म गति अनुभव होगी।

सम्पूर्ण शरीर त्वचामय है यानी शरीर के अन्दर और बाहर सर्वत्र त्वचा का राज्य है। अतएव निज शरीर में किसी प्रकार का बल, पुष्टि, स्वस्थता, सौन्दर्य आदि यदि लाना हो तो उक्त जिह्वा के मध्य (त्वचा के केन्द्र) में मन को रखते हुए उस २ वस्तु के प्रवेश के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिये। अधिक समय तक इस प्रकार शरीर में प्रवेशाभ्यास करने से प्रवेश की सफलता अधिक होती है। यह सिद्धि का मार्ग है। आगे बढ़ने वाले अभ्यासी को इधर अधिक नहीं चलना चाहिये। यदि थोड़े बल या पुष्टि के लाभ के उठाने की इच्छा हो तो कारणस्पर्शाभ्यास करते हुए समाप्ति से दो चार मिनिट पहले यानी उठते समय उसके प्रवेश का भी अभ्यास कर लेना चाहिये।

इस प्रकार वायु के कारणस्पर्शाभ्यास के पश्चात् प्रथम कार्यशब्द का अभ्यास करे। किसी भी वाद्य (वाजे) की एक रसध्वनि यथा हारमोनियम के किसी सुरीले पर्दे की अथवा घण्टी आदि की लगातार ध्वनि को कानों से, कपूर आदि की प्रक्रिया के अनुसार, संख्या और अन्तर के साथ सुन सुन कर अभ्यास करें। किन्तु इस प्रकार साधनों की

लब्धि में अथवा परिस्थिति के कारण बिना बाजे आदि के भी किसी ध्वनि का चिन्तन करके कार्यशब्द का अभ्यास कर सकते हैं। इससे आगे कारणशब्द का अभ्यास करना चाहिये। यानी कार्यशब्द को भुलाते हुए मन को जिह्वा के मूल में रखने से सूक्ष्म ध्वनि जो आन्तरिक अवस्था से प्रतीत हो और जो ध्वनिमात्र का मूल है, उसका अनुभव होगा।

———

वेदार्थ और वेद की अन्तःसाक्षी

[ले० श्री पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति]

किसी भी प्राचीन पुस्तक के ज्ञान के लिये सब से प्रमुख प्रमाण उस पुस्तक की अन्तःसाक्षी ही हो सकती है। इस प्रकार के उपाय को आंगलभाषा में (Direct method) कहा जाता है। इस शैली को पाश्चात्य विद्वान् भी बुद्धिगम्य मानते हैं और इस विधि को सर्वोत्तम विधि बताते हैं।

यह कहा जा सकता है कि जिस चीज़ को समझना है उसको ज्ञान का साधन कैसे बनाया जासकता है? वेद को समझना है और समझने में साधन भी वेद ही बने यह कहां तक संगत है? वेद को वेद के सहारे से समझना कहांतक उचित तथा प्रामाणिक है? और फिर प्राचीन आचार्यों ने तो वेद के ज्ञान के लिये शिक्षा[1] आदि भिन्न भिन्न ग्रन्थों को तो सहायक माना भी है, उपरि लिखित साधन (वेद का वेद से ज्ञान) का तो कहीं भी उल्लेख नहीं किया।

(१) छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥
(शिक्षा ४१-४२ पृष्ठ)

उपरि लिखित विचिकित्सा का निराकरण एक ही उपाय से हो सकता है कि हम कुछ आप्त लोगों के प्रमाणों को पेश करें जिनमें उन्होंने इस विधि का अवलम्बन किया हो। उस दशा में यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि प्राचीन ग्रन्थों के मर्म को जानने के लिये तत्कालीन साहित्य से अतिरिक्त कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं होता। यह संभव है कि इस विधि को सर्वत्र चरितार्थ करना हमारे लिए प्रारम्भ में कठिन हो, लेकिन यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि वेद या प्राचीन पुस्तकों के निर्भ्रान्ति ज्ञान के लिये प्रयत्न इसी दिशा में होना चाहिये।

अब कतिपय आप्त प्रमाणों से इस विषय को प्रमाणित करते हैं।:—

(१) आचार्य यास्क के निरुक्त के लेख को गहराई से देखने से हमें प्रतीत होता है कि वे भी इस शैली को प्रामाणिक समझ कर इसका अनुसरण करते हैं।

(क) निरुक्त दैवत काण्ड ११-२९ में "अज एक

(क) पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ १-३।
याज्ञवल्क्य स्मृति

पात्' शब्द की व्याख्या करते हुए आदित्य को ही एक पात् बताया गया है (देवराज यज्वा—"अस्तमावस्थ आदित्य उच्यते") इस बात की पुष्टि में यास्काचार्य निम्न प्रमाण देते हैं—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धं स उच्चरन्। यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन। अथर्व० ११। ४। २१।

इस मन्त्र का आशय यह है कि आदित्य का एक ही पांव है और वह उस पैर को बिना उठाए घूम रहा है—वह अपनी परिधि में गति कर रहा है। यदि आज ऐसा न होता तो दिन रात आदि कालों का निर्माण न हो सकता।

यास्क के "अज एकपात्" शब्द के आदित्य अर्थ को बताने के लिये प्रस्तुत किये अथर्व के प्रमाण से यह स्पष्ट होता है कि यह आचार्य भी इस शैली को उत्तम समझते हैं।

(ख) और लीजिये निरुक्त ३-७ में मनुष्य वाची नामों में 'पञ्चजन शब्द विशेष' मनुष्य विभाग के लिए प्रयुक्त हुआ है इस बात को बताने के लिये यास्काचार्य ने निम्न दो मन्त्र प्रमाण दिये हैं।

(i) तदद्य वाचः परमं मंसीय............।

ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥ ऋ० १०।५३।४॥

(ii) यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्र घोषा असृक्षत ॥ ८।६३।७॥

(ग) नि० ४।२६ में "अस्य" शब्द पर दिये गए "अस्य वामस्य पलितस्य....विश्पतिं सप्तपुत्रम्। ऋ० १ १६४.१।

मन्त्र में आये 'सप्तपुत्र' शब्द के लिये स्वतः मन्त्र का प्रमाण देते हैं। यथाः—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः॥
ऋ० १।१६४.२॥ और भी लीजियेः—

(घ) नि० २।१७ में वृत्र के ऐतिहासिक पक्ष को खण्डित करके मेघ अर्थ को 'त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः' बताने के लिये यास्काचार्य वेद का प्रमाण देते हैं। यथाः—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार॥
ऋ० १।३२।११॥

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से विद्युत् से मेघ के बरसने का वर्णन है। इस प्रकार एक नहीं अनेक उद्धरण निरुक्त ग्रन्थ से इस सम्बन्ध में दिये जा सकते हैं।

(२) आचार्य यास्क के बाद वैदिक वाङ्मय पर धारावाही भाष्य करने वालों के शिरोमणि आचार्य सायण की भाष्य शैली में भी इस विधि को यत्किंचित् देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये अथर्ववेद प्रथम काण्ड के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र —

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।
अथर्व० १। १। १॥

को पढ़ने से उपरि लिखित विचार ही दृढ़ होता है। यह बात ठीक है कि सायणाचार्य कहीं २[1] इस

[1] आचार्य सायण ने (ऋक्० १।६०।१) वह्निं यशसं विदथस्य केतुं....। द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा॥ मंत्र की व्याख्या से "रातिः" शब्द का अर्थ 'मित्र' किया है और लिखते हैं कि कई "राति" का अर्थ "पुत्र" करते हैं जिसके लिये वे स्वतः ऋ० ३।२।४ मंत्र (रातिं भृगूणामुशिजम्०—) को उद्धृत करते हैं परन्तु

विधि को पूरा चरितार्थ नहीं कर सके हैं इससे ही उनके भाष्य में स्खलन आए हैं।

(३) आचार्य सायण के बाद वेद पर सब से प्रामाणिक लेखक महर्षि दयानन्दजी की भाष्यशैली से भी उपयुक्त विधि की पुष्टि मिलती है। ऋषि दयानन्द ने अपनी पुस्तक "ऋग्वेदादि—भाष्य भूमिका" में पदों के अर्थ करने में सहायक अनेक उपाय बताते हुए इस उपाय की तरफ़ भी ध्यान खींचा है। वे लिखते हैं:—

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं........विश्वेदेवा अदितिर्जातमदितिर्जनित्रम्"। ऋ०।१।८९।१०॥

"अस्मिन् मन्त्रे अदिति शब्दार्थाः द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्ये ऽदिति शब्देन गृहीष्यन्ते"।

उपरि लिखित उद्धरण से स्पष्ट है कि स्वामीजी वेद की स्वतः अन्तःसाक्षी के आधार पर ही "अदिति" शब्द के द्यु, अन्तरिक्ष, माता, पिता आदि अर्थ समझते हैं। इसके सिवाय हम महर्षि के ऋग्भाष्य में स्थान २ पर इस शैली को पुष्ट होता हुआ देख सकते हैं।

(४) आचार्य दयानन्द के पीछे वेद पर अन्वेषणा पूर्ण प्रयत्न करने वाले पाश्चात्य विद्वान् भी वेद की इस तुलनात्मक अध्ययन की विधि के पोषक हैं।

Bhandarkar Commemoration Volume के Veda and Antiquity नामक उपविभाग के प्रथम लेख "The principles to be followed in translating the Rigveda में oxford university के संस्कृत के प्रोफ़ेसर आर्थर ए० मेक्डानल (एम० ए०, पी० एच, डी०) निम्न विचारों को प्रकट करते हैं:—

"The vocabulary of the Rigveda presents peculior difficulties to the translator, because the meaning of many words can only be ascertained by an exhostive examination of all the passages in which they occur, and even then doubt may some times remain A very valuable foundation was here laid by prof. Roth, who followed this comparative method, in the large St. Petersburg Dictionary."

इसके आगे वे पुनः लिखते हैं कि—"Let us takn the word "Jatvedas" (जातवेदाः) as an example of the comparitive method. A scrutiny of all the very numerous passages in which it occurs showes that it is an exclusive epithet of 'Agni'.

इस प्रकार उन्होंने वेद के ही प्रमाणों से "जात वेदस्" शब्द पर विचार प्रस्तुत किये हैं। उपरि लिखित उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि वेद के मन्त्रों व मन्त्रांशों

उस मंत्र में "रातिः" का अर्थ 'पुत्र' न करके "अभिलषित पदार्थों का दाता" करते हैं। भाष्य-सन्दर्भ निम्न है—

रातिं भरत् मित्रमहरत्-अकरोदित्यर्थः। रातिना संभाष्येत्यत्र रातिर्मित्रमिति कपर्दिनोक्तं रातिः पुत्र इत्येके। तदर्थं प्रतिपादकं च मन्त्रान्तरं च भवति "रातिं भृगूणामुशिजं कविक्रतुमिति"। ऋ० (३-२-४) परन्तु, उस मन्त्र में "रातिः" का अर्थ "पुत्र" न करके "रातिमभिलषितार्थप्रदातारम्" किया है। यह बात तुलनात्मक विधि के अध्ययन की कमी को सूचित करती है।

के तुलनात्मक अध्ययन के विना वेदार्थ-निर्णय असंभव सा है। और इस दिशा में रोथ, मेक्डोनल्ड आदि विद्वानों ने भी प्रयत्न किया है।

इसलिये उपर्युक्त आप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहना उचित ही है कि वेद की व्याख्या में वेद की सहायता मूल्यवान् है।

ओ३म् स्मर

[श्री प्रो० वागीश्वरजी विद्यालङ्कार, साहित्याचार्य, गुरुकुल कांगड़ी]

ओ३म् क्रतो स्मर[1] ॥ (यजु० ४०।१५॥)

आई अमृतपान की वेला ॥

फूल रही केसर की क्यारी उदयाचल के आंगन।
मुग्ध उषा ने जीवन-रस का कंचन-कलश उडेला ॥१॥

सावधान हो अमृतपुत्र ! इस दावानल को जीतो।
जगा रहा है शुभ प्रभात का पुण्य पवन अलबेला ॥२॥

किरण किरण से चेतनता का झरना झर-झर झरता।
नहा गए सब, सुर शिशुओं ने सरस-फाग वह खेला ॥३॥

पिउ पिउ मची पुकार, पूछता कोई-"कहां कहां है"।
'तुही तुही' सुन कहती मैंना, जिसका यह सब मेला ॥४॥

भ्रमरों द्वारा गुण उसके ही गाने लगे सुमन सब।
तू भी तो मन 'ओ३म् ओ३म्' रट, क्यों है मूक अकेला ॥५॥

१-हे कर्मयोगी ! तू 'ओ३म्' का स्मरण किया कर, जप किया कर।

स्कम्भ सूक्त

मन्त्रार्थ और भाव

[ले०—श्री पं० वीरेन्द्रजी विद्यावाचस्पति]

(३)

क्या स्कम्भ इस संसार में सीमित है ?

यत् परमं अवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता[1] स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ।८।

"प्रजापति ने जो परम (सर्वोत्कृष्ट), मध्यम और अवम (नीचे दर्जे का) अनेक प्रकार का संसार बनाया है उसमें स्कम्भ ने अपने कितने[1] भाग से प्रवेश किया और वह शेष भाग कितना है, जिसने कि उस संसार में प्रवेश नहीं किया हुआ ।"

संसार में अनेक प्रकार के प्राणी हैं जिनको प्रजापति ने बनाया है । उन प्राणियों को मुख्य ३ भागों में बांटा गया है । एक पशु, पक्षी, कृमि आदि नीच योनि के प्राणी, दूसरे सामान्य मनुष्य, और तीसरे सामान्य मनुष्य से उच्चकोटि के जिन्हें 'देव योनि' का कहा जाता है । इन्हीं की अवम, मध्यम और परम संज्ञाएं हैं । अपने कर्मानुसार बनाए प्राणि-जगत् में वह स्कम्भ तो अवश्य प्रवेश कर ही रहा है । पर क्या उस स्कम्भ की इतने ही में समाप्ति हो जाती है या इससे भी बचा हुआ उसका कोई भाग है ?—इसी को प्रश्नरूप में स्पष्ट करते हैं कि स्कम्भ का कितना भाग उस प्राणि-जगत् में प्रविष्ट है और ऐसा कितना शेष है जो कि उसमें प्रविष्ट नहीं ? वह स्कम्भ तो अपरिमित है । भला वह कहीं इतने में परिमित हो सकता है ?

परम, अवम और मध्यम का क्रमशः सब से ऊपर, सबसे नीचे और बीच का लोक भी अर्थ किया जा सकता है । इसके विषय में भी पूर्ववत् प्रश्न समझना चाहिये ।

स्कम्भ, काल और देश दोनों में अपना कुछ भाग ही रखता है ।

कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशये ऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र ॥९॥

"स्कम्भ ने कितने भाग से भूत में प्रवेश किया और उसका कितना अंश भविष्य में पड़ा हुआ है । जिस एक अंग[2] (प्रकृति) को उसने हजारों

---

१. तुलना—एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादो ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ यजु० ३१।३।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादो ऽस्येहा भवत्पुनः ।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ यजु० ३१।४।

त्रिभिः पद्भि र्द्यामारोहत्.... अथर्व० १९।६।२।

तावन्तो ऽस्य महिमा........। अथर्व० १९।६।३।

२—बृहन्तो नाम ते देवा ये ऽसतः परिजज्ञिरे । एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः । अथर्व० १० । ७ । २५।

३—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः । प्रजाः सृजमानां सरूपाः' । श्वेताश्वतर ॥

रूपों में परिवर्त्तित कर दिया उसमें कितने अंश से स्कम्भ ने प्रवेश किया।"

भूत, भविष्य वर्त्तमान और तीन भागों में ही काल को बांटा जा सकता है। वर्त्तमान के विषय में भी यद्यपि प्राणी कुछ भी नहीं जानता। फिर भी वर्त्तमान काल के प्रत्यक्ष होने के कारण थोड़ा बहुत वर्त्तमान काल तो जाना भी जाता है। पर उस अपार भूत और अनन्त भविष्य के बारे में किसे ज्ञात है कि कि क्या २ हुआ और क्या २ होगा। खास कर भविष्य के बारे में तो मनुष्य ज़रा भी नहीं जानता कि क्या होगा। वह स्कम्भ सारे भूत में प्रविष्ट हो चुका है और भविष्य में भी वही प्रविष्ट हुआ २ है। भूत और भविष्य उसी के आश्रय चल रहे हैं। वह स्कम्भ तो इतना महान् है कि उसका कितना अंश भूत में आना है और कितना अभी भविष्य में पड़ा है यह जानना कठिन है।

प्रकृति अपने नियमानुसार अनेक चीज़ों को बना रही है। वह स्कम्भ उसमें भी प्रवेश कर रहा है, पर उसमें समाप्त नहीं होजाता। वह उन अनेक चीज़ों के भी बाहर व्याप्त है।

८ वें और ९ वें मन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि स्कम्भ (परमात्मा) को परिमित न समझो। वह हर जगह और हर समय में हैं। पर उसके बारे में उसी समय यह कथन सत्य ही रहेगा कि स्कम्भ इन सब से भी बाहर है।

व्यक्त और अव्यक्त जगत् उसी में है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥१०॥

"जिसमें समस्त लोकों को और पंचकोषों[1] को, कर्म और ज्ञान को मनुष्य जानते हैं। जिसके भीतर असत् (अव्यक्त प्रकृति) और सत् (दृश्य जगत्) मौजूद हैं, उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है।"

उस स्कम्भ में समस्त लोक, शरीर को बनाने वाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष मौजूद हैं, सब प्राणियों के नानाविध कर्मकलाप और सम्पूर्ण ज्ञान उपस्थित हैं। उसमें उपस्थित क्या चीज़ नहीं है? उसमें तो सारी अव्यक्त प्रकृति और दृश्य जगत् भी मौजूद हैं। उससे बाहर बचा क्या रहा जो उसमें न हो, उसके बारे में यह प्रश्न तो हो सकता है कि उसका कितना अंश इसके भी बाहर है। जैसा ऊपर के दो मन्त्रों में है। पर यह प्रश्न नहीं हो सकता कि कोई ऐसी चीज़ भी है जो उसके अन्दर न समाविष्ट हो रही हो।

कोई वस्तु सत्य है या असत्य यह सत्य और असत्य के लक्षण पर आश्रित है। यदि सत्य का लक्षण 'चक्षुर्वै सत्यम्' जो आंखों को दीखे वही सत्य है, यह किया जाए तो जो कुछ आंखों से नहीं दीखेगा वह असत्य कहलाएगा। इसी परिभाषा के अनुसार तैत्तिरीय[1] में दृश्य जगत् को सत् और उससे परे को त्यत् अथवा असत् कहा गया है। त्यत् और असत् एक हैं। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' में असत् का श्री शंक-

---

१. सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च॥ तैत्तिरीय २. ६॥ इसी तरह बृहदारण्यक आ० २, ब्रा० ३, १।

राचार्य ने वेदान्तसूत्र[२] (२ । १ । १७) में यही अव्यक्त अर्थ किया है। श्री मुनि वात्सायन[३] ने प्रत्यक्ष को सद्विषयक बताया है। तैत्तरीय का 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत', (तै० उ० २ । ७) और शतपथ (कां० ६, अ० १, ब्रा० १) का भी प्रयोग इसी दृष्टि से है। बाद में, जो वस्तु आंखों से न दीखे अपितु सदा एकसी रहने वाली हो, स्थिर हो, (क्योंकि आंखों से दीखने वाली चीजें एकसी और स्थिर नहीं होतीं) उसे जब 'सत्' कहा जाने लगा तब आंखों से दीखने वाली वस्तु की संज्ञा असत् (अस्थिर, परिवर्तनशील) होगई। अतः दोनों प्रकार की परिभाषाएं पुराने साहित्य में मिलती हैं।

यह 'सत्' और 'असत्' का प्रयोग लौकिक और परीक्षक दृष्टि से भिन्न २ है, अभिप्राय में भेद नहीं। इस मन्त्र में असत् का अर्थ अव्यक्त प्रकृति ही है यह तो मं० २५ को देखने से स्पष्ट होजाता है, जिसमें कि 'असत्' से देवों की उत्पत्ति बताई है। मं० २१ में 'असत्' शाखा को 'सत्' शाखा की अपेक्षा प्रधानता दी गई है। 'सत्' को सब कुछ कहने वाले 'अवर' कहे गए हैं। यह बात नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र और चौथे[१] मन्त्र से भी पुष्ट हो जाती है। जिसमें 'सत्' का बन्धन असत् से कहा गया है।

तप आदि और आप्त प्रजाओं का आधार स्कम्भ है।

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्।
ऋतं च यत्र श्रद्धा च आपो ब्रह्म समाहिताः
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥११॥

"जिसमें तप पराक्रम करके उत्कृष्ट व्रत को धारण कराता है। ऋत और श्रद्धा और आप्त प्रजाएं जिस ब्रह्म में आकर स्थापित हैं उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?"

यहां सूक्त के प्रथम मन्त्र को दूसरे ढंग से रखा गया है। परमेश्वर का आलोचनात्मक ज्ञान जब प्रबल हो जाता है तब वह सृष्टि-निर्माण का संकल्प करता है। उसके लिये उसमें सच्ची धारणा-प्रेरणा और कृति शक्तियां आजाती हैं। दैवीय नियम जो कर्मफलों के अनुसार फल देने वाले हैं वे भी इसके आश्रय में ही रहते हैं। इन नियमों पर चलने वाली आप्त प्रजाएं भी अपने जीवन और कर्मों की दृष्टि से इसी परमात्मा के आश्रय में वास करती हैं।

मनुष्य में भी जब तप अर्थात् कष्ट सहन की शक्ति चरम सीमा पर पहुंच जाती है उस समय वह किसी व्रत को सच्ची धारणा (Good motive) से प्रेरित हुआ २ धारण करता है। इस तप, व्रत और श्रद्धा आदि का परिणाम ही आप्त प्रजाएं हैं, जो कि इन नियमों के अधीन संगठित होती हैं और

---

२. न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः, किं तर्हि व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनाम रूपत्वं धर्मान्तरं, तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः, प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य । नामरूप व्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते । शांकरभाष्य (वे० सू० २।१।१७)।

३. न्याय दर्शन, प्रथम अध्याय, प्र० आह्निक, सू० ६ ।

१—सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋ० म० १० । सू० १२९। म० ४ ॥

सामाजिक रचना बनाती हैं। श्रेष्ठ जन इन्हीं नियमों से बनते हैं। इन सब नैतिक नियमों का स्रोत और आप्त प्रजाओं का निवासस्थान भी वही ब्रह्म है।

"पराक्रम्य" और "उत्तर" शब्द पर ध्यान देना चाहिये। इस रचना द्वारा यह दर्शाया गया है कि तप की वृद्धि व्रत के लिये आवश्यक है और जिस अनुपात में तप बढ़ेगा उसी अनुपात में व्रत भी अच्छा होगा।

भूमि आदि लोक स्कम्भ में स्थित हैं।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमा[1] सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कंभं०....
॥१२॥

"जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु अच्छी तरह स्थापित हैं। जिसमें अग्नि, चन्द्र, सूर्य[1] वायु अच्छी तरह समर्पित हुए स्थित हैं उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है?

सब लोक लोकान्तर उसी के सहारे स्थित हैं। वही सूर्य चन्द्रादि का आधार है, अन्य कोई नहीं। मानों इन पदार्थों ने अपने आप को उसमें समर्पित कर दिया है। तभी ये उसको आज्ञापथ से तिलमात्र भी इधर उधर नहीं होते।

३३ देवता उस स्कम्भ में ही हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवाः अंगे सर्वे समाहिताः।
स्कंभं तं०......................................॥१३॥

"जिसके अंग में सब ३३ देवता[1] स्थापित हैं उस स्कंभ को बताओ तो सही वह कौनसा है?

१. यतश्चोदेति सूर्यः अस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवा सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥
कठ उप० २।४।९॥

३३ देवता कौन हैं यह बात २२ मं० में आदित्य, रुद्र और वायु का नाम लेकर स्पष्ट कर दी गयी है। १२ आदित्य, भिन्न २ मासों के अनुसार हैं। ११ रुद्र, शरीर के अन्दर हैं, १० प्राण और १ जीवात्मा। ८ वसु, पृथ्वी आदि लोक हैं। ये सब ३१ देव हुए। शतपथ ने प्रजापति (यज्ञ) और इन्द्र (विद्युत्) को मिला कर इनकी पूरी ३३ संख्या की है। शतपथ १४ कां० ५ अध्याय, ब्रा० ९ में अनन्त संख्यक देवों से लेकर एक देव तक की कल्पना की गई है। संसार की प्रत्येक वस्तु को उपयोगी होने से, देव कहा जा सकता है। वे अपने कारण में अन्तर्गत होते २ तेतीस देवता और देवाधिदेव ब्रह्म की दृष्टि से एक रह जाते हैं। इस देवाधिदेव स्कम्भ में ही ३३ देवता अर्पित हैं।[2]

ऋग्वेद १।१३९।११ के अनुसार ३३ देवता तीनों लोकों में ११,११ करके बंटे हुए हैं। तीनों लोकों की ११,११ उत्कृष्ट चीजे ये हैं। ये सब स्कम्भ के प्रकृति रूपी एक अंग में समाविष्ट हैं। इन तेतीस देवताओं को निरुक्त (अ० ७, पा० २, ख० ५) में ३ मुख्य देवताओं में समाविष्ट कर दिया है। ये सब स्कम्भ देवाधिदेव में आश्रित हैं।

चारों वेद और उसके प्रकाशित करने वाले ऋषि स्कम्भ में हैं।

यत्र ऋषयः प्रथमजा[3] ऋचः साम यजुर्मही[4]।
एकर्षिर्यस्मिन्नर्पितः स्कंभं तं० ॥१४॥

२. ३३ देवताओं का वेद में बहुत वर्णन है। ऋग्वेद में १।३४।११॥, १।४५।२॥, १।१३९।११॥, ३।६।९॥, २।२८।१॥

३. प्रथमं जाताः प्रथमजा। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।

४. तीनों वेदों के साथ 'मही' शब्द का पाठ सूचित

"जिसमें प्रथमोत्पन्न ऋषि (मन्त्रद्रष्टा), तथा ऋक्, साम, यजु और महनीय, पूजनीय, अथर्ववेद वर्त्तमान हैं। जिसमें एकर्षि (सूर्य) समर्पित है बताओ तो सही वह कौनसा है ?"

संसार के बनने के बाद जिस समय प्राणियों की उत्पत्ति हुई उस समय निरे मूर्ख प्राणी उत्पन्न हो जाते तो संसार में ज्ञान का विस्तार होना कठिन हो जाता। इसलिये प्रारम्भ में मन्त्रद्रष्टा ऋषि उत्पन्न हुए जिन्होंने परमेश्वर द्वारा चारों वेदों को प्राप्त कर उनका ज्ञान मनुष्यसमाज के कल्याण के लिये दिया। इन ऋषियों के नाम अग्नि, वायु, आदित्य और अथर्वांगिरस हैं। इन द्वारा क्रमशः ऋक्, यजु, साम और अथर्व का प्रकाश हुआ। ये सब प्रथमोत्पन्न ऋषि और चारों वेद उस परमेश्वर ही में स्थित हैं। सूर्य भी उसी में स्थित है।

मृत्यु और अमरता का अधिष्ठाता।

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कंभं तं० ॥१५॥

"जिस पुरुष के आश्रय अमरता और मृत्यु स्थित हैं। जिस पुरुष में समुद्र नाड़ी-संस्थान रूप में अच्छी प्रकार स्थित हैं। उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?"

संसार में मनुष्य आता है और मर जाता है। मरना उसका स्वाभाविक धर्म है। पर इस मृत्यु को जीत कर अमरता भी पुण्यात्मा प्राप्त कर लेते हैं। वे फिर चिरकाल तक इस जीवन मरण के बन्धन में नहीं आते। इन मृत्युओं और अमरताओं को नियमित करने वाला अधिष्ठाता वह परमेश्वर ही है। उसी में मृत्यु और अमरता नियम्य रूप में स्थित होती हैं। वह मरने और न मरने के आपेक्षिक बन्धनों से ऊपर है। जन्म और मोक्ष का देने वाला है। फैला हुआ समुद्र और उसके साथ के नदी नाले, उस पुरुष की यदि विराट् कल्पना की जाय, तो उसके हृदय और रक्तवाहिनी नाड़ियों की तरह से होंगे। शरीर में जैसे नाड़ियां फैली हुई हैं। इसी प्रकार पृथ्वी पर नदियां फैली हुई हैं। तथा जिस प्रकार नाड़ियों का रक्त हृदय से आता और लौट कर पुनः हृदय में ही चला जाता है इसी प्रकार नदियों का जल भी समुद्र से आता और चक्कर काट कर पुनः समुद्र में ही लौट जाता है। इस सादृश्य के कारण समुद्र-संस्थान में नाड़ी-संस्थान की कल्पना की गई है।

यज्ञ की पराकाष्ठा स्कम्भ में है।

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कंभं तं० ॥१६॥

"विस्तृत चारों दिशाएं जिसकी नाड़ी स्वरूप हैं। जिसमें यज्ञ पराकाष्ठा को पहुंचा है उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?"

नाड़ियां दो प्रकार की होती हैं। एक रक्तवाहिनी और दूसरी ज्ञानवाहिनी। रक्तवाहिनी नाड़ियों के साथ समुद्र-नदी-नालों की उपमा पहले दे चुके हैं। अब ज्ञानवाहिनी नाड़ियां दो तरह की होती हैं। एक का काम बाह्य प्रभाव (Impression) को मन तक पहुंचाना है, और दूसरी का काम अन्दर की

करता है कि 'मही' का अर्थ अथर्ववेद होना चाहिये। 'मह् पूजायाम्' धातु से 'मही' शब्द बना है। अथर्व वेद पूजा का स्थान है, वह मुख्य है। इसके लिये देखो मन्त्र २०।

क्रिया को बाहर लाना है। दिशाएं भी इसी तरह का काम कर रही हैं। समाचार एक जगह से दूसरी जगह जा रहे हैं और आरहे हैं। उन समाचारों की प्रतिक्रियाएं भी होती हैं जिनका प्रभाव समस्त दिशाओं में होजाता है। दिशाएं उस विराट्-पुरुष की मानो उपरोक्त प्रकार की दो नाड़ियां हैं, अर्थात् ज्ञानवाहिनी और क्रियावाहिनी नाड़िया हैं।

संसार में अनेक प्रकार के यज्ञ चल रहे हैं। जितने भी सामूहिक हित की दृष्टि से किये जाने वाले काम हैं वे यज्ञ हैं (संगति करण और दान)। पूज्य व्यक्तियों के सत्कार और परमेश्वर पूजा के लिये किये गये काम भी यज्ञ हैं। परन्तु मनुष्य क्योंकि परिमित है अतः वह कुछ सीमित यज्ञ ही कर सकता है। इन यज्ञों की पराकाष्ठा तो स्कम्भ में जाकर होती है। उसके यज्ञ का वर्णन पुरुषसूक्त (यजु० १९। ६) में दिया गया है। उसका यज्ञ संसार निर्माण है। लोक-लोकान्तरों और पशु-पक्षियों को वही उत्पन्न करता है। उस यज्ञ में ग्रीष्मऋतु ने ईंधन का काम ले रखा है क्योंकि ग्रीष्मऋतु ताप को बनाए रखती है। शरद् अन्नों के पैदा करने के कारण हवि है। वसन्त अपने फूलों, मधुर रसों के कारण 'आज्य' है। वर्षा आती हुई इस यज्ञ का प्रारम्भ कर देती है। हरियाली को देख कर मनुष्य का हृदय सौंदर्य के उस निर्माता की ओर आकृष्ट होजाता है। वर्ष भर उसका यह यज्ञ चलता रहता है। संसार का उपकार और दान उससे अधिक और कोई क्या करेगा ? इससे बृहद्यज्ञ और कोई नहीं हो सकता[1]।

स्कम्भ के पूर्ण स्वरूप का परिज्ञान।

ये पुरुषे ब्रह्मविदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु सं विदुः ॥१७॥

"जिन्होंने पुरुष में ब्रह्म को जान लिया है, उन्हों ने परमेष्ठी को जान लिया है। जो परमेष्ठी को जानते हैं और जो प्रजापति को जानते हैं तथा जो ब्रह्म को सब से ज्येष्ठ जानते हैं उन्होंने स्कम्भ को समझ लिया है।"

स्कम्भ को समझने के लिये अध्यात्म विचार करते हुए प्रकृति की अपेक्षा परम अर्थात श्रेष्ठ जो पुरुष अर्थात् जीवात्मा है उसमें स्थित ब्रह्म अर्थात् परमेष्ठी का ज्ञान तथा आधिभौतिक और आधिदैविक विचार करते हुए सम्पूर्ण दृश्य और अदृश्य जगत् के आधारभूत प्रजापति का ज्ञान, और पुरुष तथा प्रकृति इन दोनों में ज्येष्ठ रूप में ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। इन तीनों रूपों में ही परमेश्वर का विचार करने से उसके स्कम्भ रूप का पूर्ण विचार हो सकता है।

(क्रमशः)

१. यजुर्वेद, पुरुषसूक्त अध्याय ३१ ॥

मनुष्य अपनी उत्तम खेती कैसे पैदा करे।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीममागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सात्रो वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धं वृषभस्य रेत ॥ अथर्व० १४।२।१४॥

सुदृढ़ शरीरवाली पुत्रोत्पादन करने में समर्थ, उपजाऊ भूमि यह नारी प्राप्त हो तो हे पुरुषो! उसमें ही बीज बोओ। वह आपलोगों में से वीर्यवान् बलवान् पुरुष के पूर्ण निषिक्त वीर्य को धारण करती हुई कोखों या गर्भधारक नाड़ियों से उत्तम सन्तान उत्पन्न करे। और दूध धारण करती हुई उसका पालन पोषण करे।

वेद और राजा का चुनाव

[ले० श्री पं० प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति]

वेदों के राजनीति विषयक स्थलों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के मन में सब से पहिले और स्पष्ट रूप में जो विचार आता है वह यह है कि वैदिक राज्य प्रणाली में राजा या मुख्य शासक चुना हुआ-प्रजा के बहुमत से पसन्द किया हुआ-होना चाहिये। वैदिक राज्य प्रणाली में वंशानुगत एक तन्त्र राजत्व का स्थान नहीं है। इसे दिखाने के लिये वेदों के भिन्न भिन्न स्थलों से अनेक मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं—

१—त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवोऽग्ने संवरणे भवा नः।
अथर्व० २। ६। ३।

अर्थात्—"(सम्राट्) हे अग्नि ! तुझे ये ब्राह्मण लोग (वृणते) चुन रहे हैं तू (संवरणे) इस चुनाव में मंगलकारक हो।"

यहां पर "अग्नि" का अर्थ "सम्राट्" ही है, यह सारे सूक्त को देखने से बिल्कुल स्पष्ट होजाता है। सूक्त के चौथे मन्त्र में आता है, "क्षत्रेणाग्ने स्वेन संरभस्व" अर्थात् "हे अग्नि ! तुम अपनी क्षत्रशक्ति (क्षत्रिय लोगों) से पराक्रम के कार्य आरम्भ करो (सम्-रभस्व) और "सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञाम्" अर्थात् "सजात राजाओं का मध्यस्थ बनो।" अग्नि के इन विशेषणों से यहां पर अग्नि पद द्वारा सम्राट् का ही बोध होता है। नहीं तो "अग्नि" के "क्षत्रिय" और उसके "सजात राजाओं का मध्यस्थ" होने का कोई अभिप्राय समझ में नहीं आता। अग्नि का अर्थ सम्राट् करने पर सारे सूक्त की बड़ी सुन्दर संगति लगती है। यजुर्वेद अध्याय २७ मन्त्र ३ में भी,

२—त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः।

ये शब्द ज्यों के त्यों आते हैं। उक्त अध्याय के चौथे मन्त्र में आता है, "क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यम्" अर्थात् "हे अग्नि ! तेरे लिये क्षत्रशक्ति सुनियमित रहे।" पञ्चम मन्त्र में फिर कहा है, "क्षत्रेणाग्ने स्वायुः संरभस्व" और "सजातानां मध्यमेष्ठा एधि राज्ञाम्"। अग्नि के ये विशेषण हलके परिवर्तन के साथ वही हैं जो अथर्व० २। ६। ४ में आए हैं। यजु २७। ७ में "अग्नि का एक विशेषण "क्षत्रभृत्" अर्थात् "क्षत्रशक्ति की पालना करने वाला" भी है। ये सारे विशेषण इस स्थल में सम्राट् परक ही अधिक संगत प्रतीत होते हैं, अथर्व० २।६ और यजु० अध्या० २७ मन्त्र १ से ७ तक का एक ही विषय है, शब्द भी प्रायः एक से ही हैं।

इस सम्बन्ध में अन्य प्रमाण भी देखने योग्य हैं। यथा—

३—सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु। अथर्व० ३।४।१।

४—त्वां विशो वृणतां राज्याय। अथर्व० ३।४।२।

५—सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्। अथर्व० ३।४।७।

इन तीनों मन्त्र खण्डों के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं। यथा—

"हे राजन्! तुझे सारी बड़ी २ दिशाएं (प्रदिशः) अर्थात् "उनमें रहने वाले लोग बुलावें,।"

"तुझे (विशः) प्रजाएं राज्य के लिये (वृणताम्) चुनें"। सब प्रजाओं ने मिलकर तेरा (वरीयः) चुनाव किया है"। इस सूक्त को ग्रिफिथ आदि यूरोपियन भाष्यकारों ने भी राजा के चुनाव विषयक ही माना है।

६—स राजा राज्यमनुमन्यतामिदम्। अथर्व० ४।८।१

अर्थात्—"वह राजा राज्य को स्वीकार करे।" राजा राज्य को स्वीकार करे इस कथन का अभिप्राय यही है कि उसे लोगों ने राज्य लेने के लिये कहा है, अर्थात् अपनी इच्छा से उसे लोगों ने राजा चुना है। "अनुमन्यताम्" शब्द में "अनु" उपसर्ग ध्यान देने के योग्य है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि पहिले प्रजाएं किसी व्यक्ति को राजा बनने के लिये कहती हैं तत्पश्चात् वह व्यक्ति प्रजाओं की इच्छाओं के अनुकूल राज्य स्वीकार करता है।

७—विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। अथर्व० ४।८।४।

अर्थात्—"सारी प्रजाएं तुझे चाहें, स्वीकार करें"। ग्रिफिथ ने भी इस (अथर्व० ४।८) सूक्त को राज्याभिषेक परक माना है।

८—आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥
अथर्व० ६।८७।१।

अर्थात्—"मैं[1] तुझे लाया हूं, हमारे अन्दर रहो, ध्रुव और अचलायमान होकर रहो, तुझे सारी प्रजाएं स्वीकार करें, तेरा राष्ट्र कभी भ्रष्ट अर्थात् दुर्गतिग्रस्त न हो।"

ऋग्वेद १०। १७३ सूक्त का प्रथम मन्त्र भी हलके अक्षर परिवर्त्तन के साथ इस प्रकार है—

९—आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥
ऋ० १०।१७३।१॥

अथर्व० के ६।८७।१ और ऋ० के १०।१७३।१ के अर्थ में कोई भेद नहीं है। अथर्व० ६।८७ और ऋक् १०।१७३ सूक्तों को विदेशी भाष्यकार भी राजा के चुनाव विषयक ही मानते हैं। ऋग्वेद के सूक्त में अथर्ववेद के सूक्त के हलके शाब्दिक परिवर्त्तन के साथ प्रायः सभी मन्त्र आजाते हैं। यजुः अध्याय १२, मन्त्र ११ भी कुछ शाब्दिक परिवर्त्तन को छोड़ कर इसी प्रकार का ही है। यथाः—

१०—आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥
यजु० १२।११॥

अर्थ उपर्युक्त ही है।

११—अभित्वेन्द्र वरिमतः पुरांहूरणाद्धुवे।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम्॥
अथर्व० ६।९९।१॥

अर्थात्—"हे इन्द्र! (सम्राट्) मैं तुझे (वरिमतः) विस्तीर्ण दूर देश से अपनी (पुरांहूरणात्[1]) दुर्गति होने से पूर्व ही बुलाता हूं। तू उग्र है, चेत्ता

१—एक वचन से मालूम पड़ता है कि प्रधान मंत्री राजा को सम्बोधित कर रहा है। "हमारे अन्दर रहो" से झलकता है कि वह मन्त्रि-मण्डल की ओर इशारा कर रहा है।

१—"अंहूरण" शब्द ह्व कौटिल्ये गतौ से बना है। अतः इसका अर्थ कुटिल गति या दुर्गति है। ग्रिफिथ ने इसका अर्थ Affliction अर्थात् कष्ट या विपत्ति किया है।

(ज्ञानवान्) है, (पुरुणामा[२]) अनेक नाम अर्थात् गुणों वाला या अनेक शत्रुओं को झुकाने वाला है। और (एकज) वर्त्तमान समय में राष्ट्र को चलाने के लिये एक ही उत्पन्न हुआ है।" इस मन्त्र से भी साफ़ प्रगट हो रहा है कि प्रजा राजा को अपनी दुर्गति हटाने के लिये चुनती है।

इस मन्त्र में "इन्द्र" का अर्थ सम्राट् किया गया है। इस शब्द का अर्थ सम्राट् ही ऐसे स्थलों में लेना उचित है इसके लिये हमारे पास यथेष्ट प्रमाण हैं। इस सूक्त (अथर्व० ६ । ९९) से पहिले सूक्त (अथर्व ६ । ९८) का देवता भी इन्द्र ही है। उस सूक्त में दिये गए इन्द्र के कुछ विशेषण देखने योग्य हैं यथाः—

'अधिराजो राजसु राजयातै' अर्थात् तू "राजाओं में अधिराज होकर चमके।" "त्वं इन्द्राधिराजः" अर्थात् "हे इन्द्र तू अधिराज अर्थात् राजाओं में उपरि वर्त्तमान हो।" आयुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु" अर्थात् "तेरे क्षत्रिय लोग आयुष्मान् और बुढ़ापे रहित होवें।"

उसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में

'प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासिराजोतोदीच्या दिशो वृत्रहन् शत्रुहोऽसि।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः"।

'इन्द्र' को कहा गया है कि "तुम पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशाओं के राजा हो, जहां नदियां जाती हैं उस जगह अर्थात् समुद्र को भी तुमने जीत रक्खाहै।' 'इन्द्र' का राजाओं में अधिराज होकर चमकना, उसका क्षत्रिय होना, उसका सब दिशाओं का राजा होना, और समुद्र को जीतना, आदि विशेषण स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि इन स्थलों में "इन्द्र" का अर्थ सम्राट् ही होना चाहिये। काल्पनिक इन्द्र देवता नहीं। नहीं तो स्वर्ग में इन्द्र के अतिरिक्त और कौन से राजा होते हैं जिनका कि वह अधिराज है ?, स्वर्ग का तो एक ही राजा इन्द्र माना जाता है। साथ ही समुद्र का राजा तो वरुण को माना जाता है। किन्तु यहां कहा गया है कि "इन्द्र" समुद्र को जीत कर उस पर भी राज्य कर रहा है। अतः इन स्थलों में "इन्द्र" का अर्थ सम्राट् ही लेना अधिक संगत प्रतीत होता है। वेदों में "इन्द्र" शब्द राजा या सम्राट् के लिये भी प्रयुक्त होता है इसे सिद्ध करने के लिये हम वेदों में से ही प्रमाण और उपस्थित करते हैं।

अथर्व० २०।४४ सूक्त "इन्द्र देवताक" है। उसमें आए "इन्द्र" के विशेषण देखने योग्य हैं। "प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोत" अर्थात् "मनुष्यों के सम्राट् इन्द्र की स्तुति करो।" "नरं नृषाहं मंहिष्ठम्" अर्थात् "जो कि नर (मनुष्य नेता) है, नृषाह अर्थात् शत्रुओं के मनुष्यों का पराभव करनेवाला है और पूजनीय है।"

इन्द्र को मनुष्यों का सम्राट्, मनुष्य और मनुष्यों का पराभव कर्त्ता कहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि वेदों में इन्द्र शब्द राजा या सम्राट् के लिये भी आता है। काल्पनिक इन्द्र की ओर ये विशेषण लग ही नहीं सकते। काल्पनिक इन्द्र मनुष्यों का सम्राट् नहीं होता, वह देवों का राजा होता है। वह मनुष्य नहीं होता और न ही उसे मनुष्यों का पराभव करने की आवश्य-

२—"पुरुणामा" शब्द पुरु पूर्वक नामन् शब्द या णम धातु से बना है।

१—चर्षणी शब्द वैदिक साहित्य में मनुष्यवाची प्रसिद्ध ही है।

कता पड़ती है। उसके झगड़े और युद्ध तो दैत्यों के साथ ही होते सुने जाते हैं।

इसी सूक्त में एक विशेषण है—"ज्येष्ठराजम्" अर्थात् जेठा या मुख्य राजा। स्वर्ग में तो कोई और राजा होता ही नहीं, फिर वह ज्येष्ठ राज कैसे हो सकता है।

यजुर्वेद अध्याय १० मन्त्र २८ में राजा के और २ विशेषणों के साथ एक विशेषण "इन्द्रोसि विशौजाः" भी आता है। जिसका अर्थ है कि "तुम विश अर्थात् प्रजाएं हों ओज जिसका ऐसे 'इन्द्र' हो" राजा का ओज या सामर्थ्य प्रजाएं होती हैं यह तो समझ में आता है किन्तु इन्द्र देव का ओज प्रजाएं कैसे होंगी यह समझ में नहीं आता।

पुनः, यजु० २०।४८ में इन्द्र का एक विशेषण 'नृपति' अर्थात् 'राजा' आता है। 'नृपति' का यौगिकार्थ मनुष्यों का पति अर्थात् राजा होता है। इन्द्र तो देवों का राजा होता है मनुष्यों का वह राजा नहीं।

यजुः १७।३४ में आता है कि—

"तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा"

अर्थात् "बलवान् और बाणधारी इन्द्र के साथ मिल कर हे मनुष्यो! (नरः) तुम युद्धों को जीतो।" पौराणिक 'इन्द्र' मनुष्यों की फ़ौजों में शामिल होकर, उनका एक साथी योद्धा होकर तो कभी युद्ध नहीं करता।

इसी प्रकार ऋग्वेद १०।८९।१ में भी "इन्द्र" के दो विशेषण देखने योग्य हैं। एक है, "नृतम" जिसका अर्थ है "सब से अधिक मनुष्य" जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उसमें मनुष्यों के गुण सब से अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। यह विशेषण सम्राट् की ओर ही अधिक संगत रूप में लगता प्रतीत होता है। उसमें मनुष्यों के गुण सब से अधिक मात्रा में होने से ही उसे सम्राट् चुना जाता है। कल्पित इन्द्रदेव में तो मनुष्यों के गुण सब से अधिक मात्रा में विद्यमान रहने पर वह देवत्व ही खो बैठेगा। दूसरा विशेषण है "चर्षणीधृत्" अर्थात् "मनुष्यों का धारण करने वाला" यह विशेषण भी सम्राट् की ओर अधिक सुन्दरता से लगता है।

पुनः ऋग्वेद १०।१३४।१ में आता है—

"महान्तं त्वामहीनां सम्राजं चर्षणीनां।
देवी जनित्र्यजीजनत् भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥"

अर्थात् "तू महान् जनता का महान् सम्राट् है, तुझे दिव्य गुणों वाली देवी माता (जनित्री) ने उत्पन्न किया है। तुझे भद्रा माता ने उत्पन्न किया है।" महान् जनता का (चर्षणीनाम्) महान् सम्राट् होना और उसका "दिव्य गुणों वाली" और "भद्रा" माता से उत्पन्न होना, इन्द्र के ये दोनों विशेषण सम्राट् परक ही अधिक युक्तियुक्त रूप में घटते हैं। कल्पित इन्द्र देव तो किसी माता के पेट से उत्पन्न हुआ माना ही नहीं जाता। और न ही कोई उसका वीर्यसेक्ता पिता ही माना जाता[1] है।

१—अथर्व० १९।२४ सूक्त इन्द्रदेवता का है। इस में आए हुए इन्द्र के कुछ विशेषण देखने योग्य हैं। "यथैनं जरसे, न यां ज्योक् क्षत्रेऽधिजागरत्" "जरा मृत्युं कृणुत" "जरां सुगच्छ" "शतं च जीव शरदः" "जरामृत्युः प्रजया संविशस्व" आदि वाक्यों में इन्द्र से कहा गया है कि "तुम वृद्धावस्था को प्राप्त करो, सौ वर्ष तक जीवो, बुढ़ापे में तुम्हारी मृत्यु हो। इन्द्र के ये विशेषण स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि यहां इन्द्र का अर्थ कल्पित इन्द्र देवता कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि कल्पित इन्द्र देवता को न कभी वृद्धावस्था प्राप्त होती है, और न कभी वह मरता ही है। उसे

इस लम्बी विवेचना में हमने देखा है कि वेदों में में इन्द्र के ऐसे अनेक विशेषण आते हैं जो केवल राजा या सम्राट् पर ही घट सकते हैं, काल्पनिक इन्द्र पर नहीं। अतः यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदों में **इन्द्र का अर्थ सम्राट्** भी होता है। इसलिये इन्द्र **देवता के सूक्तों में,** यदि विशेषण ठीक उपपन्न होते जावें तो इन्द्र शब्द का अर्थ सम्राट् करना चाहिये। विशेषण बल से अनेक स्थलों में इन्द्र के अर्थ विद्युत्, आत्मा, परमात्मा, संन्यासी आदि भी होते हैं। विशेषणों के आधार पर विशेष्य का अर्थ निर्धारित करने के इस सिद्धान्त पर सायणादि स्वदेशी तथा उनके अनुयायी विदेशी विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया, जिस पर कि ऋषि दयानन्द ने सबसे अधिक बल दिया है। यही कारण है कि अनेक सूक्त जो कि शुद्ध रीति से अध्ययन करने पर राजनीति के उत्तमोत्तम सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं, इन भाष्यकारों ने इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि काल्पनिक देवता घुसेड़ कर बिलकुल बिगाड़ दिये हैं।

१२—पृतनाजितं सहमानमग्निं मुक्थैर्हवामहे
परमात्सधस्थात्। अथर्व० ७।६३।१॥

अर्थात्—"(पृतनाः) सेनाओं के (सहमानम्) जीतनेवाले, पराभवकर्त्ता (अग्निम्) सम्राट् को (परमात् सधस्थात्) हम दूर देश से वचनों द्वारा (उक्थ शब्द वच धातु से बना है) बुलाते हैं।" यहां भी राजा का दूर देश से बुलाया जाना सिद्ध करता है कि राजा चुना जाना चाहिये। अग्नि का अर्थ सम्राट् भी होता है यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है। प्रस्तुत मन्त्र के सारे विशेषण राजा पर ही अधिक संगत होकर घट रहे हैं।

१३—हुवे न शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्। अथर्व० ७।८६।१॥

अर्थात्—"मैं बहुतों द्वारा बुलाये जाने वाले (पुरुहूत) इन्द्र (सम्राट्) को बुलाता हूं।" यहाँ भी स्पष्ट है कि राजा बहुतों द्वारा बुलाए जाने पर शासन कर सकता है। इन्द्र का अर्थ सम्राट् भी होता है यह अभी (११) मन्त्र के नीचे सिद्ध किया जा चुका है। इस मन्त्र के त्राता, अविता, शूर आदि विशेषण सम्राट् या राजा पर ही अधिक युक्ति युक्तता से घटते हैं।

१४—उदेहि वाजिन् यो अप्स्वन्त रिदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान सत्वा राष्ट्राय सुभृतं पिपर्तु॥
अथर्व० १३।१।१।

उद्वाज आगन् यो अप्स्वन्तर्विश आरोह त्वद्योनयो याः।
सोमं दधानोप ओषधि गाश्चतुष्पदो द्विपद आवेषयेह॥
अथर्व० १३।१।२।

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है, (वाजिन्) "हे बली राजन्! तुम जोकि अभी चुने जाने से (यो अप्सु अन्तः) पूर्व प्रजाओं के अन्दर सामान्य व्यक्ति की तरह रह रहे हो (सूनृतावत्) मधुर और सत्य वाणी बोलनेवाले होकर (उदेहि = उद् + आइ + हि) आओ और इस राष्ट्र में प्रवेश करो। जिसे रोहित (परमात्मा) ने इस विश्व को (जजान = जनी प्रादुर्भावे) उत्पन्न किया है वह तुझे राष्ट्र के लिये (सुभृतं बिभर्तु) अच्छी तरह से धारित रक्खे।"

"निर्जरस्" और "अमर" माना गया है। इस सूक्त में इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही सब से अधिक संगत प्रतीत होता है।

"हे राजन्! (उद् वाज आगन् यो अप्स्वन्तः तेरे चुन लिये जाने से प्रजाओं में जो बल था वह आगया है। तू (विश आरोह) प्रजाओं पर आरोहण कर अर्थात् उनका शासन कर, (त्वत् योनयो याः) जो प्रजाएं कि तेरा कारण हैं इस राष्ट्र में (दधानः सोमं, सोम= ऐश्वर्य, षु प्रसवैश्वर्ययोः) ऐश्वर्य का धारण कराओ और औषधि (अन्नादि) गौ चतुष्पद, तथा द्विपद प्राणियों को इसमें स्थिर करो।"

ये दोनों मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि वेदों के अनुसार राजा चुना जाना चाहिये। "यो अप्स्वन्तः" और "त्वद् योनयो याः" ये शब्द साफ़ कह रहे हैं कि राजा प्रजाओं के अन्दर का ही व्यक्ति होता है, और प्रजाएं ही उसके राजा बनने का कारण होती हैं। योनि शब्द राजा और प्रजा के जन्य जनक सम्बन्ध को प्रदर्शित कर रहा है। प्रजाएं योनि हैं—राजा की जनक हैं।

१५-इमं ब्रह्मणस्पते[1] परि राष्ट्राय धत्तन। अथर्व० ९।२४।१

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षत्रे ऽधि जाजरत्॥ अथर्व० १९।२४।२।

अर्थात्—"हे ब्रह्मणस्पते! इसे राष्ट्र के लिये सिंहासन पर (परिधत्तन) बिठाओ। "इस इन्द्र (सम्राट्) को आयु के लिये, महान् क्षत्र अर्थात् राष्ट्र के लिये सिंहासन पर बिठाओ जिससे इसे वृद्धावस्था तक लेजावें और वह (ज्योक्) देर तक (क्षत्रे) राष्ट्र में जागता रहे।"

इन मन्त्रों में भी स्पष्ट रूप से राजा के चुनाव का प्रतिपादन हो रहा है। इस सारे सूक्त का देवता इन्द्र है। यहां भी इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेना उपयुक्त है। इस सूक्त में आए हुए "राष्ट्र" "क्षत्र" "प्रजया" "गृष्टिः" आदि शब्द इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेने के लिये बाधित करते हैं।

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम्॥
ऋ० १०।४८।११।

इस मन्त्र में इन्द्र अर्थात् सम्राट् कह रहा है कि "मैं—वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी रह कर जिन्होंने विद्याभ्यास किया है ऐसे (देवानां) विद्वानों के (धाम) तेज या प्रभाव को नष्ट नहीं करता (न मिनामि) क्योंकि मैं भी (देवः) विद्वान् हूं—समझदार हूं—और क्योंकि इन लोगों ने ही मुझे अपराजित, अहिंसनीय, शत्रुओं के लिये असह्य, (अपराजितमस्तृतमषाळ्हम्) और अपने राष्ट्र के (भद्राय शवसे) मङ्गलकारक बल की रक्षा के लिये (ततक्षुः) बनाया है।" इस मन्त्र में भी साफ़ कह दिया है कि प्रजा के शिक्षित विद्वान् लोग राजा को बनाते हैं—उसे चुनते हैं। "ततक्षुः" शब्द पर ध्यान देना चाहिये। जिस प्रकार कोई तक्षा (बढ़ई) मेज़ कुर्सी आदि को बनाता है वसु आदि विद्वान् लोग उसी प्रकार राजा को बनाते हैं। प्रजा का कितना जबरदस्त अधिकार राजा पर होना चाहिये यह इस "ततक्षुः" शब्द से पता लगता है।

इस सारे (ऋग् १०।४८) सूक्त का देवता इन्द्र है। वेदों में इन्द्र का अर्थ काल्पनिक स्वर्ग का राजा इन्द्र लेना कितना भ्रान्त है यह हम अभी पिछले पृष्ठों में दिखा चुके हैं। कई विद्वान् इस सूक्त की व्याख्या परमात्मा परक करते हैं, यह ठीक है। एक दृष्टि से

---

[1] ब्रह्मणस्पति शब्द से वेदज्ञ ब्राह्मण मन्त्री का सम्बोधन किया गया प्रतीत होता है।

सभी सूक्तों की व्याख्या परमात्म परक हो सकती है यह सभी आचार्यों का माना हुआ मत है। पर हमारी सम्मति में इस सूक्त की व्याख्या मुख्य रूप से परमात्म परक न होकर सम्राट् परक ही होनी चाहिये। क्योंकि (क) "अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमाददे" अर्थात् मैं दस्यु लोगों की—प्रजा का उपक्षय करने वाले लोगों की—(ख) संपत्ति छीन लेता हूं।" "मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसम्।" अर्थात् "त्वष्टा ने—कारीगर ने—मेरे लिये लोहे का वज्र बनाया है, (ग) "ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरम्" अर्थात् "मेरी फौज सूर्य की भांति अजेय है, (घ) "अहमेनान् शश्वासतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधये ऽकृण्वत। आह्वयमानान् अवहन्मनाहनं दृढा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः।" अर्थात् "जिन शत्रुओं ने युद्ध के लिये शस्त्र उठाया मुझे ललकारा उन्हें मैंने कठोर आवाज़ में ललकारते हुए, दोदो कर के सिसका कर अपने हनन-साधन से मारा है, मैं नहीं झुका वे ही झुके हैं।" (ङ) "अभीरमेकमेको अस्मि निःषाऽभी द्वा किमु त्रयः करन्ति। खलेन पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवो अनिन्द्राः।" अर्थात् "मैं एक के लिये एक काफ़ी हूं, दो या तीन मेरा क्या कर लेंगे, खलिहान में जैसे चनों को कुचलते हैं उसी प्रकार मैं अनेक दुश्मनों को कुचल देता हूं, इत्यादि वाक्य सम्राट् परक ही अधिक सुन्दरता से लगते हैं। इस प्रकार से इस सूक्त में इन्द्र का अर्थ सम्राट् लेने पर वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों का भी वही अर्थ लेना ठीक जंचता है जो ऊपर दिया गया है। ब्रह्मचारियों के वसु आदि तीन भेद हमारे धार्मिक साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं।

१७—यसवो रुद्रा आदित्या उपरि स्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥ यजुः ३४।४६।

अर्थात् "वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी रह कर जिन्होंने विद्या का अध्ययन किया है ऐसे विद्वानों ने मुझ उग्र और चेत्ता (ज्ञानी) को राष्ट्र की उच्च स्थिति पर रहने वाला अधिराज बनाया है।" इस मन्त्र में भी अधिराज का वसु आदियों से बनाया जाना—चुना जाना—स्पष्ट है।

राजा चुना हुआ ही होना चाहिये इस की सूचना वेदों में स्थान २ पर मिलती है। कई स्थानों पर नक्षत्रों का वर्णन भी इस प्रकार किया गया है कि मानों नक्षत्र प्रजा जन हैं और उन्होंने धूमकेतुओं या सूर्य को राजा चुन रक्खा है। इसको दिखाने के लिये दो मन्त्र देकर यह लेख समाप्त किया जाता है।

१८—शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत।
अथर्व० ६।१२८।१।

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन।
अथर्व० १९।२४।१।

दोनों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है, "नक्षत्रों ने धूमकेतु को राजा बनाया है," "जिस प्रकार नक्षत्रादि देवों ने सविता (देव) को अपने अन्दर सिंहासन पर बिठा रक्खा है इसी प्रकार हे ब्रह्मणस्पते! तुम इस राजा को राष्ट्र के लिये सिंहासन पर बिठाओ।" इन मन्त्रों से पता लगता है कि वेद कितने ज़बरदस्त रूप में राजा के चुनाव के पक्षपाती हैं। वे मनुष्यों को नक्षत्रादि जड़ पदार्थों में भी "चुनाव के भाव" को देखने का निर्देश देते हैं।

सन्ध्या के मन्त्रों की व्याख्या

कविता में

(अभिनव कवि श्री ब्र० सत्यपालजी, चतुर्दश, गुरुकुल कांगड़ी)

ओ३म् शं नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः।

जननि ! सब ओर ही सुख शान्ति का जग में उदय होवे
हमें जल और थल मङ्गल तथा कल्याणमय होवे ॥ १ ॥

न शंका और संशय से कभी यह चित्त हो चञ्चल
सदा शीतल सदा निर्मल सदय सब का हृदय होवे ॥ २ ॥

न कोई कामना हो शेष मन में प्रेमरस पीकर
न व्याधि क्लेश का हो लेश भी, मानस अभय होवे ॥ ३ ॥

ओ३म् वाक् वाक्। ओ३म् प्राणः प्राणः। ओ३म् चक्षुः चक्षुः।
ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओ३म् नाभिः। ओ३म् हृदयम्। ओ३म् कण्ठः।
ओ३म् शिरः। ओ३म् बाहुभ्यां यशो बलम्।

यशस्वी हों मनस्वी हों न कोई अंग हो निर्बल
हमारे कण्ठ[1] में माधुर्य हो वाणी[2] में लय होवे ॥ ४ ॥

सदा बहती रहे कानों[3] में तव संगीत की धारा
दृगों[4] में शील हो शालीनता होवे, विनय होवे ॥ ५ ॥

सदा पुरुषत्व[5] का सञ्चय रहे क्षय हो न विषयों से,
हृदय[6] का, प्राण[7] का, मस्तिष्क[8] का तू ही विषय होवे ॥ ६ ॥

हमारे हाथ दोनों हों सदा अवलम्ब दीनों के
भुजाओं[9] में हमारी कीर्त्ति हो बल हो विजय होवे ॥ ७ ॥

---

१. ओ३म् कण्ठः। २. ओ३म् वाक् वाक्। ३. ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम्।
४. ओ३म् चक्षुः चक्षुः। ५. ओ३म् नाभिः। ६. ओ३म् हृदयम्।
७. ओ३म् प्राणः प्राणः। ८. ओ३म् शिरः। ९. ओ३म् बाहुभ्याम् यशोबलम्।

सामवेद का स्वाध्याय

(आग्नेय पर्व, प्रथम अध्याय)

[ले०—श्री विश्वनाथजी विद्यालंकार प्रो० वैदिकसाहित्य गु० कु० कांगड़ी]

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
निहोता सत्सि बर्हिषि ॥१॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (आयाहि) आजा (वीतये) गति देने के लिये, हृदय में व्यापक होने के लिये, मुझे नवीन उत्पन्न करने के लिये, मुझमें कान्ति पैदा करने के लिये, मेरे दुर्गुणों को दूर करने तथा उनके भक्षण के लिये। (हव्यदातये) दातव्य गुणों के देने के लिये (गृणानः) तू सदा से गुरु है। (होता) आह्वान करने वाला या इस आध्यात्मिक होम का करने वाला तू (बर्हिषि) हृदयासन पर (नि सत्सि[1]) विराजमान हो या होता है।

(क) अग्ने—सामवेद के उपासना-योग के आरम्भ करने के लिये उपासना में जो ध्येय प्रभु है उसे प्रथम 'अग्नि' शब्द द्वारा स्मरण किया है। अग्नि का काम है प्रकाश देना तथा भस्म करना। उपासक अपने उपासना-मार्ग पर चलने के लिये परमात्माग्नि से प्रकाश चाहता है और साथ ही यह चाहता है कि वह अग्नि उसके दुर्गुणों, दुर्व्यसनों तथा दुःसंस्कारों को भस्मीभूत कर दे। इसीलिये उपासना योग के आरम्भ करने में परमात्मा को अग्नि पद द्वारा स्मरण किया गया है। अग्नि परमात्मा का नाम भी है इसके लिये निम्न लिखित प्रमाण देखने चाहियें। यथा:—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
यजु० अ० ३२, मंत्र १ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० १।१६४।४६ ॥

(ख) वीतये—वी धातु के अर्थ ६ हैं। गति, व्याप्ति, प्रजन (उत्पत्ति) कान्ति, असन (फैंकना) तथा (खादन) उपासक "आयाहि" पद द्वारा उपास्य देव को निमन्त्रण देता है ताकि वह आकर उसमें उपरोक्त सामर्थ्य दे सके। प्रकाश के साथ तम और तम से उत्पन्न अनर्थ नहीं रह सकते। इसी प्रकार जिस हृदय में परमात्माग्नि का प्रकाश तथा ताप चमक उठा है उस हृदय में तमोगुण तथा उससे उत्पन्न अनर्थ नहीं रह सकते।

(ग) गृणानः—गॄ स्तुतौ। गॄ धातु से ही गुरु शब्द बनता है। योग[2] दर्शन में परमात्मा को परम गुरु माना है। परमात्मा सदा से गुरु है। और इस गुरु का उपदेश हृदय की बन्द कपाटों वाली कोठरी में एकान्त में होता है।

(१) नि + सत्सि = निषत्सि = निषीद अथवा निषीदसि।

(२) स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥
समाधिपाद, सू० २६ ॥

(घ) होतृ—होता शब्द "ह्वेञ्" धातु से भी बनता है जिसका अर्थ है आह्वान करना, बुलाना। तथा "हु" धातु से भी बनता है जिसका अर्थ है देना परमात्मा भक्त को अपनी ओर आह्वान करता है ताकि उस पर कृपा का हाथ फेर सके तथा साथ ही उपासना-योग रूप होम में परमात्मा उत्साह तथा साहस की आहुति भक्त के हृदय-कुण्ड में डालता है। इस प्रकार परमात्मा अपनी कृपा का अंश देता है। इस आध्यात्मक होम में यहां परमात्मा को दाता तथा भक्त को ग्रहीता दर्शाया है।

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभि र्मानुषे जने ॥२॥

(अग्ने) हे अग्नि! (त्वम्) तू (विश्वेषां यज्ञानाम्) सब यज्ञों के सम्बन्ध में (होता[१]) आह्वान करने वाला तथा आहुति देने वाला है। (देवेभिः) दिव्य गुणों द्वारा (मानुषे जने) मननशील जन में (हितः) तू निहित होता है।

(क) यज्ञानाम्—उपासना-योगी के सब काम परार्थ बुद्धि से होते हैं। वह अनुभव करता है कि मेरे कामों में प्रेरक शक्ति परमात्मा ही है। परार्थ बुद्धि से तथा परमात्मा की प्रेरणा से प्रेरित होकर किये गए कार्य सर्वदा शुभ होते हैं। ऐसे सभी कार्य यज्ञ हैं। उन यज्ञीय कार्यों के सिद्ध करने में उपासना-योगी को प्रेरणा परमात्मा से मिलती है। वह उसे इन कार्यों के लिये आश्वासन देता है, उत्साह तथा बल देता है।

(ख) मानुषे—परमात्मा का निवासस्थान वह जन है जो कि मननशील है, या वैदिक परिभाषा में "मन्तु[२]" है। अमननशील जन को वेद ने "अमन्तु[२]" कहा है। इन अमन्तुओं का पार्थिव-गृह अर्थात् शरीर परमात्मा के वास से रहित है। इसलिये इस मन्त्र में लिखा है कि मननशील जन में परमात्मा स्थित होता है।

(ग) देवेभिः—साथ ही यह भी जानना चाहिये कि मननशील जन में परमात्मा की स्थिति उसके जीवन में रमे दिव्य गुणों के कारण ही होती है। अदिव्य-गुणी को परमात्मवास का सत्संग नहीं हो सकता।

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥

(दूतम्) दुर्गुणों के उपतापक (अग्निम्) अग्नि का (वृणीमहे) हम वरण करते हैं, (होतारम्[१]) जोकि आह्वान करने वाला और आहुति देने वाला है, (विश्ववेदसम्) विश्ववेत्ता है और (अस्य यज्ञस्य) इस यज्ञ का (सुक्रतुम्) उत्तम रूप से करने वाला है।

(क) दूतम्—दु धातु[२] का अर्थ है उपताप अर्थात् तपाना। परमात्माग्नि भक्त के दुर्गुणों को तपा देता है, भस्मीभूत[३] कर देता है। इसलिये यहां परमात्माग्नि को दूत कहा है।

(ख) वृणीमहे—मन्त्र १ में परमात्माग्नि का "आयाहि" पद द्वारा आह्वान किया है। मन्त्र (२) में वरण के उपायों अर्थात् दिव्य गुणों का निर्देश किया

(१) देखो, दशति १, मंत्र १ में (घ भाग) ॥
(२) अथर्व० ४।३०।४॥
(१) देखो, दशति १, मं० १ का (घ) भाग।
(२) टू दु उपतापे (स्वादि०) ॥
(३) देखो, दशति १, मं० १ का (ख) भाग ॥

है और इस तीसरे मन्त्र में उसका वरण किया गया है।

(ग) विश्वः—इस शब्द के निम्न लिखित अर्थ होते हैं (I) विश्व का जानने[4] वाला (II) संसार का सब धन[5] ऐश्वर्य जिसका है।

(घ) सुक्रतुम्—प्रत्येक यज्ञीय-कर्म का उत्तम प्रकार से निभाने वाला परमात्मा ही है।

> अग्निर्वृत्राणि जंघनद् द्रविणस्युर्विपन्यया।
> समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥

(द्रविणस्युः) भक्त[6] को द्रविण[7] देना चाहता हुआ (अग्निः) परमात्माग्नि (विपन्यया[8]) विशेष स्तुति द्वारा (वृत्राणि[9]) भक्त के वृत्रों का (जंघनत्[10]) पूर्ण हनन करता है, (समिद्धः) जब कि वह सुदीप्त होता है, (शुक्रः) शुद्ध प्रकाशमय होजाता है, (आहुतः) और आहुति ले लेता है।

(क) दविणस्युः—इस पद में "यु" का अर्थ है "इच्छा"। इसलिये इस "यु" द्वारा-जो कि क्यच् प्रत्यय का अवशिष्ट अंश है-परमात्मा की इच्छा को निर्दिष्ट किया है। परमात्मा की सदा इच्छा रहती है कि उसके पुत्र सुखी हों, बलवान् हों, शक्तिमान् हों। जो पुत्र पात्र बन जाता है परमात्म-पिता उसे बल देता है, शक्ति देता है।

(ख) वृत्राणि—वृत्र का अर्थ है आवरण करने वाले, परदा डाल देने वाले, ढांप देने वाले। तमोगुणी और रजोगुणी भाव आत्मा की शक्तियों का आवरण करते हैं, उन पर परदा डाल देते हैं, उन्हें ढांप देते हैं। परमात्मा भक्त के इन तमोगुणी और रजोगुणी भावों का पूर्ण हनन कर देता है। कब ? जब कि भक्त परमात्मा की स्तुति करने लगता है। शाब्दिक फोकी स्तुति नहीं, अपितु "विपन्या" रूपी स्तुति। "विपन्या" का अर्थ है विशेष प्रकार की स्तुति। सामान्य स्तुति जोकि प्रायः शाब्दिक और अतएव निस्सार स्तुति हुआ करती है—"विपन्या" शब्द का अर्थ नहीं। विपन्या वह स्तुति है जिसमें कि भक्त तल्लीन होजाता है और अपने व्यवहारों और आचारों को स्तुति के अनुरूप बना लेता है।

(ग) समिद्धः—परमात्मा वृत्रों का पूर्ण हनन कब करता है इस भाव के द्योतक "समिद्ध" आदि तीन पद मन्त्र में पढ़े हैं। समान्य दैनिक यज्ञ में हम देखते हैं कि (१) पहले तो इन्धनों द्वारा अग्नि को सम्यक् प्रदीप्त करना होता है, (२) पश्चात् जब अग्नि खूब चमक उठती है तो उसमें (३) आहुतियां डाली जाती हैं। इसके अनन्तर ही इस यज्ञीय अग्नि द्वारा रोगजनक वृत्रों का नाश होता है। इसी प्रकार हृदय-कुण्ड में उचित साधनों द्वारा (१) पहिले परमात्माग्नि को प्रदीप्त करना होता है (२) परमात्मा प्रदीप्त होकर जब शुद्ध प्रकाशमय रूप में प्रकट हो जाता है (३) तब भक्त उसके प्रति आत्म समर्पण कर देता है, सब कुछ उसके प्रति न्यौछावर कर देता है, उस शुद्ध प्रकाशमय अग्नि के प्रति

---

(४) विद् ज्ञाने ॥
(५) वेदस् = धन; निघण्टु ॥
(६) छन्दसि परेच्छायां क्यच्। तथा पाणिनि सूत्र "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति"-७।४।३६ ॥
(७) द्रविण = बल, शक्ति; Strength, Pawer (आपटे कोश)
(८) पन् व्यवहारे स्तुतौ च ॥
(९) आवरकाणि तमोगुणमयानि ॥
(१०) हन् + यङ् लुक् + लेट् ॥

अपना सब कुछ दे देता है, यही भक्त की ओर से आहुति देना है। भक्त की इस आहुति के बिना परमात्मा सन्तुष्ट नहीं होता।। भक्त की इस आहुति को जब परमात्मा ले लेता है तभी वह उसके आवरक दुर्गुणों का नाश करता है, इस अवस्था से पूर्व नहीं।

प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।
अग्ने रथं न वेद्यम्॥ ६॥

(अग्ने) हे अग्नि स्वरूप परमात्मन्! (प्रेष्ठम्) प्रियतम, (अतिथिम्) अतिथि की न्याईं पूजनीय, न नियत तिथि वाले तथा सतत गतिशील, (मित्रम्-इव) मित्र की न्याईं (प्रियम्) प्रिय, (रथं न) तथा रथ की न्याईं (वेद्यम्) प्राप्ति का साधन जो तू है (स्तुषे) उसका मैं गुणगान करता हूं।

(क) "अग्ने":—इस पद के सम्बोधन रूप होने से "त्वाम्" पद के अध्याहार करने पर ऊपर दिये अर्थ की दृष्टि से मन्त्र का अन्वय निम्न प्रकार से है:—

अग्ने! प्रेष्ठं, अतिथिं, मित्रमिव प्रियं, रथं न वेद्यं त्वां स्तुषे।

(ख) 'वः'—मन्त्र में "वः" पद भी है। सायण ने इसका अर्थ किया है "त्वाम्" और लिखा है कि पूजार्थ में बहुवचन है। यह उचित प्रतीत नहीं होता। "वः" पद सदा बहुवचन में आता है और यहां चतुर्थी के बहुवचन में इसका प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार "वः" पद की दृष्टि से इस मन्त्र का दूसरा अन्वय निम्न लिखित होगा:—

प्रेष्ठं, अतिथिं मित्रमिव प्रियं, रथं न वेद्यं (अग्निं) वः स्तुषे।

अर्थात् उपरोक्त गुणों से युक्त अग्नि की स्तुति, हे मनुष्य! मैं तुम्हारे लिये करता हूं। इस प्रकार इस मन्त्र का अन्वय दो प्रकार से होगा।

(ग) प्रेष्ठम्—परमात्मा प्रियतम है। उसके इस रूप को हरएक नहीं समझ सकता। जिसने मीठा नहीं चखा वह मीठे के स्वाद को कैसे जान सकता है। परमात्मा के इस स्वरूप का प्रत्यक्ष न होने पर भी हम इसके इस स्वरूप का बुद्धिगम्य कुछ अनुभव अवश्य ले सकते हैं। हम देखते हैं कि भक्त अपने उपास्यदेव की भक्ति में विशेष आनन्द अनुभव करते हैं और देर तक उसके दर्शन में तल्लीन से हुए रहते हैं। ऐसे अनुभवों के आधार पर परमात्मा का प्रियतम रूप कुछ समझ में आ सकता है।

(घ) अतिथिम्—इसके तीन अर्थ दिये हैं। (i) अतिथि की न्याईं पूजनीय, (ii) न नियत तिथि वाला, (iii) तथा सतत गतिशील। इन अर्थों में दूसरे और तीसरे अर्थ पर कुछ प्रकाश डालने की आवश्यकता है। मनुष्य जब परमात्मा के दर्शन के लिये पग उठाता है और उसके साधनों का अनुष्ठान श्रद्धा-भक्ति से करता है तब यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि परमात्मा का कब प्रत्यक्ष हो जाय। भक्त को उसके दर्शनों की सदा प्रतीक्षा करनी चाहिये। और अपने साधनमार्ग से च्युत न होना चाहिये। इसी भाव को सूचित करने के लिये परमात्मा का वर्णन '—"न नियत तिथि वाला"—ऐसे शब्दों में किया जाता है।

अतिथि शब्द का तीसरा अर्थ है—"सतत गतिशील"। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।८ में लिखा है—

"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"।

अर्थात् ज्ञान शक्ति, बल शक्ति और क्रिया शक्ति ये तीनों शक्तियां—परमात्मा में स्वभाव

सिद्ध हैं। अक्रिय वस्तु दूसरे को सक्रिय नहीं कर सकती। संसार में महान् से महान् पदार्थ तथा छोटे से छोटे पदार्थ—परमाणु तक पदार्थ भी—गतिमय प्रतीत होते हैं। इन सब पदार्थों में रमा हुआ और छिपा हुआ परमात्मा ही इन सब में गति दे रहा है। ऐसी अवस्था में गति का वह मूल स्रोत स्वयं निष्क्रिय कैसे हो सकता है। इसीलिये परमात्मा को "सतत गतिशील"—कहा गया है।

(ङ) मित्रमिव—मैत्री मार्ग के पथिक इस बात को जानते हैं कि मित्र के प्रेम-जाल कितने सुदृढ़ और मोहक होते हैं। इतने प्रिय लगने लगते हैं कि खाना पीना, उठना बैठना, यहां तक कि संसार की सभी वस्तुएं उस प्रेम-मद के सामने फीकी और निःसार प्रतीत होने लगती हैं। प्रेमके इस उन्मादक स्वरूप को दर्शाने के लिये परमात्मा-प्रेम के सम्बन्ध में सांसारिक मैत्री-प्रेम का दृष्टान्त बहुत ही उत्तम प्रतीत होता है।

(च) रथं न—वेद्य का अर्थ है प्राप्ति का साधन। दूर स्थान में जाना हो और बिना रथ के यदि पैदल चला जावे तो उस स्थान पर देर में पहुंचना होगा। रथ उस उद्दिष्ट स्थान पर शीघ्र पहुंचा देने का साधन बन जाता है। भक्त भी जब भक्ति-मार्ग में पग उठाता है तो वह केवल अपनी शक्ति के भरोसे पग नहीं उठाता। भक्त को निश्चय होता है कि इस मार्ग पर चलते हुए मुझ निर्बल का परम सहायक परमात्मा है, जो रथ वेग से, यत्नशील भक्त को शीघ्र उसके सदुद्देश्य तक पहुंचा देने में सहायक होता है। (क्रमशः)

शतपथ ब्राह्मण व्याख्या

दर्श—पूर्णमास

(ले० श्री पं० देवराजजी, विद्यावाचस्पति)

व्रत उपायन

ब्राह्मण—व्रतमुपैष्यन्, अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्, अप उपस्पृशति। तद्यदप उपस्पृशति, अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः, मेध्या वा आपो, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति, पवित्रं वा आपः, पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति, तस्माद्वा अप उपस्पृशति ॥ १ ॥

(१)—शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद का ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण में १०० अध्याय हैं १०० अध्यायों के कारण इस ब्राह्मण का नाम शतपथ है ब्रह्मविद्या अर्थात् वेद विद्या को प्राप्त कराने वाली ज्ञान–पुस्तक का नाम ब्राह्मण है। शतपथ नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण–पुस्तक में ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदविद्या को सोपपत्तिक प्रकट किया है। निरुपपत्तिक विधि–विस्तार अन्य ब्राह्मणों में विशेष होते हुए भी सोपपत्तिक विधि को प्रकट करने से ही इस ब्राह्मण का अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है।

शतपथ के १०० अध्यायों में पहिले ३५ अध्यायों तक यज्ञकाण्ड है। आगे के ३५ अध्याय अर्थात् ७० वें अध्याय तक चयनकाण्ड है, शेष ४० अध्याय परिशिष्ट हैं। शतपथ के पहिले ३५ अध्यायों में मन्त्र संहिता के प्रथम १० अध्यायों की व्याख्या है, आगे २५ अध्यायों में मन्त्र संहिता के आठ अध्यायों की व्याख्या है, शेष २२ अध्याय मंत्र संहिता में परिशिष्ट हैं। इन २२ परिशिष्ट अध्यायों की व्याख्या उन ४० परिशिष्ट अध्यायों में नहीं है। ये स्वतंत्र हैं और वे स्वतन्त्र हैं।

पदार्थ—जिसने व्रत ग्रहण करना है वह आहवनीय और गार्हपत्य के मध्य में पूर्व मुख स्थित होकर जल का उपस्पर्श (आचमन) करता है। जल का जो आचमन करना होता है उसका कारण यह है कि पुरुष निश्चय से अमेध्य[३] है (यज्ञ के साथ मेल नहीं खाता है) क्योंकि वह अनृत बोलता है, उस (आचमन) से आन्तरिक पवित्रता होती है, जल निश्चय से

(२)—प्रथम यज्ञकाण्ड का प्रारम्भ है । यज्ञ ५ प्रकार के हैं—१ हविर्यज्ञ, २ पशुयज्ञ, ३ सोमयज्ञ, ४ चयनयज्ञ और ५ वां शिरोयज्ञ । इन में से प्रत्येक सात प्रकार का है। हविर्यज्ञ के सात प्रकार इस प्रकार के हैं ? १ अग्न्याधान, २ अग्निहोत्र, ३ दर्श-पूर्णमास, ४ इष्टियजन, ५ पिण्ड पितृयज्ञ, ६ चातुर्मास, ७ पशुबन्ध, ८ सौत्रामणि। अग्न्याधान को शुरु में से हटा देने से अर्थात् अग्निहोत्र के साथ ही समझ लेने से हविर्यज्ञ के सात ही भेद समझे जाते हैं ।

अग्न्याधान किये बिना अग्निहोत्र नहीं हो सकता। और अग्निहोत्र करने पर ही दर्श पूर्णमास किया जाता है अतः क्रम तो अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास इत्यादि यह ही ठीक है, परन्तु चूंकि अग्न्याधान के लिए इष्टि की आवश्यकता है, इष्टि में कार्य उसी प्रकार होता है जिस प्रकार दर्श पूर्णमास में अर्थात् दर्श पूर्णमास प्रकृति है और इष्टि विकृति है, अतः दर्श पूर्णमास को प्रथम वर्णन किया है ।

सब हविर्यज्ञ जोड़े में किये जाते हैं। पहिले रात्रि के पूर्वभाग में और फिर दिन के पूर्वभाग में आरम्भ किये जाते हैं। चूंकि रात्रि दिन से पहिले है इसलिये रात्रि में प्रथम किए जाते हैं पश्चात् दिन में किये जाते हैं । रात्रिकाल प्रथम इसलिये माना जाता है क्योंकि दिन सूर्य की उत्पत्ति के पश्चात् होता है और रात्रि तब भी वर्तमान रहती है जब सूर्य नहीं होता या नहीं था, इसीलिये प्रथम २ हविर्यज्ञ रात्रिकाल में आरम्भ किया जाता है दिनकाल में नहीं। जैसे अग्निहोत्र रात और दिन में दो बार होता है वैसे रात और दिन के समान कृष्ण और शुक्लपक्ष होने से दर्शपूर्णमास याग में प्रथम कृष्ण पक्ष के आरम्भ में होने वाला पूर्णमास याग पहिले वर्णन करना चाहिये और पश्चात् दर्शयाग। शतपथ में पूर्णमास याग का प्रथम वर्णन न करके प्रथम दर्श का वर्णन किया है। दर्श का प्रथम वर्णन इस लिये किया है क्योंकि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से से चन्द्रमा में नवीन ज्योति का आरम्भ होता है। यह ज्योतिश्चक्र शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होकर पूर्णमासी में पूर्ण होकर अमावास्या में समाप्त हो जाता है । अमावास्या तक एक ही ज्योति रहती है। अतः शुक्लपक्ष को वृद्धि पक्ष होने से शुक्ल पक्ष के आरम्भ में वर्तमान प्रतिपदा के के दिन होने वाले दर्श का वर्णन शतपथ में प्रथम आरम्भ किया है, कृष्णपक्ष के आरम्भ में होने वाले पौर्णमास का नहीं।

(३) अर्थात्—पुरुष का आत्मा, मन और वाक् मिले हुए नहीं रहते। इनका मिले हुए न रहना ही अमेध्यता है। आत्मा में जैसा ज्ञान है, मन उससे अन्यथा कल्पना करता है, प्राण में अन्यथा गति होकर वाक् भी अन्यथा भाषण करती है। जैसे कोई पुरुष जानता है कि भोजनशाला में जो भोजन बनाया था वह समाप्त हो चुका है ऐसा जानते हुए को एक मनुष्य आकर पूछता है कि क्या भोजन तय्यार है ? तब वह भोजन के न होने का ज्ञान रखते हुए भी उस स्थान में भोजन होने की अन्यथा मन से अन्यथा कल्पना करता है और इस अन्यथा कल्पना से प्राण में कुटिल गति उत्पन्न करके वाणी को प्रेरित करता है तब वाणी प्रकाश करती है कि जी हां वहां उस कमरे में जाइये बड़ा उत्तम और स्वादिष्ट भोजन आपको तय्यार मिलेगा। ऐसी वञ्चना से कहकर उस आगत पुरुष को अपने पास से हटा देता है या स्वयं दूर चला जाता है। इस प्रकार संसार में वे मनुष्य जो अनृत भाषण करते हैं वे रजस्तमस् दोषों करके उत्पन्न रागद्वेष से मन को कलुषित करके अपने आत्मा और प्राण का हनन करते रहते हैं और इस प्रकार अल्पायु होते हैं । परन्तु आचमन करके जल के स्निग्ध और सौम्यभाव से लाभ उठाया जाता है। वह स्निग्धता वाणी और हृदयस्थ प्राण में स्निग्धता

मेध्य है (यज्ञ के साथ मेल रखता है) मेध्य[४] होकर मैं व्रत ग्रहण करूं इस कारण निश्चय से वह जल का आचमन करता है; और जल निश्चय से पवित्रता[५] का कारण है। अतः पवित्र करने वाले जल से पवित्र होकर मैं व्रत ग्रहण करूं इस कारण निश्चय से वह जल का आचमन करता है ॥ १ ॥

उत्पन्न करके मन को रागद्वेष से शून्य करके उन्हें आत्मा के साथ जोड़ देती है। इस प्रकार ऐसा करने से ही 'मेधृ संगमे' के संगम या मिलाने के अर्थ को ध्यान में रख कर जल को मेध्य कहा है और पुरुष के मन, प्राण और वाणी को संगत न होने से ही पुरुष को अमेध्य कहा है।

(४)—किसी कपड़े पर तेल के दाग हों तो उस कपड़े पर रंग चढ़ाने से रंग न चढ़ेगा क्योंकि बीच में तेल का व्यवधान है। जब वह कालुष्य दूर कर दिया जाता है तब उस कपड़े पर रङ्ग चढ़ता है। इसी प्रकार जिस कार्य का सम्पादन करना हो उसके सम्पादन कर सकने के लिये कर्त्ता को पहिले स्वयं संस्कृत होना पड़ता है। संस्कृत होने के लिये अपने कालुष्य को दूर करके अपने मन वचन कर्म में समता करनी पड़ती है इसी को मेध्य होना कहते हैं। यह मेध्यता जल से आती है। अतः जल को मेध्य कहा है।

(५)—अथवा जल के पवित्रता गुण को स्मरण करता है, कि जल मैल को घोल कर वस्त्रादि पदार्थों को पवित्र कर देता है। चूंकि जल दोषों को दूर करता है अतः जल पवित्र है। अतः मैं भी दोष दूर करने वाले जलों से पवित्र हुआ २ अर्थात् दोष मुक्त हुआ २ व्रत को ग्रहण करूं।

ब्रा०—सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति"। अग्नि र्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतत्प्राह "व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति" नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥ २ ॥

प०—वह अग्नि (आहवनीय) की ओर देखता हुआ ही "अग्ने[१] व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" इस मन्त्र द्वारा व्रत ग्रहण करता है। अग्नि निश्चय से देवों में व्रतपति है, उसके लिए ही "व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" यह (वाक्य) कहता है। इस (वाक्य) में तिरोहित (अविस्पष्टार्थ पद) कोई नहीं है ॥ २ ॥

ब्रा०—अथ संस्थिते विसृजते, अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मे ऽराधीति। अशक द्धयेतद्यो यज्ञस्य संस्थामगन्, अराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य संस्थामगन् एतेन न्वेव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयान्ति, अनेन त्वेवोपेयात् ॥ ३ ॥

प०—(यज्ञ की) समाप्ति पर वह "अग्ने[२]

(१) व्रत ग्रहण करते हुए, अग्नि से प्रार्थना करे कि कर्तव्यों को, धर्मों को नियमों को सौंपने वाले तथा व्रतों का स्वयं पालन करने में सबके अग्रणी हे अग्ने! मैं व्रत का आचरण करूंगा मुझे ऐसा व्रत धारण कराओ जिसको मैं कर सकूं और वह मेरा व्रत सफल हो।

(२) कार्य समाप्त करके ऐसे ही बिना सूचना दिये न चला जावे, प्रत्युत जिस व्रतपति अग्नि से व्रत धारण किया था, उस व्रतपति अग्नि को सम्बोधन करके कहे कि हे व्रतपते! अग्ने! जो आपने मुझे कार्य दिया था वह मैंने समाप्त कर लिया, उसको मैं कर सका, वह मेरा कार्य सफल हुआ।

व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि[3]" (यजु० अ०२ मं०२८) इस मन्त्र द्वारा (व्रत का) त्याग करता है। जो यज्ञ की समाप्ति को पहुंचा है वह इस (यज्ञ कर्म के करने) में निश्चय से शक्त हुआ है, जो यज्ञ की समाप्ति को पहुंचा है उसके लिए निश्चय से वह (यज्ञ कर्म) सिद्ध हुआ है। इस (वक्ष्यमाण मन्त्र) से बहुत (यजमान) व्रतग्रहण करते हैं, इसलिए इस (वक्ष्यमाण मन्त्र) से ही व्रत ग्रहण करे ॥ ३ ॥

ब्रा०—द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। [1]इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ ४ ॥

प०—निश्चय से यह दो प्रकार का है, तृतीय प्रकार नहीं है, अर्थात् सत्य और अनृत। सत्य ही देव हैं, अनृत मनुष्य हैं। "[1]इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि" इस मन्त्र को बोलकर वह मनुष्यों से देवों को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ब्रा०— स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्ते यशः। यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥५॥

प०—वह, निश्चय से, सत्य[2] ही बोले। निश्चय से, यही व्रत देव लोग करते हैं जो कि सत्य है। इसी कारण वे (देव) यशस्वी हैं। निश्चय से, वह यशस्वी होता है जो इस प्रकार जानता हुआ सत्य बोलता है ॥५॥

ब्रा०—अथ संस्थिते विसृजते, इदमहं य एवास्मि सो ऽस्मीति। अमानुष इव वा एतद्भवति यद्व्रतमुपैति। न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमहं सत्यादनृतमुपैमीति, तदु खलु पुनर्मानुषो भवति, तस्मादिदमहं य एवास्मि सो ऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत ॥ ६ ॥

प०—अब (यज्ञ की) समाप्ति पर "इदमहं[3] य एवास्मि सोऽस्मि" (यजु० २।२८) इस मन्त्र द्वारा (व्रत का) त्याग करता है। अमानुष[4] की न्याईं, निश्चय से, वह होता है जो वह व्रत (सत्य का) ग्रहण करता है। (व्रत त्याग करते हुए) चूंकि "इदमहं सत्यादनृतमुपैमि" यह[4] बोलना उचित नहीं, क्योंकि (ऐसा बोलने से) वह वस्तुतः फिर मनुष्य बन जाता है, इसलिये "इदमहं य एवास्मि सो ऽस्मि" इसी मन्त्र द्वारा व्रत का त्याग करे ॥ ६ ॥

---

(३) संसार में जितना उत्तम कार्य हो रहा है जिससे सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य और आनन्द बढ़ रहा है, वह सब यज्ञ है। उसका एक २ अंग यज्ञ है। एक २ अंग की समाप्ति से ही यज्ञ की समाप्ति होती है। इसलिये जो यज्ञ की समाप्ति पर पहुंचा समझो कि वह समर्थ हुआ, और यज्ञ की समाप्ति पर पहुंचने से ही उसका यज्ञ सफल हुआ, उसकी हिम्मत बढ़ गई।

१—इसलिये व्रत धारण करते समय ऐसा कहे कि मैं आप सबके सामने अनृत से सत्य को स्वीकार करता हूं, अर्थात् मनुष्यों की श्रेणी से देवों की श्रेणी को प्राप्त होता हूं। यह समझता हुआ इस मन्त्र को बोले किः—

"इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति ।"

२—जब उसने देवत्व धारण कर लिया तब उसका यह कर्तव्य है कि सर्वदा सत्य भाषण ही करे अनृत भाषण कभी न करे।

३—अर्थात् जो ही मैं हूं वह मैं हूं।

४—क्योंकि व्रत को जो धारण करता है वह व्रत को धारण करने से किसी अंश में साधारण मनुष्य से भिन्न सा होजाता है अतः यह उचित नहीं है कि यह बोले मैं सत्य से अनृत को प्राप्त होता हूं, अर्थात् पुनः साधारण मनुष्य होजाता हूं।

ब्रा०—अथातोऽशनानशनस्यैव । तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने । मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति । त एनमेतद्व्रतमुपयन्तं विदुः प्रातर्नो यक्ष्यत इति । तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति । तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति, स उपवसथः ॥ ७ ॥

प०—अब इसके पश्चात्, अशन (खाने) और अनशन (न खाने) के सम्बन्ध में कहते हैं। उस सम्बन्ध में सवयस का पुत्र आषाढ अनशन (न खाने) को ही व्रत मानता था। (इस विषय में वह युक्ति देता है) कि निश्चय से देव मनुष्य के मन (विचार) को पूर्णरूप से जानते हैं। वे, इस व्रत को ग्रहण करते हुए इस (यजमान) को जानते हैं कि यह प्रातःकाल दूसरे दिन हमारे लिए यज्ञ करेगा। इसलिए वे सब देव इस (यजमान) के घर (व्रत-दिवस में ही) आजाते[६] हैं। वे (देव) इस (यजमान) के घर में (यजमान के) समीप वसते हैं, इस लिए वह (व्रत दिवस) उपवसथ कहलाता है ॥ ७ ॥

ब्रा०—तन्न्वेवानवक्लृप्तम्, यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्अथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात् तस्मादु नैवाश्नीयात् ॥ ८ ॥

प०—इस सम्बन्ध में वह ही अनुचित कार्य करता है जो कि मनुष्यों (गृहागत अतिथियों) के भोजन न करते हुए उनसे पूर्व भोजन करता है, तब उसके बारे में तो क्या ही कहना है जो कि (गृहागत) देवों के भोजन न करते हुए उनसे पूर्व भोजन करता है, इस कारण निश्चय से भोजन न करे ॥ ८ ॥

ब्रा०—तदु होवाच याज्ञवल्क्यः—यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति, यद्यु अश्नाति देवानत्यश्नातीति, स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयादिति । यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितम् । स यदश्नाति तेन पितृदेवत्यो भवति, यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति, तेनो देवान्नात्यश्नाति ॥ ९ ॥

प०—उस अशन और अनशन के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने कहा—यदि भोजन नहीं करता है तो (उसका कर्म) पितृदेवत्य होता है, (अर्थात् शरीर की क्षीणता का उत्पादक होता है) और यदि भोजन करता है तो देवों के भोजन करने से पूर्व ही वह भोजन कर लेता है, इसलिए जिस वस्तु का खाना न[१] खाने के बराबर हो उस वस्तु को खावे। जिस द्रव्य की हवि का ग्रहण (देव) नहीं करते वह खाया हुआ न खाने

५–अब यह विषय आरम्भ होता है कि व्रती को खाना चाहिये या नहीं। इस विचार का नाम खाना न खाना (अशनानशन) है।

६–दर्श के प्रथम दिन जिस दिन व्रत धारण किया जाता है उस दिन देव समीप में आकर रहते हैं। इसलिए प्रथम दिन का नाम उपवसथ रक्खा गया है। यज्ञ करने के लिये उपवसथ के दिन दीक्षा ली जाती है। यह उपवसथ का दिन अमावास्या का दिन होता है। इस दिन व्रत धारण करना होता है। व्रत धारण करते समय जिस कार्य के सम्पादन के निमित्त संकल्प विशेष धारण किया जाता है वह संकल्पमयी देवता ही भावना रूप गृह में आकर रहती है। प्रथम दिन संकल्प विशेष न धारण करने से सभी देवता संकल्प रूप से उसके मन में आकर उपस्थित होते हैं।

१–जिस अन्न को खाने से मनुष्य को आलस्य न आवे, कार्य विशेष के लिये धारण किया हुआ संकल्प नष्ट न हो वह अन्न परिमित मात्रा में ग्रहण किया हुआ न खाने के बराबर ही होता है।

के बराबर है। वह (यजमान) जो (इस द्रव्य को) खाता है उससे (उसका कर्म) पितृदेवत्य[२] नहीं रहता, और जो उस वस्तु को खाता है जिसकी हवि (देव) ग्रहण नहीं करते उससे देवों को अतिक्रमण करके उसका खाना नहीं होता है ॥ ९ ॥

ब्रा०—स वा आरण्यमेवाश्नीयात्, या वारण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यम्। तदु ह स्माहापि बर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत, न वा एतेषां हवि गृह्णन्तीति। तदु तथा न कुर्यात्, व्रीहियवयोर्वा एतदुपचं यच्छमीधान्यं, तद्व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ करोति, तस्मादारण्यमेवाश्नीयात् ॥ १० ॥

प०—निश्चय से, वह जङ्गल के उत्पन्न पदार्थ खावे, चाहे वे जङ्गल की औषधियां हों या वृक्ष के फल। इस सम्बन्ध में वृषा के पुत्र बर्कु ने कहा, "मेरे लिये माष (उड़द) पकाओ, क्योंकि, निश्चय से, इन (उड़दों) की हवि का ग्रहण (देव) नहीं करते। परन्तु ऐसा न करे। क्योंकि शमी धान्य (तिल, माष आदि), निश्चय से, धान और जौ का उपच[३] (उपचय करने वाला) है, इसलिए इस (शमीधान्य) द्वारा व्रीहि और यव को ही अधिक[3] करता है, इस लिए जङ्गल के उत्पन्न पदार्थ ही खावे ॥ १० ॥

ब्रा०—स आहवनीयागारे वैतां रात्रिं शयीत गार्हपत्यागारे वा। देवान्वा एष उपावर्तते यो व्रतमुपैति। स यानेवोपावर्तते तेषामेवैतन्मध्ये शेते। अधः शयीत, अधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः ॥ ११ ॥

प०—वह (यजमान) आहवनीयागार में इस रात सोवे[४] अथवा गार्हपत्यागार में। जो व्रत ग्रहण करता है, निश्चय से, वह देवों का समीपवर्ती होता है। वह जिनका समीपवर्ती होता है उन्हीं के मध्य में सोता[१] है। (इसलिये) नीचे[२] (भूमि पर) सोवे, क्योंकि श्रेष्ठ की सेवा नीचे रहकर ही जाती है ॥ ११ ॥

२—अमावास्या तक कृष्णपक्ष के देवता पितर होते हैं। कुछ खा लेने से मनुष्य कार्य में समर्थ रहता है कमज़ोर नहीं होता। वह कर्म जो मनुष्य के सामर्थ्य को नष्ट करे, उसे कमज़ोर करे, वह पितृदेवत्य कहाता है और जो कर्म मनुष्य को कमज़ोर, क्षीण, असमर्थ न बनावे प्रत्युत कार्य करने की सामर्थ्य को उसमें बढ़ावे वह देवदेवत्य कहाता है, अतः ऐसा अन्न खाने से जिससे मनुष्य में सामर्थ्य बनी रहे और कार्य करने के लिये धारित संकल्प नष्ट न हो उसका कर्म अपितृदेवत्य होता है, और जो वह उस अन्न को खाता है जिसकी हवि देव ग्रहण नहीं करते हैं उससे देवों को उल्लंघन करके खाना नहीं होता है।

३—क्योंकि यह जो शमी धान्य है वह व्रीहि यव को बढ़ाने वाला होता है। जिस ऋतु में किसान लोग जौ और धान काटते हैं उसमें साथ २ मूंग आदि शमी धान्य भी काट लेते हैं। इस प्रकार उड़द मूंग आदि शमी धान्य देवताओं के अन्न की वृद्धि करने से "उपच" कहाते हैं।

४—अब यह प्रश्न है कि उपवसथ के दिन अर्थात् अमावास्या के दिन रात को कहां सोवे ? उसके लिये नियम करते हैं कि वह यजमान इस रात में या तो उस कमरे में सोवे जिसमें आहवनीय अग्नि रहती है, या उसमें जिसमें गार्हपत्य अग्नि रहती है, अन्यत्र न सोवे।

१—मनुष्य जिनकी सेवा में नियुक्त होता है उन्हींके बीच में उसका सोना भी उचित हुआ करता है।

२—देवों का निवास यज्ञ मण्डप में है अतः यज्ञमण्डप में ही निर्दिष्ट स्थान पर सोना चाहिये। सोते हुए वह नीचे सोवे खाट पलंग आदि पर न सोवे। नीचे तपस्या के साथ सोने से देव भाव उसमें जागृत रहते हैं। देवों की सेवा वा आदर नीचे सोने से होता है।

प्रणीता प्रणयन

मन्त्र—कस्त्वा युनक्ति सत्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति । कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥

यजु० अ० १ म० ६ ॥

ब्रा०—स वै प्रातरप एव प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते, अपः प्रणयति । यज्ञो वा आपः, यज्ञमेवैतत्प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते, ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद्वितनोति ॥ १२ ॥

प०—वह (अध्वर्यु) (अगले दिन) प्रातः काल सब से पहिले जलों के सामने जाता है और जलों का प्रणयन[३] करता है अर्थात् लाता है । जल यज्ञ रूप हैं इस कारण इस प्रथम[४] कर्म के द्वारा वह यज्ञ के ही सम्मुख प्राप्त होता है और जलों को जो लाता है उससे वह यज्ञ का ही विस्तार करता है ॥ १२ ॥

ब्रा०—स प्रणयति, कस्त्वा युनक्ति सत्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वायुनक्तीत्येताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः । अनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः, तत् प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं युनक्ति ॥ १३ ॥

प०—वह (अध्वर्यु) "कस्त्वा युनक्ति, सत्वा युनक्ति, कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति" इन अनिरुक्त व्याहृतियों द्वारा (जल का) प्रणयन करता है । प्रजापति अनिरुक्त है और यज्ञ प्रजापति रूप है इस कारण प्रजापति रूप से ही इस यज्ञ को जुटाता है अर्थात् प्रारम्भ करता है ॥ १३ ॥

ब्रा०—यद्वेवापः प्रणयति, अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तं तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ॥ १४ ॥

प०—इस कारण से भी वह जलों को लाता है, क्योंकि यह सब (जगत्) निश्चय से, जलों से व्याप्त है । अतः इस प्रथम कर्म से वह सब[६] (जगत) को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

३—यहां तक व्रतोपायन कर्म समाप्त हुआ । अब दूसरा कर्म आरम्भ होता है । इसका नाम अपां प्रणयन कर्म है । अपां प्रणयन का अर्थ है जल लाना । जिस पात्र में जल लाकर रक्खा जाता है उसे प्रणीता पात्र कहते हैं । यजमान ही जल लाता है । यदि यजमान जल न लासके तो अध्वर्यु ले आया करता है ।

४—पहिला काम ऐसा होना चाहिये जिससे यज्ञ का विस्तार आरम्भ होता मालूम हो । सृष्टि यज्ञ में सब से प्रथम उत्पत्ति 'अप' की है । अतः 'अप' ही प्रथम यज्ञ है ।

५—प्रश्न किया गया है कि यज्ञ के साथ तेरा सम्बन्ध कौन करता है ? उत्तर दिया है कि अस्पष्ट प्रजापति । प्रजापति (परमात्मा) जो कि अस्पष्ट रूप है वही तेरा सम्बन्ध कराने वाला है ।

६—जैसे मनुष्य भूमि को उसमें खाद डालकर तय्यार करके उस भूमि में बीज रख देता है और प्रकृति अपने साधनों के द्वारा अन्न को उत्पन्न करके हमें अभीष्ट फल को देदेती है, वैसे किसी भी कार्य में सिद्धि चाहने वाला मनुष्य प्रकृति में वर्तमान साधनों को इस प्रकार युक्त कर देता है कि वे युक्त हुए साधन अपने आप उसको उसके यज्ञ का अभीष्ट फल प्राप्त करा देते हैं । मनुष्य की चतुराई इसी में है कि अभीष्ट फल सम्पादन के निमित्त प्रकृतिस्थ साधनों को अनुकूल भाव में जोड़ दे । साधनों का अनुकूल भाव में जोड़ना ही यज्ञ सम्पादन करना है । इसलिये वह जो जल को लाता है, सो वह ऐसे पदार्थ को लाता है जो सर्वत्र आप्त है । जल सर्वत्र आप्त होने से वह जल को लाकर प्रथम कर्म से ही वह मन के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् सब के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है ॥१४॥

ब्रा०—यद्वेवास्यात्र होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वा ऽग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति तदेवास्यै-तेन सर्वमाप्तं भवति ॥ १५ ॥

प० और यज्ञ में होता वा अध्वर्यु वा ब्रह्मा वा अग्नीध्र वा स्वयं यजमान भी इस यज्ञ के जिस किसी अङ्ग को (प्रमाद के कारण) सिद्ध नहीं कर पाते यज्ञ सम्बन्धी वह सब इस (जल) द्वारा सिद्ध हो जाता है ॥ १५ ॥

ब्रा०—यद्वेवापः प्रणयति, देवान्ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुर रक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति । तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि ॥ १६ ॥

प०—फिर (उस कारण को बतलाते हैं) जिस कारण से वह जल लाता ही है । यज्ञ करते हुए देवों को "तुम यज्ञ मत करो" (इस वचन द्वारा) असुरों और राक्षसों ने रोका । जो इन्होंने रोका इस लिए इनका नाम राक्षस पड़ा ॥ १६ ॥

ब्राह्मण—ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदपः । वज्रो वा आपः । वज्रो हि वा आपः । तस्माद्येनै ता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति, यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति, तत एतं वज्रमुद्यच्छं स्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमत-न्वत । तथो एवैष एतं वज्रमुद्यच्छति, तस्याभये ऽना-ष्ट्रे निवाते यज्ञं तनुते । तस्मादपः प्रणयति ॥ १७ ॥

प०—तब देवों ने इस वज्र को देखा जो कि जल है । जल वज्र[1] है । चूंकि जल वज्र है इस कारण जिस (मार्ग) से ये (जल) जाते हैं उसे निम्न (नीचा) कर देते हैं, और जहां ठहरते हैं (वहां) जलाते वा सड़ाते हैं । इस कारण इस वज्र को (देवों ने) उठाया । और उस वज्र के कारण भयरहित, शत्रु-रहित तथा शत्रुओं के सम्पर्क से भी रहित स्थान में (देवों ने) यज्ञ का विस्तार किया । उसी प्रकार (अध्वर्यु) इस वज्र को उठाता है और उस वज्र के कारण भयरहित, शत्रुरहित, शान्त स्थान में यज्ञ का विस्तार करता है । इसी कारण जल का प्रणयन करता है ॥ १७ ॥

ब्रा०—ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं साद-यति । योषा वा आपो, वृषाऽग्निः, गृहा वै गार्हपत्यः; तद्गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते । वज्रं वा एष उद्यच्छति योऽपः प्रणयति । यो वा अप्रतिष्ठितो वज्र मुद्यच्छति नैनं शक्नोत्युद्यन्तुम् , सहैनं शृणाति ॥ १८ ॥

प०—(चमस आदि पात्रों पर) उस (जल) का सिंचन कर उसे गार्हपत्य (अग्नि) के उत्तर[2] में (अध्वर्यु) स्थापित करता है । जल स्त्री

१—भाव यह प्रतीत होता है कि जल शान्त है । इससे शरीर की शुद्धि होती है । तथा उसमें शान्त भाव का संचार होता है । शारीरिक शान्ति का प्रभाव मन की तथा आत्मा की शान्ति पर भी होता है । शरीर, मन और आत्मा के शान्तावस्था में होने पर राक्षसी और आसुरी भावों के साथ लड़ा जा सकता है । शान्ति से नम्रता भी आती है और इस द्वारा राक्षसी भाव हटाये जा सकते हैं । इसे ही जलाना-सड़ाना कहा गया है ।

२—गार्हपत्य के उत्तर दिशा में रखने का यह तात्पर्य है कि चूंकि जल स्त्री रूप है और अग्नि पुरुष रूप है तथा गार्हपत्य कुण्ड गृह हैं अतः गार्हपत्य अग्नि के पास जल रख कर इस अग्नि और जल के परस्पर सम्बन्ध से उत्पत्ति का कारण मिथुन ही सूचित किया जाता है । अग्नि और जल के सम्बन्ध से सब रूपों की उत्पत्ति हो रही है । यज्ञ में गार्हपत्य पार्थिव अग्नि का प्रतिनिधि है और आहवनीय सौर

रूप है, अग्नि (गार्हपत्य) पुरुष रूप है और गार्हपत्य (कुछ) गृहरूप है। इसलिए इस प्रकार इस घर में सन्तानोत्पत्ति का हेतु (जल और अग्नि का) एक मिथुन बनाया जाता है। जो जल का प्रणयन करता है, निश्चय से वह वज्र[3] उठाता है। जो अप्रतिष्ठित होकर वज्र उठाता है वह इसे उठा[4] नहीं सकता है क्योंकि ऐसी दशा में वह वज्र इस (अध्वर्यु) की हिंसा कर देता है ॥ १८ ॥

ब्रा०—स यद् गार्हपत्ये सादयति, गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा, तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति, तथो हैनमेष वज्रो न हिनस्ति तस्माद् गार्हपत्ये सादयति ॥ १९ ॥

प०—वह (अध्वर्यु) जल को गार्हपत्य (के समीप) में स्थापित करता है उसका कारण यह है कि गार्हपत्य गृह है और गृह स्थिति का आधार है। इस कारण वह स्थिति के आधार गृह में दृढ़ स्थित होता है। इस प्रकार वह वज्र[1] इसकी हिंसा नहीं करता। इस कारण गार्हपत्य के उत्तर में रखता है ॥ १९ ॥

ब्रा०—ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति। योषा वा आपो वृषाग्निः। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते। एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तम्। उत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते ॥ २० ॥

प०—उस जल को आहवनीय[2] अग्नि के

अग्नि का। पार्थिव अग्नि के चारों ओर फैलने से दूर गये हुए आपः वा सोम का सौर अग्नि में हवन होता रहता है। सौर अग्नि के मण्डल के भीतर ही पार्थिव अग्नि का मण्डल है। सौर अग्नि तथा पार्थिवाग्नि दोनों ही आपो मण्डल के अन्तर्गत हैं। आपः का (सोम का) प्रतिक्षण सौर अग्नि में हवन होरहा है। सौर अग्नि सोम को पार्थिव अग्नि में भेज रहा है। पार्थिव अग्नि सोम को नानाविध औषधि वनस्पति आदि के रूप में खड़ा कर देता है। इस प्रकार जितनी उत्पत्ति है वह सब अग्नि और सोम के सम्बन्ध से होरही है। इस उत्पत्ति के कारण अग्नि और सोम के मिथुन (सम्बन्ध) को दिखाने लिये ही गार्हपत्य अग्नि के उत्तर में आपः को रख देवे।

३—आपः को वज्र रूप कह चुके हैं। आपः को स्त्री रूप कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि आपः का वा स्त्री का लाना उससे प्रणय सम्बन्ध को बनाना वज्र को उठाने के समान।

४—जो विना म्यान के वज्र को उठाता है अथवा विना घर बनाये स्त्री लाता है उससे प्रणय अर्थात् प्रेम जोड़ता है वह उस वज्र को बिना ख़तरे के नहीं उठा सकता है, उस स्त्री को सम्भाल नहीं सकता है। वह वज्र ही उसे काट डालता है, और वह स्त्री ही उसे नाश कर डालती है ॥१८॥

१—वज्र वा स्त्री।

२—गार्हपत्य केवल प्रतिष्ठा है वहां स्त्री रूप जल को लाकर प्रतिष्ठित किया था, गार्हपत्य अग्नि आहुति का स्थान नहीं है। गार्हपत्य में हवन नहीं किया जाता। जैसे पार्थिव अग्नि सोम को चारों ओर फैला कर थामे हुए है, और उस सोम का प्रतिक्षण सौर अग्नि में हवन होता रहता है। सौर अग्नि में हुत हुआ सोम पृथिवी में प्रविष्ट होता है, पृथिवी की अग्नि उसे नाना रूपों में खड़ा करती है और धारण करती है। उसी उत्पत्ति के कारण अग्नि और सोम के मिथुन को समझाने के लिये आहवनीय के उत्तर में जल को अन्दाज़े से अग्नि के इतना नज़दीक रखता है कि न तो वह जल अग्नि को दीप्त रखने वाले प्राण वायु से सम्बन्ध का अग्नि से विच्छेद करता है और नहीं इतनी दूर रखता है कि अग्नि की उष्मा का प्रभाव ही जल पर न रहे। अतः लगभग एक हाथ के फासले पर उस जल को रख देता है।

उत्तर में लेजा कर स्थापित करता है । जल योषा (स्त्री) है और अग्नि वृषा (पुरुष) है । इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति का हेतु मि-थुन तय्यार होता है, चूंकि पुरुष के उत्तर (वाम पार्श्व) में स्त्री शयन करती है ॥ २० ॥

ब्रा०—तानान्तरेणसञ्चरेयुः । नेन्मिथुनं चर्यमाणमन्तरेण सञ्चरानिति । ता नातिहृत्य सादयेन्नो ऽअनाप्ताः सादयेत् । स यदतिहृत्य सादयेन्, अस्ति वा अग्नेश्चापाँ च विभ्रातृव्यमिव, स यथेव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप उपस्पृशन्ति, अग्नौ ह्यधिभ्रातृव्यं वर्धयेद् यदतिहृत्य सादयेद् । यद्यु अनाप्ताः सादयेत्, नो हाभिस्तं काममभ्यापयेद् यस्मै कामाय प्रणीयन्ते, तस्मादु सम्प्रत्येवोत्तरेणा हवनीयं प्रणयति ॥ २१ ॥

प०—उन जलों (तथा अग्नि) के बीच में से गुजरे नहीं । (इस बात का ख्याल रक्खे) कि कहीं मिथुन करते हुओं के बीच में से सञ्चार न करूं । जलों को (अग्नि से) सटाकर न रखे और नहीं उन्हें पहुँच से बाहर रक्खे । वह यदि दोनों को सटाकर रख देवे तो चूंकि अग्नि और जलों की कुछ शत्रुता सी है वह शत्रुता अग्नि के सम्बन्ध में (वहाँ) प्रकट होजाती है जहां जल (अग्नि को) समीप में होकर छूते हैं, इस प्रकार यदि सटा कर रखदे तो अग्नि अग्नि के प्रति शत्रुता बढ़ादे । और यदि उन (जलों) को पहुंच से बाहिर रखदे तो उनसे उस कामना को भी न पूरा कर पावे जिस काम के लिये वे (जल) लाये गए हैं, इस कारण आहवनीय के उत्तर में कुछ[3] अन्तर से ही लेजा कर रख देता है ॥ २१ ॥

(३) परिस्तरण तथा (४) पात्रासादन ।

ब्रा०—अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति, शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च, शम्यां च कृष्णाजिनं च, उलूखलमुसले, दृशदुपले । तद्दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड् वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभि सम्पादयति । अथ यद्द्वन्द्वम् । द्वन्द्वं वै वीर्यम् । यदा वै द्वौ संरभेते अथ तद्वीर्यं भवति । द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम् । मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥ २२ ॥

प०—अब तृणों[1] (दर्भों) द्वारा (अग्नि का) चारों ओर से आच्छादन करता है । (तृण बिछाने के बाद) दो दो पात्रों[2] को उठाकर लाता है । यथा—

उत्तर दिशा में रखने का तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुष के वाम हाथ में अर्थात् बाईं ओर सोती है । इसी प्रकार मानो मिथुन बनता है । इसीको दिखाने के लिये आहवनीय अग्नि के उत्तर दिशा में जल रखा जाता है ।

३—इसी प्रकार घर में लाई हुई स्त्री भी सर्वदा पुरुष के यदि अति सन्निध में रहेगी तो पुरुष को तेज और उत्साह से शून्य शान्त कर देगी और यदि दोनों बहुत दूर पृथक् २ रहेंगे तो वह प्रजनन कर्म ही कभी पूरा न होगा जिसके लिये उसे घर में लाया गया है । इसलिये पुरुष भी स्त्री को ऐसे सम्बन्ध से रक्खे कि न बहुत दूर लगे न बहुत समीप।

१—यहां तक पहिला कर्म व्रत ग्रहण (व्रतोपायन) और दूसरा कर्म जल का आहरण (प्रणीता प्रणयन) हो चुका । अब तीसरा कर्म परिस्तरण आरम्भ होता है । इस कर्म में वह यजमान वा अध्वर्यु आहवनीय अग्नि के चारों ओर और वेदि पर जहां बैठने उठने की जगह हो वहां कुशा घास बिछा देता है ।

२—जब सब जगह कुशा बिछ चुकीं तब चतुर्थ कर्म पात्रासादन अर्थात् पात्रों को लालाकर रखना होता है ।

शूर्प और अग्निहोत्रहवणी, स्फ्य और कपाल, शम्या और कृष्णाजिन, उलूखल और मुसल, दृषद और उपल। ये संख्या में दस हैं। विराट् (छन्द) दस अक्षरों वाला होता है। दस पदार्थ इकट्ठे होने से उनका स्वरूप विराट्[3] कहलाता है और उसे यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार विराट् रूप यज्ञ का सम्पादन करता है। अब पात्रों के जोड़े के ग्रहण का यह अभिप्राय है कि जोड़ा बल (का सूचक) है। जब दो मिल कर काम करते हैं तब उस कर्म में बल होता है। तथा जोड़ा उत्पादक-मिथुन के सदृश होता है, अतः जोड़ा बनाने से व्यक्तियों में उत्पादक-मिथुन की शक्ति उत्पन्न की जाती है॥ २२॥

यज्ञ में काम आने वाले जितने भी उपकरण होते हों उन सभी को पात्र कहते हैं। दो दो पात्र विधि पूर्वक आहवनीय गार्हपत्य में जहां 'हविः' पकाना होता है उसके उत्तर में या पश्चिम में अध्वर्यु वा यजमान रख देता है।

३—विराट् छन्द दश अक्षर का होता है। जहां कर्म में दश पदार्थ इकट्ठे हो जाते हैं उस कर्म को गौणवृत्ति से विराट् कह दिया जाता है। सब यज्ञों में मुख्य यज्ञ ज्योतिष्टोम है। इस यज्ञ में १९० स्तोत्रिय होते हैं। इनका १९ उन्नीस का विभाग करके दस विभाग बनते हैं। इस दस संख्या के सम्बन्ध से इस यज्ञ को विराट् कह दिया करते हैं। विराट् यज्ञ का भी नाम है। यहां दो दो पात्र करके दश पात्रों को जमा करने से विराट् यज्ञ का सम्पादन समझा जाता है।

ऋग्वेद में ऐतिहासिक स्थल

आलोचना

(४)

[ले०—वेद भाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ]

राजा भावयव्य और रोमशा की कथा वाले सूक्त पर विचार

लेखाङ्क (२) में हमने ऋग्वेद के १ मण्डल के १२५ वें सूक्त के २ य मन्त्र पर प्रकाश डाला था—अब तीसरे मन्त्र का स्वरूप दर्शाते हैं और देखते हैं उसमें क्या चिन्ह इतिहास के मिलते हैं। ३ य मन्त्र इस प्रकार है।

आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्
इष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन।
अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य
क्षयद्-वीरं वर्धय सूनृताभिः।

सायणाचार्य का भाष्य इस प्रकार है।

प्रातः पूर्वेद्युः प्रभातकाले ऽयं धनं दत्तवान् तस्मिन्नेव काले सुकृतं शोभनस्य कर्त्तारं त्वां इच्छन्प्राप्तुमिच्छन् कदा द्रक्ष्यामीति कामयमानोऽहं अद्य अस्मिन् दिने इदानीं आयं प्राप्तोऽस्मि। अत्र यद्यपि केवलं प्रातरित्येव श्रुतं न पूर्वेद्युरिति

तथापि अद्यायमित्युक्तत्वादर्थात् पूर्वेद्युः प्रातरिति गम्यते। कीदृशं इष्टेः इष्टस्य इष्टसाधनस्य यागस्य वा पुत्रं पुरु त्रातारं। पुत्रः पुरु त्रायत इति यास्कः। कर्तारमित्यर्थः। केन साधनेनेति। तदुच्यते। वसुमता रथेन समृद्धधनवता रथेन साधनेन। यद्वा, तेन सहेति सहार्थे तृतीया। किं च, तदानीन्तनेन समृद्धेन धनेनांशोः अंशुमतः वल्लीरूपस्य मत्सरस्य या दानसाधनस्य सोमस्य। मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। इति निरुक्तम्। तस्य सुतं अभिसुतं रसं पायय आत्मानं पायय इष्टसाधनं सोमयागं कुरु इत्यर्थः। कृत्वा च क्षयद्वीरं क्षियन्तो निवसन्तो वीराः पुत्रभृत्या यस्य तं तादृशं त्वदिष्टसाधनबहुधनप्रदातारं सूनृताभिः प्रियसत्यात्मिकाभिर्वाग्भिः वर्धय समृद्धं कुरु पुत्रभृत्यादिवीरैः यथा प्रवृद्धो भवति तथा कामयस्वेत्यर्थः।

सायण भाष्य का भाषार्थ—(प्रातः) प्रभात में इसने धन दिया उसी समय (सुकृतं) उत्तम काम करने वाले तुझको (इच्छन्) पहुंचना चाहता हुआ, कब देखूंगा ऐसी अभिलाषा करता हुआ (अद्य आयम्) अभी आया हूं। [टि०—यहां केवल 'प्रातः' ऐसा ही वेद ने कहा है 'पूर्वेद्यु' नहीं कहा तो भी 'अद्यायं' कहा है इसका अभिप्राय 'पूर्वेद्यु प्रातः' पहले दिन के सबेरे ऐसा ही प्रतीत होता है।] कैसे तुमको (इष्टेः) 'इष्ट' अभिलषित के साधने वाले वा यज्ञ के (पुत्रं) खूब रक्षा करने वाले [बहुतों की जो रक्षा करे वह 'पुत्र' है। यास्क०] अर्थात् कर्त्ता को। किस साधन से सो कहते हैं। (वसुमता रथेन) समृद्ध धन वाले रथ रूप साधन से। [टि०—अथवा-तेन सहेति तृतीया इस सूत्र से "सह' अर्थ में तृतीया जानो] और उस समय उस बड़े धन से (अंशोः) अंशुमान् वल्लीरूप (मत्सरस्य) मादन करने वाले सोम का। [मत्सर=सोम, तृप्त्यर्थक मन्द धातु से बना है। निरु०।] (सुतं) निकला रस (पायय) अपने को पिला। अर्थात् इष्ट साधक सोमयाग कर। करके (क्षयद्वीरं) जिस में 'वीर' अर्थात पुत्र भृत्यादि रहें ऐसे इष्ट साधक बहुत सा दान देने वाले को (सूनृताभिः) प्रिय सत्य वाणियों से (वर्धय) बढ़ा। ऐसी कामना कर कि वह पुत्र भृत्यादि वीरों से सम्पन्न हो।

(समीक्षा)—इस मन्त्र में सायण ने यह भी नहीं दर्शाया कि कौन किसको कह रहा है। तो भी अर्थ से प्रतीत होता है कि 'तुझ सुकृत' को चाहता हुआ मैं प्रातः पूर्व के दिन आया हुं। 'इष्टि अर्थात् याग के पालक वसुमान् रथ से अंशु मत्सर के निकले रस को पिला, बहुत से वीर भृत्यादि से युक्त धनदाता को बढ़ती की आशीष दे।' यह वाक्य भी पूर्व प्रसंगानुसार सायण की दृष्टि में कक्षीवान् का अपने पिता के प्रति है। हमें इतना ही कहना है कि इस मन्त्र में भी प्रत्येक शब्द पर बड़ा अत्याचार हुआ है। इस मन्त्र में भी पूर्व उद्धृत कथाओं के किसी भी पात्र का नाम या प्रसंग नहीं है। तो भी इसमें इतना मात्र अर्थ निकालना कि कक्षीवान् पिता से कहता है—"मैं तुझे देखने के लिये आज आया हूं, तू याग के रक्षक रथ के सहित सोम का रस पी और दाता को वाणियों से बढ़ा।" यह अर्थ मन्त्र के अभिप्राय को कितना निस्सार कर देता है।

अब इसके स्वाभाविक अर्थ पर ध्यान दीजिये।

स्वतन्त्र अर्थ—(अद्य) आज (प्रातः) (सुकृतं इच्छन्) 'सुकृत' को चाहता हुआ (वसुमता रथेन) वसुमान् रथ से (इष्टेः पुत्रम् आयम्) 'इष्टि' के

'पुत्र' को प्राप्त करूं। तू (अंशोः मत्सरस्य सुतं पायय) 'अंशु मत्सर' के सुत को पिला। (क्षयद्-वीरं) रहते 'वीर' को (सूनृताभिः वर्धय) सूनृताओं से बढ़ा।

इस अर्थ में '' इन चिन्हों में रखे सभी शब्द रहस्य से भरे हैं जब तक उनका अर्थ न खुलेगा तब तक मन्त्र का अर्थ छिपा ही रहेगा।

"आज मैं 'वसुमान् रथ' से 'सुकृत' चाहता हुआ 'इष्टि के पुत्र' को प्राप्त करूं" इस वाक्य को कौन कह सकता है ज़रा विचारिये। एक व्यक्ति है जो चाहता है कि 'इष्टि का पुत्र' प्राप्त करूं। फलतः स्पष्ट हो गया कि 'पुत्राभिलाषी' कोई व्यक्ति इस वाक्य का वक्ता हो सकता है पुत्र कौन चाहता है ज़रा देखिये! या तो गृहस्थ पुरुष पुत्र चाहता है। या विद्याभिलाषी पुरुष अपने विद्या सम्बन्ध से शिष्यरूप पुत्र की अभिलाषा किया करता है। पूर्व प्रदर्शित मन्त्रों में हमने आचार्य शिष्य का प्रसङ्ग स्पष्ट किया था। यहां भी वही प्रसङ्ग पुनः देख लीजिये। आचार्य कहता है—(इष्टेः पुत्रम् आयम्) मैं 'इष्टि' का 'पुत्र' प्राप्त करूं। 'इष्टि' दानार्थक और संगत्यर्थक, देव-पूजार्थक यज धातु से बना है। इष्टि का अर्थ है दान, देव पूजा, संगति। उसका 'पुत्र' अर्थात् (पुरु त्रायते इति पुत्रः) जो बहुत सों की रक्षा कर सके, वह 'पुत्र' है। फलतः जो विद्यार्थी आचार्य के दिये ज्ञान को बहुत मात्रा में रख सके, वह है 'इष्टि का पुत्र'। अथवा दान अर्थात् विद्यदान से उत्पन्न पुत्र भी 'इष्टि का पुत्र' कहा जा सकता है। फलतः वेद की दृष्टि में विद्यार्थी विद्या-दान से बना पुत्र है। वा 'विद्या को बहुत मात्रा में रक्षा करने वाला पुरुष ही इष्टि का 'पुत्र' है। ऐसे शिष्य की अध्यापक या आचार्य को सदा ही इच्छा बनी रहती है। वह स्वभावतः यही चाहता रहता है। वह क्यों चाहता है? (प्रातः सुकृतं इच्छन्) वह चाहता है कि प्रातः प्रभातवेला अर्थात् जीवन के प्रारम्भ काल में 'सुकृत' हो, अर्थात् शिष्य का जीवन उत्तम काम करने में समर्थ हो। और वह (वसुमता रथेन) वसुमान् रथ से युक्त हो। 'वसु' का अर्थ हम पूर्व लिख आये हैं कि 'वसु' कहते हैं आचार्य के आधीन बसने वाला शिष्य या अन्तेवासी, उन नाना शिष्यों से युक्त 'रथ' क्या पदार्थ है 'रथ' गाड़ी को कहते हैं। 'वसु' अर्थात् नाना ऐश्वर्यों से लदी गाड़ी से जिस प्रकार मनुष्य बहुत दूर देश तक की यात्रा कर लेता है और फिर दूर स्थित अपने उद्देश्य तक पहुंच जाता है इसी प्रकार आचार्य भी चाहता है कि मैं 'वसुमान् रथ' से सुकृत को चाहता हुआ विद्यार्थी पुत्र को प्राप्त करूं। विद्यारक्षक पुत्र को लक्ष्य करके जाने के लिए 'रथ' वह है जिसमें आनन्द पूर्वक बैठ कर जाया जाय। सुखसे बैठने, विराजने के अभिप्राय से यह 'रथ' यहां 'आश्रम' का वाचक है। फलतः, आचार्य ऐसे आश्रम से जो वसुमान् अर्थात् अधीन बसने वाले विद्यार्थी या वसु ब्रह्मचारियों से युक्त है उससे ही 'सुकृत' चाहता हुआ दिये विद्याधन के रक्षक पुत्र को प्राप्त करे। यही आचार्य की इच्छा है अब वेद विद्वान् आचार्य की इस अभिलाषा की पूर्त्ति का उत्तर क्या देता है? देखिये—

तब हे विद्वन्! तू भी–(सुतं अंशोः मत्सरस्य पायय। सूनृताभिः क्षयद् वीरं वर्धय) सुत को मत्सर अंशु का पान करा और सूनृताओं से बसते वीर को बढ़ा।

'अंशु'? व्यापक, 'मत्सर' (मत्–सर) आनन्द-

दायक तृप्तिकारक ज्ञान । उसका ही आचार्य उस बालक को पान करावे । जो 'सुत' है, जिसको उसने उपनयन द्वारा अपने गर्भ में रख कर पैदा किया है। और उसको वह माता के समान केवल ज्ञान का दूध ही नहीं पिलावे, प्रत्युत जैसे माता दुग्ध पान की अवस्था के अनन्तर भी अन्नों द्वारा बालक को पुष्ट करती है इसी प्रकार वह आचार्य भी (सूनृताभिः) शुभ सत्यमय वेद वाणी रूप अन्नों से (क्षयद्-वीरं) बसते हुए 'वीर' अर्थात् पुत्र को (वर्धय) बढ़ावे । यह शिष्य को पुत्र रूप से प्राप्त करने के इच्छुक आचार्य को मार्ग बतलाया है । इसी उपाय से आचार्य माता के तुल्य ही शिष्य की जननी कहा जाता है । और विद्यार्थी भी पुत्र कहा जाता है । साथ ही इसमें पुत्र बनने वाले शिष्य का भी स्वरूप कह दिया है । वह शिष्य (१) 'इष्टि का पुत्र' बने अर्थात् दिये हुए ब्रह्मदान या विद्यादान का इसी प्रकार रक्षक हो जैसे पुत्र पिता के दिये धन का रक्षक होता है। (२) जिस प्रकार माता पिता का पुत्र 'इष्टि' अर्थात् माता पिता के संग से उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह शिष्य भी विद्या द्वारा सत्संग से ही गुरु का पुत्र बन जाता है।

(३) उस शिष्य को चाहिये कि वह 'वसुमान्' रथ से पुत्र बने। 'वसु' का अर्थ जहां ब्रह्मचारी है वहां 'वसु' का अर्थ प्राण भी है। 'रथ' का अर्थ देह। फलतः वह शिष्य उत्तम प्राणों से युक्त देह से युक्त हो। उसके सब अङ्ग और इन्द्रियां बलवान् हों। वह भी अपने 'प्रातः', जीवन के प्रभात अर्थात् यौवन के पूर्व के जीवन काल में 'सुकृत' शुभकर्म, पुण्य धार्मिक जीवन चाहे। वह स्वयं भी आचार्य के समान ही विद्यादान की इष्टि के 'पुरुत्राता', उत्तम रक्षक को प्राप्त करे। इस प्रकार यह मन्त्र दोनों प्रकार से जुड़ता है। 'पुत्र' शब्द श्लेषोपमा से गृहस्थ पक्ष को भी व्यक्त करता है। इसलिए अगले उत्तरार्ध में वह और भी स्पष्ट होता है।

(४) वह शिष्य 'अंशु का सुत' है। पुत्र जिस प्रकार पिता के 'मत्सर अंशु' अर्थात् प्रहर्ष पूर्वक क्षरित हुए वीर्यांश से उत्पन्न होता और उसी से बढ़ता है उसी प्रकार वह शिष्य भी आचार्य के 'अंशु' सूर्य की किरणवत् व्यापक प्रकाश जो कि 'मत्' अर्थात् शिष्य की ज्ञान पिपासा को तृप्त करने वाले 'सर' अर्थात् प्रशस्त ज्ञान से उत्पन्न होता और उसी को दूधवत् पीकर पुष्ट होता है।

(५) वह शिष्य 'वीर' है। जैसे पुत्र वीर्य से उत्पन्न होने से 'वीर' है उसी प्रकार शिष्य विविध विद्याओं के कथन का पात्र होने से वीर (वि-ईर विविधानि ज्ञानानि ईर्यन्ते कथ्यन्ते यस्मै स वीरः) है। वह उस दशा में उसके अधीन निवास करने से 'क्षयत्-वीर' है। उसकी वृद्धि 'सूनृता' उत्तम 'ऋत', सत्य ज्ञानमय वाणियों से होती है। इधर श्लेषवृत्ति से 'सूनृता' शब्द अन्न का वाचक पढ़ा है। 'ऋत' भी अन्न को कहते हैं। पुत्र या बालक को उत्तम अन्नों से पुष्ट करने का आदेश है।

इस प्रकार वेद ने गृहस्थाश्रम के गृहपति या प्रजापति के तुल्य आचार्य प्रजापति के कर्तव्य का निरूपण कर दिया।

गृहस्थपक्ष में पुत्राभिलाषी गृहस्थ के लिये वसुमान् रथ गृहस्थाश्रम है। वे स्वयं वर वधू घर बसा कर बसने से वसु हैं। उनका आश्रम रमण करने से रथ है।

इस द्वारा वे 'इष्टि' का पुत्र प्राप्त करते हैं। यह पुत्रेष्टि यज्ञ है जिसमें स्त्री वेदि है। स्त्रीयोनि कुण्ड है। अर्थात् परस्पर संग रूप यज्ञ वीर्यांश आज्य है। उत्तम सन्तान उत्पन्न होना 'सुकृत' अर्थात् परम पुण्य है। वे भी इस यज्ञ रूप गृहस्थ जीवन के पूर्व काल में जब कि चढ़ता यौवन वसन्त में खिलते क्यारे के समान फूलता हो, करें।

अब प्रजा वा राष्ट्र के प्रजापति राजा की कथा भी सुनिये। वह 'वसुमान् रथ' से अर्थात् धनैश्वर्यसे समृद्ध रथसैन्य और राष्ट्र में बसी प्रजाओं से युक्त 'रथ' अर्थात् रमण करने योग्य ऐश्वर्य से 'सुकृत' चाहता है और 'इष्टि' अर्थात् इच्छानुकूल आज्ञा से उत्पन्न 'पुरु' बहुत से प्रजाजनों के रक्षा करने वाले सामर्थ्यवान् सैन्य बल को प्राप्त करे। वह खूब समृद्धि का प्रजा को पुत्र के समान उपभोग करावे। 'क्षयद्वीर, अर्थात् वीरों के नाश करने वाले सैन्य बल को वा पुत्रादि से सम्पन्न प्रजाजन को उत्तम सत्य व्यवहार युक्त आज्ञाओं और उत्तम अन्नादि सम्पन्न भूमियों से बढ़ावे।

अध्यात्म में-भक्त प्रातः प्रभात में ही अपने अभिलषित इष्टि अर्थात् उपासना, देव पूजा के पुण्य की इच्छा करता हुआ वसुमान रथ अर्थात् प्राणवान् आत्मा सहित उस भगवान् को प्राप्त करे। और अपने आत्मा को परमानन्द रस से पूर्ण व्यापक प्रभु का आनन्द रस पान करावे, उत्तम स्तुतियों से भीतर से आत्मा की शक्तियों को बढ़ावे। अपना आत्मा ही 'सुत' है। वही बसता वीर है। उसका भीतर में अभिषेक होता है उसके लिये 'सूनृता' स्तुतियां ही सुनृता [सु-शुभ ऋत-जल] सुखदायक जलधाराएं हैं। उनसे अभिषिक्त होने से ही वह 'सुत' है। वह अभिषिक्त हो कर स्वयं अपने को आनन्दमय मादक रस के कटोरे पिलाता है। वहां वह सम्राट् होकर विराजता है। वही पद प्राप्त करना वही स्वराज्य की अभिलाषा उसकी परम 'इष्टि' है।

इस प्रकार वेद का ज्ञान प्रदीपमय मन्त्र सब पक्षों को प्रकाशित करता है और इतिहास का कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। (क्रमशः)

सम्पादकीय

वेद की दृष्टि से वर्त्तमान शासनतन्त्रों की आलोचना

आज कल के संघर्ष के जमाने में शासक राजाओं के हाथों से त्रास पाकर प्रजाओं में क्रान्तियाँ फैली हैं। यूरोप के तख्ते पर अब राजाओं को प्रजा ने कान पकड़ कर गद्दी से उतार दिया है और वे प्रजातन्त्र राज्य का स्थापन कर रहे हैं। रूस में वोल्शेविक सरकार एक प्रजा सत्तात्मक शासन का ही रूप है। इंगलैण्ड में राजा तो गद्दी पर हिन्दुओं की देवप्रतिमा के समान सर्वोपरि भोगैश्वर्य भोगने के लिये राज मन्दिरों में स्थापित है। परन्तु शासन तो धनिक वर्गों और प्रजा वर्गों की सम्मिलित सभाएं जिनको पार्लियामेन्ट कहा जाता है कर रही हैं।

वस्तुतः देखा जाता है कि पार्लियामैण्ट या इंगलैण्ड की शिरोमणि राजसभा में भी भिन्न २ दलों की सत्ता है। वर्तमान में प्रमुख ३ दल हैं एक श्रमी दल, (Labour Party) दूसरा उदारदल (Liberals)

तीसरा धनिक वर्ग वा सम्पन्न वर्ग अनुदार दल (Conservatives) इन सब दलों के पूर्व, पहले केवल दो दल ही थे एक सम्पन्न-सभा (House of Lords) दूसरी जन सभा (House of Commons) परन्तु देश की भिन्न २ स्थितियों ने, सर्वसाधारण के स्वार्थों ने अब इस देश की शासक महासभा में भी कई दल खड़े कर दिये। श्रमीदल या लेबर पार्टी में प्रमुखता श्रमी लोगों के स्वार्थ ही की है। अवश्य इसका उत्थान धनीदल की ज्यादती के कारण हुआ। वह दल बल पकड़ गया। और सरकार का शासनतन्त्र उसी दल के हाथ में आगया। यदि धनीदल की सरकार हो तो वे लोग व्यवसायी और जमींदार हैं। फलतः अवश्य तब सरकार या शासनतन्त्र वैश्य वर्ग के हाथ में रहता है। फलतः इन दोनों दलों को वैदिक परिभाषा में हम 'शूद्र' और 'वैश्य' नाम से कह सकते हैं। लेबर पार्टी या श्रमीदल के के हाथ में जब तन्त्र रहता है तब इंगलैण्ड में अवश्य 'शूद्रराज्य' होता है और जब सरकार कंसर्वेटिव दल के हाथ में होता है तब वैश्य-राज्य होता है।

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जब जिस दल का आधिपत्य होगा तब वह दल अपने स्वार्थ और प्रवृत्ति के अनुसार ही तन्त्र चलावेगा। इसलिये जब कैपिटलिस्ट अर्थात् धनिकवर्गों का प्रभुत्व रहा तब अंग्रेज सरकार ने जितने देश विजय किये वे क्यों किये? केवल व्यापार वृद्धि के लिये। उसका सर्वत्र यही उद्देश्य रहा कि अन्य देशों में हम व्यापार कर करके धनैश्वर्य कमावें।

वैसे तो अंग्रेज जाति स्वभावतः वैश्य जाति अर्थात् बनियों की जाति है और उनमें व्यापारियों का ही अधिक बल है इस लिये स्वभावतः विजित देशों में अपना व्यापार व्यवसाय बढ़ाने और देश समृद्धि की वृद्धि व्यापार द्वारा करना ही उनका लक्ष्य रहा। परन्तु जब भारतवर्ष जैसे अधीन देशों ने अपने को आर्थिक और शासन सम्बन्धी बल में लुटा पाया तो यहां विक्षोभ उठ खड़ा हुआ। तब स्वभावतः भारतीय उत्थानकारी नेताओं ने शासक सरकार के मुख्य मर्म व्यापार पर ही आघात किया। फल क्या हुआ? अंग्रेजों के समस्त देश में विक्षोभ मच गया और व्यापारिक वर्ग में आर्थिक हानि असह्य हो उठी और उससे समस्त जाति भर की मृत्यु होती हुई सी पता लगने लगी। तब स्वभावतः राष्ट्रीयदल (National Party) का उत्थान हुआ। इस दल ने बल पकड़ा, परन्तु क्योंकि इस दल के मुख्य नेता सम्पन्न वर्ग हैं इसलिये यह शासन भी वैश्य राज्य ही है। इंगलैण्ड के शासन तन्त्र को हम कभी भी क्षत्रिय शासन नहीं कह सकते। क्षात्र बल तो इंग्लैण्ड में वेतनभोगी है। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ग या पण्डित समाज भी या तो सम्पन्न लोगों के कारबार में लेखकगण के रूप से वेतनभोगी हैं। या अध्यापक, प्रोफेसर रूप से वेतन भोगी हैं। या शासन तन्त्र में वेतन भोगी हैं उनका स्वतन्त्र बल कहीं भी नहीं है। इसलिये यदि हम कहें कि इंगलैण्ड का शासन तन्त्र शूद्रदल, वैश्यदलों के बीच फुटबाल है और ब्राह्मण क्षत्रिय लोग उनके अनादृत हैं तो कुछ भी असत्य नहीं। परन्तु यह आदर्श सत्य है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस शासन में किसी दल को भी संतोष नहीं है। दोनों दलों में संघर्ष लगाही रहता है। किसी भी दल की मुख्यता रहने पर, सहस्रों लाखों

बेकार, और सहस्रों लाखों मुफ्तखोर हैं। व्यापार पालित देश होने से इंग्लैण्ड देश की स्वसत्ता स्वाधीन न होकर पराश्रित है, इसलिये उसका जीवन सदा संकट में है। उस संकट को दूर करने के लिये वह देश सदा परदेशों पर शासन करता हुआ उनको भूखे के समान आहारवत् खाने के यत्न में रहता है। अतः जो दल भी दूसरे देश को उत्तम साधनों से आहार बनावे वही दल बल पकड़ेगा। परन्तु जो देश अंग्रेजों का आहार होगा उसके आगे समस्या खड़ी होजाती है। वहां शास्य शासक के सम्बन्ध के साथ आहार, भोक्ता का सा सम्बन्ध होता है। इस समस्या पर एक वेद मन्त्र इस प्रकार प्रकाश डालता है :

यद् हरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यते ।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥
यजु० अ० २३।३०॥

जो हरिण जौं को खाजाता है तो क्षेत्र का स्वामी उस पशु को पुष्ट हुआ नहीं जानता प्रत्युत क्षेत्र का स्वामी अपने जौ को खाया हुआ देखकर खेत को उजड़ता हुआ देख कर दुखी होता है। इसी प्रकार जो राज सत्ता किसी देश या राष्ट्र की प्रजा को खा जाय, उसका धनैश्वर्य चूस कर निर्धन और दरिद्र करदे तो उस निर्धन होती हुई प्रजा के नायक लोग उस समय की शासक राजसत्ता की समृद्ध दशा पर दृष्टिपात करके प्रसन्न नहीं हो सकते। प्रत्युत प्रजा का विनाश होता देख कर बड़े व्याकुल हो जाते हैं।

इसी प्रकार (शूद्रा यदर्यजारा०) जो नौकरानी या दासी अर्यजारा होती है अर्थात् अपने स्वामी के भोगसुख देने में लम्पट हो जाती है वह (न पोषाय धनायति) अपने पोषण के लिये भी धन नहीं चाहती। प्रत्युत अपना नाश करती है। इसी प्रकार जो प्रजा स्वयं सम्पन्न न रह अपने ऊपर खड़ी शासक सत्ता के लिये अपना सर्वस्व समृद्धि दे दे अपने आप केवल श्रम पूर्वक पैसा कमावे और वह भी शासक सत्ता को देदिया करे तो वह कभी अपनेको पुष्ट या धनसमृद्ध करने के लिये ऐश्वर्य का स्वप्न ही नहीं देख सकती क्योंकि वह शूद्रा या लेबरर होकर 'अर्यजारा' अर्थात् अपने स्वामी के भोग या लोभवृत्ति से ही जीर्ण शीर्ण होती जाती है। वह कभी उस तृष्णालु अर्य अर्थात् वैश्य स्वभाव के बनिया सरकार के शासन में आकर पनप या समृद्ध नहीं हो सकती। अंग्रेज जनता बनियों की जाति है। उसने पहले अमरिका को हस्तगत किया था। वहां भी वह वहां वालों को केवल कृषक बना कर अपने देश को सम्पन्न करने की नीति में लगी। परन्तु इसी पर अमेरिका इंग्लैण्ड में संघर्ष चला। और अमेरीका स्वाधीन हो गया। अब भारत पर भी अंग्रेज सरकार की वही नीति है कि भारत को निःसम्पत् करके उसे केवल कृषक देश कर दिया जावे, पर अब वर्त्तमान संघर्ष भी उस नीति के विरोध में उठा है। अब भारत में यही भाव जाग रहा है कि हम 'अर्यजारा' प्रजा नहीं रहें अर्थात् बनिया सरकार के नीचे शूद्र या लेबरर या केवल कच्चा माल पैदा करने वाले श्रमी बन कर नहीं रहेंगे, परन्तु हम अपने हाथ से पक्का माल खादी आदि बना कर अपना पैसा परदेश में न जाने देकर स्वयं समृद्ध बनेंगे। क्यों? क्योंकि 'अर्यजारा' अर्थात् स्वामी शासक, के हाथों सर्वस्व धनादि में जीर्ण होजाने पर अपने (पोषाय) समृद्धि के लिये हम धन की कामना नहीं कर सकेंगे। हमारी सब पैदावार हमें धन सम्पत्ति न देगी प्रत्युत

दूर देशस्थ कैपिटिलिस्ट उससे समृद्ध हो जावेंगे। और अन्तमें हम शूद्र ही रह जावेंगे।

यदि यह दशा अंग्रेज सरकार ने भारत में उत्पन्न की है और उस अर्यजारा नीति ने यहां क्रान्ति उत्पन्न की है तो कोई विस्मय नहीं, क्योंकि इंगलेण्ड में इस अर्यजारा नीति ने अंग्रेजों को स्वयं भी चैन से भी नहीं रहने दिया। क्योंकि श्रमी दल का उठकर दलबन्धी करके लेबरपार्टी को खड़ा करना भी स्पष्ट यही बतलाता है कि वहां के कैपिटलिस्टों ने राजसत्ता को सम्हाल कर शेष समस्त प्रजा को अधिक भाग में श्रमी बनाकर भारी भोगैश्वर्य से वंचित किया। इसी स्पर्धा से लेबरदल खड़ा होगया। लेबरदलों ने स्वयं अपने २ संघ बनाकर स्वयं समृद्ध होने और सुख भोगने के उपाय किये। इसी प्रकार योरोप में बोलशेविक और साम्यवाद की क्रान्तियां भी धनिक वर्गों की उत्पन्न की हुई अर्थविषमता से ही उत्पन्न हुई हैं। यह भी प्रजा को 'अर्य जारा-शूद्रा' बनाकर शासन करने की कुटिल नीति का ही रूपान्तर है। इस प्रकार वेद बड़े संक्षेप में वर्त्तमान राजनैतिक प्रश्नों को समझाता है। शान्ति तभी हो सकती है जब कि—

> यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
> तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
> यत्रेन्द्रश्चवायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
> तं ल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥
>
> यजु० अ० २० । म० २५।२६॥

अर्थ—जिस देश में ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग समान तेजस्वी और आदर प्राप्त कर एक साथ गति करते हैं जहां विद्वान् जन और वीरजन अग्निवत् तेजस्वी नायक के साथ रहते हैं मैं उस लोक स्थान या देश को पुण्य, पवित्र, निष्पाप, सर्वोत्कृष्ट करके जानता हूं। और जहां ऐश्वर्य और वायुवत् बलवान् वैश्यवर्ग और क्षत्रियवर्ग समान रूप से तेजस्वी होकर विचरते ऐश्वर्य का भोग करते हैं और जहां किसी प्रकार की हाय २ वा हृदय की कसक नहीं है मैं उस लोक को पुण्य देश करके जानता हूं। इन मन्त्रों पर फिर किसी नोट में प्रकाश डालेंगे।

जयदेव शर्मा

भक्त और उपास्य

वेद में परमेश्वर की भक्ति के बहुत ही उत्तम २ आदर्शों का वर्णन है। परन्तु जिनका परिचय न होने से उनपर सर्व साधारण की दृष्टि नहीं पड़ती। उदाहरण के रूप में जैसे ऋग्वेद म० ६।१।४॥

> पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम् ।
> नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्तसन्दृष्टौ ॥

'श्रवस्यु' लोग नमस्कार द्वारा देव परमेश्वर के अति शुद्ध, पवित्र, श्रवण योग्य 'पद' अर्थात् स्वरूप को प्राप्त होते हुए उसके नाना यज्ञिय नामों को लिया करते हैं और वे कल्याणकारिणी सम्यक् दृष्टि में ही आनन्द प्रसन्न रहते हैं।

इस मन्त्र में उपास्य का नाम 'देव' और भक्त का नाम 'श्रवस्यु' बतलाया है। देव का अर्थ दाता है, और श्रवस्यु का अर्थ श्रवस् अर्थात् अन्न चाहने वाला है। परमेश्वर दाता है। जीव 'श्रवस्यु' अर्थात् अन्न के इच्छुक हैं। स्पष्ट हुआ कि अन्न के इच्छुक लोग जैसे दानी पुरुष के पास जांय और उसके आगे झुक उसका अनुनय विनय करते हैं, उसके (पदं व्यन्तः) पद अर्थात् चरण को छूते हैं और फिर वे प्रसन्न कर उसके पास (अमृक्तम् श्रवः) अतिशुद्ध पवित्र अन्न

प्राप्त करते हैं उसी प्रकार भक्त को परमेश्वर के आगे भी विनय से उसकी स्तुति, नमस्कार करनी चाहियें।

यदि परमेश्वर समस्त सुखों के देने से 'देव' है तो साथ ही वह सर्वप्रकाशक होने से भी देव है। वह तेजोमय सूर्य के समान प्रकाशक है। उस प्रभु के प्रति (नमसा) नमस्कार, आदरभाव, श्रद्धा और विनय भाव से ही 'श्रवस्यु' जन उसके (पदम् व्यन्तः) परम पद को, या वाचक पद 'ओ३म्' को (व्यन्तः) ज्ञान, मनन और साक्षात् करते हुए (अमृक्तम् श्रवः) अति पवित्र श्रवण मनन योग्य स्वरूप को भी (आपन्) प्राप्त कर लेते हैं।

जो भक्त परमेश्वर का प्रेमी है। उसे प्रथम श्रवस्यु होना चाहिये। श्रवस्यु वह कहलाता है जो 'श्रवस' चाहे। 'श्रवस्' क्या? श्रवण करने योग्य पदार्थ 'श्रवम्' कहाता है। परमेश्वर का नाम गुरुमुखों से श्रवण किया जाता है। इसलियें परमेश्वर का परम ब्रह्म ज्ञान 'श्रवम्' कहाता हैं। वह ज्ञान 'अमृक्त' है। अर्थात् उसके साथ किसी अन्य पदार्थ का लेप या संसर्ग नहीं है। वह अति शुद्ध और पवित्र है। उसको अन्य किसी भी उपाय से मांजने, पवित्र करने की आवश्यकता नहीं है। जो स्वतः शुद्ध है उसको अन्य पदार्थ शुद्ध नहीं करता। साथ ही परमेश्वर 'अमृक्त' अर्थात् जिससे अधिक दूसरा कोई पवित्र नहीं ऐसा सर्वोपरि सब से अधिक पवित्र हैं। उसी परम भक्ति से श्रवण करने योग्य परमेश्वर के स्वरूप या पद को भक्ति भाव से परमेश्वर का नाम जान ने वाला आवश्य प्राप्त करता है।

तो क्या 'नाम रटने' का कोई महत्व है? नहीं नाम रटने को परमेश्वर वेद में उपदेश नहीं करते। प्रत्युत वेद का तो यह कहना है कि परमेश्वर के श्रवण योग्य अति पवित्र स्वरूप को वे लोग प्राप्त करते हैं इस सर्व प्रकाशक और सर्वप्रदाता प्रभु के अति श्रवणीय 'पद' स्वरूप, परम पावन प्रभु के पद को (नमसा) अति विनीत भाव से ऐसे स्वीकार करते हैं जैसे 'श्रवस्यु' अर्थात् ज्ञान श्रवण करने के इच्छुक विद्यार्थीजन 'देव' अर्थात् ज्ञानप्रकाशक गुरु के (पदं व्यन्तः) पद, युगल को प्राप्त करते हैं और वे उसके (अमृक्तं श्रवः) अतिपवित्र ज्ञान को साक्षात् प्राप्त करते हैं।

परमात्मा का श्रवण योग्य स्वरूप कैसा है? वेद ने कहा प्रभु का वह 'श्रवस्' अर्थात् 'श्रव्य' नाम 'अमृक्त' अर्थात् 'अपृक्त' है 'अपृक्त' क्या है? अन्यों से सर्वथा असम्बद्ध को 'अपृक्त' कहा है। निरुक्त के नियमानुसार वर्ण विपर्यय विधि से 'प' को 'म' होगया है। अथवा निरुक्त के नियमानुसार 'अमृक्त' पद में ककार का उपजन होगया है। अमृक्त का परोक्ष रूप 'अमृत' है। प्रभु का नाम 'अमृत' है जो कभी नाश को प्राप्त नहीं होता।

अथवा 'मृजूशुद्धौ' धातु से नञ् को योग कर 'क्त' प्रत्यय करने से 'अमृक्त' पद बनता है। वा 'मृग मार्गणे से भी बन सकता है। इन धातुओं के अर्थो के अनुसार 'अमृक्त' पद का अर्थ है (१) 'न मृज्यते' जिसको अन्य किसी पावन करने वाले निमित्त की आवश्यकता न हो, स्वयं पवित्र। (२) 'नमृक्तो यस्मात्। जिससे अधिक कोई दूसरा पवित्र न हो अर्थात् सबसे अधिक पवित्र। (३) मृग्यामाणोऽपि लब्धो न भवति'। लोग ढूंढते हैं पर मिलता नहीं। सो वस्तुतः परमेश्वर स्वयं पवित्र, सबसे अधिक पवित्र और

अज्ञानियों से लाख ढूंढने पर भी स्थूल पदार्थों में कहीं नहीं मिलता। उस परमेश्वर का 'पद' स्वरूप 'श्रवः' है। अर्थात् उसका स्वरूप 'पद' (पद्यते इति पदम्) अर्थात् ज्ञान करने योग्य परम वेद्य है। उस का ज्ञान किये बिना परमानन्द का लाभ नहीं हो सकता। कैसे उसका ज्ञान करें ? सो वेद उसका दूसरा विशेषण बताता है कि वह प्रभु का पद 'श्रवः' है। 'श्रवस्' अर्थात् श्रवण करने योग्य है। बिना गुरु के द्वारा श्रवण किये उसका ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे मुण्डक उपनिषद् में लिखा है—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित् पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

जिज्ञासु उस परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये और हाथ में समिधा ग्रहण कर वेदज्ञ, ब्रह्मज्ञान में निष्णात गुरु के पास ही जावे।

तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्
प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्म विद्याम् ॥

विद्वान् समीप आये चित्त में शान्त, शमसाधक, जिज्ञासु पुरुष को यथार्थ ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे जिससे वह अक्षर पुरुष का ठीक २ प्रकार से ज्ञान करले। इस श्रवण करने योग्य ब्रह्मज्ञान का श्रोता शिष्य शुश्रूषु होकर गुरु के समीप आता है। उसको वेद ने 'श्रवस्यु' कहा है। वह श्रवण करने योग्य परम प्रभु के वेद्य स्वरूप के ज्ञान का अभिलाषी होता है। वे सदा 'नमसा' विनीत भाव से झुककर के ही उस परम ज्ञान को लाभ कर सकते हैं। विनय से मनुष्य पात्र बन जाता है।

श्रवण कर लेने के अनन्तर जब शिष्यों की 'सं-दृष्टि' सम्यक् दृष्टि होजाती है। अर्थात् उनको यथार्थ तत्व-ज्ञान होजाता है तब वे उपासक उस परमेश्वर के 'नाना यज्ञिय नाम धर लेते हैं, वे पमेश्वर को अनेक नामों से पुकारने लग जाते हैं। और वे सब नाम यज्ञिय अर्थात् उसके यज्ञ उपासना या देव पूजा और सत्संग के योग्य होते हैं। उन नामों से प्रभु की उपासना होती है और प्रभु का हृदय में लाभ होता है।

वे भक्तजन सदा अपने सम्यक् दर्शन में 'रण-यन्त' आनन्द लाभ किया करते हैं। परमार्थ दर्शन हो जाने पर भक्त को फिर लौकिक कष्ट संतप्त नहीं करते। वह सम्यक् दृष्टि 'भद्रा' है। (भदि कल्याणे सुखे च) अर्थात् वह अति कल्याणमय अतिसुख प्रद होती है। अथवा (भद्रो भगेन व्याख्यातः। निरु०) भद्र अर्थात् भग अर्थात् ऐश्वर्यमय और सेवने योग्य होती है।

इस प्रकार वेद ने भक्त और उपास्य देव का उत्तम रूप से वर्णन किया है। परन्तु स्थूल बुद्धि के लोगों ने प्रभु के स्थूल रूप की कल्पना करके उसके चरणों को ध्यान करना ही अपना ध्येय कर लिया है। वे मूर्ति के मूल में ही सर नवाते हैं। और ऐसे नाना नामों से भी अपने ठाकुर को बुलाते हैं जिनसे कोई उपासना वा उत्तम ज्ञान भी नहीं होता।

यदि किसी के चरणों में ही नमस्कार करना हो तो शास्त्र कहता है कि—

"आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।"

आचार्य ब्रह्म, परमेश्वर का मूर्त्त रूप है। पिता प्रजापति की मूर्त्ति है। तो पुरुष को चाहिये कि वह अनेक जड़ पदार्थों के आगे सर न नवाकर आत्मा का

अपमान न करे। प्रत्युत वह गुरु के चरणों में जाकर श्रवण योग्य ज्ञान का श्रवण करे और वहां से सम्यक् ज्ञान का लाभ कर सुखी हो।

वैदिक वर्ष गणना

वैदिक साहित्य में बरस या साल का वाचक 'शरत्' शब्द बहुत अधिक प्रयुक्त होता है। इसी आधार पर बहुतों का विचार यह है कि प्रायः प्राचीन आर्य अपने वर्ष या साल को 'शरत्' कहते हैं इसलिये वह पूर्वकाल में किसी शीत प्रधान देश के वासी होंगे। और ध्रुव प्रदेश में अतिशीत होता है इसलिये प्राचीन वैदिक युग के वासी अवश्य ध्रुव के समीप वर्ती शीत कटिवन्ध के रहने वाले होंगे। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। क्योंकि किसी शब्द का प्रयोग कोई भी बात सिद्ध नहीं कर सकता जब तक कि उसके प्रयोग के मूल कारण पर विचार न किया जाय।

शरत् ऋतु को ही प्रधान मान लेने से प्रति वर्ष आने वाली शरत् की संख्या से ही वर्ष की गणना की जाती है। इसमें शीत प्रधान देश की कोई विशेषता नहीं है। ग्रीष्म प्रधान देशों में भी प्रति वर्ष शीत काल आता ही है। उन स्थानों के वासियों के जीवन में भी शीत ऋतु उसी प्रकार गणना का कारण बना रहता है। वल्कि जिन अतिशीत हिम प्रधान देशों में १२ महीनों में शीत प्रायः समान रूप से रहता है उनमें शीत या शरत् का लक्षण विशेष महत्व का न होकर ग्रीष्म काल ही अधिक और विशेष रीति से स्मरण करने योग्य हो सकता है। परन्तु हम इस प्रकार कोई भी नियम नहीं बना सकते।

विशेष कर वैदिक साहित्य में तो प्रायः सभी ऋतुओं को सामान्य रूप से लक्षणा वृत्ति से वर्ष का वाचक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जैसे—जहां 'शृणुयाम शरदः शतम्' आदि स्थलों में 'शरद्' शब्द का प्रयोग है इसी प्रकार 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इत्यादि स्थलों पर 'समा' शब्द का प्रयोग है यह 'समा' शब्द प्रायः वर्ष वाचक ही समझा जाता है। परन्तु वस्तुतः इस शब्द में दिन रात्रि और शीत उष्णता दोनों समान रूप से जिस ऋतु में हों उसी को बतलाने का विशेष भाव है और 'शरत्' के समान ही इस शब्द को भी वर्ष वाचक होने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार वेद में जैसे—'वदेम शतहिमाः सुवीराः।' इस स्थान पर हिम शब्द हेमन्त वाचक होकर भी यहां वर्ष का वाचक ही है। 'वत्सर' शब्द में 'वस' धातु का योग होने से यह वसन्त का उपलक्षक है।

इसी प्रकार 'वर्ष' और 'अब्द' ये तो शब्द वर्षा ऋतु के उपलक्षण से साल या बरस को बतला रहे हैं। वसन्त, हेमन्त, ग्रीष्म आदि शब्दों का भी इसी प्रकार वर्ष के निमित्त प्रयोग होता रहा है परन्तु बहुत कम प्रयोग होने से उनका अधिक प्रयोग देखने में नहीं आता। फलतः केवल 'शरद्' शब्द का वर्ष वाचक होना इससे आर्य जाति का शीत कटिवन्ध में होना अनुमान करना हमारी सम्मति में दूरदर्शिता प्रतीत नहीं होती, प्रत्युत अनभिज्ञता प्रतीत होती है।

जयदेव शर्मा

Registered No. N—502

तथा इस बालामृत के सेवन से बच्चों के चेहरे की रौनक़ भी बढ़ती है।

नक़्क़ालों से ख़बरदार रहें.

शीशी पर यह पता है:—K. T. Dongre & Co. Girgaum, BOMBAY.

प्रसव के पीछे की दुर्बलता दूर करने के लिये

ही एकमात्र दवा है

जो अंगूरी दाखों से बना हुआ, मधुर और स्वादिष्ट होने के कारण चेहरे पर सुर्खी और बदन में स्फूर्ति लाता है, भूख बढ़ाता है, जिससे बदन में खून और मांस बढ़ता है, दस्त साफ लाता है, स्त्री, पुरुष, बूढ़े, बालक सभी को सब ऋतुओं में उपकारी है। कीमत बड़ी बोतल २) छोटी बोतल १) रु०

व्यापारी तथा सद्गृहस्थों को नमूना मुफ्त। खरीदते समय सुख संचारक नाम देखकर खरीदिये।

सब दुकानदारों और दवा बेचने वालों के पास मिलेगा।

गर्भाशय के रोगों की निश्चित दवा

प्रदरारि

श्वेत प्रदर, रक्त प्रदर, ऋतु कष्ट, अनियमित ऋतु आदि गर्भाशय के सब रोगों की एकमात्र दवा है।

कीमत १॥) रु०

मिलने का पता—सुखसंचारक-कम्पनी, मथुरा.

श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मण्डल लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।

माघ-फाल्गुण सं० १९८९ वि० फरवरी सन् १९३३ ई०

वैदिक विज्ञान

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुखपत्र

वर्ष १] [अङ्क ५

इस अङ्क में पढ़िये

महर्षि दयानन्द व दण्डी विरजानन्द

अवैतनिक सम्पादक—श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिकविज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २॥),नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये।
२—"वैदिकविज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।
३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।
४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।
५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।
६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो –) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।
७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।
८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।
९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो,तो अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें, तो उसके लिए हमें लिखना चाहिए।
१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।
११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या –)। का टिकट भेजना चाहिए।
१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।
१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है।
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १	माघ, फाल्गुण, संवत् १९८९ वि०, फरवरी, सन् १९३३ ई०	सं० ५

वेदोपदेश

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

"ऋजुमार्ग के चाहने वाले तथा ऋजुमार्ग पर चलने वाले देवों की सुख कारिणी और कल्याण कारिणी सुमति हमें प्राप्त हो, देवों का दान हमें प्राप्त हो। देवों की मैत्री या समान ख्याति को हम प्राप्त हों, देव हमारी आयु को बढ़ाएं, ताकि हम दीर्घजीवी हो सकें,,।

१—इस मन्त्र में जीवन के कतिपय आवश्यक अंगों पर प्रकाश डाला गया है। जीवन में सुमति चाहिये, अमति और कुमति नहीं। सुमति अर्थात् उत्तम मति जीवन को उत्तम बनाती है। अमति अर्थात् मति का, मनन शक्ति का, या विचार का न होना, तथा कुमति अर्थात् मति का कुत्सित होना, बुरा होना, उल्टा होना—ये दोनों ही जीवन की उन्नति में बाधक हैं। ये दोनों जीवन को गिरा देते हैं और जीवन की अवधि को भी घटा देते हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि सुमति है क्या? सुमति के स्वरूप को ढूंढ़ने के निमित्त मन्त्र ने देवों के जीवनों की ओर दृष्टिपात करने का उपदेश दिया है, और

कहा है कि "देवों की सुमति हमें प्राप्त हो"। परन्तु संसार में देव और अदेव का भेद करना भी एक कठिन समस्या है। इस समस्या का हल इस मन्त्र ने बहुत आसानी के साथ कर दिया है। इस मन्त्र ने देवों का लक्षण कर दिया है। देव वे हैं जो कि "ऋजु-मार्ग के चाहने वाले हैं तथा ऋजुमार्ग पर चलने वाले हैं।" संस्कृत में ऋजु का अर्थ होता है—सरल तथा सीधा। परन्तु सरल तथा सीधे मार्ग से अभिप्राय उस मार्ग का नहीं है जिस पर कि व्यक्ति को चलना सुगम हो, आसान हो। ऋजु या सरल और सीधे मार्ग से अभिप्राय सत्य के मार्ग से है। अथर्व वेद काण्ड ८, सूक्त ४, मन्त्र १२ में कहा गया है कि "तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयः" अर्थात् असत्य और सत्यमार्ग में से सत्य मार्ग वह है जो कि ऋजु है, सरल है, सीधा है। अतः वैदिक परिभाषा में देव वे हैं जो सत्य के मार्ग को चाहते हैं और स्वयं सत्य के मार्ग पर चलते हैं। संसार में सत्य के मार्ग के चाहने वाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु सत्य के मार्ग पर स्वयं चलने वाले बहुत कम हैं। ऐसे लोग जो कि सत्य के मार्ग को चाहते हैं, सत्य के मार्ग के साथ प्रेम करते हैं और सत्य के मार्ग पर चलते भी हैं, उन्हें देव कहते हैं। ऐसे देवों की सुमति को हमें अपने जीवनों में प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिये।

इस सुमति का काम है सुख को उत्पन्न करना तथा कल्याण करना। संसार के अभ्युदय का नाम सुख है और आत्मा की प्रसन्नता, स्वच्छता, तथा दीप्ति का नाम कल्याण है। सुमति से ये दोनों लाभ होते हैं। सांसारिक अभ्युदय भी प्राप्त होता है और आध्यात्मिक ज्योति का भी लाभ होता है। वह सुमति नहीं, जो जीवन के एक ही हिस्से का ख्याल रखती है। सुमति वही है, जो कि जीवन के ऐहिक और पारलौकिक दोनों हिस्सों को उन्नत करे। इस लिये इस मन्त्र में जीवन के एक आवश्यक अंग अर्थात् सुमति के यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

२—जीवन का दूसरा आवश्यक अंग है "देवों के दान का पात्र बनना।" देव लोग उसे ही अपने पवित्र उपदेशों के दान का पात्र बनाते हैं जिसे कि वे देख लेते हैं कि यह इस दान का अधिकारी है। वह कौनसा सद्गुण है जो कि व्यक्ति को इस अधिकार के योग्य बना देता है? विचारने पर प्रतीत होता है कि सम्भवतः सुमति ही व्यक्ति को इस अधिकार के योग्य बनाती हो। क्योंकि मन्त्र के प्रथम भाग में सुमति का वर्णन है और मन्त्र के द्वितीय भाग में इस अधिकार का प्रसंग है। अतः प्रतीत होता है कि जो मनुष्य सुमति का याचक है, देवों की सुमिति का चाहने वाला है, दिल से चाहने वाला है, वह ही देवों के सदुपदेश के पवित्र दान का भी अधिकारी बनता है। अतः जीवन का दूसरा आवश्यक अंग यह है कि हम देवों के सदुपदेशों के पात्र बनें और उन सदुपदेशों को प्राप्त करते रहें।

३—देवों की मैत्री या उनकी समान ख्याति को प्राप्त करना जीवन का आवश्यक तीसरा अंग है। सखिभाव उन्हीं में सम्भव है जिन के स्वभाव तथा व्यवहार एक से हैं—"समानशीलव्यसनेषु सख्यम्"। देवों के साथ सत्संग करते रहना यह और वस्तु है, तथा देवों के साथ मैत्री लाभ करना और वस्तु है। देव सभी ऐसे लोगों के साथ मैत्री नहीं कर सकते जो कि अदेव हैं, जिन्हें कि ऋजुमार्ग, सरल तथा

सीधे मार्ग अर्थात् सत्य मार्ग की चाह नहीं और जो कि वास्तव में इस मार्ग पर अपने जीवन को डाल नहीं देते। अतः देवों के साथ मैत्री के निमित्त मनुष्य में इस सत्य मार्ग की उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये। इस मैत्री लाभ करने के अनन्तर मनुष्य के हृदय में यह प्रेरणा होनी चाहिये कि वह भी देवों के समान ख्याति को प्राप्त करले। दिव्य भावों तथा दिव्य कर्मों के सम्बन्ध में इन देवों की जो ख्याति है, प्रसिद्धि है, वही ख्याति तथा प्रसिद्धि इस मनुष्य की भी हो जाय। अर्थात् इसकी यह ख्याति हो जाय कि यह मनुष्य भी देवपन में अन्य देवों के समकक्ष का हो गया है।

४—जीवन के उपरोक्त आवश्यक अंगों को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जीवन को दीर्घ करने, लम्बा करने के उपायों का भी चिन्तन किया करे। बिना दैवी-जीवन के अधिक जीने का कोई तात्पर्य समझ में नहीं आता। कीट-पतंग तथा पशुओं की न्याई जीते रहने से, देर तक भी जीते रहने से, क्या लाभ होगा। परन्तु जो मनुष्य देव बन गया है उसे अपने जीवन को दीर्घ बनाने की अवश्य चिन्ता करनी चाहिये ताकि उसके दैवी जीवन से संसार के सर्व साधारण जन को लाभ पहुंच सके।

गोमेध

[ले०—श्री प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार]

मुसलमानों में बकरीद का त्यौहार एक विशेष त्यौहार गिना जाता है। इस समय संसार भर के मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और इसे अपने धर्म का अंग समझते हैं। जब से हिन्दू और मुसलमानों का पारस्परिक विद्वेष बढ़ा है तब से भारत में तो बकरीद का मनाना देश भर के लिये आफ़त हो गया है। दंगा हो जाने का भय रहता है; परन्तु मुसलमान इस त्यौहार को इतना आवश्यक समझते हैं कि उन्हें अपनी जान पर खेल जाना मंजूर है, इस त्यौहार पर गोकुशी छोड़ना मंजूर नहीं। चाहे मशीनगनों की सहायता से ही क्यों न हो, उन्हें यह त्यौहार मनाना है और गौ की कुर्बानी करनी है।

मुसलमानों के यहां गोकुशी के त्यौहार मनाने की कहानी बड़ी अजब है*। कहते हैं कि एक आदमी ने मरते समय अपने लड़के के लिये, जो उस समय बच्चा ही था, गाय की एक बछड़ी छोड़ी। वह स्वतंत्र चरती रही और लड़का भी बड़ा होगया। लड़के के जवान होने पर उसकी मां ने उसे बतलाया कि यह बछड़ी तुम्हारी है इस लिये इसे लेकर बाजार में तीन सोने की मोहरों में बेच आओ। लड़का उसे लेकर बाजार चला तो रास्ते में एक फ़रिश्ते ने आदमी का रूप धारण करके उसके लिये तीन की जगह छः मोहरें देने को कहा। लड़के ने अपनी मां की इजाजत के बग़ैर मोहरें लेने से इन्कार किया। इजाजत लेकर जब वह बाजार गया तो फ़रिश्ते ने कहा कि

* The Koran with notes by George Sale P. 8.

यदि तुम अपनी मां से न पूछो तो छः की जगह १२ मोहरें मिलेंगी। लड़का न माना और उसने अपनी मां से सारा हाल कहा। उसकी मां समझ गई कि यह कोई फ़रिश्ता है। उसने लड़के से कहा कि अभी उस आदमी के पास जाकर उससे पूछो कि इस बछड़ी का क्या करना चाहिये, इसे बेचें या न बेचें? लड़के के पूछने पर फ़रिश्ते ने कहा कि थोड़ी देर में ही एक यहूदी आकर इसे मन-माँगे दाम पर ख़रीद लेगा, उससे पहिले इसे न बेचा जाय।

इसी बीच में हमील नामक यहूदी को उसके किसी रिश्तेदार ने मार कर दूर कहीं फेंक दिया था। उसके दूसरे सम्बन्धियों ने मूसा के सामने किसी व्यक्ति पर अपराध लगाया, परन्तु उसने इस अपराध को स्वीकार करने से इन्कार किया। यह हालात देख कर जिहोवा ने एक उपाय मूसा को सुझाया। उसने कहा कि एक लाल रंग का ऐसा बछड़ा मारो जो हट्टा-कट्टा हो, कहीं जुता न हो। जैसा बछड़ा जिवोहा ने कहा था, वैसा बछड़ा उस लड़के के पास ही था, इसलिये यहूदियों को मुंह मांगे दाम देने पड़े। कइयों का कहना है कि उन्होंने बछड़े को तोल कर उसके बराबर सोना दिया। और कइयों का कहना है कि उसके तोल से १० गुना सोना दिया। इस बछड़े का यहूदियों ने यज्ञ किया। मृत व्यक्ति के शरीर के साथ बछड़े का यज्ञावशिष्ट भाग छूआ गया तो वह मुर्दा आदमी जिन्दा हो गया और उसने अपने मारने वाले का नाम बतला दिया और फिर मर गया।

इस प्रकार मुसलमानों की दन्त-कथा में गौ की कुर्बानी के साथ धन-समृद्धि और जीवन का विचार जुड़ा हुआ है और इसी लिये वे इस क्रूर तथा नृशंस कार्य को छोड़ने के लिये तय्यार नहीं होते। कुरान के 'सुरतुल बकर' में ६३—६८ आयत में लिखा है:—

"और जब मूसा ने अपने लोगों से कहा कि खुदा ने गाय की कुर्बानी करने को कहा है तो वे लोग कहने लगे—'क्या हमसे मज़ाक करते हो?' मूसा ने कहा, खुदा न करे मैं किसी प्रकार का मज़ाक करूं या इस प्रकार की बेवकूफ़ी करूं! यह सुन कर लोग कहने लगे, 'तो अपने खुदा से पूछो कि वह गौ कैसी हो?' मूसा ने कहा—'वह कहता है कि गौ बूढ़ी भी नहीं होनी चाहिये, बिल्कुल छोटी भी न हो, मध्यमायु की हो।' लोगों ने कहा—'अपने खुदा से पूछो कि उसका क्या रंग होना चाहिये?। मूसा ने कहा—'वह कहता है लाल रंग की गौ हो—बिल्कुल लाल। देखने से तबीयत खुश हो जाय।' लोगों ने कहा—'हमारे पास कई तरह की गौएं हैं—, अपने खुदा से फिर पूछो कि उसकी कुर्बानी के लिये किस तरह की गौ होनी चाहिये?' मूसा ने कहा—'वह कहता है कि कुर्बानी की गौ पहले जुती नहीं होनी चाहिये, उससे खेत में पानी भी नहीं दिया होना चाहिये, वह बिलकुल तन्दुरुस्त होनी चाहिये,।' लोगों ने कहा—'अब तूने सच कहा है।' उन्होंने उस गाय से यज्ञ किया और कुछ हिस्सा बचाये रखा।"

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि पहले-पहल लोगों ने समझा कि मूसा उनसे मखौल कर रहा है। फिर भी उन्होंने चार बार उसे खुदा के पास कुर्बानी के विषय में निश्चय करने के लिये भेजा। जब उन्हें पता लगा कि खुदा गौ की कुर्बानी कराने के लिये कमर कस कर बैठा है तो उन्होंने उसे मारा और

परिणाम जो कुछ हुआ उसका निर्देश पहले दिये हुए कथानक में किया जा चुका है।

'बकर' का अर्थ 'गौ' है और इसी से बकरीद शब्द निकलता है। गौ को मार कर यज्ञ करने का, अथवा बकरीद का विचार कुरान का अपना नहीं है। मुहम्मद साहब ने यह विचार यहूदियों से लिया है। Dentronomy के २१ वें अध्याय में लिखा है:—

"यदि कोई मृत व्यक्ति पाया जाय और उसे मारने वाले का पता न लगे तो शहर के स्याने लोग एक बछड़ा लें जिससे काम न लिया गया हो और जिस पर जुआ भी न पड़ा हो। उस बछड़े को ऐसी घाटी में लाया जाय जहां नया बीज न बोया गया हो और न उसकी पुरानी फ़सल कटी हो। ऐसी घाटी में बछड़े की गर्दन काट दी जाय। मृत व्यक्ति के रिश्तेदार बछड़े के खून से हाथ धोकर कहें कि हमने इसे नहीं मारा—हम पर इस खून का बदला न पड़े। परमात्मा क्षमा कर देगा। इस प्रकार बछड़े को मार कर तू अपने लोगों में से पाप की रक्षा करना।"

गाय की कुर्बानी के विषय में यहूदियों की पुस्तकों में अनेक स्थलों पर उल्लेख पाया जाता है। Leviticus पुस्तक के ४ थे अध्याय में लिखा है:—

"यदि तुम्हारा पुरोहित पाप करे तो उसका प्रायश्चित्त करने के लिये एक ताज़ा बछड़ा लेकर, जिसमें किसी तरह का दाग़ न हो, उसे डेरे के बाहर ले जाय और उसकी चमड़ी, मांस, सिर, टांग, गोबर आदि सब का, आग को लकड़ियों से प्रदीप्त करके हवन करे।"*

इसी प्रकार का विधान Numbers नामक पुस्तक के १९ वें अध्याय में पाया जाता है। वहां किसी पाप के प्रायश्चित्त के रूप में नहीं प्रत्युत ऐसे ही एक लाल बछड़े को लेकर सुगन्धित पदार्थों के साथ उसका होम करने की जिहोवा की तरफ़ से आज्ञा है।

कुरान तथा बाइबिल के वर्णन में गाय की कुर्बानी के आधार में एक ही कथानक पाये जाते हैं। बाइबिल में इतना भेद है कि वहां अग्नि से प्रदीप्त, समिधा तथा सुगन्धित द्रव्यों से संयुक्त यज्ञकुण्ड में गाय के अंग-प्रत्यंग को काट कर डालने का वर्णन है; कुरान ने इस यज्ञ में से अग्नि आदि को जलाना निरर्थक समझ कर उसे निकाल दिया है। सिर्फ़ कुर्बानी को रख लिया है। इस भेद के अतिरिक्त ऐसी गाय की कुर्बानी करना जो लाल रंग की हो, जोती न गई हो, तन्दुरुस्त हो—दोनों में समान है। ऐसी कुर्बानी से फल की समृद्धि, पाप से छुटना आदि बतलाया है। मुहम्मद-साहब ने यहूदियों से बहुत सी ऐसी बातें भी सुनी थीं जो उनके पुराने अहदनामे में नहीं पाई जातीं और सम्भवतः उन्हीं में से यह बात भी थी कि जब मूसा

---

* If the priest that is anointed do sin according to the sin of the people! Then let him bring for his sin, which he hath sinned, a young bullock without blemish unto the Lord for a sin offering.

And the skin of the bullock, and all his flesh, with his head, and with his legs, and his inwards and his dung.

Even the whole bullock shall he carry forth without the camp into a clean place, where the ashes are poured out, and burn him in the wood with fire, when the ashes are poured out shall he be burnt. (Leviticus IV chap. 3, 12.

ने गाय की कुर्बानी की प्रथा चलाई तो पहले उसके साथी लोग तय्यार न हुए। उन्होंने पहले तो यह समझा कि मूसा मखौल कर रहा है। जब उसने कहा कि वह हंसी नहीं कर रहा है तो उसे चार बार खुदा के पास भेजा और जब हर बार कुर्बानी करने का ही उत्तर आया तब कहीं जाकर वे उस काम के लिये तय्यार हुए। मुहम्मद साहब ने यह कहानी किन्हीं यहूदियों से सुनी होगी तभी उन्होंने इसका कुरान में समावेश किया। ऐसा जान पड़ता है कि मूसा ने भी गौ की कुर्बानी की बात कहीं से सुनी ही होगी और उसे धर्म में समाविष्ट कर लिया। बाइबिल को पढ़कर यह तो हम मानने से रहे कि वास्तव में ईश्वर ने ही कुर्बानी की रस्म को जारी किया। ऐसा मालूम पड़ता है कि मूसा ने गाय की कुर्बानी की बात किन्हीं दन्त-कथाओं में सुनी होगी। उसने इसका सीधा अर्थ गाय को मार कर यज्ञ में डालना ही लिया होगा और इसकी प्रथा यहूदियों में जारी करदी होगी। यहूदी लोगों को पहले यह बात बुरी लगी होगी, वे मूसा पर हंसे होंगे, परन्तु उसके बार २ आग्रह करने पर उस की बात को मानगए होंगे। जैसे मूसा ने दन्तकथाओं के आधार पर इस पर्व को चलाया वैसे ही मुहम्मद ने भी अग्नि का हिस्सा निकाल कर गाय की कुर्बानी की रस्म को चलाया और पीछे से, आजकल के जमाने में उसी प्रथा ने 'बकरीद' का रूप धारण कर लिया।

जैसा हमने अभी कहा, गाय की कुर्बानी का विचार मुहम्मद साहब ने यहूदियों से लिया और यहूदियों में भी यह कहीं और से आया क्योंकि इसकी चर्चा चलाते ही लोग मूसा को बेवकूफ़ बनाने लगे। मूसा ने गाय की कुर्बानी को किसी दूसरी जगह से ही लिया होगा और वह है पारसी धर्म।

पारसियों की धर्म पुस्तक 'गाथा अहुन्वैति' के २९ वें यस्न में लिखा है कि 'गौश उर्वा' को काटा जा रहा था। वह चिल्ला रही थी और देवताओं से रक्षा की याचना कर रही थी। घातक उसके चिल्लाने को देखकर घबराया और उसने देवताओं में से एक से जिसका नाम 'अश' था पूछा, कि 'गौश उर्वा का रक्षक कौन है ?' अश ने कहा,–'इसका रक्षक मज्दा (पारसियों का परमात्मा) है।' मज्दा ने कहा कि 'गौश उर्वा' को इसलिये टुकड़ों २ में काटा जा रहा है ताकि कृषिकार का लाभ हो। गौश को काटने से खेती फलती फूलती है। 'मज्दा' और 'अश' ने मिल कर विचार किया कि देवताओं का यह सन्देश मनुष्यों तक कौन पहुंचाये ? अश ने कहा कि देवताओं के इस आदेश को—अर्थात् गौश का मारना खेती के लिये है—मनुष्यों तक पहुंचाने के लिये केवल एक योग्य व्यक्ति है और वह हैं जरथुश्थ्र। यह वही महात्मा है जो पारसी धर्म का प्रवर्त्तक और उनका गुरु हुआ। जरथुश्थ्र को वक्तृत्व शक्ति दी गई ताकि वह लोगों को समझाए कि गौश का मारना खेती के लिये आवश्यक है।*

वेदों में मित्र देवता की पूजा का वर्णन मिलता है। यही मित्र देवता पारसियों की जिन्दावस्था में 'मिथ्र' नाम से पाया जाता है। इन दोनों धर्मों से अलग होकर किसी समय 'मित्र' अथवा 'मिथ्र'

* Hang's Essays in the Religion of the Parsis:

Vide Gatha Ahunvaiti p. 147.

इतना प्रधान देवता होगया था कि इसकी, स्वतन्त्र-देवता के रूप से पूजा चल पड़ी थी। रोमन साम्राज्य में प्रायः सर्वत्र मिथ्र्की पूजा होती थी। रोम के गिरने से दो तीन सौ वर्ष पूर्व कई शताब्दियों तक मिथ्र् देवता पूजा जाता रहा।

मिथ्र् के अनेक कारनामों में से मुख्य उसकी बैल के साथ लड़ाई है। बैल पारसियों के कथनानुसार सर्व प्रथम प्राणी है।† कहते हैं कि हृष्ट पुष्ट बैल पर्वत के समीप चर रहा था, मिथ्र् ने चालाकी से उसके सींग पकड़े और उसकी पीठ पर चढ़ गया। बैल क्रोध के आवेश में अपने सवार को गिराने के लिये कूदने फांदने लगा। मिथ्र् पीठ पर से तो नीचे आपड़ा; परन्तु उसने बैल के सींगों को नहीं छोड़ा। बैल मिथ्र् को घसीटता चला गया, परन्तु अन्त में थक गया और फिर मिथ्र् ने उसको पिछली टांगों से पकड़ कर एक गुफ़ा में कैद कर दिया। बैल फिर छुट निकला और उसी पर्वत के निकट चरने लगा। मिथ्र् को फिर सूर्य की तरफ़ से आज्ञा हुई कि भगौड़े बैल को मार दिया जाय। मिथ्र् ने इच्छा न रहते हुए भी इस क्रूर आज्ञा का पालन करने के लिये बैल का पीछा किया और जब बैल उसी गुफ़ा में छिपना चाहता था उसे पकड़ लिया और नथनों से पकड़कर उसके पासों में छुरा चला दिया। बैल के मरते ही एक अद्भुत घटना हुई। मृत बैल के शरीर से औषधियां, अनाज तथा फल फूल उत्पन्न हुए। चारों तरफ़ हरियाली छा गई। उसकी रीढ़ की हड्डी से गेहूं निकला, रुधिर से सोमरस उत्पन्न हुआ। सांप, बिच्छू, कीड़ी आदि जन्तुओं से शैतान ने मृत बैल के शरीर को विषमय कर अनाज तथा फल-फूल को नष्ट करने का प्रयत्न किया, परन्तु उनका बस ही न चला। बैल के बीज से जो चन्द्रमा से बढ़ा था सब उपयोगी प्राणियों की उत्पत्ति हुई और उसकी आत्मा द्युलोक में चली गई। इस प्रकार बैल के मरने से संसार में नवजीवन का संचार हुआ।

इसी आशय का एक संगमरमर का भग्नावशेष ब्रिटिश म्यूज़ियम में है जिसका चित्र Cumont महाशय ने अपनी पुस्तक के ३९ वें पृष्ठ पर दिया है। इसमें बैल मिथ्र् के नीचे दबा हुआ है, उसे मिथ्र् ने नथनों से पकड़ा हुआ है। गले के निकट के पार्श्व में छुरा खुभोया गया है जिसमें से अनाज के तीन पौदे उठ खड़े हुए हैं। बैल के नीचे सांप तथा बिच्छू भी दिखाई देते हैं। एक जन्तु अनाज के पौधों की तरफ़ लपकता दीख पड़ता है।

'मिथ्र्' धर्म में भी अन्य धर्मों की तरह बैल का मारना पाया जाता है। उसके वध के साथ इस धर्म में भी फलने-फूलने तथा समृद्धि का भाव मिलता है। इस धर्म में हम यह भी देखते हैं कि बैल के मारने में कृषि का विशेष सम्बन्ध सा मालूम पड़ता है। बैल के शरीर के कटने से अनाज उत्पन्न हुआ। जखों में सांप, बिच्छू, कीड़े, जानवर भी दिखाई देते हैं। ये सब बातें बैल के मारने के साथ नहीं जुड़तीं।

चीन में भी बैल का मारना पाया जाता है। प्रो० विनयकुमार सरकार ने डा० लेगी का उद्धरण दिया है कि वहां के राजा बड़ा भारी समारम्भ करते थे, जिसमें अन्य सामन्त भी इकट्ठे होते थे। भिन्न २ प्रकार के सुगन्धित पदार्थ इकट्ठे किये जाते थे और मुख्य

† The Mysteries of Mithra By Cumont Page 132—137.

बलि लाल बैल की दी जाती थी। राजा स्वयं उसे मारता था। इस बैल के विषय में चीन का प्रसिद्ध लेखक क्यान्चे अपनी १२ वीं पुस्तक में लिखता है कि—(क) "१०० वर्ष पुराने वृक्ष के एक हिस्से से एक बर्त्तन बनाना चाहिये जिसके सिरे पर बैल की शक्ल हो।" इसका यह अभिप्राय मालूम होता है कि चीन में किसी समय यज्ञ में बैल का मारना चला होगा, यहूदियों और मुसलमानों की तरह उनमें भी लाल बैल को मारते होंगे। और फिर उसे हटा कर यज्ञ पात्र में वृक्ष के बैल का बनाना शुरु कर दिया होगा क्यों कि बैल मारना शायद घृणा जनक समझा जाने लगा हो।

हमने देखा कि संसार के धर्मों की परम्परा में यज्ञ में गोवध का भाव सर्वत्र प्रचलित है। साथ ही हमने यह भी देखा कि मुसलमानों ने यह विचार यहूदियों से लिया, यहूदियों ने पारसियों से। हमारा विचार है कि पारसियों, मिथ्र के पूजकों तथा चीनियों ने गोवध का विचार भारत से लिया। जिस आडम्बर से गोमेध यज्ञ यहां किया जाता था उस आडम्बर से अन्य कहीं नहीं किया जाता था। भारतवर्ष के मध्यकाल के इतिहास में यज्ञ में गौ मारना धर्म समझा जाता था। पारस्कर गृह्य सूत्र में लिखा है कि अर्घ देने योग्य व्यक्ति छः हैं—

(ख)—'षडर्घ्या भवन्ति आचार्य ऋत्विक् वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति'

आचार्य, ऋत्विक्, वर, राजा, बन्धु, तथा स्नातक। इसके आगे लिखा है—

(ग) 'आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह।'—

जब अतिथि आचमन करले तो गृहस्थ तलवार लेकर तीन वार 'गौ' शब्द का उच्चारण करे। (घ) 'यद्यालभेत'

यदि अतिथि की इच्छा गोवध कराने के लिये होतो—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्'—

इस मन्त्र का जाप करके गृहस्थ कहे—

मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमि'—

अपने तथा इस अतिथि के पाप को नष्ट करता हूं। (ङ) 'यद्युत्सिसृक्षेत्'

यदि अतिथि की इच्छा गोवध कराने की न हो और वह उसे छुड़ा देना चाहता हो तो वह कहदे—

'उत्सृजत तृणान्यत्तु'—

इसे छोड़ दो और घास खाने दो। ऐसी अवस्था में जब अतिथि ने स्वयं गौ को अपनी इच्छा से छोड़ दिया हो तब उसे शिकायत नहीं करनी चाहिये कि अर्घ में मांस नहीं दिया गया।

(च) 'न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात्'।

मधुपर्क के सम्बन्ध में आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है—

(छ) 'ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत्। (ज) स्नातकायोपस्थिताय। (झ) राज्ञे च। (ञ) आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानाञ्च'।

आगे लिखा है—

(क) From a tree an hundred years old a Portion shall be cut and fashioned into a sacrificial Vessel with the bull figured upon it." (ख) ३।१॥

(ग) ३।२६॥ (घ) ३।२७॥ (ङ) ३।२८॥ (च) ३।२९ (छ) २४।१॥ (ज) २४।२॥ (झ) २४।३॥ (ञ) २४।४॥

(ट) आचान्तोदकाय गां वेदयन्ते। (ठ) हतो मे पाप्मा, पाप्मा मे हतः इति जपित्वोंकुरुतेति कारयिष्यन्। (ड) माता रुद्राणां दुहिता वसूनां' इति जपित्वोमुत्सृजतेत्युत्सृक्ष्यन्। (ढ) नामांसो मधुपर्को भवति।'

अर्थात् ऋत्विक् का संवरण कर स्नातक, उपस्थित राजा, आचार्य, श्वशुर, पितृव्य, मातुल को मधुपर्क दे। फिर जब वे आचमन कर चुकें तो उनके सामने 'गौ' को लावे। यदि वे गोवध की इच्छा करें तो–'मेरा पाप नष्ट होगया, मेरा पाप नष्ट होगया' बोलता हुआ मार डाले और यदि वे गोवध की इच्छा न करें तो—'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां'—मन्त्र का पाठ करता हुआ उसे छोड़ दे। इससे मधुपर्क मांस शून्य नहीं समझा जायगा।

बृहदारण्यकोपनिषद् (अध्याय ८, ब्राह्मण ४, अनुवाक् १८) में लिखा है—

'अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विजिगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचंभाषिता जायेत, सर्वान्वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, मांꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्ष्णेन वा आर्षभेण वा।'

अर्थात् जो चाहे कि उसके घर में विद्वान्, सुवक्ता वेदज्ञ पुत्र उत्पन्न हो, वह और उसकी स्त्री बैल का मांस और घी खावें।

इन उद्धरणों में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। हमने मुसलमानों तथा यहूदियों में देखा कि वे गोवध के साथ पाप के छुटने का भी सम्बन्ध जोड़ते हैं। ठीक वही विचार गृह्यसूत्रों में भी मिलता है। गोवध करता हुआ गृहस्थ—'मेरा पाप नष्ट होगया, मेरा पाप नष्ट होगया'—इसका जाप करता है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि पारस्कर गृह्यसूत्र में गोवध करते हुए—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकेतुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट'—

इस मन्त्र का जप करने को कहा गया है। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि 'तू निरपराध गौ को मत मार' परन्तु 'मत मार' कहने वाले मन्त्र का उच्चारण करते हुए ही गोवध का विधान है। आश्वलायन गृह्य सूत्र में इसी मन्त्र का पाठ गौ को छोड़ देने के लिये किया गया है। इसका यही अभिप्राय होना चाहिये कि गृह्य सूत्रों में मन्त्रों का विनियोग अत्यन्त अशुद्ध पाया जाता है। यह कहां की बुद्धिमत्ता है कि गौ मारने के लिये वह मन्त्र पढ़ा जाय जिसमें स्पष्ट शब्दों में न मारना उद्घोपित किया गया हो? तथापि परास्कर गृह्य सूत्र में यह बात पाई जाती है।

गौ तथा बैल का यज्ञों में एवं भोजन के लिये मारना भारत में चल पड़ा था, इसमें सन्देह नहीं हो सकता। ब्राह्मण ग्रन्थों की भी इसमें साक्षी है। शतपथ काण्ड १, अध्याय २, ब्राह्मण ३, वाक् ६–७ में लिखा है:—

"पुरुष ꣳ ह वै देवाः अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामलभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽविं प्रविवेश तेऽविमलभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽजं प्रविवेश तेऽजमलभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीपुस्तमन्वविन्दँस्ताविमौ व्रीहियवौ।"

इसका अर्थ यूं किया जाता है—"पहिले देव-

(ट) २४।२३॥ (ठ) २४।२४॥ (ड) २४।२५॥ (ढ) २४।२६

ताओं ने मनुष्य को ही बध योग्य ठहराया । तब याज्ञिक गुण उसमें से निकल कर घोड़े में प्रविष्ट हुआ। देवताओं ने घोड़े को यज्ञ पशु बनाया वह पृथ्वी में गया । तब देवता उसे खोजते २ पृथ्वी को खोदने लगे और उन्हें व्रीहि तथा यव मिल गये।"

इस विवरण में 'आलेभिरे' का अर्थ 'मारा' न करके 'स्पर्श किया' किया जाय तब इस सन्दर्भ का अर्थ यह हो जाता है कि प्राचीनकाल में देवों ने मनुष्य को पशु की अवस्था में देख कर उस का स्पर्श किया, उसे शिक्षित किया। शिक्षित होकर उसने घोड़े, गाय, अवि, अज, तथा पृथ्वी का चढ़ने, दूध निकालने, ऊन बनाने, तथा अनाज पैदा करने के रूप में उपयोग सीखा और शिक्षित होगया। परन्तु मोटी तौर पर 'आलेभिरे' का अर्थ 'मारना' किया जाता है। यद्यपि पारस्कर गृह्यसूत्र में उपनयन तथा विवाह प्रकरण में 'हृदयालम्भन' का विधान है जिसका अर्थ हृदय-स्पर्श ही हो सकता है, हृदय का घात नहीं यदि उक्त सन्दर्भ में 'आलेभिरे' का अर्थ मारना कर लिया जाय तो ज्यादह से ज्यादह यही सिद्ध होगा कि ब्राह्मण कार की सम्मति में प्राचीन काल में भी यज्ञ में पुरुष, गाय, अश्व, अजा, अवि मारे जाते थे। परन्तु इससे साथ ही ब्राह्मण की यह सम्मति भी तो प्रकट हो जाती है कि वह यज्ञ में व्रीहि और यव का डालना ही उत्तम समझता है। इससे किसे इन्कार हो सकता है कि प्राचीनकाल में यज्ञ में हिंसा चल पड़ी थी। यह तो ऐतिहासिक घटना है। क्योंकि चल पड़ी थी इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह ठीक ही थी। इस सन्दर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य बात 'व्रीहियवौ' शब्द है। हमने 'मिथ्' धर्म में गोमेध का अध्ययन करते हुए देखा था कि वहां गौ को मारने से अनाज के पौधे उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है कि देवताओं ने गौ को मारा — उसे छोड़ कर फिर पृथ्वी का खनन किया और उसमें से अनाज के पौधे उत्पन्न हुए। दोनों वर्णनों की इतनी समानता मालूम देती है कि यदि कह दिया जाय कि ब्राह्मण ग्रन्थ के वर्णन को लेकर ही मिथ् धर्म ने इस कथानक की रचना की और किसी भूल से पृथ्वी को खञ्जर मारने के स्थान में गौ को खञ्जर मारने की कथा चला दी तो अत्युक्ति न होगी। जिस भूल से मिथ् धर्म ने पृथ्वी को खञ्जर मारने की जगह गौ पर खञ्जर चला दिया उसका वर्णन आगे किया जायगा।

क्रमशः

हम सौ वर्ष कैसे जीवें ?

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ।

हमलोग (देवहितं) अपनी इन्द्रियों को हितकारी (वाजं) अन्न का (अया) ऐसी रीति से (सनेम) उपभोग करें जिससे हमलोग (सुवीराः) उत्तम वीर्यवान् होकर (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्द प्रसन्नता का जीवन व्यतीत करें। —जयदेव शर्मा

स्कम्भ सूक्त

(ले० श्री पं० वीरेन्द्र जी विद्यावाचस्पति)

(४)

स्कम्भ की ज्योतिर्मय अथवा राष्ट्रमय कल्पना

यस्य शिरो वैश्वानरः[1] चक्षुरङ्गिरसोऽभवत् ।
अंगानि यस्य य तवः[2] स्कम्भं तं ब्रूहि० ॥१८॥

सूर्य जिसका सिर है, किरणें जिसकी आंखें हैं और नक्षत्र जिसके (छोटे मोटे) अंग हैं, उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?

परमेश्वर की विराट् कल्पना में, उसे ज्योतिर्मय रूप में, यदि देखा जाय तो सूर्य उसके सिर का स्थान लेगा, क्योंकि वह ज्योतियों में मुख्य ज्योति है। सूर्य प्रकट अपनी किरणों से ही होता है उसी से मानो सारे संसार को देखता है अतः किरणें परमेश्वर की की आंखें होंगी और शेष छोटे मोटे अंग अन्य टिमटिमाते गतिशील नक्षत्र होंगे। 'वैश्वानर' का अर्थ सर्वजन हितकारी ब्राह्मण भी है। समाज में ब्राह्मण सबसे प्रमुख है और अग्नि या सूर्य का प्रतिनिधि है। 'अंगिरस' का अर्थ पितर[3] है, जो कि रक्षा करने वाले हैं। राजा का तेज सूर्य-किरणों की तरह चारों ओर फैल जाता है। पितर का अर्थ इस तरह पालन करने वाले क्षत्रिय का हुआ। 'यातु' का अर्थ इधर उधर गति करके पथिक रूप से रहने वाला है। व्यापारी बराबर इधर से उधर जाते रहते हैं। वे आकाश में नक्षत्र की तरह हैं। शरीर में मूर्धा ज्ञान का, आंखें बराबर निरीक्षण की और अन्य अङ्ग पोषण के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इस तरह उस स्कम्भ का सिर ब्राह्मण, आंखें क्षत्रिय, और छोटे मोटे अङ्ग वैश्यादि रूप से हैं।

ज्ञान, वेदवाणी और प्रकृति स्कम्भ के मुख, जिह्वा और स्तन हैं

यस्य ब्रह्म मुखमाहुः जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि० ॥ ॥१९॥

जिसका मुख ज्ञान कहा गया है और जिह्वा मीठी वेद वाणी (मधु विद्या) है। जिसका स्तन प्रकृति है उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?

जिह्वा उसी बात को सर्वदा प्रकट करती है जो मनुष्य के ज्ञान में होता है। परमेश्वर का ज्ञान अपार है। उसकी जिह्वा जो सब ज्ञानों की खान हो वह वेद वाणी ही है। वह वेदवाणी मधुर है, मीठी है, कड़वी नहीं है। जिह्वा से जो कुछ बोला जाता है वह

१—वैश्वानरः = सूर्य 'असावादित्यो वैश्वानरः' (निरु० अ० ७, पा० ६, खं० २२)

२—यातु = अध्वरे, गन्तरि (वाच० कोष पृ० ४७७६) या + तु अथवा यत्-णिच्-उण् । तारे गतिशील हैं अतः टिमटिमाते प्रतीत होते हैं।

३—अङ्गिरसो पितरो नवग्वाः ऋ० १०।४६।६ अथर्व० १८।३।५८
अङ्गिरसो मनीषिणः अथर्व० ११।६।१३
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः अथर्व० २।१५।५
अङ्गिरसः सुकृतः येन यन्ति अथर्व० १८।४।३

निकलता मुखसे ही है। चूंकि वेदवाणी जिह्वा के तुल्य है अतः उससे प्रकट होने वाला ज्ञान परमेश्वर का मुख हुआ।

उस परमेश्वर का स्तन विविध रूप में प्रकाशित होने वाली 'प्रकृति' है। गाय अपने स्तन से दूध देती है और परमेश्वर प्रकृति से नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों को देता है। वह अनेक चीजों की जननी प्रकृति परमेश्वर के ऊध अर्थात् स्तन मंडली के तुल्य है।

चारों वेद परमेश्वर से प्रकट हुए

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।

सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि०॥२०॥

जिससे प्रकट हुए–ऋक् मन्त्रों को–ऋषियों ने सूक्ष्म रूप से विचारा और जिससे प्रकट हुए यजुर्वेद को सूक्ष्म रूप से सोचा। सामवेद जिसके लोम (बाल) हैं, और अथर्व वेद जिसका मुख है। चारों परमेश्वर वेद से प्रकट हुए हैं।

ज्ञान के रहस्यों को सामान्य आदमी नहीं देख सकता। वे चारों वेद भिन्न २ ऋषियों अर्थात् अग्नि वायु आदित्य पर प्रकट हुए थे। उन्होंने उन प्रकट हुए वेदों को खूब सूक्ष्म रूप से विचारा; उसे काट २ कर अच्छी तरह से विश्लेषण करके (अपातक्षन्) तर्क की कसौटी पर कसा (अपाकषन्) और उसका प्रचार किया।

इसमें सामवेद को लोम कहा गया है। सामवेद का सम्बन्ध गान के साथ है। गान को सुनने से मनुष्य की भावनाएं (Emotions) जाग जाती हैं और वह रोमांचित हो जाता है। गान का सम्बन्ध इस तरह लोम ('रोम' रलयोरभेदः) के साथ है। इसीको ध्यान में रख कर उसे परमेश्वर का लोम (रोम) कहा गया है। अथर्ववेद को अथर्वाङ्गिरस् इस लिये कहते हैं कि वह 'अथर्वा-अंगिरस्' कोटि के ऋषियों को प्रकट होता। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान, यजु का कर्म, और सामवेद का उपासना से है। शेष विशिष्ट–ज्ञान (विज्ञान) अथर्ववेद है। वह विज्ञान इन चारों में प्रमुख (Spokesman) है। विज्ञान के जाने बिना ज्ञान, कर्म, उपासना चल नहीं सकते। इस लिये यज्ञ में चारों वेदों के प्रतिनिधि होता आदि ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' अथर्ववेद का प्रतिनिधि है। उसका काम देखना है कि यह काम ठीक हो रहा है या नहीं। जहां ग़लती होगी वह ठीक करेगा। विज्ञान की प्रमुखता में ही अथर्व वेद को मुख कहा गया है।

व्यक्त जगत् और अव्यक्त जगत् वास्तव में परम (श्रेष्ठ) नहीं हैं

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।

उतो सन्मन्यन्ते ऽवरे ये ते शाखामुपासते····॥ २१ ॥

फैलती हुई अव्यक्त-प्रकृति की शाखा को सामान्य जन परम उत्कृष्ट की न्याईं समझते हैं। और जो उनसे भी अवर (हीन) लोग हैं वे (दृश्य जगत्), सत शाखा को ही परमात्मा समझते और उसकी उपासना करते हैं।

प्रकृति का अपना स्वरूप अव्यक्त है। वह इन्द्रियों से अज्ञेय है, इस लिये उसे असत् कहा जाता है। उस अव्याकृत प्रकृति के फैलाव (विस्तार) का परिणाम ही यह जगत् है। सामान्य लोग इस प्रकृति के विस्तार को देखकर उसे ही सब से उत्कृष्ट समझ बैठते हैं। वे देखते हैं कि प्रकृति से सब कुछ पैदा हो रहा है, फिर वही क्यों न परम–उत्कृष्ट समझी जाय। पर वे नहीं सोचते कि बिना किसी अधिष्ठाता के कभी जड़ प्रकृति काम कुछ कर सकती है? इसलिये

प्रकृति वस्तुतः परम नहीं है। परम कोई और है। वे सामान्य लोग प्रकृति को ही परम सा समझ बैठते हैं।

और दूसरे लोग तो इतना भी ऊंचा नहीं चढ़ते। उन्हें तो यह आंखों से दीखने वाला संसार ही लुभाए लेता है। वे इसी को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। वे कहते हैं कि जब हमारा इसी संसार से काम चल गया तो फिर और ऊपर जाने की क्या ज़रूरत! पर वास्तव में वे लोग (अवर) हीन ही हैं। उन्होंने परम को समझा ही नहीं। वे मूर्खता से दृश्य जगत् को परम समझ कर उसके पीछे अन्धे हो कर उस की उपासना करते हैं। ये ही जड़वाद को प्रबल कर रहे हैं।

शाखा शब्द का उपयोग स्पष्ट कर रहा है कि इस शाखा का आधार कोई और है। एक 'असत्' शाखा है और दूसरी 'सत्' शाखा है। लोगों की दृष्टि को शाखा की सघनता और उसके फलोंने छिपा रखा है। वे उस के पीछे रहने वाले स्कन्ध को नहीं देख पाते। उस शाखा को ही अन्तिम वस्तु समझ बैठते हैं। उस शाखा का स्कन्ध अर्थात् तना स्कम्भ है। इस भाव को मन्त्र ३८ में दर्शाया है कि "उसी में सब देव आश्रय लेते हैं, वे वृक्ष के स्कन्ध (तने) के चारों ओर होने वाली शाखाओं की तरह है।"

आदित्य, रुद्र, वसु तथा अन्य लोक लोकान्तर उसीमें प्रतिष्ठित हैं

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कंभं तं० ॥२२॥

जिसमें आदित्य, वसु और रुद्र अच्छी तरह स्थापित हैं। जिस में भूत, भविष्य और सब लोक प्रतिष्ठित हैं, उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है?

१२ मास १२ आदित्य हैं। इन्हें आदित्य इस लिये कहा जाता है कि वे रसों का आदान करते अर्थात् लेते रहते हैं (आदत्ते रसान् इति)। वे रसों को खींच कर जल को वाष्प रूप में परिणत करके ले जाते हैं। १२ मासों में एक ही सूर्य भिन्न २ स्थिति में होता रहता है, अतः इन भिन्न २ स्थितियों की दृष्टि से एक ही आदित्य को १२ प्रकार का कहा जाता है।

रुद्र ११ हैं। ये प्राण, अपान आदि वायुरूप हैं। इन्हें रुद्र इसलिये कहा जाता है कि वे मरने पर सम्बन्धियों को रोदन कराने वाले होते हैं।

८ वसु हैं। पृथिव्यादि पञ्चभूत और सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र। इनको वसु इसलिये कहा जाता है कि ये निवास के स्थान[1] हैं। ये आदित्य, रुद्र और वसु उस स्कम्भ के ही सहारे स्थित हैं। वही स्कम्भ भूत, भविष्यत् और सब लोकों का आश्रय है।

देवों द्वारा रक्षित कोश

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभि रक्षथ ॥२३॥

जिसके ख़ज़ाने की ३३ देवता सदा रक्षा करते हैं। हे देवो! उस ख़ज़ाने को आज कौन जानता है जिसकी कि तुम रक्षा करते हो?

संसार में किसी के भी ऐश्वर्य का माप उस के ख़ज़ाने से होता है। ख़ज़ाना ही उस का ऐश्वर्य हुआ करता है। वह अगर लुट जाय, तो फिर वह मनुष्य ऐश्वर्य रहित हो जाता है। उस ऐश्वर्य को बचाने के लिये सब

१—सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास पृ० १७८ (संस्करण १८)।

जगह उसके रक्षक सन्तरी रहते हैं। परमेश्वर को ईश्वर इसी लिये कहा जाता है चूंकि उसमें ऐश्वर्य है। उस का ऐश्वर्य ऐसा छोटा मोटा नहीं है जिस की कि ४,५ सन्तरी रखवाली कर सकते हों। वह ऐश्वर्य तो इतना महान् है कि उसकी रखवाली पर ३३ देवता बराबर जुटे हुए हैं। जिसकी रखवाली ऐसे प्रबल देवता कर रहे हों वह ऐश्वर्य कैसे लुट सकता है। लोग तो इन सन्तरी देवताओं को ही देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उसका असली ऐश्वर्य (खज़ाना-निधि) तो न जाने क्या होगा ? ये देवता जबतक बने हैं उसका ऐश्वर्य कौन छीन सकता है ? अरे ! ऐसे महान् देवों को कोई और भी अपना प्रहरी बना सकता है ? उस की विभूति का तो पूछना क्या ?

ज्ञानी बनने का उपाय

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।

यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥२४॥

जिस में ब्रह्मवेत्ता (वेदवेत्ता) विद्वान् लोग ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं। जो कोई उन ब्रह्मवेत्ताओं को प्रत्यक्ष जान ले वह ब्रह्मा (महापण्डित) ज्ञानी हो जाय।

संसार में पूर्ण ज्ञानी बनना कोई आसान काम नहीं है। ज्ञानी बनने के लिये किसी गुरु का होना आवश्यक है। अगर ठीक गुरु मिल गया तब तो आदमी तर गया, नहीं तो डूबा ही समझो। वह गुरु ब्रह्मवेत्ता वेदवेत्ता या देववेत्ता ही हो सकता है, जिस ने कि वेद का अध्ययन किया हुआ हो, ३३ देवों के बारे में सब कुछ जानता हो और फिर परमेश्वर में रमा हुआ उस देवाधिदेव देवश्रेष्ठ (ज्येष्ठ-ब्रह्म) की उपासना करता हो। ऐसे ब्रह्मवेत्ता का मिलना कठिन है। अगर एक बार भी प्रत्यक्ष–आमने सामने–इस प्रकार के आदमी से मुलाकात होजाय, परिचय हो जाय, तो फिर आदमी को ज्ञानी बनने में देर नहीं लगेगी। वह ब्रह्मवेत्ता निश्चय ही उसको अपना सारा ज्ञान देकर ज्ञानी बना देगा।

अव्यक्त प्रकृति (असत्) स्कम्भ का एक अङ्ग है

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे ।

एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥२५॥

बड़े प्रसिद्ध वे देव हैं जो असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। श्रेष्ठ जन उस असत् को स्कम्भ का एक अङ्ग कहते हैं।

प्रकृति से संसार की संपूर्ण चीजें उत्पन्न हुई हैं। ये बड़े २ सूर्य चन्द्रादि प्रसिद्ध देव उस प्रकृति की ही उपज हैं। प्रकृति से महान् (बुद्धि) तथा अहंकारादि के क्रम से भूतों की उत्पत्ति के बाद इन सब सूर्यादि महान् देवों का निर्माण होता है। यह प्रकृति देखने में तो बड़ी विशाल और सर्वत्र व्यापिनी है पर वास्तव में स्कम्भ की दृष्टि में वह कुछ नहीं। वह तो स्कम्भ का एक अङ्ग ही है। इसीकी मन्त्र १९ में 'ऊधस्'' 'स्तन' के साथ उपमा दी जा चुकी है। प्रकृति देवों का निर्माण स्वयं करने में समर्थ नहीं जब तक कि स्कम्भ उसको अपना अङ्ग बनाकर उससे काम न ले। यह अङ्ग बिना उस अङ्गी (अङ्गों के मूल तत्त्व-परमात्मा) के निर्जीव और निस्सार है। यह बात सभी श्रेष्ठ जन कहते हैं।

प्रकृति जो प्रजाओं में परिणत होती है, स्कम्भ का एक अंग है

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।

एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥२६॥

स्कम्भ, प्रजा को उत्पन्न करता हुआ जिस पुराण प्रकृति को परिणत अर्थात् उसमें विकार उत्पन्न करता है, उस पुराण को स्कम्भ का एक अङ्ग समझते हैं।

स्कम्भ-परमेश्वर-ने सम्पूर्ण प्रजाओं की उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि पुराण प्रकृति को परिणत करके ही की है। वह प्रकृति पुराण इसलिये है कि वह सृष्टि के प्रारम्भ में मौजूद थी। वह पुरातनकाल से चली आरही है कभी किसी ने उसका आरम्भ नहीं देखा। वह सभी के लिये पुरातन है। वह सारी सृष्टि का उपादान कारण है। उसको सृष्टि के होने से पूर्व तो नवीन कहा भी जा सकता था पर अब तो उसे प्राचीन या पहले नयी थी—यही कहा जा सकता है। पर सृष्टि भी अनादि परम्परा से चलती जारही है इसलिये प्रकृति भी अपनी पुरातनता या दूसरे शब्दों में पुरा-नवता को नहीं छोड़ती। साथ ही प्रकृति आगे चलकर प्रजारूप में परिणत (पुरानत) होती है।

इस सृष्टि में संसार की उत्पत्ति परिणामवाद के अनुसार ही है। कोई नई चीज़ जिसका पहले अपने कारण में सर्वथा अभाव था नहीं आजाती। सृष्टि का वह कारण अर्थात् पुराण उस स्कम्भ का एक अङ्ग ही है। जब स्कम्भ चाहता है उस अङ्ग का उपयोग करके सृष्टि निर्माण करता है। (क्रमशः)

तारा

[ले० श्री पं० वागीश्वरजी विद्यालंकार, साहित्याचार्य]

इस अनन्त पथ अन्तरिक्ष के अथक पथिक उज्ज्वल तारे !
दूर खड़े क्यों झिलमिल २ झलक दिखाते हो प्यारे !
तुम्हें निहार निहार एक टक हारी हा अखियां मेरी
आओ नभ से उतर हे सखे पलभर अब न करो देरी ॥ १ ॥

इसी शान में तुम्हें देखते हुए मुझे युग बीत गये
पर हे ! प्रकट-रहस्य बने हो तुम अधिकाधिक नये नये।
भूल गये क्या वह शैशव की मधुर मधुर स्वर्गीय घड़ी
चाव भरी जब दृष्टि हमारी आपस में थी प्रथम पड़ी ॥ २ ॥

तुम सन्ध्या के सुखद अङ्क में मेरे लिये मचलते थे
मैं था जननी की गोदी में दोनों हृदय उछलते थे।
मैं चुपचाप पड़ा कितनी ही बातें तुमसे करता था
और तुम्हारा वह मुसकाना मुझे मोद से भरता था ॥ ३ ॥

ज्यों ज्यों उन सुखमय बातों के संग वे दिन काफ़ूर हुए
त्यों त्यों किसी शक्ति से खिंचकर हम भी इतनी दूर हुए।
खड़ा हमारे बीच आज तो विपुल अन्तरों का संसार
क्या हम सचमुच बदल गये हैं अथवा यह भ्रम है निस्सार ॥ ४ ॥

तुम्हें देखकर आज अचानक मूक हृदय वीणा का तार
झनक उठा उत्कण्ठिक सा हो करने लगा मधुर झंकार।
इसी लिये इस शान्त प्रान्त में आ बैठा हूँ मैं इस रात
छोड़ छाड़ सब झंझट झगड़े तुम से करने को दो बात ॥ ५ ॥

तुम क्या हो, क्यों जाग जाग कर सारी रात बिताते हो
घूम रहे किसकी पूजा में, किसकी राह दिखाते हो।
क्यों आते हो, क्यों जाते हो, क्यों जाकर फिर आते हो
किससे खेली आंख मिचौनी, रूठा कौन-मनाते हो ॥ ६ ॥

फूल उठा नन्दन में सुर तरु, बिखरे हो क्या उसके फूल
फैल रहे या धवल फेन हो सुन्दर सुर-सरिता के कूल।
किसी विरहिणी की नयनों के बरसे आंसू हो अनमोल
गुप्त, विधाता की लिपि के या अक्षर हो तुम गोल मटोल ॥ ७ ॥

दिग्वधुएं शतरञ्ज खेलतीं उनकी गोट रूपहरी हो
स्वर्ग गए पुण्यात्माओं की अथवा दिव्य कचहरी हो।
रची शची ने चारु आरती, उसकी दीपक ज्वाला हो
किसी प्रेमिका की या गूँथी अमल मालती माला हो ॥ ८ ॥

सुभग यामिनी रूप कामिनी की नयनों के ज्योति हो
अमरपुरी की चारु चांदनी की झालर के मोती हो।
जगमग करते प्रकृति नटी के कानों के हो क्या कनफूल,
चरखा कात रही बुढ़िया की बिखर गई अथवा हो तूल ॥ ९ ॥

कुछ भी हो तुम मेरे आगे चमको इसी तरह हर रात,
मैं न चाहता भेद तुम्हारा, मेरे लिये रहो अज्ञात।
हो, यदि तुम भी मुझ जैसे ही किसी लोक के नटखट बाल
तब तो आओ घुल मिल जावें खेलें हाकी या फुटबाल ॥१०॥

क्या कहते हो साथ खेलने से तो नहीं तुम्हें इन्कार
भोगरोग से भरी भूमि पर आना है पर अस्वीकार।
कहां तुम्हारा घृणित लोक है पाप ताप परिपूर्ण असार
कहां हमारा दिव्य देश है पुण्य शांति सुख का आगार ॥११॥

जरा मृत्यु, भय दुःख नहीं है, नहीं शोक की छाया है
नहीं द्वेष का लेश, क्लेशमय जहां न नश्वर काया है।
उस प्रकाशमय अमरलोक में करते हैं हम सदा विहार
क्यों पृथ्वी पर उतर उठावें विपदाओं का भारी भार ॥१२॥

यह देसी वह परदेसी है मैं गोरा तुम हो काले
आपस में ही तुमने कितने ऐसे भेद बना डाले।
मुझे बुला कर दूर देश से दुर्गति ही करवाओगे
आपस में मिल नहीं खेलते कैसे मुझे खिलाओगे ॥१३॥

क्षमा करो, बस दूर दूर ही रहें, इसी में है आनन्द
मैं खुश होऊं तुम्हें देख कर, रचा करो तुम मुझ पर छंद।
क्षुद्र देश के बन्धन में बंध विपुल हृदय होते हैं क्षुद्र
सीमित हो जाते हैं चित्रित चित्रफलक में व्योम समुद्र ॥१४॥

खूब खूब ! इस सुन्दर भाषण पर तो तुम्हें बधाई है
किन्तु अट पटी बात तुम्हारी मुझको समझ न आई है।
कुछ अच्छा या बुरा नहीं ये भेद भावना लाती है
द्रष्टा की अपनी ही प्रतिमा दर्पण में खिंच जाती है ॥१५॥

जहां पराजय के पीछे जय, प्रणय कलह के पीछे मेल
जहां मृत्यु के पीछे जीवन, जहाँ काम के पीछे खेल।
जहां निराशा में आशा है, दुःख में सुख है छिपा महान्
अन्धकार में भी प्रकाश है, छिपी आंसुओं में मुस्कान ॥१६॥

प्रभु की देख विभूति एक भी दिनकर जहां लजाता है
लगे देखकर चार चांद, यह चांद जहां छिप जाता है।
प्रभु की सर्वोत्तम कृति मानव गिन कर विघ्नों को न समक्ष
गिरता पड़ता चढ़ा जा रहा जहां पूर्णता को कर लक्ष्य ॥१७॥

गिर कर चलना जहां सीखते, बच्चे करते हैं अभिमान
भय को गले लगा लेते हैं उच्चाकांक्षी जहां जवान।
पाकर कठिन परिश्रम का फल बूढ़े करते हैं विश्राम
मर्त्यलोक वह कर्मभूमि है स्रष्टा की रचना अभिराम ॥१८॥

परिवर्त्तन जहां सदा ही, सब कुछ है सुख मूल जहां
दोषों में गुण भरा हुआ है, कांटों में है फूल जहां।
जहां भूख के बाद तृप्ति है, तिरस्कार के पीछे मान
नित्य तृप्त ! हो तुम्हें वहां के वैभव का कैसे अनुमान ॥१९॥

जीवन का संघर्ष नहीं है, जहां जीत या हार नहीं
कोई भी कर्त्तव्य नहीं है तथा जहां अधिकार नहीं।
अपनी सत्ता जहां न रहती, जड़ चेतन है एक समान
ऐसे हैं अपवर्ग स्वर्ग, तो कैसा होगा सखे श्मशान ॥२०॥

रण क्षेत्र में आगे बढ़ते सैनिक के मन में उत्साह
कैसा लहराता है, कविका हृदय न पाता इसकी थाह।
किन्तु विजय के पीछे सारा उड़ जाता है वह आनन्द
रह जाते हैं बस पीछे तो व्रण, थकान या करुणाक्रन्द ॥२१॥

इसी समय सहसा नभ मण्डल हुआ प्रकाशित सूर्य समान
आंखें झपक गईं क्षणभर को टूट गया तब मेरा ध्यान।
तारा टूटा, तारा टूटा, मचा दिया बच्चों ने शोर
पता नहीं मैं रहा देखता कितनी देर खड़ा उस ओर ॥२२॥
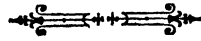
गोभिल आचार्य तथा अग्निहोत्र की प्राचीन विधि

अग्निहोत्र आदि गृह्यकर्मों के करने का अधिकार उन्हें है जो कि आहिताग्नि होते हैं इस लेख में गोभिलीय गृह्य सूत्रों के आधार पर अग्न्याधान तथा अग्नि होत्र की विधि का वर्णन संक्षेप से लिखा जाता है। गोभिल गृह्यसूत्रों का आरम्भ अग्न्याधान तथा अग्निहोत्र की विधि से होता है।

अग्न्याधान के काल तथा स्थान

अग्न्याधान का अभिप्राय है—अग्नि का आधान करना अर्थात् अग्नि की स्थापना करना। ब्रह्मचारी जब गृहस्थ में प्रवेश किया करता था तो प्रायः वह अपनी नवीन अग्नि का अपने गृह में स्थापन किया करता था जो कभी बुझने न पाती थी। दैनिक अग्निहोत्र आदि कर्म इसी स्थापित अग्नि के द्वारा किये जाया करते थे।

गोभिल गृह्यसूत्रों में अग्न्याधान के काल तथा स्थान के सम्बन्ध में निम्न लिखित सूत्र आये हैं। यथा:—

"ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्यां समिधमभ्याधास्यन्" ॥१।१।७

"जायाया वा पाणिं जिघृक्षन्" ॥१।१।८॥

"प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठिकरणम्" ॥१।१।१२॥

"तथा तिथि नक्षत्रपर्व्वसमवाये" ॥१।१।१३॥

"दर्शे वा पौर्णमासे वा ऽग्निसमाधानं कुर्वीत" ॥१।१।१४

"वैश्यकुलाद्वा ऽम्बरीषाद्वा ऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात्" ॥ १।१।१६॥

"अपिवा बहुयाजिन एवागाराद् ब्राह्मणस्य वा, राजन्यस्य वा, वैश्यस्य वा" ॥१।१।१६॥

"अपिवा ऽन्यं मथित्वा ऽभ्यादध्यात् ॥१।१।१॥"

"यथा कामयेत तथा कुर्यात्" ॥१।१।१९॥

"ब्रह्मचारी एक, दो या समग्र वेदों का नियमपूर्वक अध्ययन कर ब्रह्मचर्य-काल की समाप्ति के

श्री ला० गणेशदत्तजी प्रधान आर्यसमाज, जामपुर ने दैनिक अग्निहोत्र की विधियों के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न लिखकर भेजे हैं। उनके बहुत से प्रश्नों का उत्तर उन्हें मिल सकेगा यदि वे अग्निहोत्र की प्राचीन विधि को ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे।

समय अन्तिम अग्निहोत्र की समिधाओं[1] का जब आधान करने लगे तब वह नवीन अग्नि का आधान करे अर्थात् स्थापना करे ।" १ । १ । ७ ॥ इस नवीन स्थापित अग्नि में अबसे नियम पूर्वक अग्निहोत्र किया करे ।

"या जब वह विवाह के निमित्त किसी कन्या का पाणि ग्रहण करने लगे तब अग्न्याधान करे अर्थात् नवीन अग्नि का आधान करे, स्थापना करे ।" १ । १ । ८ ॥

ब्रह्मचारी जिसे कि ब्रह्मचर्य काल में ही किसी ने कन्या सम्बन्धी वाग्दान कर दिया हो वही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य काल की अन्तिम समिधा नवीन स्थापित अग्नि में दे सकता है, दूसरा नहीं ।

इस अवस्था में अर्थात् अन्तिम समिधा जब नवीन स्थापित अग्नि में दी गई हो तब इसी अग्नि में ही विवाह सम्बन्धी होम भी होना चाहिये । और विवाह के पश्चात् यही अग्नि आगे के लिये गृहकृत्यों तथा गृह संस्कारों के काम में भी लानी चाहिये । परंतु जिस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य काल में ही कन्या संबन्धी वाग्दान न मिला हो वह स्नातक होते समय तथा उस के पश्चात् भी—जबतक कि उसे वाग्दान न मिल जाय या वह विवाह के निमित्त प्रवृत्त न हो—अपना अग्नि-होत्र अपने पिता द्वारा स्थापित अग्नि में करता रहे । और ब्रह्मचर्य काल में आचार्य की अग्नि में अग्निहोत्र करता रहे ।

"अथवा गृहस्वामी अर्थात् घर के बुज़ुर्ग पिता माता की मृत्यु पर अग्न्याधान करना चाहिये ।" १ । १ । १२ ॥

यह तीसरा विकल्प है । पिता माता की मृत्यु पर भाई नियमानुसार पैतृक सम्पत्ति को आपस में बांट लेते हैं । उस समय उनके पृथक् २ हो जाने पर उनके अग्निहोत्र आदि गृह्यकर्मों के लिये उनकी अग्नियां भी पृथक् २ हो जानी स्वाभाविक प्रतीत होती हैं । इस विकल्प के अनुसार ब्रह्मचर्य काल की समाप्ति पर या विवाह के समय पृथक् अग्न्याधान की कोई आव-श्यकता नहीं ।

"उपरोक्त तीनों विकल्पों में जब भी अग्न्याधान करना हो तब उत्तम तिथि, उत्तम नक्षत्र, और उत्तम पर्व का ध्यान करके ही अग्न्याधान करना चहिये ।" १ । १ । १३ ॥

"अथवा नक्षत्र का ध्यान न करते हुए अमावास्या या पौर्णमासी के दिन अग्नि का आधान अर्थात् स्थापना कर लेनी चाहिये ॥" १।१।१४॥

इस अग्न्याधान के सम्बन्ध में इतना स्मरण रखना चाहिये कि विवाह होने से पूर्व स्नातक यदि अग्न्याधान करे तो वह अकेला ही इसका आधान करेगा, परन्तु विवाह के अनन्तर यदि अग्न्याधान किया जायगा तो पति और पत्नी मिलकर ही अग्न्या-धान करें । सूत्र १४ वें में जो "अग्निं समाधानम्" में सम् उपसर्ग है उसका अभिप्राय टीकाकारों ने यह

(१) समिधा अंगूठे से अधिक स्थूल न होनी चाहिये, न वह त्वचा से रहित होनी चाहिये, न कीटदूषित होनी चाहियें, न फाड़ी हुई होनी चाहिये, न पत्तों सहित होनी चाहिये और न सारहीन होनी चाहिये । वह प्रादेश मात्र लम्बी होनी चाहियें । अंगूठे और उसके पास की अंगुली को यदि एक दूसरे से परे जहां तक हो सके फैलाया जाय तो इतने परिमाण को प्रादेश कहेंगे ।

दर्शाया है कि पति और पत्नी इकट्ठे होकर, अर्थात् पति भार्या के साथ मिल कर ही अग्नि की स्थापना करे।

अग्नि कहां से ली जाय ?

"वैश्य के कुल अर्थात् गृह से या भट्टी से अग्नि लाकर उसका आधान करे।" १।१।१५।

"अथवा बहुत यज्ञ करने वाले के ही घर से, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य, अग्नि लाकर उसका आधान करे।।" १।१।१६।।

"अथवा नई अग्नि को मथ कर उसका आधान करे।।" १।१।१७ ।।

"इस प्रकार जिस तरह चाहे उस तरह अग्नि का आधान करे।।" १।१।१९।।

अग्निस्थापन का प्रकार

अनुगुप्ता अप आहृत्य, प्रागुदक् प्रवणं देशं समं वा परिसमूह्योपलिप्य, मध्यतः प्राचीं रेखामुल्लिख्योदीचीञ्च संहतां पश्चात्, मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत् ॥१।१।९॥

"सुरक्षित जल लाकर, पूर्व या उत्तर की ओर झुकाव वाले अथवा समतल स्थान को ठीक प्रकार कुशाओं के द्वारा साफ़ कर, उसे (गोबर द्वारा) लीप कर, इस स्थल में (दक्षिण की ओर) पश्चिम से पूर्व की ओर एक रेखा (१२ अंगुल की, कुशा द्वारा) खींचकर, इसके पश्चिम में इससे स्पर्श करती हुई एक रेखा (२१ अंगुल की) दक्षिण से उत्तर की ओर खींचकर, इस पिछली रेखा के बीच में (सात २ अंगुल के अन्तर से) पूर्व की ओर जाती हुई तीन रेखाएं (प्रादेश प्रमाण की) खींच कर जल छिटके।।"

भूर्भुवः स्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥१।१।११॥

तत्पश्चात् "ओ३म् भूर्भुवः स्वः"—इस मन्त्र को बोल कर अपने संमुख (रेखांकित स्थण्डिल पर) अग्नि को स्थापित करते हैं।।" ११।।

गृह्य अग्नि

स यदेवान्त्यां समिधमभ्यादधाति, जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥१।१।२०॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥१।१।२१॥

"वह स्नातक जिस अग्नि में अन्तिम समिधा का आधान करता है, या पत्नी का पाणिग्रहण करता हुआ जिस अग्नि में लाजा होम करता है उस अग्नि की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे,, ।।१।१।२०।।

"वह ही अग्नि इसकी गृह्य अग्नि अर्थात् गृह्य कर्मों—अग्निहोत्र तथा संस्कार आदि कर्मों—के निमित्त होती है,, ।।१।१।२१।।

इस अग्नि को गृह्य, औपवसथ्य तथा औपासन भी कहते हैं।

प्रातरग्निहोत्र

तेन चैवास्य प्रातराहुति हुंता भवति ॥१।१।२२॥

"इस अन्तिम समिधा के आधान के द्वारा या इस लाजा होम द्वारा ही स्नातक का प्रातःकाल का अग्नि होत्र हो चुका हुआ समझना चाहिये" ।।१।१।२२।।

अर्थात् अन्तिम समिधा का आधान जिस दिन प्रातःकाल किया जाय या विवाह सम्बन्धी होम जब प्रातःकाल किया जाय तब समझ लेना चाहिये कि मेरा आज का प्रातःकाल का अग्नि होत्र इस समिधाधान द्वारा या विवाह होम द्वारा सम्पन्न हो गया। इस दिन प्रातःकाल और अग्निहोत्र के करने की आवश्यकता नहीं।

दैनिक अग्निहोत्र

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥१।१।२३॥

"सायं काल की आहुति से अग्निहोत्र आरम्भ किये जाते हैं, और आगे से ये अग्निहोत्र गृह्य अग्नि में ही किये जाते हैं,, ॥१।१।२३॥

इसका अभिप्राय यह है कि अन्तिम समिधा का आधान या विवाह होम जब दिन में किया हो तब उसी दिन सायं काल से अग्निहोत्र का आरम्भ समझ कर अगले दिन के प्रातःकाल के अग्निहोत्र में दैनिक अग्निहोत्र की समाप्ति जाननी चाहिये। अर्थात् प्रथम दिन के सायं काल के अग्निहोत्र को तथा अगले दिन के प्रातःकाल के अग्निहोत्र को एक कर्म समझना चाहिये।

यदि विवाह-होम रात में हो तब इसी विवाह-होम द्वारा समझ लेना चाहिये कि अगले दिन का भी प्रातः काल का अग्निहोत्र हो गया।

इस अवस्था में दैनिक अग्निहोत्र इस अगले दिन के सायं काल से आरम्भ होकर तीसरे दिन के प्रातः काल के अग्निहोत्र में समाप्त होगा।

इसका अभिप्राय यह कि दैनिक अग्निहोत्र में जिस हवि द्वारा (पकाई हुई या स्वाभाविक, दही अथवा दूध) सायं काल का अग्निहोत्र आरम्भ करना चाहिये उसी हवि द्वारा ही प्रातःकाल का अग्निहोत्र समाप्त करना चाहिये। यह न होना चाहिये कि सायं काल का अग्निहोत्र तो एक हवि द्वारा किया और अगले दिन प्रातःकाल का अग्निहोत्र दूसरी हवि द्वारा कर दिया। इससे ये दो कर्म हो जायेंगे और ये दोनों अग्निहोत्र मिल कर एक कर्म न कहलाएंगे।

कई आचार्य यह भी मानते हैं कि दैनिक अग्निहोत्र प्रातःकाल से आरम्भ होता है और सायं काल के अग्निहोत्र में समाप्त होता है। इस लिये एक समय का किया गया अग्निहोत्र असमाप्त अग्निहोत्र ही जानना चाहिये।

अग्निहोत्र के काल

सायं काल का अग्निहोत्र सूर्यास्त के समय होना चाहिये या उसके आगे पीछे, इसी प्रकार प्रातःकाल का अग्निहोत्र सूर्योदय के समय होना चाहिये या उसके आगे पीछे, इस सम्बन्ध में गोभिल गृह्य सूत्रों में निम्न लिखित दो सूत्र ध्यान देने के योग्य हैं। यथाः—

पुराऽस्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ॥१।१।२७॥

पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदिते ऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयात् ॥१।१।२८॥

"सूर्य के अस्त होने से पहिले, स्थापित अग्नि को, प्रकट कर सूर्य के अस्त हो जाने पर सायं काल की आहुति अग्नि में देनी चाहिये,, ॥१।१।२७॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होने से पूर्व, स्थापित अग्नि को, प्रकट कर सूर्य के उदित हो जाने पर या उसके उदित होने से पूर्व ही प्रातःकाल की आहुति अग्नि में देनी चाहिये" ॥१।१।२८।

मनु ने प्रातःकाल के अग्निहोत्र के तीन काल लिखे हैं। अनुदित काल, समयाध्युषित काल तथा उदित काल। रात्रि का अन्तिम भाग जब कि ग्रह तथा नक्षत्र दिखाई देते हों अनुदित काल है। इस समय में अग्निहोत्र हो सकता है। इसके अनन्तर प्रभात के समय जब कि ग्रह और नक्षत्र दीखने बन्द हो जावें और सूर्य का दर्शन अभी तक न हो इस समय को समयाध्युषित कहते हैं। इस समय में भी अग्निहोत्र के करने की विधि है। तीसरा काल है उदित काल। सूर्य रश्मियों से समन्वित हुआ २ जब, रेखा मात्र

दिखाई दे उस समय भी अग्निहोत्र का विधान है। इस काल को उदित काल कहते हैं। इन तीनों कालों की इस प्रकार की व्याख्या गोभिल आचार्य के पुत्र ने अपने ग्रन्थ 'गृह्या संग्रह' में की है। इसलिये उदितकाल के अग्निहोत्र के सम्बन्ध में यदि गोभिलाचार्य के २८ वें सूत्र तथा उसके पुत्र के विचारों को एकत्र किया जाय तो परिणाम यह निकलता है कि प्रातः काल के उदित काल के अग्निहोत्र का काल सूर्य के रेखामात्र दीखने के काल से लेकर सूर्य जब तक पूर्ण-मण्डल में नहीं आ लेता और इस पूर्ण मण्डल रूप में जब तक वह लगभग एक हाथ और क्षितिज के ऊपर नहीं चढ़ जाता तबतक है। इन दोनों कालों के मध्य में प्रातःकाल का उदित पक्ष का अग्निहोत्र समाप्त हो जाना चाहिये।

गोभिल आचार्य ने २८ वें सूत्र में अनुदित होम की भी विधि विकल्प द्वारा दर्शाई है। इसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। अग्निहोत्र के करने वालों को यह सदाध्यान में रखना चाहिये कि उपरोक्त तीन कालों में से अग्निहोत्र के लिये किसी एक काल के चुन लेने में अग्निहोत्र के करने वाले को पूर्ण स्वाधीनता है। परन्तु एक बार इन तीनों कालों में से किसी काल के चुन लेने पर फिर उसे काल के बदलने का अधिकार नहीं रहता। यदि कभी काल का अतिपात हो जाय तो प्रायश्चित्त कर लेने पर वह उस काल के अग्निहोत्र को प्रदर्शित अन्य कालों में भी कर सकता है और आगे से वह पूरा यत्न करे कि उसके चुने हुए काल का कभी अतिपात न होने पाए। तो भी आचार्यों ने उदित काल को अग्निहोत्र के निमित्त अधिक उत्तम माना है। प्रातःकाल के अग्निहोत्र के सम्बन्ध में ये तीन विकल्प हैं। सायंकाल के अग्निहोत्र के काल का वर्णन २७ वें सूत्र में कर दिया गया है।

अग्निहोत्र के समय आचमन आदि के निमित्त जलसंग्रह की विधि

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायं प्रातरनुगुप्ता अप आहरेत् परिचरणीयाः ॥१।१।२४॥

अपि वा सायम् ॥१।१।२५॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥१।१।२६॥

"अग्निहोत्र की अग्नि को प्रकट करने से पूर्व, सायंकाल तथा प्रातः काल दोनों समयों में पृथक् २ सुरक्षित जल को लाया करे जिसके द्वारा कि आचमन आदि करने होते हैं॥" १।१।२४॥

"अथवा सायं काल के समय में ही जल लाए और इसी जल द्वारा प्रातःकाल के कृत्यों को भी करे" ॥१।१।२५॥

"यदि बाहर से जल इस प्रकार न लाना चाहे तो घर के घड़े से अथवा मटके से जल ले लिया करे,, ॥१।१।२६॥

अग्निहोत्र की विधि

उदगग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेत् द्विः परिमृजीत ॥१।२।५॥

इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् ॥१।२।७॥

हृदयस्पृशस्त्वेवाप आचामेत् ॥१।२।२९॥

(क) "स्थापित अग्नि के उत्तर में जाकर, हाथों और पैरों को धोकर, बैठकर तीन बार आचमन करे और दो बार मुख धोए,, ॥१।२।५॥

"पश्चात् जल द्वारा इन्द्रिय-स्पर्श करे,, ॥१।२।७॥

"आचमन में इतने २ जल से आचमन करे कि

जल केवल हृदय तक नीचे जा पाए, पेट तक नहीं" ॥१।२।२९॥

अग्निमुपसमाधाय परि१समूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निमदिते ऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत ॥१।३।१॥

अनुमते ऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥१।३।२॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥१।३।३॥

देव सवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्य्युक्षेन् सकृद्वा त्रिर्वा ॥१।१।४॥

पर्य्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्य्युक्षन् होमीयम् ॥१।१।५

(ख) "स्थापित अग्नि को प्रकट करके अर्थात् उसके ऊपर आई हुई भस्म को हटा कर, होम काल के समीप उसे इन्धन द्वारा सम्यक् प्रदीप्त करे, पश्चात् अग्नि के चारों ओर पड़ी मट्टी आदि को एकत्र कर, दाहिने घुटने को पृथिवी पर टेक कर, अग्निकी दक्षिण दिशा में "अदिते ऽनुमन्यस्व" इस मन्त्र को पढ़कर (अञ्जलि का अग्रभाग पूर्व की ओर कर) जलाञ्जलि से सींचे,, ॥१।३।१॥

"अनुमते ऽनुमन्यस्व" इस मन्त्र को पढ़ कर पश्चिम में जलाञ्जसि से सींचे, (इस अवस्था में अञ्जलि का अग्रभाव उत्तर की ओर हो),, ॥१।३।२॥

"सरस्वत्यनुमन्यस्व" इस मन्त्र को पढ़ कर उत्तर में जलाञ्जलि से सींचे, (इसमें अञ्जलि का अग्रभाग पूर्व की ओर होना चाहिये)।" १।३।३॥

"देव सवितः प्रसुव ......" इत्यादि मन्त्र पढ़कर अग्नि के चारों ओर, प्रदक्षिणा के रूप में, जलाञ्जलि की धारा द्वारा जल सींचे, एक बार इस प्रकार सींचे या तीन बार सींचे ।" १ । ३ । ४ ॥ तीन बार सींचने के पक्ष में साथ २ इस मन्त्र का भी तीन बार उच्चारण करे।

"चारों ओर जल सींचते समय जलाञ्जलि धारा के आरम्भ तथा अन्त को क्रमशः अन्दर और बाहर रखे, अथवा दोनों को परस्पर मिला दे, या अधिकाधिक दूर २ करता चला जाय। अग्निहोत्र में आहुति के निमित्त जो वस्तु लाई गई गई हो उसे भी उदक धारा से घेरे अथवा उसे जल से स्पर्श करे।" १ । ३ । ५ ॥

(ग) अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वा ऽकृतस्य वा ॥१।३।६॥

अकृतं चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥१।३।७॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कंसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेणैव वा ॥१।३।८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां, मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशीति सायम् ॥१।३।९॥

अथ प्रातः,—सूर्याय स्वाहेति पूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां, मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ॥१।३।१०॥

समिधमाधायानुपर्य्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वमंस्था इति मन्त्र विशेषः ॥१।३।११॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापां शेषं निनीय पूरयित्वा चमसं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥१।३।१२॥

"इसके पश्चात् (समिधा डाल कर) हवि के योग्य किसी अन्न का अग्नि में होम करे, चाहे यह अन्न कृत अर्थात् सिद्ध किया हुआ हो, चाहे अकृत अर्थात् सिद्ध किया हुआ न हो।" १।३।६।

हवि के योग्य अन्नों में जौ मुख्य माने गये हैं और उससे कुछ घटिया, धान माने गये हैं। ये जौं या धान गन्दे तथा कीट आदि से दूषित न होने चाहियें। आहुति जब द्रव वस्तु की देनी हो तो स्रुव द्वारा देनी चाहिये। और यदि कठिन वस्तु की आहुति देनी हो

तो हाथ द्वारा देनी चाहिये। अग्नि को और अधिक प्रदीप्त करने की यदि आवश्यकता जान पड़े तो पंखे आदि द्वारा उसे प्रदीप्त कर लेना चाहिये। कइयों ने यह भी लिखा है कि मुख की फूंक द्वारा भी इस अग्नि को प्रदीप्त कर लेना अनुचित नहीं। कृत या सिद्ध अन्न से अभिप्राय भात या सत्तू आदि का है और अकृत या न सिद्ध किए हुए अन्न से अभिप्राय धान आदि का है जिसके ऊपर कि छिलका अभी साथ रहता है। धान पर से जब तुष अर्थात् छिलका उतार दिया जाय तब जो चावल निकलते हैं—जिन्हें कि अग्नि पर चढ़ा कर भात के रूप में बदला नहीं—वे कृताकृत हैं अर्थात् एक दृष्टि से (धान की दृष्टि से) वे कृत अर्थात् सिद्ध हैं, और दूसरी दृष्टि से (भात की दृष्टि से) वे अकृत हैं, अभी सिद्ध नहीं हैं। इस प्रकार हव्य पदार्थ तीन प्रकार के हुए। कृत, अकृत तथा कृताकृत।

"हवि यदि अकृत हो अर्थात् धान आदि के रूप में हो तो उसे धोकर और पुनः सुखा कर उसकी आहुति देनी चाहिये।" १।३।७

अर्थात् एक समय बहुत सा धान धोकर उसे सुखा लेना चाहिये, पश्चात् दैनिक अग्निहोत्र इस धान की आहुति द्वारा करते रहना चाहिये।

"और यदि दही, दूध या जौ की लप्सी की आहुति दे तो कांसी के बर्तन द्वारा, चरुस्थाली द्वारा या स्रुव द्वारा दिया करे।" १।३।८॥

धान और जौ के न होने पर दही द्वारा भी आहुति दी जा सकती है और दूध द्वारा भी। दही और दूध के भी न होने पर जौ की लप्सी द्वारा आहुति देनी चाहिये।

"अग्नये स्वाहा"—इस मन्त्र को पढ़ कर प्रथम आहुति दे। "प्रजापतये स्वाहा"—इस मन्त्र को मन में बोल कर द्वितीय आहुति दे। प्रथम आहुति अग्नि के मध्य में, तथा द्वितीय अग्नि की पूर्वोत्तर दिशा में देनी चाहिये। यह सायंकाल की आहुतियां हैं। १।३।९॥

"अब प्रातःकाल की आहुतियां कही जाती हैं। "सूर्याय स्वाहा"—इस मन्त्र को पढ़कर प्रथम आहुति दे, "प्रजापतये स्वाहा"—इस मन्त्र को मन में बोल कर द्वितीय आहुति दे। प्रथम आहुति अग्नि के मध्य में, तथा द्वितीय अग्नि की पूर्वोत्तर दिशा में देनी चाहिये।" १।३।१०॥

पूर्व लिखा जा चुका है कि गोभिल आचार्य के मत में दैनिक अग्निहोत्र सायंकाल के अग्निहोत्र से आरम्भ होता है और अगले दिन के प्रातःकाल के अग्निहोत्र में समाप्त होता है। गोभिल आचार्य यह भी मानते हैं कि इस दैनिक अग्निहोत्र की समाप्ति के लिये इन दोनों कालों में आहुति पदार्थ भी एक ही होना चाहिये। अर्थात् उपरोक्त हवियों में से जिस हवि की आहुतियां सायंकाल की हैं उसी हवि की आहुतियां अगले दिन प्रातःकाल भी देनी चाहियें। ऐसा न होना चाहिये कि सायंकाल की आहुति एक हवि से हो और अगले दिन प्रातःकाल की आहुति दूसरी हवि से। अग्निहोत्री को उतनी अवश्य स्वतन्त्रता है कि वह चाहे तो एक दिन के अग्निहोत्र को एक प्रकार की हवि द्वारा समाप्त करले और दूसरे दिन के दैनिक अग्निहोत्र को दूसरे प्रकार की हवि द्वारा समाप्त करले।

"अब पुनः समिधाओं का आधन करे (बिना

मन्त्र बोले), तत्पश्चात् "देव सवितः प्रसुव०"–इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पूर्वोक्त विधि से अग्नि के चारों ओर उदक सींचे, और अन्त में "अदितेऽन्वमंस्थाः"—इस मन्त्र को पढ़कर (अग्नि के दक्षिण भाग में) जलाञ्जलि दे, "अनुमतेऽन्वमंस्थाः"—इस मन्त्र को पढ़कर (अग्नि के पश्चिम भाग में) जलाञ्जलि दे, और "सरस्वत्यन्वमंस्थाः"—इस मन्त्र को पढ़ कर (अग्नि के उत्तर भाग में) जलाञ्जलि दे।" १।३।११॥

"अब अग्नि की प्रदक्षिणा कर, शेष जल में और नया जल मिला कर, चमस पात्र को भी जल से भर कर और उसे स्थापित कर अगला उचित कार्य करे।" १।३।१२ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के टीकाकार ने यह लिखा है कि "अगले उचित कार्य" से अभिप्राय है वामदेव्य साम के गान आदि का अथवा प्रातःकाल के अग्निहोत्र के पश्चात् ब्रह्मयज्ञ के करने का।

अग्निहोत्र स्वयं करे या अन्यों से भी करा लिया करे

एवमत ऊर्ध्वं गृह्ये ऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीविताबभृथात् ॥१।३।१३॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥१।३।१४॥

कामं गृह्ये ऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायं प्रातर्होमौ, गृहाः पत्नी, गृह्य एषो ऽग्नि र्भवतीति ॥१।३।१५॥

"इसके आगे अर्थात् एक दिन सायंकाल के तथा प्रातःकाल के अग्निहोत्र के आगे, पूर्वोक्त विधि के अनुसार इस स्थापित गृह्य अग्नि में या तो गृहपति स्वयं यज्ञ किया करे अथवा किसी द्वारा अग्निहोत्र करा दिया करे, जीवनावधिपर्यन्त यह अग्निहोत्र होता रहे।" १।३।१३॥

"दूसरे से अग्निहोत्र करा लेने के सम्बन्ध में ब्राह्मण में लिखा भी है।" १।३।१४॥ यथाः—

"चाहे गृह्य अग्नि में पत्नी अग्निहोत्र कर दिया करे, सायंकाल का अग्निहोत्र भी और प्रातः काल का अग्निहोत्र भी। क्योंकि गृह का अर्थ पत्नी है अतः गृह्य-अग्नि का अर्थ है "पत्नी सम्बन्धी अग्नि।" १ । ३ । १५ ॥

इस मन्त्र की टीका में पण्डित चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार भट्टाचार्य ने व्यर्थ का शब्द–जाल बिछाया है। सूत्रकार तो विचारों में उदार प्रतीत होता है। वह सूत्र १ । ३ । १५ । में स्पष्ट शब्दों में अग्निहोत्र का अधिकार पत्नी को दे रहा है। यह बात पौराणिक पण्डितों से कैसे सही जाय। बस, टीकाकार ने इधर उधर के प्रमाण इकट्ठे कर इस सूत्र के स्वच्छन्द और स्वतन्त्र भाव को छिपाना चाहा है, उस पर परदा डाल देना चाहा है। टीकाकार लिखता है कि "यावता होमनिष्पत्तिर्भवति, तावन्मात्रं पत्नीमध्यापयेत्।" अर्थात् "पत्नी को उतना ही पढ़ा देना चाहिये जिससे कि वह केवल अग्निहोत्र के कर सकने के योग्य बन सके।"

सूत्रकार ने तो पत्नी के पढ़ाने या न पढ़ाने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। परन्तु, चूंकि पत्नी के अनपढ़ होने के कारण पत्नी अग्निहोत्र कर ही नहीं सकती, इसी लिये टीकाकार को भय लगा कि पत्नी कहीं अधिक न पढ़ा दी जाय, उसने अपनी टीका में पत्नी की पढ़ाई पर बन्धन लगा देना आवश्यक समझा।

सूत्रकार का हृदय पत्नी के पढ़ने के सम्बन्ध में

संकुचित प्रतीत नहीं होता। बलिवैश्वदेव यज्ञ के सम्बन्ध में सूत्रकार निम्न लिखित सूत्र लिखता है। यथाः—

स्वयं त्वेवैतान् यावद्वसेद् बलीन् हरेत् ॥१।४।१५॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥१।४।१६॥

दम्पती एव ॥१।४।१७॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥१।४।१९॥

अर्थात् "पति स्वयं बलिवैश्वदेव यज्ञ करे" ॥१।४।१५॥

"या अन्य कोई ब्राह्मण यह यज्ञ कार्य कर देवे" ॥१।४।१६॥

"वास्तव में दम्पती अर्थात् पति और पत्नी ही बलिवैश्वदेव यज्ञ किया करें" ॥१।४।१७॥

"स्त्री सायं काल और पुरुष प्रातःकाल बलिवैश्वदेव यज्ञ किया करे" ॥१।४।१९॥

इस प्रकार इस प्रकरण के सम्बन्ध में भी सूत्र १।४।१६। केवल खण्डन के लिये ही सूत्रकार ने लिखा प्रतीत होता है। इसी कल्पना के अनुसार अगले दो सूत्र १।४।१७ तथा १।४।१९ चरितार्थ हो सकते हैं।

सूत्र १।४।१९ पर टीकाकार एक और टिप्पणी चढ़ाते हैं। आप लिखते हैं कि "अमन्त्रम्, तूष्णीम् इत्यर्थः"। अर्थात् पत्नी जब बलिवैश्वदेव यज्ञ करे तो मन्त्रों का वह उच्चारण न करे, वह चुपचाप इस यज्ञ को करे।

टीकाकार से पूछना चाहिये कि सूत्रकार ने तो सूत्र में "अमन्त्रम्' पद पढ़ा नहीं, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि इस प्रकार की टिप्पणी सूत्रकार के सूत्र पर चढ़ा दो? क्या सूत्रकार लिखना चाहता तो सूत्र में "अमन्त्रम्" पद न लिख सकता था। वास्तव में यह लेख भी टीकाकार के हृदय की अनुदारता का ही द्योतक है।

वैसे तो उचित है कि पति और पत्नी दोनों मिल कर अग्निहोत्र किया करें, क्योंकि गृह्य-अग्नि की स्थापना जब कि विवाह के पश्चात् होती है, तब इस गृह्य अग्नि के सम्बन्ध में पति और पत्नी दोनों का अधिकार बराबर है। परन्तु यदि अवस्था ऐसी हो कि 'पति यज्ञ न कर सके, वह बीमार हो, प्रवासित हो; या कोई और कारण आ उपस्थित हो जिससे पति अग्निहोत्र के कर सकने में असमर्थ हो वो ऐसी अवस्था में पत्नी ही अकेली अग्निहोत्र कर दिया करे' ऐसा अभिप्राय सूत्रकार का प्रतीत होता है। क्योंकि सूत्र १।३।१५ में सूत्रकार कहता है कि गृहस्थी का अग्निहोत्र जिस अग्नि में होता है उसका 'गृह्य अग्नि' यह नाम ही पत्नी के सम्बन्ध से पड़ा है। इस अवस्था में अग्निहोत्र में मुख्य अधिकार पत्नी का ही प्रतीत होता है। हां, यदि पत्नी भी विशेष कार्य वश अग्निहोत्र न कर सके तो ऐसी अवस्था में अन्य किसी से—अर्थात् ऋत्विक् आदि से—भी अग्निहोत्र करा लेना होता है। अग्निहोत्र पहले तो पति और पत्नी को स्वयं ही करना चाहिये, इसके निमित्त ऋत्विक् की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि पति और पत्नी अग्निहोत्र के करने में असमर्थ हों तब भले ही ऋत्विक् द्वारा अग्निहोत्र कराया जा सकता है। ऐसी अवस्था में चार ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं। अपितु एक ही ऋत्विक् चाहिये। कई टीकाकारों की सम्मति है कि यह एक ऋत्विक् "होता" होना चाहिये।

कई टीकाकार यह भी लिखते हैं कि पति या पत्नी यदि स्वयं पृथक् २ भी अग्निहोत्र के करने में असमर्थ हों तो भी ऋत्विक् द्वारा, अग्निहोत्र के काल में किसी एक को अग्नि के समीप उपस्थित रहना अवश्यक है, चाहे वह लेटा रहे या किसी भी सुखस्थिति में बैठा रहे। पति या पत्नी में से किसी की समक्षता में ही अग्निहोत्र हो, यह आवश्यक है।

कई टीकाकार यह भी कहते हैं कि पति या पत्नी की असमर्थता में पुत्र, कुमारी, अथवा शिष्य भी उन के अग्निहोत्र को कर सकते हैं।

सामवेद का स्वाध्याय

[ले० सम्पादक]

(१) त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः। उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (महोभिः[1]) निज तेज तथा महाशक्तियों के द्वारा (विश्वस्याः अरातेः) सब प्रकार के अदान से (उत) और (मर्त्यस्य द्विषः) मनुष्य में रहने वाले द्वेष से (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कर।

(क) अरातेः—दान न देना बहुत बुरा है। दान न देने वाले को वेद में शत्रु[2] कहा गया है। प्राचीन समय में गृहस्थ में ५ महायज्ञों द्वारा, वानप्रस्थ में विद्यादान द्वारा तथा संन्यास के समय सर्वमेध द्वारा दान का भाव स्थिर रूप में पुष्ट किया जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद्[3] में श्रद्धापूर्वक दान, अश्रद्धापूर्वक दान, भयपूर्वक दान, लज्जापूर्वक दान,—आदि जिस प्रकार से भी मनुष्य दान दे—उसे दान देने की ओर प्रेरित किया गया है। यजुर्वेद में तो यहां तक कहा है कि धन जोड़ने वाला और उस धन का सामाजिक सेवाओं में उपयोग न करने वाला व्यक्ति परमात्मा का शत्रु है। वैदिक-समाज-संगठन में अपनी कमाई पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार माना गया है। परन्तु समाज में इस कारण कहीं अधिक विषमता का राज्य न हो जाय इसके लिये दान पर भी बहुत अधिक जोर दिया गया है। अपने आप को परमात्मा का भक्त कहने वाला परन्तु परमात्मा के दुःखी पुत्रों के दुःखों की मात्रा को कुछ भी कम न करने वाला धनी कभी परमात्मा का भक्त, वास्तविक अर्थों में, हो ही नहीं सकता। इसीलिये अराति[4] अर्थात् अदानभाव से छुटकारा पाने की प्रार्थना, इस मन्त्र में परमात्मा से की गई है।

(ख) द्विषः—मनुष्य जीवन में आध्यात्मिक उन्नति का बाधक एक तो अदानभाव है और दूसरा द्वेष-भाव। वेद ने मनुष्य के सामने "सर्वभूत मैत्री[5]"—का उच्च उद्देश्य रखा है। यह उद्देश्य वास्तव

१—महस् = light, lustre; Power (आपटे) ॥

२—यजुर्वेद ३३।८२॥

३—शिक्षाध्याय, प्रथमवल्ली, ११ अनुवाक ॥

४—अराति = अ + रा (दाने) + ति = अदान, न देना, कंजूसी ॥

५—यजुर्वेद ३६।१८॥

में इतना महान् है कि इसकी ओर यदि दृष्टि रखी जावे तो मनुष्य, मनुष्य-सुलभ तुच्छ द्वेष भावों को छोड़ने में अवश्य कुछ न कुछ अग्रेसर हो सकता है।

(ग) महोभिः—परन्तु सांसारिक मनुष्य न तो दान-भाव की उच्च महिमा को समझ सकता है और न द्वेष-जाल के फंदे में से अपने आप को निकाल सकता है। जिस व्यक्ति के जीवन में परमात्मा के तेज की कुछ भी झलक पड़ी है या जिसने उसकी महा शक्तियों की ज़रा भी झांकी ली है वह इन दोनों कुप्रवृत्तियों से कुछ उठा हुआ अवश्य प्रतीत होता है।

एह्यु षु ब्रवाणि ते ऽग्न इत्थेतरा गिरः।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥

(अग्ने) हे अग्नि स्वरूप परमात्मन्! (एहि) हृदय स्थल में आ, (ते) तेरे प्रति (इत्थेतराः) वैदिक सत्य[1] तथा तदितर अर्थात् लौकिक नश्वर (गिरः) स्तुति वचनों को (सु ब्रवाणि) उत्तम प्रकार से मैं बोलता हूं, (एभिः) इन (इन्दुभिः[2]) स्तुति-चन्द्रों द्वारा (वर्द्धसि) तू बढ़।

(क) भक्त प्रथम अपने प्रभु का अपने हृदयासन पर आह्वान करता है।

(ख) तदनन्तर सत्य वैदिक मन्त्रों द्वारा तथा अपने लौकिक स्तुति वचनों द्वारा उस प्रभु का स्तुति गान करता है और।

(ग) शनैः २ परमात्मा इन स्तुति-चन्द्रों द्वारा प्रकाशित होता, अधिक प्रकाशित होता और अन्त में पूर्ण प्रकाशित हो जाता है। परमात्मा के स्वरूप के प्रकाशित करने में प्रकट करने में, स्तुतियां चन्द्र का न्याईं है।

(ते) तेरा (वत्सः) प्रिय पुत्र (परमात् चित् सधस्थात्) दूर स्थान से (मनः) अपने मन को (आ यमत्) बुला कर उसे नियन्त्रित करता है। (अग्ने) हे अग्नि स्वरूप परमात्मन्! (गिरा) स्तुति वचनों द्वारा (त्वाम्) तेरी (कामये) मुझे कामना है।

(क) आयमत्—मनुष्य का मन दूर २ के विषयों में प्रायः गया रहता है। भक्ति के समय मन को इन विषयों के चिन्तन से हटाना चाहिये और उसे नियन्त्रण में रखना चाहिये।

(ख) वत्सः—तदनन्तर भक्तिरस में आप्लुत होकर अगाध प्रेमरस को अपने चित्त में उत्पन्न करना चाहिये और इस समय परम पिता का ध्यान "भक्त-वत्सल" के रूप में करना चाहिये। छोटे पुत्र का अपने पिता के प्रति कैसा अनुराग होता है इसे प्रत्येक पुत्रवान् सद्गृहस्थी अनुभव कर सकता है। भक्त इस भक्ति-यज्ञ में दीक्षित होकर, अपने आप को उस कृपालु परमपिता का पुत्र समझता हुआ, उसके प्रति अपने अनुराग के स्रोत को खोल देवे, यह भाव इस मन्त्र में 'वत्स' शब्द द्वारा सूचित किया गया है।

(ग) गिरा—अनुराग के इस स्रोत के खुल जाने पर भक्त के मुख से अनायास प्रभु के स्तुति-वचन निकल पड़ते हैं। और उन स्तुतियों में वह मस्त सा हो जाता है।

(घ) त्वां कामये—भक्ति रस का इस मन्त्र में कितना परिपाक हुआ है इसका अनुभव "त्वां कामये"—इन दो पदों द्वारा हो रहा है। भक्त को धन संपत् की इच्छा नहीं, लोकैषणा नहीं, पुत्रैषणा

१—इत्था = सत्य; निघण्टु ३।१०॥
२—इन्दु = चन्द्रमा ॥

नहीं, किसी सांसारिक अभ्युन्नति की चाह नहीं, वह तो केवल अपने पिता के दर्शन चाहता है। इस लिये नहीं कि उससे कुछ मिल जाय। अपितु उसके दर्शन की इच्छा, केवल उसके दर्शन के ही लिये है, वह निर्हेतुक है। वास्तव में, भक्ति का ऊंचा आदर्श और सब से ऊंचा आदर्श इन दो पदों द्वारा यहां प्रकट किया गया है, जो कि अत्यन्त मनोहारी है।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ९ ॥

(अग्ने) हे अग्नि स्वरूप परमात्मन्! (अथर्वा) स्थिर-चित्त वाला (त्वाम्) तुझे, (वाघतः) वाहक, (विश्वस्य मूर्ध्नः) तथा समस्त देह के मूर्धा की न्याईं प्रधानभूत, (पुष्करात् अधि) हृदयाकाश से (निरमन्थत) मथ निकालता है।

(क) अथर्वाः—परमात्मा का बोध कैसे मनुष्य को हो सकता है—इस भाव को द्योतित करने के लिये इस मन्त्र में भक्त के विशेषण रूप में "अथर्वा" पद पढ़ा गया है। निरुक्तकार[1] ने "अथर्वा" पद की निरुक्ति में लिखा है कि "थर्वतिः चरति कर्मा, अकारः तत्प्रतिषेधकः,,। अर्थात् "थर्व,, का अर्थ है "चलना,, और "अ,, उस चलने के निषेध के लिये है। इसलिये "अथर्वा,, का अर्थ हुआ "न चलने वाला,, अर्थात् अचल। इसे ही स्थिर मति, स्थितधी, तथा स्थिर चित्त भी कह सकते हैं। मन के इधर उधर भटकते रहते भक्ति-यज्ञ सम्भव ही नहीं—इसका वर्णन पिछले मन्त्र[2] में हो चुका है। इस मन्त्र में यह दर्शाया है कि "अथर्वा,, मनुष्य ही,—जिसका कि मन चञ्चल नहीं रहा वह ही,—परमात्मा का भान कर सकता है, अन्य नहीं।

(ख) पुष्करात्—निघण्टु[1] में पुष्कर नाम "आकाश,, के लिये भी पठित है। परन्तु इस मन्त्र में जगद्व्यापी आकाश 'पुष्कर' शब्द का अर्थ ने लेना चाहिये। यहां पुष्कर शब्द का अर्थ है "हृदय का—आकाश" है। उपनिषदों में स्थान २ पर तथा गीता[2] में भी यह लिखा है कि परमात्मा का वास है हृदयाकाश में, वह इसी आकाश में प्रकट होता है। इस हृदयाकाश के क्या गुण हैं तथा क्या कर्म हैं—इसे इस मन्त्र में तीन पदों द्वारा प्रकट किया गया है।

(i) पहला पद है पुष्कर। पुष्कर पद दो अवयवों में विभक्त हो सकता है। "पुष्" और "कर" में। इनमें "पुष्" का अर्थ है पुष्टि और "कर" का अर्थ है करने वाला। अतः "पुष्कर" का अर्थ हुआ "पुष्टि करने वाला"। शरीर—शास्त्र के विज्ञ इस बात को अच्छे प्रकार से जानते हैं कि सारे शरीर की पुष्टि का आधार हृदय ही है, जो कि रक्त का वास स्थान है। इस द्वारा हृदय का यह गुण और काम सूचित हुआ कि हृदय पुष्टि का करने वाला है।

(ग) वाघतः—(ii) दूसरा पद है "वाघतः,,। वाघतः पद "वह,, धातु से बना है। इसी लिये सायण ने इसका अर्थ किया है "वाहकात्"—अर्थात् "जो वाहक है उससे,,। हृदय वाहक है या नहीं, यदि वाहक है तो वह किस वस्तु का वाहक है—इसे भी शरीर—शास्त्र के वेत्ता अच्छे प्रकार जानते हैं। हमें ज्ञात है कि हृदय रक्त का वाहक है। बहने की शक्ति रक्त को

१—अ० ११, खं० १९ ॥
२—मन्त्र ८ ॥

१—१।२॥
२—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति,,

हृदय से ही मिलती है। हृदय ही उस रक्त का समस्त शरीर में वाहक है, बहाने वाला है। अतः "वाघतः,, पद द्वारा यह सूचित होता है कि शरीर में रक्त का बहाव हो रहा है, जिसका कि बहाने वाला और प्रेरक हृदय है।

(घ) विश्वस्य मूर्ध्नः —(iii) तीसरा आवश्यक पद है "विश्वस्य मूर्ध्नः,,। इसका अर्थ है "सारे देह में सिर की न्याईं प्रधानभूत,,। यह भी "पुष्करात्,, पद का विशेषण है। शरीर में दो केन्द्र[3] हैं, जो कि मनुष्य के जीवन के लिये बहुत प्रधान हैं। एक मस्तिष्क और दूसरा हृदय। हृदय इस जीवन में कितना प्रधान है इसका उत्तर वैदिक शब्दों में "पुष्करात्,, और "वाघतः,, इन दो पदों द्वारा मिल रहा है। इन दो पदों के अर्थों की दृष्टि से हृदय की इस जीवन में कितनी प्रधानता है—इसे हम अनुभव कर सकते हैं। इसीलिये इस मन्त्र में "विश्वस्य मूर्ध्नः,,—इन पदों द्वारा यह कहा गया है कि हृदय इस शरीर में सिर की न्याईं प्रधान है।

(ङ) निरमन्थतः—मथ् का अर्थ है मथना। इसी मथ् धातु से निरमन्थत पद बना है। यहां पार्थिव अग्नि के मथने के दृष्टान्त के रूप में "निरमन्थत" पद का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार दो अरणियों द्वारा पार्थिव अग्नि मथकर प्रकट की जाती है इसी प्रकार आध्यात्मिक दो अरणियों द्वारा परमात्माग्नि को भी मथकर प्रकट किया जाता है। इसी लिये यहां परमात्माग्नि के सम्बन्ध में भी "मथ्" धातु का प्रयोग किया गया है। प्राचीन समय में यज्ञीयाग्नि दो अरणियों द्वारा मथकर प्रकट की जाती थी। चूंकि इस प्रकरण में परमात्मा को अग्नि शब्द द्वारा प्रायः स्मरण किया है अतः इस मन्त्र में उसके भी मथन करने की विधि की ओर इशारा किया गया है। परमात्माग्नि का मथन कैसे होता है तथा उसके मथन के सम्बन्ध में दो अरणियां कौनसी हैं—इसके परिज्ञान के लिये श्वेताश्वतर-उपनिषद् का निम्न लिखित वाक्य स्मरण रखना चाहिये। यथाः—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१।१४॥

इसका अर्थ यह है कि ध्यानी को चाहिये कि वह अपने देह को नीचे की अरणी बनाए तथा प्रणव अर्थात् ओंकार को ऊपर की अरणी बनाए, और ध्यान रूपी मथन का बारम्बार अभ्यास करे इस प्रकार वह अग्नि की न्याईं छिपे हुए परमात्माग्नि का दर्शन कर सकता है।

अभिप्राय इसका यह है कि परमात्मा का यदि साक्षात् करना हो तो ध्यानी को इधर उधर कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं, उसे केवल अपने शरीर-मन्दिर में ध्यानावस्थित होने की आवश्यकता है। वह अपने शरीर में ही अपने मन को अवस्थित कर प्रणव का जप करता जाय, ध्यान यदि इधर उधर भटकने लगे तो फिर ध्यान को अन्दर की ओर ही खींचे इस प्रकार ध्यान की अवस्थिति के लिये बार २ प्रयत्न करे, यही मानों मथन है जिसके द्वारा कि परमात्माग्नि इसी देह में से समय पर प्रकट हो उठेगी।

(१०) अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे।
देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (महे ऊतये) महा रक्षा के लिये (अस्मभ्यम्) हमें (विवस्वत्) अन्धकार

३—देखो, अथर्व वेद १०।२।२६॥

नाशक [ज्ञान] (आभर) दे । (नः) हमारी (दृशे) दृष्टि के लिये (हि) निश्चय से तू (देवः) चमकती[1] ज्योति (असि) है ।

(क) विवस्वत्—"विवस्" के कई अर्थ होते हैं । इन अर्थों में एक अर्थ है "अन्धकार का नाश[2]" । अतः "विवस्वत्" का अर्थ है वह पदार्थ या वस्तु जो कि अन्धकार का नाश करती है । "विवस्वान्" का अर्थ सूर्य भी होता है । सूर्य के उदय होते अन्धकार का नाश हो जाता है । इसी प्रकार ज्ञान के उत्पन्न होने पर अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है । योग प्रक्रिया में एक अवस्था ऐसी भी उत्पन्न होती है जिस समय कि ऋतंभरा प्रज्ञा[3] का प्रादुर्भाव होता है । इस प्रज्ञा में पूर्ण सत्य का प्रकाश हो जाता है । इसके होते सब अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है । यह अवस्था विवस्वद्-अवस्था है । यही अन्धकार नाशक ज्ञान है । परमात्माग्नि से, प्रकाशमय परमात्माग्नि से, इस ज्ञान की अभिलाषा इस मन्त्र में की गई है ।

(ख) महे ऊतये:—यह ऋतंभरा प्रज्ञा महारक्षिका है । ऋतंभरा प्रज्ञा सत्य ज्ञान का प्रकाश करती हुई माता की न्याईं योगी की रक्षा करती है । उस समय कोई भी मिथ्या ज्ञान योगी में नहीं रहता जो कि उसे अपने मार्ग से च्युत कर देवे । इसलिये यह ऋतंभरा प्रज्ञा महा-रक्षा का कार्य करती है ।

(ग) देवः, दृशेः—समाधि अवस्था के उत्पादक कई कारण, योग दर्शन[4] में गिनाए गए हैं । उनमें समाधि की शीघ्र प्राप्ति का उत्तम साधन परमात्म-ध्यान, ओ३म् का जप, और इसके अर्थ का चित्त में बार २ निवेश-दर्शाया गया है । योग० १।२३ के भाष्य में लिखा है कि "विशेष[5] भक्ति के कारण परमात्मा भक्त की ओर कृपा दृष्टि करने लगता है और तब वह संकल्प द्वारा भक्त पर अनुग्रह प्रकट करता है ।" रात्रि के समय बिना ज्योति के मार्ग-दर्शन नहीं हो सकता । उस समय दृष्टि के लिये ज्योति की आवश्यकता होती है जो कि दृष्टि को राह दिखाती है । योगी की भी एक विशेष प्रकार की दृष्टि होती है । उसकी दृष्टि की मार्ग-दर्शक ज्योति सामान्य ज्योति नहीं । अपने योग के पथ पर चलने के लिये उस मार्ग में जो अन्धकार बाधक होता है उस विशेष अन्धकार को दूर करने के लिये योगी को एक विशेष प्रकार की ज्योति की आवश्यकता होती है । वह वही ज्योति है जो कि बढ़ते चले जाते हुए भक्त पर कृपा-दृष्टि करती है, उस पर अनुग्रह करती है । योगी की दृष्टि के लिये यह परमात्माग्नि ही चमकती हुई दिव्य ज्योति है ।

पहली दशति समाप्त

१—देवः द्योतनात् ।

२—यथा—विवासन, विवास = Banishment, expulsion (आपटे)

३—योग, पाद १, सू० ४८ ॥

४—योगदर्शन, पाद १, सू० २१ से आगे ।

५—प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥

शतपथ ब्राह्मण व्याख्या

दर्श-पूर्णमास

[ले० श्री पं० देवराजजी विद्या वाचस्पति]

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

ब्रा०—अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादत्ते, कर्मणे वां वेषाय वामिति । यज्ञो वै कर्म, यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति । वेषाय वामिति, वेवेष्टीव हि यज्ञम् ॥ १ ॥

प०—पात्र लाकर रख चुकने के बाद अब "कर्मणे वां, वेषाय वाम्" (यजु १।६) द्वारा सूप और अग्निहोत्र हवणी (अग्नि में हवन किया जाने वाला द्रव्य सूप में जिससे डाला जाय) दोनो को ग्रहण करता है । कर्म का अर्थ है यज्ञ, इस कारण यज्ञ के उद्देश्य से कहता है "कर्मणे वाम्" कि तुम दोनों को हविः रूप कर्म के लिए ग्रहण करता हूँ । और "वेषाय वाम्" कि तुम दोनों को यज्ञ का स्वरूप बनाने के लिए ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

(वाग्यमनम्)

ब्रा०—अथ वाचं यच्छति, वाग्वै यज्ञः, अविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इति ।

प०—दोनों पात्रों को मन्त्र पूर्वक लेने के बाद अब वाणि का नियमन करता है (मौन[1] धारण करता है) । नियन्त्रित वाणी विक्षोभ रहित यज्ञ (का कारण) है । मैं विक्षोभ के बिना यज्ञ को (हविः लाने के कर्म को) पूर्ण करूं इस हेतु वह वाक् यमन करता है ।

मन्त्र

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ यजु० अ० १ मं० ७ ॥

(प्रतपनम्)

ब्रा०—अथ प्रतपति—प्रत्युष्टँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तँ रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा ॥ २ ॥

प०—अब वह "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः" इस मन्त्र द्वारा या "निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" इस द्वारा (शूर्प और अग्निहोत्र हवणी को) तपाता[2] है ॥२॥

---

(१) मौन धारण करने से अप्रकाशित वाक् अविक्षुब्ध यज्ञ का कारण समझी जाती है । जब मौन धारण कर लिया तब (बोलने के कारण चित्त में किसी प्रकार का जो विक्षोभ पैदा होता था वह) विक्षोभ नहीं होता । चित्त एकाग्र होजाता है और यज्ञ विना त्रुटि के सम्पन्न होता है । इसलिये क्षोभ रहित होकर यज्ञ का विस्तार करने के लिये वह मौन धारण करता है । यज्ञ से अन्यत्र ध्यान को रोकने के लिये मौन धारण किया है अतः जब २ मन्त्र बोलना होता है तब २ मन्त्र तो बोलता ही है ।

"अथ वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञः,अविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इति"।

(२) दो दो पात्रों को उठाकर मन्त्र पूर्वक तपाकर रखता जाता है । तपाने[2] से पात्रों में विद्यमान किसी प्रकार का सूक्ष्म क्रिमि होने का दोष दूर हो जाता है । वायु में अनेक प्रकार के सूक्ष्म क्रिमि हैं । इनमें अनेक क्रिमि जीवन के विघातक हैं । जो प्राप्त हुए जीवन का नाश करते हैं, वे 'असुर' हैं और जो बाहर से आते हुएजीवन को नहीं आने देते और वे 'अराति' हैं, और जो शरीर में किसी अङ्ग में बैठकर

ब्रा०—देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः ते ऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रुः । तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥ ३ ॥

प०—किसी समय देव लोग जब यज्ञ कर रहे थे तब वे असुर और राक्षसों के संसर्ग से भयभीत हुए। असुर और राक्षस यज्ञ के आरम्भ से ही प्रवेश करते हैं इसलिए यज्ञ के आरम्भ में ही इस तपाने द्वारा वह असुरों और राक्षसों का हनन करते हैं ॥ ३ ॥

हविरासादनम्

ब्रा०—अथ प्रैति—उर्वन्तरिक्षमन्वेमीति । अन्तरिक्षं वा अनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषो ऽमूल उभयतः परिच्छिन्नो ऽन्तरिक्षमनुचरति, तद्ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते ॥ ४ ॥

प०—सूप और अग्निहोत्रहवणी को तपा लेने के बाद अब वह वहां से रवाना होता है और मन्त्र बोलता है "उर्वन्तरिक्षमन्वेमि" अर्थात् अब मैं (इस घिरे हुए परिमित यज्ञिय स्थान से बाहिर) खुले[1] मैदान की तरफ़ जाता हूं। अन्तरिक्ष में राक्षस विचररहा है, वह जड़ रहित अर्थात् निर्मूल है, और आगे पीछे दोनों ओर से बन्धन रहित है। जैसे यह पुरुष बिना जड़ का है और ऊपर नीचे दोनों ओर से बन्धन रहित है और अन्तरिक्ष में विचरता है (वैसे ही वह राक्षस विचरता है) इस कारण वेद[2] ध्वनि के द्वारा ही अन्तरिक्ष को भय रहित और नाशकारी राक्षसों से रहित करता है ॥ ४ ॥

ब्रा०—स वा अनस एव गृह्णीयात्। अनो हवा अग्रे, पश्चेव वा इदं यच्छालम्। स यदेवाग्रे तत्करवाणीति, तस्मादनस एव गृह्णीयात् ॥ ५ ॥

प०—वह (अध्वर्यु) (यज्ञ कार्यार्थ हवि = अन्न को) छकड़े (अनस् = शकट, बैलगाड़ी या छकड़ा) से ही

उसके कार्य को रोक देते हैं वे राक्षस हैं। इस प्रकार असुर, अराति और राक्षस तीनों प्रकार के क्रिमि वायु के सम्बन्ध से पृथ्वी पर पड़े हुए पदार्थों में आते रहते हैं, उनको दूर करने के लिये पात्रों को तपाना उचित होता है।

(१) यज्ञशाला से बाहर जिस खुले मैदान में जा रहा है वहां अन्तरिक्ष में वायु के अन्दर अनेक राक्षस (सूक्ष्म क्रिमि) विचर रहे हैं। जैसे यह पुरुष किसी भी स्थान में खुला विचर सकता है वैसे क्रिमि भी जहां चाहे वहां खुले घूम फिर सकते हैं। वृक्षों की तरह ये नहीं हैं। वृक्ष के जड़ होती है। जड़ के कारण वृक्ष नीचे से पृथ्वी में बंधे रहते हैं। इसी तरह किसी पशु के गले में रस्सा डालकर खूंटे से बांध दें तो वह भी स्वतन्त्रता से गति नहीं कर सकता है क्योंकि वह आगे से बंधा होता है। परन्तु पुरुष के न नीचे मूल है और न ऊपर बन्धन इसलिये वह दोनों तरफ़ से रहित होने से स्वतन्त्रता से विचर सकता है। जैसे पुरुष स्वतन्त्रता से विचर सकता है, ऐसे वायु के राक्षस क्रिमि भी स्वतन्त्रता से विचर सकते हैं क्योंकि ये भी पुरुष के समान बन्धन से मुक्त हैं।

(२) खुले मैदान में जाते हुए उन राक्षसों का भय है कि वे कहीं फिर यज्ञपात्रों में प्रवेश न कर जावें। अतः अन्तरिक्ष को भय रहित और नाशकारियों से रहित करने के लिये उन राक्षसों को वेदध्वनि से भगा देता है। वेदध्वनि के साथ गया हुआ संकल्पात्मक मन राक्षसों के प्राणों पर अधिकार करके उन्हें निर्जीव कर देता है। इस प्रकार वेदध्वनि से राक्षस-शून्य हुए २ अन्तरिक्ष में यज्ञकार्यार्थ हवि का आहरण शुद्धता पूर्वक होता है।

लेवे। क्योंकि छकड़े का नम्बर पहिले[1] है और शाला का नम्बर पीछे है। इस कारण वह अध्वर्यु, (इस इच्छा से) कि जिसका नम्बर पहिले है उसे ही यज्ञ का साधन बनाऊं, छकड़े से ही अन्न को ग्रहण करे॥५॥

ब्रा०—भूमा वा अनः। भूमा हि वा अनस्तस्माद्यदा बहु भवत्यनोवाह्यमभूदित्याहुः, तद्भूमानमेवैतदुपैति, तस्मादनस एव गृह्णीयात्॥ ६॥

प०—छकड़ा भूमा (बहुत्व का सूचक) है। चूंकि छकड़ा बहुत्व का सूचक है इस कारण जब बहुत होता है तब कहते हैं कि छकड़े से ढोने योग्य हुआ इस कारण छकड़े के पास जाता हुआ वह भूमा के ही पास जाता है, इस कारण छकड़े से ही लेवे॥ ६॥

ब्रा०—यज्ञो वा अनः; यज्ञो हि वा अनस्तस्मादनस एव यजूँषि सन्ति, न कौष्ठ्यस्य, न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति, तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूँष्यासुः, तान्येतर्हि प्राकृतानि, यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽइति तस्मादनस एव गृह्णीयात्॥ ७॥

प०—छकड़ा यज्ञ[2] (का साधन) है। चूंकि छकड़ा यज्ञ का साधन है इस कारण यजुर्वेद के मन्त्र छकड़े के सम्बन्ध में ही हैं। कोठी (Grainary) और कुम्भी में (स्थित अन्न लेने) के सम्बन्ध में नहीं हैं। ऋषि लोग भस्त्रा[3] से ग्रहण करते थे तो ऋषियों की समझ में भस्त्रा (चर्म की बनी बोरी) के लिए यजुर्मन्त्र रहें, परन्तु अब तो वे प्राकृत[4] अर्थात् स्पष्ट हैं। मैं तो

(१) सब से पहिले अन्न छकड़े में ही रक्खा जाता है, छकड़े से ले जाकर घर में रखने के पश्चात् वह घर का अन्न होता है। इस कारण याज्ञवल्क्य ऋषि नियम करते हैं कि जिसमें सब से पहिले अन्न रक्खा जाता है उसमें से ही यज्ञ के लिये अन्न लेवे।

(२) छकड़े से ही अन्न लेने में और युक्ति देते हैं। छकड़ा यज्ञ रूप है। जिस कर्म को करने के लिये कई देवता मिलकर करते हैं वह कर्म यज्ञ होता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ सब देवताओं से मिलकर बना हुआ है। इसलिये कोई भी पदार्थ हो वह यज्ञ रूप है। यज्ञ रूप पदार्थ अपने अन्दर वर्तमान देवताओं की शक्ति के अनुकूल ही कार्य करके अन्य यज्ञ में सहायक होता है। इसीलिये सब पदार्थ यज्ञ होते हुए भी एक ही रूप से किसी कार्य में सहायक नहीं हो सकते। यज्ञ सम्भार को संग्रह करने के लिये छकड़ा अर्थात् बैलगाड़ी यज्ञ के लिये विशेष उपयुक्त है। इसलिये यज्ञ साधन होने से छकड़ा यज्ञ रूप है।

यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि खलिहान (खलस्थान) से ही अन्न क्यों न लिया जाय, अथवा खलिहान से अन्न जिस कपड़े (सूत) में बंधकर छकड़े में वा शाला में आता है उस कपड़े में से ही क्यों न लिया जाय? इस के लिये समझना चाहिये कि खलिहान में भूमि पर पड़ा अन्न बेकदर होने से यज्ञ के योग्य नहीं समझा जाता, और जब वह थोड़ा होता है तभी पल्ले में बांधकर शाला में ले जाया जाता है, अन्यथा नहीं। अन्न थोड़ा हुआ हो और यज्ञ के लिये मांगा जाय तो देने वाला खुले दिल से प्रसन्नता के साथ नहीं देता। जब अन्न बहुत होता है तब छकड़े में ही लाद कर लेजाने योग्य होता है, पल्ले में नहीं उठाया जाता। तब देने वाला भी प्रसन्नता से बहुत अन्न देता है, इस कारण छकड़े से ही अन्न लेवे।

(३) मशक के आकार का चर्मनिर्मित पात्र।

(४) बेशक उस समय ऋषियों के मत में वे यजुः मन्त्र भस्त्रा के विषय में थे। भस्त्रा के विषय में होने से वे मन्त्र उस समय प्राकृत नहीं थे वैकृत थे, अर्थात् जो भाव मन्त्रों में विद्यमान है उसको लेकर उसका प्रयोग न

यज्ञ[1] से यज्ञ का निर्माण करता हूं इस कारण छकड़े से ही लेवे ॥ ७ ॥

ब्रा०—उतो पात्र्यै गृह्णन्ति । अनन्तरायमु तर्हि यजूँषि जपेत् । स्फ्यमु तर्ह्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयात्। यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति । यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥ ८ ॥

शकट से अन्न ग्रहण करना सम्भव न हो तो पात्री (भाण्डा) से भी ग्रहण कर लेते हैं। यदि पात्री से ग्रहण करे तो याजुष मन्त्रों का जप[2] बिना व्यवधान के करे। परन्तु पात्री से लेते समय स्फ्य[3] की (पात्री के) नीचे टेक लगा करा ग्रहण करे। अब अध्वर्यु मौन समाप्ति को सूचित करने के लिये बोलता है " यतो युनजाम ततो विमुञ्चाम[4]" अर्थात् जिससे बंधे थे उससे छूट गए, क्योंकि जिस बन्धन को धारण करते हैं उससे छूटते[5] ही हैं ॥ ८ ॥

मन्त्र—धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं यो ऽस्मान् धूर्वति, तं धूर्व यं वयं धूर्वामः ।

देवानामसि वन्हितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥ यजु० अ० १ मं० ८ ॥

ब्रा०—तस्य वा एतस्यानसः अग्निरेव धूः अग्निर्हि वै धूः, अथ य एनद्वहन्ति अग्निदग्धमिवैषां वहं भवति। अथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्रउगं वेदिरेवास्य सा, नीड एव हविर्धानम् ॥ ९ ॥

प०—जिस अनस् से हविः ग्रहण करना बतलाया है उस अनस् का धुर् (युग = जुआ) अग्नि[6] ही है। चूंकि धुर् अग्नि है, इसलिए जो (बैल) इसको उठाते हैं उनका कन्धा आग से जला हुआ सा होजाता है । अब कस्तम्भी[7] के पीछे जो प्रउग[7] है

होने से वह प्रयोग अवैदिक था विकृत था। परन्तु अब मन्त्र गत भावों को लेकर ही उनका प्रयोग होने से वे प्राकृत हैं॥ प्राकृत से कार्य होते हुए वैकृत करना ठीक नहीं है। इसलिये याजुष मन्त्रों से छकड़े (अनस्) का संकेत होने से छकड़ा यज्ञ साधन है कोष्ठ और कुम्भी नहीं है।

(१) मनु महाराज कहते हैं कि मैं तो यज्ञ से यज्ञ का निर्माण करता हूं। इस प्रकार से छकड़ा यज्ञ का साधन होने से यज्ञ है, अन्य नहीं हैं, अतः वहां तक हविः का ग्रहण यज्ञभूत छकड़े से ही करे अन्य से नहीं।

(२) जबतक ग्रहण न करले तबतक वाणी का कुछ और प्रयोग न करके याजुष मन्त्रों को ही जपे।

(३) बाहु जितना खड्ग की तरह का काष्ठ का बना हुआ उपकरण विशेष 'स्फ्य' कहलाता है।

(४) यह मन्त्र भाग नहीं है।

(५) पहिले 'वाग्-यमन' किया था अब वह समाप्त होगया। मन्त्र बोलने से वाग्यमन समाप्त नहीं होता था अतः समाप्ति सूचक वाक्य बोलकर वाग्यमन के समाप्त होने की सूचना देता है और साथ ही बतलाता है कि कोई भी बन्धन हमेशा के लिए नहीं होता, उसका प्रयोजन समाप्त होजाने पर उसको छोड़ देना ही उचित होता है।

(६) यज्ञ के लिये अन्न कहां से ग्रहण करना चाहिये, वहां से ही क्यों ग्रहण करना चाहिये और कैसे ग्रहण करना चाहिये इतना विचार हो चुकने के बाद छकड़े के सब से आगे के अङ्ग में अग्नि के प्रकट होने की सूचना के द्वारा उस अङ्ग को अग्नि शब्द से ही कथन करते हैं।

(७) जुए (धुर = युग) के मध्यस्थान से लेकर पीछे गया हुआ बैठने के स्थान तक एक दण्ड रहता है इस लम्बे दण्डे को 'ईषा 'कहते हैं। यह दण्ड जुए में जहां बंधा रहता है उसके नीचे दो लटकते दण्डे लगाये जाते हैं। इन

वह इस छकड़े की वेदि है, और नीड ही हविर्धान है ॥ ९ ॥

दण्डों के सहारे छकड़ा नीचे झुकने नहीं पाता। छकड़े को सहारा देने वाले इन दण्डों का नाम 'कस्तम्भी' है। मध्य-दण्ड ईषा होता है उसके दोनों ओर दो दण्ड लगे रहते हैं। ये दोनों आगे की ओर मिले रहते हैं और पीछे को खुलते जाते हैं। इन दोनों के बीच में जो स्थान रहता है उसे 'प्रउग' कहते हैं। वेदि स्थानीय इस प्रउग पर सारथी (गाड़ी हांकने वाला) बैठा करता है। प्रउग के पीछे चारों ओर से घिरा हुआ सुरक्षित घोंसले के समान जो स्थान होता है जिसमें गाड़ी का मालिक बैठता है या कोई चीज़ भरी जाती है वह हविर्धान है।
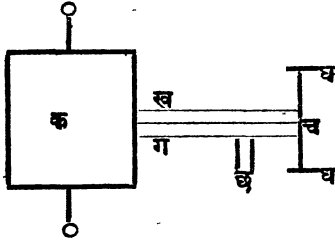
गाड़ी—क = नीड, हविर्धान। घ, घ = धुर, युग।
ख, ग = प्रउग। छ = कस्तम्भी।
च = मध्यदण्ड ईषा। ०, ० = चक्र

पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अनस् को यज्ञस्थान के सदृश समझाने का प्रयत्न किया है। यज्ञ स्थान में वेदि के ठीक आगे पूर्वदिशा तक आहवनीय अग्नि का स्थान होता है अनस् में वेदि के अग्रभाग युग वा धुर को भी अग्नि का स्थान होने से अग्नि का स्थान मात्र नहीं कहा, किन्तु अग्नि का महत्त्व प्रकट करने के लिये साक्षात् 'अग्नि' कहा है। अग्नि अग्रणी (सबसे आगे रहने वाला) होने से पूजास्पद है। धुर् को देखने से अग्नि का स्मरण होआता है, और उसका गुण कीर्त्तन करने को जी चाहता है।

ब्रा०—स धुरमभिमृशति—धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति, तं धूर्व यं वयं धूर्वाम इति। अग्निर्वा एष धुर्यः, तमेतदत्येष्यन् भवति हविर्ग्रहीष्यन्, तस्मा एवैतान् निह्नुते, तथो हैतमेषोऽतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ॥ १० ॥

प०—वह अध्वर्यु धुर् को स्पर्श[1] करता है। स्पर्श करता हुआ मन्त्र बोलता है।

"धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति, तं धूर्व यं वयं धूर्वामः"।

इसका अर्थ यह है कि वह अग्नि को लक्ष्य करके कहता है कि तू 'धूः' अर्थात् मारने वाला है इसलिए मारने वाले को मारडाल, अर्थात् उसको मार जो हमें मारता है और उसको भी मार जिसको हम मारना चाहते हैं। धुरा में अग्नि रहता है। हवि ग्रहण के समय उसका अतिक्रमण[1] होता है। अग्नि की

(१) इस प्रकार अग्नि विघ्नों का दूर करनेवाला है ऐसा स्पष्ट कहा है। अग्नि वस्तुतः विघ्नों को दूर करने को सामर्थ्य वाला है। जैसे धुर् को देखने से अग्नि देवता का स्मरण हो आता है और उसका सामर्थ्य चित्त में आता है इसी प्रकार संसार का प्रत्येक पदार्थ भिन्न २ समयों में भिन्न २ देवताओं और उनके सामर्थ्य का बोध करवा रहा है। एक याज्ञिक मनुष्य, अर्थात् जो देवताओं के विज्ञान को जानता है वा जानने की सामर्थ्य रखता है, पदार्थों को देखकर अवश्य ही देवताओं के विज्ञान को स्मरण करता रहता है। यदि पदार्थस्थ देवता के विज्ञान की स्मरण नहीं करता तो उस स्मरण न करने से देवता का अतिक्रमण हो जाता है। वृक्ष से सेब के फल को गिरता देखकर न्यूटन के चित्त में आकर्षण शक्ति वा विष्णुदेवता का स्मरण होआया यदि वह स्मरण न होता तो देवता का अतिक्रमण हो

इस प्रकार स्तुति से उस अतिक्रमण जन्य उपेक्षारूप अपराध को दूर करता है। इस प्रकार अतिक्रमण करने वाले अध्वर्यु को धुरा में रहने वाला वह अग्नि हनन नहीं करता है ॥ १० ॥

ब्रा०—तद्धस्मै तदारुणिराह—अर्धमासशो वा अहँ सपत्नान् धूर्वामीति। एतद्धस्म स तदभ्याह ॥११॥

अर्थ—इसी विषय में आरुणि (उद्दालक) ने इस प्रकार कहा था कि पन्द्रह पन्द्रह दिन के पश्चात् मैं शत्रुओं का नाश करता हूं। इस प्रकार उसने ठीक वही बात कही थी जो पहिले कही जा चुकी है ॥११॥

जाता। साधारण पुरुषों से अतिक्रमण होता ही रहता है। याज्ञिक अर्थात् वैज्ञानिक मनुष्य अतिक्रमण न होने का सर्वदा ध्यान रखते हैं। इसीलिये स्थान २ पर देवता उनकी सहायता करते हैं उनको कष्टों से बचाते हैं। जो देवताओं की परवाह नहीं करते उनका परवाह न करना ही देवताओंका अतिक्रमण होता है। देवताओं का अतिक्रमण होने से देवताओं से हम लाभ नहीं उठा सकते, अतः एव देवता क्रुद्ध हुए समझे जाते हैं। क्रुद्ध हुए देवता अतिक्रमण करने वाले का नाश कर देते हैं। उस नाश से बचने के लिये देवता के गुणों का स्मरण करके अतिक्रमण जन्य अपराध को दूर किया जाता है।

(१) इस प्रकार कस्तम्भी और ईषा को अच्छी प्रकार देखता भालता है कि इनमें कोई भी त्रुटि नहीं है, हविर्धान में से हवि लेने के लिये 'अनस्' उलटेगा नहीं उसको कस्तम्भी और ईषा अच्छी तरह से सम्भाले हुए हैं।

(२) देवताओंको सहारा देनेवाला कैसा होना चाहिये, क्या गुण और क्या सामर्थ्य उसमें होनी चाहिये। जिस सम्भालने वाले में इस प्रकार के गुण धर्म होंगे वहां ही देवता अपनी सामर्थ्य प्रकट कर सकेंगे।

मन्त्र

अह्रुतमसि हविर्धानं, दृंहस्व, माह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्। विष्णुस्त्वाक्रमतामुरु वातायापहतं रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥
यजु० अ० १ मं० ९ ॥

ब्रा०—अथ जघनेन कस्तम्भी मीषामभिमृश्य जपति—देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्। अह्रुतमसि हविर्धानं दृंहस्व माह्वारिति। अन एवैतदुपस्तौति, उपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानीति। मा ते यज्ञपति ह्वार्षीदिति। यजमानो वै यज्ञपतिः, तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ॥ १२ ॥

प०—अब नीचे लगी हुई कस्तम्भी को और इषा को हाथ से छूकर[1] उच्चारण करता है—"देवानामसि वन्हितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्, अह्रुतमसि हविर्धानं दृंहस्व माह्वाः।" अर्थात् तू देवों को सहारा[2] देने वालों में सब से अधिक सामर्थ्य वाला है, पवित्रतम है—तेरे जैसा पवित्र अन्दर बाहर से साफ़ सुथरा बना हुआ भी दूसरा नहीं है, तू पुष्ट करने वालों में सब से अच्छा है, प्रियतम है—मेल रखने वालों में सब से अच्छा है, देव भी सब से अधिक तेरा ही आह्वान करते हैं—तुझे चाहते हैं, और तू बड़ा सरल है तुझ में कुटिलता ज़रा नहीं है अतः हविर्धान को दृढ़कर, कुटिल वा टेढ़ा मत होना। इस प्रकार वह अनस् की ही स्तुति[3] करता है। इसलिए[4] कि उदार

(३) गाड़ी बहुत मज़बूत और पक्की बनी है इसपर चढ़ने में कुछ भय नहीं है।

(४) जिससे कोई पदार्थ लेना वा सिद्ध करना होता है उसकी स्तुति करके पहिले उसका मन वा हृदय उदार कर लिया जाता है, बढ़ालिया जाता है। उदार हृदय हुआ २ दाता जितना और जिस प्रेम से देता है अनुदार हृदयवाला पुरुष

मन वाले से हवि का ग्रहण करूं अनुदार मन वाले से नहीं। (हे अनः) तेरा यज्ञपति गिर[1] न पड़े। यज्ञपति का अर्थ यजमान है। इस प्रकार यजमान के लिए शुभकामना वा चित्त स्थिरता की इच्छा प्रकट करता है॥ १२॥

उतना और उस प्रेम से नहीं देता। इसलिये अनस् की भी स्तुति इसलिये करे कि उदार मनस् वाले से ही हवि का ग्रहण करूं, अनुदार मन वाले से नहीं।

'अन एवैतदुपस्तौति, उपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानीति।'

(1) अर्थात् टेढ़ा मत होना कि तेरे टेढ़ा होजाने से यजमान कहीं गिर पड़े अर्थात् उसका यज्ञ करने का मनोरथ नष्ट न होजावे इस कथन से और कुछ नहीं, यजमान के लिए सावधान होता है।

प्रकृति और उसका स्वरूप

[ले०—श्री पं० धर्मदेवजी वेदवाचस्पति]

संसार एक विचित्र पहेली है। मनुष्य इस सांसारिक घटना चक्र में अपने आपको एक क्षुद्र प्राणी अनुभव करता। है पञ्चभूतों के परिवर्त्तन तथा विकार और द्युलोकस्थ सूर्य, चन्द्र, तारों आदि का निःस्पन्द होकर दिन रात नियमबद्ध अविरत गति करना मनुष्य को इस स्थूल संसार या सांसारिक घटना चक्र से अन्य वस्तु का संकेत करता है। उसी संकेत को समझने के लिये, अपने मन में. उत्पन्न हुए २ संशयों को दूर करने के लिये मनुष्य इस संसार में घुस कर वास्तविक नियमों तथा शक्तियों को जानने का प्रयत्न करता है।

यही 'संप्रश्न'—संसार को देख कर प्रश्नों का उत्पन्न होना—दार्शनिक विचारों का जन्म स्थान है। मन की इस उद्विग्नता को–उत्पन्न हुए २ प्रश्नों के सुलझाने की अभिलाषा को–शान्त करने के लिये मनुष्य संसार में छिपे हुए रत्नों को देखने की कोशिश करता है। जिस समय मनुष्य इन सांसारिक घटनाओं से परे किसी अदृश्य वस्तु का इस स्थूल संसार के साथ सम्बन्ध देख लेता है वही वास्तविक दर्शन है, वही फिलासफी है। वेद के शब्दों में—

'सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा'। ऋ० १०।१२९।४॥

मननशील क्रान्तदर्शी कविलोग (फिलासफर) ही सत्–स्थूल संसार का असत्–सूक्ष्मवस्तु–के साथ सम्बन्ध जान सकते हैं। 'असत्' और 'सत्' के पारस्परिक सम्बन्ध को देखने का नाम ही 'दर्शन' है।

परन्तु मनुष्य अल्पज्ञ है। उसके साधन अपूर्ण हैं। इस व्यक्त संसार की तह में क्या २ छिपा हुआ है, यह सम्पूर्णतया जान सकना असम्भव है। यद्यपि मनुष्य के ज्ञान की कोई निश्चित सीमा नहीं बता सकते तथापि उसके ज्ञान के साधनों और उपायों को देख कर इतना अवश्य कह सकते हैं कि मनुष्य कभी भी सब कुछ सम्पूर्णतया नहीं जान सकता। यह सर्वज्ञ

नहीं हो सकता। किसी अनिश्चित मर्यादा तक वह वस्तुओं के स्वरूप को जान सकता है, परन्तु अन्त में ऐसी अवस्था आ जाती है कि जब न्यूटन की तरह अनुभव करता है कि 'मैं अभी तक सागर के किनारे पड़े हुए कुछ कंकर ही प्राप्त कर सका हूँ।' अन्त में ऐसी अवस्था आ जाती है जब वह उपनिषद् के निम्न वाक्य की सचाई को हृदय से अनुभव करने लगता है कि—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ केन० २।३॥
नाहं मन्ये सुवेदेति नोन वेदेत्ति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नोन वेदेति वेद च॥ केन० २।२॥

यह सब कुछ होते हुए भी मनुष्य अपने हृदय से उत्पन्न हुए २ प्रश्नों से इतना उद्विग्न हो जाता है कि संसार को देख कर सहसा कह उठता है—

"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि०......................॥
ऋ० १।१६४।६॥

अर्थः—अज्ञानी मैं ज्ञानी पुरुषों से पूछता हूं कि किसने इन छः लोकों को धारण किया हुआ है ॥१॥

"इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः॥"
ऋ० १।१६४।७॥

अर्थ—हे प्रिय! जो मनुष्य इस सुन्दर संसारके आश्रय को जानता हो, वह मुझे बतावे ॥२॥

जिज्ञासु के मन में बार २ यही प्रश्न उठता है कि—

"किं स्विदासीदधिष्ठानामारम्भणं कतमस्वित् कथासीत्॥"
ऋ० १०।८१।२॥

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः॥"
........४॥

अर्थात् इस संसार का आधार कौन था। इसका प्रारम्भ किस वस्तु से हुआ था और वह वस्तु कैसी थी ॥१॥ वह कौनसा जंगल था, वह कौनसा वृक्ष था, जिसमें यह संसार घड़ कर बनाया गया ॥२॥

इस प्रकार यह संसार क्या है? किस वस्तु से बना है? किस तरह बना है? किसने बनाया है? क्यों बनाया है? इत्यादि प्रश्न भिन्न २ रूप में मनुष्य के मन में उठते रहते हैं। मनुष्य इस जिज्ञासा को पूर्ण किए बिना नहीं रह सकता। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को ऐसी समस्याओं में न पड़ने का बहुत उपदेश दिया। इस प्रकार के प्रश्न करने वालों को उन्होंने बहुत निरुत्साहित किया और उनको स्पष्ट मनः कर दिया कि मेरे से ऐसे प्रश्न मत किया करो। मैंने तुम्हें इन प्रश्नों को सुलझाने के लिये अपना शिष्य नहीं बनाया[२]। परन्तु क्या इतने से उनके शिष्यों ने अपनी इच्छा को दबा लिया? उनके निर्वाण के उपरान्त न्याय, वैशेषिक, तथा वेदान्त दर्शन की तरह बौद्ध दर्शनों का भी भारत में पर्याप्त प्रचार और विस्तार हुआ है। मनुष्य की इस नैसर्गिक अभिलाषा को दबाना नितान्त असम्भव है। दबाई हुई यह इच्छा दबाई हुई वायु की भांति अधिक वेग से उठेगी। इस जिज्ञासा का उत्पन्न होना और उसकी पूर्त्ति करके तदनुकूल जीवन रहस्य जानना ही मनुष्य की विशेषता है। इसलिये मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित रखने के लिये इन नैसर्गिक जिज्ञासाओं को किसी हद तक पूर्ण करना अत्यन्त आवश्यक है। अत एव वेद में इन जिज्ञासाओं को दबाने का यत्न नहीं किया, प्रत्युत स्थान २ पर ऐसे प्रश्नों को मनु-

२—मालुक्य पुत्तवाद (मज्झम निकाय)।

ष्य के मन में घर करने के लिये सृष्टि उत्पत्ति आदि विषयक प्रश्न उठाए गये हैं और साथ ही उनका उत्तर भी दिया गया है। इसको हम इस तथा अगले लेखों में स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

यह संसार क्या है ?

यह संसार तीन स्थूल विभागों में विभक्त है। जिस पर हम सब मनुष्य, पशु आदि रहते हैं वह भूलोक है। जो हमारे ऊपर प्रकाशमान सूर्य तारे आदि दिखाई देते हैं वे द्युलोक के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त, दोनों लोकों के बीच में जो रिक्त स्थान है, जिसमें वायु चलती है, बादल गरजते हैं और रह २ कर बिजली चमकती है, जो दोनों लोकों के बीच में खोखला स्थान (अन्तरा क्षान्ततम्=अन्तरिक्षम्) दिखाई देता है उसका नाम 'अन्तरिक्ष' है।

इन तीनों लोकों की वस्तुओं में नित्य कुछ न कुछ परिवर्त्तन और विकार नजर आता है। ये सब वस्तुएं किसी अन्य वस्तु के रूप में परिवर्त्तित होजाती हैं। इनका कोई कारण होना चाहिए। यह संसार किन स्थूल भूतों का बना हुआ है यह प्रश्न यजुर्वेद में एक नये ढंग से किया गया है। यजुर्वेद २३।५१ में लिखा है :—

"केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुपवल्हामसि त्वा किं स्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र ॥"

अर्थः—हे विद्वन्! किन वस्तुओं के अन्दर परमेश्वर प्रविष्ट हुआ २ है और कौनसी वस्तु परमेश्वर में स्थापित है। आप से यही पूछते हैं कि वह क्या है ? आप इस विषय में हमें उत्तर दें।

अगले मन्त्र में इसका उत्तर दिया है—

"पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वा प्रति मन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ।५२।"

अर्थः—हे जिज्ञासु! पांच (भूतों) में परमेश्वर व्याप्त है। और पांच (भूत) ही पुरुष में आश्रित हैं। इस प्रकार इस विषय में मैं तेरा समाधान करता हूँ। तू मुझसे ज्ञान में उत्कृष्ट नहीं है।

पुरुष (परमात्मा) व्यापक है यह स्वीकार करने पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वह किन में व्याप्त है। व्याप्य व्यापक सम्बन्ध भिन्न २ वस्तुओं में ही हो सकता है। जब हम कहते हैं कि परमात्मा है तो उस का यह तात्पर्य होता है कि वह किसी दूसरी वस्तु में प्रविष्ट है। वह दूसरी वस्तु क्या है ? इसका उत्तर दिया है—'पञ्चस्वाविवेश'। अर्थात् वह परमेश्वर पांच (भूतों) में व्याप्त है। फलतः परमात्मा से अतिरिक्त इस संसार में पांच (भूत) हैं।

क्या यह पांच (भूत) ही इस संसार में हैं ? इसी से यह सारा जगत् बना हुआ है ? क्या इन्हीं पांच भूतों से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है ? इसका कुछ दिग्दर्शन अथर्व वेद के १०।८।५ में हो जाता है। वहां लिखा है:—

"इदं सवितर्विजानीहि षड् यमा एक एकजः[1]।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥
अथर्व० १०।८।५॥"

अर्थः—हे शिष्य! तू यह जानले कि इस संसार में (कार्य कारण के भेद की दृष्टि से) छः का जोड़ा है। जिन छः में से एक, अकेला भी दूसरों का उत्पादक है और उसी में ही शेष (पांच) लीन हो जाते हैं।

अर्थात् कार्य कारण के भेद से इस संसार में छः वस्तुएं (एक कारण+५ कार्य) हैं। वह कार्य अन्त,

[1]—एकः सन् अन्यान् पञ्च जनयति इत्येकजः।

में, प्रलयावस्था में, अपने कारण में लीन हो जाते हैं। अर्थात् केवल मूल कारण रह जाता है।

इससे दो परिणाम निकलते हैं—(१ म) केवल कार्य रूप (विकृतिमात्र) जगत् ५ प्रकार का है। और कारण रूप (प्रकृति मात्र) जगत् एक प्रकार का है। (२ य) सांख्य, योग, दर्शन की तरह कारण कार्य से भिन्न भी है और अभिन्न भी। परन्तु ये पांच विकार कौन २ से हैं ? प्रकृति के अन्तिम कार्य कौन से ? इसका निर्देश ऋग्वेद के मृत्यु सूक्त में कुछ २ मिलता है। मनुष्य की मृत्यु के बाद शरीर का कौन सा पदार्थ किस तत्त्व में लीन हो जाता है—यह वर्णन पढ़ने से सृष्टि के अन्तिम विकार का स्वरूप ज्ञात हो सकता है। यथा—

ऋग्वेद १०।१६।३ में लिखा है:—

"सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥"

इससे मिलता जुलता अथर्व० १८।२।७ मन्त्र मिलता है—

'सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं चगच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥"

ये मन्त्र शवदाह के समय बोले जाते हैं। इस में यह प्रार्थना की गई है कि हे मनुष्य ! तेरा शरीर सूर्य (तेज) में, वायु में, द्यौ (आकाश) में, पृथिवी में, और जल में चला जावे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृत्यु के बाद नष्ट होता हुआ यह शरीर अपने कारणों—पञ्चभूतों—में लीन हो जाता है। फलतः यह संसार पांच भूतों—पृथिवी, जल, सूर्य (तेज), वायु, द्यौ (आकाश)—से बना हुआ है। संक्षेप में संसार के दृश्य पदार्थ नष्ट होते हुए पांच भूतों में विभक्त हो जाते हैं। और ये ५ भूत भी, प्रलय काल में, अपने कारण एक 'एकज' (मूल प्रकृति) में लीन हो जाते हैं। परन्तु वह मूल प्रकृति क्या है ? अथवा यह संसार किस वस्तु से बना है ? यह प्रश्न बहुत विवादास्पद है। भिन्न २ विद्वान् इसका भिन्न २ उत्तर देने का प्रयास करते हैं। परन्तु वेद में इस समस्या को किस तरह हल किया है इस पर हम कुछ प्रकाश डालेंगे।

यह संसार किस वस्तु से बना है ?

डा० वेणीमाधव बरुआ डी० लिट्० अपनी 'Pre-Buddhistic Indian Philosophy' में सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में भिन्न २ ऋषियों के नाम से भिन्न २ मत दर्शाते हुए लिखते हैं कि ब्रह्मणस्पति ऋषि अभाव से भाव स्वरूप (जगत्) की उत्पत्ति मानते थे। इस बात की पुष्टि में वह ऋ० १०।७२।१ मन्त्र पेश करते हैं:—

'देवानां प्रथमे युगे ऽसतः सदजायत।',

अर्थात् देवों के प्रारम्भ काल में असत् (अभाव) से सत् (भाव) की उत्पत्ति हुई।

इस मन्त्र में उक्त महोदय ने 'सत्' का अर्थ 'भाव' और 'असत्' का अर्थ 'अभाव' किया है (हमें यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता। यद्यपि सत् शब्द का अर्थ भाव और असत् का अर्थ अभाव भी होता है तथापि केवल यही अर्थ नहीं होता। इस अर्थ के अतिरिक्त कुछ और भी अर्थ होता है। उदाहरणार्थ कतिपय ऐसे मन्त्र पेश किए जा सकते हैं, जिन से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि असत् और सत् शब्द का अर्थ अभाव और भाव के अतिरिक्त कुछ और ही होना चाहिये। वे निम्न मन्त्र हैं—

"असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे ॥" ऋ० १०।५।७॥

"असच्च यत्र सच्चान्तं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः" ॥ अथर्व० १०।७।१०॥

'सच्चुच्छिष्टे असच्चोभौ—॥ अ० ११।७।३॥

'सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ अ० ४।१।१॥

इन मन्त्रों में सत् और असत् का समुच्चय में प्रयोग होने से यही प्रतीत होता है कि कम से कम इन स्थलों में सत् और असत् का प्रयोग भाव और अभाव अर्थ में नहीं किया गया। क्योंकि सत् और असत् का भाव और अभाव अर्थ करने से मन्त्रों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। यदि सत् और असत् का अर्थ क्रमशः भाव और अभाव किया जावे तो उपर्युक्त मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार होगा—

(१) सर्व शक्तिमान् अविनाशी परमेश्वर के आश्रय में भाव और अभाव हैं।

(२) भाव और अभाव जिस के आश्रय में हैं, उस स्कम्भ का प्रवचन करो।

(३) ब्रह्म ने भाव और अभाव की योनि को अभिव्यक्त किया।

इस प्रकार सत् और असत् शब्द का अर्थ भाव और अभाव करने से अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इस लिये यह स्वीकार करना पड़ता है कि सत् और असत् का अर्थ केवल भाव और अभाव ही नहीं, प्रत्युत इसके अतिरिक्त इनका कुछ और अर्थ भी है।

देवानां प्रथमे युगे ऽसतः सदजायत' । ऋ० १० ७२।२ इस मन्त्र में इतना अवश्य प्रतीत होता है कि 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति हुई। इतना ही नहीं कि केवल उपर्युक्त में 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति बताई गई है, अपितु 'असति सत् प्रतिष्ठितम्'........अ० १७।१।१९ इत्यादि मन्त्र के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वेद में 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति मानी गई है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कभी नहीं कि 'अभाव' से 'भाव' की उत्पत्ति मानी गई है। (क्रमशः)

ऋग्वेद में ऐतिहासिक स्थल

आलोचना [५]

[ले०—वेदभाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ]

राजा भावयव्य और रोमशा की कथावाले सूक्त पर विचार

लेखाङ्क (४) में ऋग्वेद के १२५ वें सूक्त के ३ य मन्त्र पर भी विचार किया। उसमें भी कोई ऐतिहासिक सूत्र नहीं मिलता। अब ४ र्थ मन्त्र पर विचार कीजिये।

उप क्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव
ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो
घृतस्य धारा उपयन्ति विश्वतः ॥४॥

इस पर सायण भाष्य इस प्रकार है।

पूर्वस्यामृचि आनीतेन धनेन सोमयागं कुरु इत्युक्तं तमेव सोमयागं फलप्रदर्शनेन स्तौति। सिन्धवः स्यन्दनशीलाः

प्रस्नुवत्पयोधाराः। सिन्धुः स्यन्दनादिति यास्कः। मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः। मय इति सुखनाम। मयः सुम्ममिति तन्नामसु पाठात्। धेनवः प्रीणयित्र्यो गावः ईजानं सोमयागमनुतिष्ठन्तं तथा यक्ष्यमाणं यक्ष्य इति प्रणीतं कुर्वन्तं च न केवलमीजान मपितु यक्ष्य इत्यध्यवसितवन्तमपि उपउपेत्य क्षरन्ति स्रवन्ति प्रीणयन्ति इत्यर्थः। न च पूर्वस्यामृचि 'सोमं पिब' इत्युक्तत्वात्सर्वेषां सोमयागानामग्निष्टोमात्मकज्योतिष्टोमस्य प्रकृतस्य ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गएव फलत्वेन श्रुतो न गवादिकमिति वाच्यम्। स्वर्गवद्गवादिकामनयापि सोमयागस्य कर्त्तुं शक्यत्वान्न केवलं सोमयागमनुतिष्ठतामेव महत्फलं अपितु सुकृतसाधनानि कर्मान्तराणि अधितिष्ठतामपि महत्फलमस्त्येवेति दर्शयति। पृणन्तं पितॄन् प्रीणयन्तं पपुरिं प्रीणनशीलं इष्टदातारं प्राणिनः सर्वदा प्रीणयन्तं च पुरुषं श्रवस्यवो ऽन्नमिच्छन्त्यः अन्नसमृद्धिहेतवो घृतस्य धाराः यद्वा घृतकुल्या विश्वतः सर्वतः उप उपेत्य यन्ति प्राप्नुवन्ति प्रीणयन्तीत्यर्थः॥

सायण भाष्य का अर्थ—पूर्व मन्त्र में लाये हुए धन से सोमयाग कर यह कहा है। अब फल दिखा कर उसी सोमयाग की स्तुति करता है (सिन्धवः) बहने वाले, या बहती जल की धाराएं (मयोभुवः) सुख की देनेवाली और (धेनवः) तृप्त करने वाली गौवें (ईजानं) सोमयाग करते हुए, तथा (यक्ष्यमाणं च) यज्ञ करूंगा इस प्रकार का निश्चय करने वाले को भी (उप क्षरन्ति) प्राप्त होकर बहती है, उसे तृप्त करती हैं। (पृणन्तं) पितरों को प्रसन्न व तृप्त करने वाले (पपुरिं च) और प्रसन्न करने अर्थात् इष्टदाता अर्थात् प्राणियों को सदा तृप्त करने वाले पुरुष को (श्रवस्यवः) अन्न चाहती हुई, अन्न समृद्धि की कारणीभूत (घृतस्य धाराः) घृत की धाराएं या घृत की नहरें (विश्वतः) सब ओर से (उप यन्ति) उसको आ २ कर प्राप्त होती हैं, उसे तृप्त करती हैं।

इसमें शंका है—पूर्व मन्त्र में 'सोम पी' ऐसा कह है। सभी सोमयाग अग्निष्टोम के अंश होने से उनका फल स्वर्ग कहा है उनका फल गौ आदि ऐहिक पदार्थ नहीं है तो यहां गौ आदि फल कैसे कहा? इसका उत्तर यह है कि स्वर्ग के समान गौ आदि की कामना करके भी सोमयाग किया जा सकता है। न केवल सोमयाग करने वालों को ही बड़ा फल होता है प्रत्यु पुण्यकारक और कर्म करने वालों को भी बड़ा २ फल होता ही है। यही यहां दिखाते हैं। 'सिन्धवः'—स्यन्द अर्थात् बहने से ही 'सिन्धु' कहाते हैं।

(समीक्षा) इस मन्त्र में भी भावयव्य, स्वनय कक्षीवान् आदि का कोई प्रसङ्ग देखने में नहीं आता अब पाठकगण स्वतन्त्र अर्थ पर विचार करें।

स्वतन्त्र विचार—(ईजानं च यक्ष्यमाणं च मयोभुवः सिन्धवः धेनवः उप क्षरन्ति) यज्ञ करते हु और आगे यज्ञ करने वाले को भी 'सिन्धु' और धेनु उप क्षरण करती हैं। और (पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवः घृतस्य धाराः विश्वतः उपयन्ति) प्रीणन करने पालन करनेवाले को 'श्रवस्यु' घृत की धाराएं सब ओ से प्राप्त होती हैं।

इस मन्त्र में 'ईजान' कौन है? 'यक्ष्यमाण' कौ है? 'सिन्धु' और 'धेनु' क्या पदार्थ हैं? 'पृणत्' औ 'पपुरि' कौन है? 'श्रवस्यु' और 'घृत की धाराएँ' क हैं? यह सब विचारणीय हैं।

'यज' धातु का अर्थ देना, ईश्वर पूजा या उपासन और संगति करना ये तीन अर्थ हैं। फलतः देने वा के पास 'सिन्धु' क्षरते हैं। ईश्वरोपासक के पा 'सिन्धु' क्षरते हैं, सत्संगति करने वाले के पास भ सिन्धु क्षरते हैं। 'सिन्धु' क्या? पूर्व प्रकरणों प

विचार कीजिये। गुरु शिष्य सम्बन्ध में एक तो 'ईजान' है जो अपने को गुरुरूप अग्नि में आहुति करता है, जो पूर्व मन्त्र में 'वसु' कहा है, वह अपने को गुरु के प्रति सौंप देता है इस लिये 'ईजान' है तब उसके प्रति 'सिन्धु' के समान निरंतर बहने वाले ज्ञान का प्रवाह बहाने वाले वा ज्ञान के अगाध समुद्र गुरुजन हैं। वे आत्मसमर्पक जन के प्रति (मयोभुवः) अति सुख शान्तिदायक होते हैं। वे साक्षात् (धेनवः) ज्ञान रस पिलाने वाली गो-माताओं के समान प्रेम से आविष्ट होकर (उपक्षरन्ति) ऐसे ही ज्ञानरस प्रदान करते हैं जिस प्रकार माता अपने स्तनों से दुग्ध स्रावण करती है। यह वात्सल्यभाव गुरुजनों का शिष्य के प्रति तभी बन जाता है जब वह चाहे वा मन में संकल्प ही करे कि वह उनके प्रति अपने को देगा, उनकी देववत् उपासना करेगा उनका सत्सङ्ग लाभ करेगा।

'उप क्षरण' का अर्थ सेचन है। वर्षाकारी मेघ जैसे सींचते हैं वैसे ही प्रजापति आचार्य भी अपने शिष्य को ज्ञान से सेंचते, उसको बढ़ाते हैं। इसलिये 'सिन्धवः' का अर्थ मेघ है वह जलधाराओं के रूप में बहता है। खैर यह तो गुरुजनों का कर्त्तव्य दर्शाया अब शिष्यों का क्या कर्त्तव्य है वह अगले आधे में बतलाया है।

जो गुरु (पृणन्तं पपुरिं च) शिष्य को तृप्त कर सकता है, जो उसको ज्ञान से पूर्ण कर सकता है वह 'पृणत् और पपुरि' है। उसको (श्रवस्यवः) 'श्रवस्यु' श्रवण करने योग्य, ज्ञान के अभिलाषी शुश्रूषुजन आपसे आप (विश्वतः उपयन्ति) सब ओर से प्राप्त होजाते हैं। कैसे प्राप्त हो जाते हैं उसमें दृष्टान्त है (घृतस्य धाराः) जैसे घीकी धाराएं अग्नि को प्राप्त होती हैं और उसके अधिक तेज का कारण होती हैं उसी प्रकार वे शुश्रूषु शिष्य जन गुरु को प्राप्त होकर उसको अधिक तेजस्वी बनाते हैं। अथवा—'घृत' उदक नामों में पढ़ा है। अर्थात् जल की धाराएं आप से आप सब ओर से आकर समुद्र में आ गिरती हैं उसी प्रकार पूर्वोक्त 'सिन्धु' अर्थात् सागर रूप गुरुजनों तक ये शिष्यजन भी जलधारा वत् प्राप्त होजाते हैं और उसकी वृद्धि करते हैं। यह तो गुरु शिष्य पक्ष का व्याख्यान है।

अब राजा प्रजा के प्राजापत्य सम्बन्ध पर दृष्टिपात कीजिये—(सिन्धवः) अतिवेग से जाने वाले रथ सवार, घुड़सवार भी (ईजानं यक्ष्यमाणं च) दान-शील और दाता, राजा को प्राप्त होते, उसको (उपक्षरन्ति) प्राप्त कर उसका अभिषेक करते हैं। उसके लिये (मयोभुवः) सुखकारी होते हैं। वे ही उसकी (धेनवः) गौओं के समान उसको ऐश्वर्य सम्पदा देते हैं। फिर जो राजा प्रजा का पालक और उसको सम्पत्ति, ऐश्वर्य से पूर्ण करने वाला है वह 'पृणत्' और 'पपुरि' है। अन्न, धन, और यश चाहने वाले जन समुद्र को जलधाराओं वत् अवश्य प्राप्त होते हैं।

अध्यात्म में निरन्तर गति करने से प्राणगण तथा देह में बहने वाली रक्त नाड़ियाँ भी 'सिन्धु' हैं। वे ही अध्यात्म रसपान कराने से आत्मा की 'धेनु' हैं। आत्मा उनमें गोपाल के समान है। वही उनका पालक पूरक होने से 'पपुरि' है। उसके आज्ञाकारी प्राणगण व इन्द्रियां 'श्रवस्यु' अन्न रस चाहते हैं वे उसको ही प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार वेदवाणी के गम्भीर सर्वतोभद्र अर्थों के समक्ष ऐतिहासिक पक्ष की स्थिति बहुत ही निर्बल है।

पूज्यपाद म० गांधीजी से पत्र व्यवहार और भेंट

[ले०—स्ना० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति वैदिक धर्म प्रचारक बंगलोर]

अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार विषयक कार्य प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के प्रचार कार्य का अत्यावश्यक अङ्ग रहा है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि ऋषि दयानन्द ही इस आन्दोलन के वर्तमान युग में प्रधान प्रवर्तक थे जैसे कि फ्रांस देश के सुप्रसिद्ध विचारक रोमन् रौला ने भी स्वीकार किया है "Dayananda would not tolerate the abominable injustice of the existence of untouchables and nobody has been a more ardent champion of their rights."

गत सितम्बर मास से पूज्यपाद महात्मा गांधीजी के सुप्रसिद्ध उपवास के समय से यह आन्दोलन भारत में बड़े ज़ोर से फैला और प्रसन्नता की बात है। आर्य प्रचारक तथा अन्य सज्जन इस आन्दोलन को सफल बनाने का पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी इसे अपर्याप्त समझते हैं। इस विषय में पूज्यपाद महात्मा गांधी जी के साथ मेरा पत्र व्यवहार और १७ जनवरी को २ घण्टे तक यरवदा जेल में जो उनसे भेंट हुई उस का अनेक धार्मिक और सामाजिक विषयों से सम्बन्ध है। अतः मैं उनका मुख्य २ अंश ही संक्षेप में देना आवश्यक समझता हूँ।

१०-१२-३२ को पूज्यपाद म० गांधीजी को मैंने लिखा—

"आप को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि ऋषि दयानन्द और आपके आदेशानुसार आर्यसमाज अपनी सारी शक्ति अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार के इस पवित्र कार्य में लगा रहा है इससे जनता में पर्याप्त जागृति हो रही है।"

"अस्पृश्यता निवारण विषयक प्रचार कार्य करते हुए मेरा यह दृढ़ निश्चय हुआ है कि जब तक जन्म मूलक ऊंच नीच का भाव लोगों के दिलों में जमा रहेगा और उसे निर्मूल करने का यत्न नहीं किया जायगा तबतक केवल अस्पृश्यता निवारण के प्रचार से काम न चलेगा। यह लिखने की कृपा करें कि आप का इस विषय में क्या विचार है? क्या आप यह नहीं मानते कि अस्पृश्यता का भाव जन्ममूलक जातिभेद की भावना का ही परिणाम स्वरूप है? अतः उसका समूल नाश तभी हो सकता है जबकि जन्म मूलक ऊंच नीच के भाव को ही सर्वथा दूर किया जाए। कृपया अपना विचार लिख कर अनुगृहीत करें।"

"१७ दिस० से श्री श्रद्धानन्द सप्ताह का प्रारम्भ है आप कृपया अपना पवित्र सन्देश उस पवित्र अवसर के लिये अवश्य भेजें यह विनीत निवेदन है।"

आपका पवित्र आशीर्वाद चाहता हुआ
आपका विनीत भक्त, धर्मदेव

इस पत्र का पूज्य महात्माजीने निम्न उत्तर दिया।

येरवदा १४-१२-३२

भाई धर्मदेव,

आपका पत्र मिला है। श्रद्धानन्द सप्ताह में जो कार्यक्रम है उसमें आपको सफलता हो। यद्यपि जाति के विषय में आपने जो लिखा है उसमें तथ्य है तदपि आज जो कार्य हो रहा है उसके साथ जाति सुधार को नहीं मिला सकते हैं। इस बारे में मेरे विचारों को लिखने का अभी मुझे समय नहीं है। समय पाने पर मैं अवश्य लिखूंगा। आपका

मोहनदास गांधी

इसके पश्चात ५-१-३३ को मैंने बंगलौर से पूज्य महात्मा जी को पिछले पत्र का स्मरण कराते हुए निवेदन किया:—

इस बीच में "हमारा कलङ्क" इस नाम से प्रकाशित आप के कुछ लेखों के संग्रह को पढ़ने का भी

मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है ; किन्तु मुझे खेद है कि आप के 'वर्णाश्रम धर्म' विषयक विचार मुझे सर्वथा अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। किसी लेख में आप वर्णव्यवस्था जन्म पर आश्रित मानते हैं और किसी दूसरे लेख वा भाषण में आप उसका आधार गुण कर्म बताते हैं, जिससे (क्षमा करें) पाठकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव होता है कि आप इस विषय में किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंच सके, अथवा आप के विचारों में परिवर्तन होता गया है" ।

"इस विषय में आप के विचारों को जानना जनता के लिये आवश्यक है। क्योंकि यदि आप वर्णव्यवस्था को जन्ममूलक मानते हैं जैसे कि Varnashrama does attach to birth. A man can not change his Varna by choice, (Young India, October 12, 1921) इत्यादि शब्दों से प्रतीत होता है तो संकर मूलक जातियों के अस्तित्व अथवा अस्पृश्यता आदि से भी पूर्ण इन्कार नहीं किया जा सकता जिनका कई नवीन स्मृतियों आदि में वर्णन पाया जाता है। इस लिये क्या मैं आप की सेवा में फिर निवेदन करूं कि इस विषय में अपनी स्थिति को स्पष्ट करने की कृपा करें। क्योंकि अनेक सुशिक्षित सज्जनों को भी इस के बारे में सन्देह बना हुआ है।

'मुझे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आपने All India Anti Untouchability league को नाम परिवर्तन करने और Servants of untouchables Society यह नाम ग्रहण करने की आज्ञा दी है जिसके लिये हिन्दी नाम आप ने 'अछूत सेवा सङ्घ चुना है। मुझे यह लिखने की आज्ञा दें कि यह नाम परिवर्तन प्रशंसनीय नहीं है। Untouchables, Depressed classes इत्यादि नामों के प्रयोग को भी अनुचित समझते हुए आप ने अत्युत्तम 'हरिजन' शब्द का प्रयोग स्वयं प्रारम्भ कराया और अब आप पुनः उन शब्दों का प्रयोग सघ के नाम के साथ करने की अनुमति देते हैं यह कितने आश्चर्य की बात है ? untouchability League अथवा अस्पृश्यतानिवारक घसं इन नामों से संघ का उद्देश्य जितनी स्पष्टता से सूचित होता है उतना आप द्वारा अब निर्दिष्ट नामों से नहीं। उनमें अस्पृश्यता के निवारण का भाव नहीं आता, बल्कि केवल उनकी सेवा का भाव आता है जो कि अस्पृश्यता मानते हुए भी असमय नहीं। जिस समय श्रीयुत अमृतलाल ठक्कर इत्यादि सज्जन यहां आये थे तो उनसे भी इस विषय में निवेदन किया था और वे मेरे विचार से सहमत प्रतीत होते थे। वे कहते थे कि केवल आप के आग्रह से यह नाम परिवर्तन करना पड़ा। आशा है आप इस विषय पर पुनः विचार करने की कृपा करेंगे।

आपका विनीत भक्त
धर्मदेव

इसके उत्तर में पूज्य महात्मा जी ने निम्न लिखित मनोरंजक और महत्त्व पूर्ण उत्तर दिया है।

यरवदा जेल ७-१-३३

भाई धर्मदेव

तुम्हारा पत्र मुझे बहुत ही अच्छा लगा है। वर्णाश्रम धर्म के विषय में जो मेरे लेख आजतक निकल चुके हैं उस पर से किसी को मेरा निश्चयात्मक अभिप्राय नहीं मिल सकेगा यह तुम्हारा कहना वास्तविक है क्योंकि जितना निश्चय मैं लेखों में बता सका हूं उससे आगे मैं नहीं पहुंच सका था। अब कुछ ज्यादा निश्चय पर मैं अवश्य पहुंचा हूं और संभव है अब मेरे सामने चित्र स्पष्ट दीख पड़ता है। मैं संशयात्मक भाषा में लिख रहा हूँ क्योंकि जबतक मैंने आजतक के मेरे विचार नहीं लिखे हैं तब तक मुझको पता नहीं चलेगा। मेरा इरादा अवकाश मिलने से इसी आन्दोलन के लिये वर्णाश्रम पर एक लेख लिखने का होरहा है। संघ के नाम लिखने के बारे में भी जो तुमने लिखा है वह ठीक है। दो में से एक भी नाम मेरी पसन्दगी का नहीं, लेकिन दोनों के लिये मेरी सम्मति मिली है। इसका इतिहास लम्बा है। वह छपा नहीं है। लेकिन, लम्बाई के कारण ही और समय के अभाव के कारण मैं नहीं देता हूं, इतना समझो कि

मनुष्य अपनी पसन्दगी की बात नहीं करा सकता है और समाज में रह कर जब तक कोई सिद्धान्त की बात नहीं है तबतक अपनी पसन्दगी पर डटे रहना दोष है।　　मोहनदास गांधी

इस पत्र से परम श्रद्धेय पूज्य महात्माजी की सरलता और महत्ता विशेष रूप से प्रकट होती है इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु साथ ही वर्णाश्रम धर्म, जैसे अत्यावश्यक शास्त्रीय-विषय में वे किसी निश्चित परिणाम तक अब तक न पहुंच सके थे यह उनका स्वीकार करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद १२-१-३३ को मैसूर से पत्र लिखते हुए मैंने शास्त्रीय दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म पर जो विचार प्रकट किए उनका उल्लेख न करते हुए १७ ता० मध्यान्ह २¼ से ४½ तक येरवडा जेल में भेंट करने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ और जिसमें जातिभेद वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के सम्बन्ध, सनातन धर्म, शास्त्र स्मृति पुराण और आगम, मूर्ति पूजा, सत्यार्थ प्रकाश, मन्त्रदीक्षा इत्यादि विषयों का प्रसङ्ग चलता रहा उनका वर्णन पाठकों के मनोरञ्जनार्थ अगले पत्र में करूंगा।

सम्पादकीय टिप्पणियां

कन्या यज्ञोपवीत की अधिकारिणी है

कन्या के विवाह के प्रकरण में गोभिल गृह्यसूत्रों में एक सूत्र निम्न लिखित मिलता है। यथाः—

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत्—"सोमोऽददद्गन्धर्वायेति" ॥२।१।१९॥

इसका अभिप्राय यह है कि "कपड़े पहिनी हुई तथा यज्ञोपवीत धारण की हुई कन्या को (उसके घर से अग्नि की ओर) लाता हुआ पति "सोमो ददद् गन्धर्वाय"—यह मन्त्र जपे।"

इस सूत्र में "यज्ञोपवीतिनी" शब्द बहुत स्पष्ट है। इसका अर्थ सिवाय इसके कि "यज्ञोपवीत को धारण की हुई"—और क्या हो सकता है? यह सूत्र इस बात को कह रहा प्रतीत होता है कि जिस कन्या के यज्ञोपवीत नहीं, जिसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ, वह कन्या विवाह की अधिकारिणी नहीं है। गोभिल आचार्य इस बात पर इतना बल इस लिये देते हैं ताकि भविष्य में संतान उत्तम हो सके। जिस कन्या ने यज्ञोपवीत धारण कर नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-वास नहीं किया, वह विवाह के पश्चात् उत्पन्न सन्तान को क्या उत्तम शिक्षा दे सकती है? और उसे कैसे सबल और सुदृढ़ बना सकती है?

गोभिल आचार्य की कन्या के सम्बन्ध में यह उदारता सनातनी टीकाकारों को अखरती है। इसी लिये गोभिल गृह्यसूत्रों के टीकाकार पं० चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने "यज्ञोपवीतिनी" शब्द की मनमानी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि यहां "यज्ञोपवीत धारण की हुई"—ऐसा अर्थ न लेना चाहिये, अपितु यहां यह अर्थ लेना चाहिये कि "दुपट्टे को यज्ञोपवीत की तरह धारण की हुई"। अपने इस अद्भुत अर्थ के लेने में वे युक्ति देते हैं कि "चूंकि साक्षात् यज्ञोपवीत धारण की विधि स्त्रियों के लिये नहीं है" अतः-यज्ञोपवीत धारण की हुई-ऐसा अर्थ इस शब्द का न करना चाहिये। कन्या के यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में गोभिल आचार्य की स्पष्ट तथा सरल आज्ञा की उपेक्षा इस थोथे युक्तिवाद द्वारा नहीं हो सकती। यज्ञोपवीतिनी शब्द का स्पष्ट और सरल अर्थ यही है कि "यज्ञोपवीत धारण की हुई" न कि "यज्ञोपवीत की न्याई दुपट्टे को धारण की हुई।"

गोभिल आचार्य के सिवाय यदि किसी और आचार्य ने कन्या को यज्ञोपवीत का अधिकार न दिया होता तो हम जैसे तैसे गोभिल आचार्य के वचनों को तोड़ फोड़ भी सकते। परन्तु ऐसे अन्य आचार्य हुए हैं जिन्होंने कन्या को यज्ञोपवीत का अधिकार इतने स्पष्ट शब्दों में दिया है कि सनातनी पण्डित उन आचार्यों के वचनों का और कोई अर्थ

कर ही नहीं सकते।

यम आचार्य का निम्न लिखित श्लोक इस सम्बंध में ध्यान देने योग्य है। यथा:—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥

इसका अर्थ यह है कि पहले समय में कुमारियां भी मेखला धारण करती थीं, वेदों को पढ़ती थीं, तथा गायत्री मन्त्र का उपदेश लेती थीं।

इसी प्रकार हारीत का भी निम्न लिखित वचन इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। यथा:—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च।

अर्थात् स्त्रियां दो प्रकार की होती हैं। एक वे जो ब्रह्म अर्थात् वेद को पढ़ने वाली हैं और दूसरी वे जो कि शीघ्र विवाह के निमित्त प्रवृत्त हो जाती हैं। इनमें से प्रथम प्रकार की स्त्रियों को यज्ञोपवीत का अधिकार है।

अतः प्रतीत होता है कि गोभिल आचार्य ने भी कन्याओं को यज्ञोपवीत का अधिकार दिया है जैसे कि अन्य प्राचीन ऋषि मुनियों ने कन्याओं को यह अधिकार दिया है।

आचार्य देवपाल और जप

लोगों का प्रायः ख़याल है कि जप केवल वाणी का विषय है, मन या विचार का विषय नहीं, अर्थात् जप में केवल नियत शब्दों का बार २ उच्चारण मात्र करना होता है इसमें उन शब्दों के अर्थ पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं। आचार्य देवपाल ऐसे अर्थ से रहित जप को जप ही नहीं कहते। ऐसे जप को वे व्यर्थ समझते हैं, उसको मेंडक के टर्राने से बढ़ कर नहीं समझते। लौगाक्षि-गृह्यसूत्रों की व्याख्या करते २ गायत्री मन्त्र के जप के प्रसंग में जप पर आचार्य देवपाल का निम्न लिखित लेख है। यथा:—

"जपमन्त्राणामपि प्रतीयमानत्वात् दुरपह्नवोऽर्थः। यद्यपि जपमन्त्रः प्रतीतस्तथापि जपिता जपमन्त्रेण तदर्थं ध्यायति। युक्तियुक्तमेतत्। जल्पति जपत्योर्व्यक्तायां वाचि वृत्तेः। एतदेव व्यक्तत्वं यदर्थप्रतिपादनयोग्यत्वम्। विपर्यये तु अव्यक्तत्वं कुक्कुटादिवाचाम्। न च प्रतीयमानोऽप्यविवक्षित इत्यभिधेयो न भवतीति भणितुं प्रभवति कश्चित्। नहि चक्षुरादिना प्रतीयमानो जलादिरजलाद्यर्थिनो नेन्द्रिय विषयः। न चाविवक्षायाः सवितुः कारणमस्ति। ध्यानेन तदर्थ जपोपगृहीतेनाराधितस्य परापरपुरुषार्थ प्राप्त सिद्धिहेतुत्वात्। "य एवं विद्वान् जपति" इति जपमन्त्रेष्वपि विद्वत्ताया अपेक्षणात्"।

अर्थात् मन्त्र जिनका कि जप किया जाता है उच्चारण करते समय चूंकि उनकी प्रतीति हो जाती है इस लिये उनके अर्थों का अपह्नव या अपलाप नहीं किया जा सकता। जप करते समय जप करने वाले को जप मन्त्र के स्वरूप का परिचय तो हो ही जाता है तो भी जप करने वाला जप के द्वारा उस जप मन्त्र के अर्थ का भी ध्यान करता ही है। यह बात युक्तियुक्त भी है। क्योंकि जल्प और जप इन दोनों धातुओं का प्रयोग व्यक्त वाणी के सम्बन्ध में हुआ करता है। वाणी में व्यक्तपन यही है कि उसमें अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता या क्षमता रहे। अव्यक्त वाणी कुक्कुट आदि प्राणियों की होती है। वह वाणी अर्थ नहीं बतलाती है। यह कथन निष्प्रयोजन है कि जप करते समय जप मन्त्र के अर्थ की प्रतीति चाहे होती हो तो भी चूंकि उसकी अविवक्षा अर्थात् कहने की इच्छा नहीं, अतः जप के समय जपमन्त्र का अर्थ उस मन्त्र का विषय नहीं बन पाता। क्योंकि आंखों से दीखता हुआ जल भी उस व्यक्ति की आंख का विषय नहीं होता जिसे कि जल की चाह नहीं, यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि यह बात भी समझ नहीं पड़ती कि अविवक्षा और सविता के ध्यान का परस्पर क्या कार्यकारणभाव है। बिना विवक्षा के भी सविता का ध्यान हो सकता है। मन्त्र के जप तथा उस जप मन्त्र के अर्थ इन दोनों से बल पाए हुए ध्यान द्वारा आराधित सविता तो अपर पुरुषार्थ और पर पुरुषार्थ अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों की सिद्धि का हेतु होता है। क्योंकि "जो इस प्रकार अर्थ जानता हुआ जप करता है"—इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ के वचनों में जपमन्त्रों में भी अर्थ ज्ञान की अपेक्षा की गई है।

Registered No. N—502

श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मण्डल लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिकविज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति।=) के टिकट भेज कर मँगाइये।

२—"वैदिकविज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख कागज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो ―) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफिस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या ―)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है।
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	२०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१२) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

॥ओ३म्॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १ | श्रावण, संवत् १९९० वि०, जुलाई, सन् १९३३ ई० | सं० १०

वेदोपदेश

(दिव्य गन्धर्व)

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥

अथर्व० २-२-१॥

"द्युलोक का गन्धर्व जो कि भुवन का पति है, वह एक ही है, प्रजाओं में वही नमस्कार के तथा पूजा के योग्य है। हे द्युलोक के देव! वेद द्वारा मैं अपना सम्बन्ध तेरे साथ जोड़ता हूँ। तुझे नमस्कार हो। द्युलोक में तेरा सभा स्थान है।"

परमात्मा गन्धर्व है। गौ का धारण करने वाला है। वेदों में गौ के नाना अर्थ मिलते हैं। पृथिवी[1] गौ है, संसार[2] गौ है, वेदवाणी गौ है, ज्योति[3] गौ है। परमात्मा पृथिवी का धारण कर रहा है, संसार का

१—निघण्टु १।१॥

२—अथर्व० ९।७।२५॥

३—निरुक्त २।६,७॥

धारण कर रहा है, वेदवाणी का धारण कर रहा है, ज्योति का धारण कर रहा है, अतः वह गन्धर्व है। पौराणिक साहित्य में गन्धर्वों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कथाएं प्रचलित हैं। पुराणों ने गन्धर्वों की एक पृथक् जाति मान ली है। परन्तु वेद में गन्धर्वों की इस प्रकार की कोई पृथक् जाति नहीं मानी गई। वेद में परमात्मा को भी गन्धर्व कहा है और इस की शक्तियों को अप्सरा कहा गया है।[४]

यह भुवनों का पति है, रक्षक है, स्वामी है। संसार में कई सौर मण्डल हैं और प्रत्येक सौर मण्डल में नाना भुवन होते हैं। इन सब भुवनों का पति एक ही परमात्मा है। नाना देवतावाद का वेद में स्थान नहीं। यही एक देव सब भुवनों का पति है।

यही परमात्ममा नस्कार तथा पूजा का पात्र है। नाना देवतावाद में नानादेवता नमस्कार तथा पूजा के पात्र हुआ करते हैं। जिसकी जिस देवता के संबंध में भावना दृढ़ होगई उस के लिये वही देवता नमस्कार तथा पूजा का स्थान बन गया। नाना देवतावाद चूंकि वेद को अभिमत नहीं इसलिये वेद केवल एकमात्र परमात्मा को ही नमस्कार तथा पूजा का पात्र मानता है।

परमात्मा दिव्य है। द्युलोक का स्वामी है। ईस का सभा स्थान द्युलोक है। परमात्मा के संबंध में यह वर्णन यथार्थ है।

इस भूलोक और इसके वायुमंडल से अतिरिक्त, सिवाय द्युलोक के और कोई वस्तु महत्व की रह नहीं जाती। यह भूलोक और इस भूलोक का वायुमंडल, द्युलोक के मुकाबिले में अति तुच्छ है। महा समुद्र में एक बिंदु के सदृश है। समग्र द्युलोक का एक छोटा सा अंश यह भूलोक तथा इस भूलोक का वायुमंडल है। स्वच्छ रात्रि के समय आकाश की ओर नज़र फेंको तो द्युलोक की छत अनन्त दिव्य सितारों से जड़ी हुई नज़र आयेगी। ये सभी सितारे-जो कि संख्या में अनन्त से दिखाई देते हैं, प्रायः सूर्य हैं। इन में से प्रत्येक सूर्य है और हर एक अपने २ सौर मण्डल का केंद्र है। वास्तव में परमात्मा की रचना की लीला इन्हीं सितारों में मुख्यरूप से चमक रही है। संसार का मुख्य भाग यही द्युलोक है अर्थात् ये ही सितारे हैं। परमात्मा संसार में व्यापक है—इस को हम इन शब्दों में भी कह सकते हैं कि परमात्मा द्युलोक में व्यापक है। इसीलिये मंत्र में कहा गया है कि परमात्मा दिव्य है, द्युलोक का वासी है। यह सब सितारे परमात्मा की सभा, परमात्मा की महापरिषद् के सभासद् हैं। और यह समग्र द्युलोक मानो परमात्मा का सभा-स्थान है।

ऐसी महाशक्ति नमस्कार तथा पूजा का अवश्य स्थान है। भक्त न केवल इस महाशक्ति का पुजारी ही बनना चाहता है अपितु उस की हार्दिक अभिलाषा यह है कि वह अपनी आत्मा को इस परम-आत्मा के साथ जोड़े, ताकि परम आत्मा के दिव्य आनन्द-स्रोत के कतिपय कणों का वह आस्वादन कर सके। भक्त के हृदय में विश्वास है कि वेद इस उद्देश्य के लिये जो साधन उपस्थित करता है वे योग्य हैं, उचित हैं और पूर्ण हैं। इसलिये वह बड़े दृढ़ विश्वास से कहता है कि "हे द्युलोक के देव ! वेद द्वारा मैं अपना सम्बन्ध तेरे साथ जोड़ता हूँ।"

४-अथर्व० २।१-२॥

मृत्युपर विजय

[ले० श्री पं० नित्यानन्दजी वेदालंकार]

मृत्यु एक मुख्य और अवश्यम्भावी घटना है, जीवन के साथ मौत लगी हुई है, जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता। बनने और टूटने का अटूट सम्बन्ध है।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।' (गीता)

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु निश्चित है। विज्ञान (Science) दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है, विज्ञान की इस विद्युत् वेग से होती हुई उन्नति पर आश्चर्य होता है। बुढ़ापे को यौवन में परिणत करने के लिये विज्ञान औषध खोज चुका है, बूढ़े लोग जवान होने लगे हैं, परन्तु अभी तक मृत्यु को टालने की दवा कोई खोज नहीं पाया है। मौत को तो कोई टाले भी टाल नहीं सकता। चाहे कोई फ़कीर हो या अमीर, मूर्ख हो या विद्वान्, गरीब हो या शाहंशाह, मौत से कोई अछूता नहीं। मौत तो अपना मतलब सब को समय पर समझा देती है, चाहे कोई कितना ही मूर्ख क्यों न हो। तो फिर मृत्युपर विजय पाने का अर्थ क्या?

मनुष्य मृत्यु से डरता है, मृत्यु को बड़ी भयावनी चीज़ समझता है। मृत्यु को सामने देखकर बड़े २ धीर लोग अपनी धीरता को खो बैठते हैं, शूर अपनी शूरता को भूल जाते हैं। बच्चा जिस प्रकार नक़ाबपोश (mask) से डरता है उस प्रकार मनुष्य भी मौत के सामने थर २ कांपने लगता है। मृत्यु के इस भय के अंश को दूर करना मृत्यु पर विजय पाना है। भय के अंश को भगा देने से मनुष्य निर्भय होकर मौत का मुकाबला करता है। बालक मूलशंकर का कोमल हृदय भगिनी और चचा की मृत्यु की चोट से कांप उठता है, वह मृत्यु पर विजय पाने की तलाश में जंगलों में भटकता है। अन्त में मृत्यु के भय से निर्भय हो जाता है। शान्ति से अपनी जीवन लीला को समाप्त करता है। यही मृत्यु पर विजय है।

विजय पाने का उपाय—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।"

ब्रह्मचर्यरूपी[1] तप से देव लोग मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। अथर्व वेद के इस छोटे से वाक्य को वेदों से प्रेम रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने सुना होगा, मैं तो इस वाक्य को बचपन से ही देखता और सुनता आया हूं। जब मैंने अपनी आँखों को खोला, कुछ समझने तथा अक्षरों को पहचानने लगा तब सब से प्रथम इस वाक्य को अपने घर में एक दीवार पर सुन्दर अक्षरों में लिखा पाया। फिर इसी वाक्य को आचार्य तथा गुरुओं के मुख से बार २ सुना। वेद में बड़े २ सारगर्भित तथा सुन्दर वाक्यों को पाता हूं, परन्तु उन्हें वह महत्त्व नहीं दिया जाता, जो इस छोटे से वाक्य को दिया जाता है। उस समय मैं इस वाक्य को मोटे और सुनहरी अक्षरों में लिखने वाले की रस और साहित्यहीन बुद्धि पर हंसता था। परन्तु

[1]—कतिपय विद्वान् इस मन्त्र का अर्थ "ब्रह्मचर्य से और तप से देव लोग मृत्यु पर विजय पा लेते हैं"—इस प्रकार करते हैं। परन्तु हमें यह अर्थ कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। मन्त्र में 'ब्रह्मचर्येण' पद 'तपसा' पद का विशेषण प्रतीत होता है।

भव विद्याभ्यास से, सन्तों के चरित से, Philosophy के अध्ययन से तथा भक्तोंके भावों के अवलोकन से इस वाक्य के महत्त्व को कुछ समझ पाया हूं। बड़ी २ सभाओं में नहीं, उत्सवों में नहीं, किन्तु छोटे से गांव की घर की दीवार पर इस वाक्य को क्यों लिखा गया ? यह कुछ समझ में आने लगा है। वेद ने सचमुच इस वाक्य में बड़ी भारी सचाई को प्रकट किया है। प्रत्येक मनुष्य मृत्यु के भय से बचना चाहता है। यह संसार असल में सुखमय हो या दुःखमय, परंतु मृत्यु के कारण दीखता तो दुःखमय ही है। इस मृत्यु के कारण ही संसार में रोना धोना चलता है, इस लिये मृत्यु पर विजय पाना आवश्यक है। इस वेदवाक्य में मृत्यु के भय से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। सतत ब्रह्म में—परमात्मा में—चरण करने (ब्रह्मचर्य) से मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। मृत्यु के भय से मुक्त होने का उपाय बहुत सीधा है, परंतु सरल नहीं। सतत ब्रह्म में चरण बहुत कठिन चीज़ है, कठोर तपस्या है। मनुष्य परमात्मा की ओर से मुंह मोड़कर प्रकृति के बंधन में फंस जाता है। पदार्थ २ में मनुष्य ममत्व बुद्धि पैदा कर लेता है। यह चीज़ मेरी, यह वस्त्र मेरा, यह घर मेरा, यह शरीर मेरा—ऐसा मनुष्य समझने लगता है। अनेक प्रकार के सांसारिक भोग विलासों में आनन्द अनुभव करता है। सांसारिक सामान के ऊंचे ढेर से प्रभु छिप जाते हैं। मनुष्य ब्रह्म में, परमात्मा में चरण करना भूल जाता है। हां, जब उसे ठोकर लगती है, उसके पदार्थ जब उससे कोई छीन लेता है, तब उसे दुःख होता है, उसकी आंख खुलती है। इस दुःख और संकट के क्षण में वह ब्रह्म में चरण करता है, भगवान् को याद करता है, परंतु विपत्ति के टलने पर ब्रह्म में चरण को अर्थात् भगवान् को भूल जाता है। सम्पत्ति के संचय में फिर चित्त को लगाता है। संकट में भगवान् को याद करना अर्थात् ब्रह्म में चरण करना सरल है, परंतु प्रतिक्षण ब्रह्म में, परमात्मा में चरण करना कठिन है। इसलिये ब्रह्मचर्य कठोर तप है। जो इस कठोर तप को करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। मृत्यु के भय से वह मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य रूपी कठोर तप के सिवाय-परम आस्तिक बुद्धि के सिवाय-मृत्यु के भय से मुक्त होने का कोई दूसरा उपाय नहीं।

जो मनुष्य प्रतिक्षण ब्रह्म में चरण करता है, प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा की शक्ति और सत्ता को अनुभव करता है, प्रत्येक कार्य तथा घटना में भगवान् के हाथ को देखता है, उसे तो सब कुछ भद्र प्रतीत होता है, जगत् की घटना २ में छिपे हुए मंगल को वह देखता है। जो कुछ हो रहा है और होना चाहिये, यह उसके लिये एक हो जाता है, दोनों में भेद नहीं रह जाता। वह जगत् में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को साक्षात् अनुभव करता है। परमात्मा जो कुछ करता है, भले के लिये; संकट और विपदा में भी वह किसी अज्ञात मंगल का चिन्तन करता है। बड़े से बड़े कष्ट, रोग और मृत्यु में प्रभु की इच्छा को देखकर उसका स्वागत करने को तैयार होता है। मृत्यु परम आस्तिक को भयावनी चीज़ प्रतीत नहीं होती।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी गीताञ्जलि में लिखते हैं:—

"When in the morning I looked upon the light I felt in a moment that I was

no stranger in the world, that the inscrutable without name and from hand taken me in its arms in the form of my own mother.

Even so, in death the same unknown will appear as ever known to me and because I love this life, I know I shall love death as well."

"अपनी माता के समान किसी अज्ञात शक्ति ने मुझे अपनी भुजाओं में उठा रखा है, मृत्यु के समय भी मैं उस की सुरक्षा में रहूँगा, इस जीवन से मैं प्रेम करता हूँ, इसलिये मुझे विश्वास है कि मैं मृत्यु से भी प्रेम करूँगा...................।"

यह विश्वास की अनुभूति सतत प्रवाह में चरम है। प्रभु पर परम विश्वास के कारण मृत्यु से भय नहीं रह जाता; किंतु प्रेम उत्पन्न होता है।

जिस में आस्तिक बुद्धि नहीं, उसे तो मृत्यु अत्यंत भयङ्कर चीज़ प्रतीत होती है, वह तो जीवन के सतत प्रवाह को अनुभव नहीं कर सकता। जीवन को वह बुलबुले के समान चंचल समझता है। जिस प्रकार वायु के किसी प्रबल झकोरे से, बहती हुई तरंग के किसी थपेड़े से, बुलबुला अचानक टूट जाता है, उसी प्रकार न जाने कब और कैसे यह जीवन भी समाप्त हो जायगा। इस चिन्ता से संतप्त होता रहता है। मृत्यु की छाया को सामने देखकर वह हर घड़ी कांपता रहता है। मृत्यु में उसे अपना सर्वनाश नज़र आता है। मृत्यु से शरीर अणु २ में विभक्त हो जायगा, मन, आत्मा, हृदय सब नष्ट हो जाएंगे। धर्म, कर्म और ऊँची उड़ानें किसी दिन सहसा मिट्टी में मिल जाएंगी। वह नश्वरता से व्याकुल होता है। क़दम २ पर भय और संदेह देखता है।

Robert Flint अपनी Anti-theistic theories में लिखते हैं:—

"when death enters his home and strikes down some dear one, he hears no father's voice, sees no father's hand, feels no consolation of a Comforting spirit, but sits in a darkness, which is unrilieved by a single ray of light, mourning over the work of the senseless energies of nature.

जब मृत्यु उसके घर में प्रवेश करती है और उसके किसी प्रिय को उठा लेती है तो वह मन में मनन करने वाले के समान किसी शांति पहुँचाने वाली पिता की आवाज़ को नहीं सुनता, सुरक्षा के किसी हाथ को नहीं देखता। परंतु इस जड़ जगत् की अंधाधुन्ध शक्तियों पर घर के कोने में बैठा शोक करता है। संसार के विलासों में क्षणिकता को देखता है। सुख में दुःख को देखता है। भद्रता में और जीवन की हर घड़ी में मौत की छिपी छाया को देखता है।

कभी २ जीवन का खेल बड़ा कठिन हो जाता है। आर्थिक संकट से, रोग और व्याधि से शरीर सूख कर कांटा हो जाता है। दुर्बलता में शरीर कांपने लगता है। जीवन में आशा रहती नहीं। देखने वालों को उसके जीवन पर तरस आता है। तब जीवन से मौत भली है। उस समय जीर्ण वस्त्र की तरह, जर्जरित मकान की तरह, अपने शरीर को बदलने की आवश्यकता होती है, परंतु यह शरीर तो छूटे छूटे

दुर्बल तथा स्थान २ से खून और पस बहते हुए शरीर से चिपटे रहना चाहता है। मौत से अपने सर्व नाश को समझ कर घबराता है। प्रभु ! तेरा खेल बस बहुत हो चुका, अब और अधिक खेल खेलना हम चाहते नहीं, इस प्रकार कहने का वह तो साहस नहीं कर सकता।

मृत्यु वही है, परन्तु ब्रह्म में चरण करने वाले के लिये, भगवान् के परम भक्त के लिये मृत्यु का स्वरूप भयंकर नहीं, परन्तु शिव है, सुन्दर है। मृत्यु सर्वनाश नहीं, किन्तु जीवन के सतत प्रवाह में एक Step है। नवीन वस्त्र पहनने के लिये मैले कुचैले और फटे वस्त्र को उतारने का तैय्यारी है। मृत्यु के पीछे नवीन स्फूर्तिमय जीवन भरा है। मृत्यु द्वारा पुरानी दुःखद स्मृतियां, बुढ़ापा, थकान इत्यादि सब जाते रहते हैं। नवीन शक्तियों के साथ जीवन प्रारम्भ होता है। मृत्यु होने से हम फिर अपने मधुर बाल्य काल और यौवन के आने की आशा रख सकते हैं। सूर्यास्त होता है, परन्तु फिर प्रभाव में नवीन ज्योति के साथ सूर्य उदित होता है। इसी प्रकार मृत्यु फिर ज्योतिर्मय जीवन की तैय्यारी है। टागौर गीताञ्जलि में लिखते हैं—

'The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.'

माता जब बच्चे को दांये स्तन से उठाती है तो वह रोता है, उसे मालूम नहीं कि मां उसे खाली स्तन से दूध से भरे स्तन की तरफ ले जाना चाहती है। अगले ही क्षण बांये स्तन को पाकर बच्चा चुप हो जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रभु जब मनुष्य को जीवन से उठाता है तब वह रोता है, उसे मालूम नहीं कि मंगलमय भगवान् उसे स्फूर्तिमय जीवन की तरफ ले जा रहा है। जो इस Natural course of life को ब्रह्म में चरण समझ लेता है, उसके लिये मृत्यु का भय और शोक रह नहीं जाता। उसके लिये जीवन में ममता और मोह का क्या रहना हुआ ? उसे तो एकत्व का संदर्शन होता है—

"तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।"

जीवन के सतत प्रवाह का, सर्वत्र व्याप्त एक शक्ति का संदर्शन करने वाला ब्रह्मचारी ही निर्भय होकर मौत का मुकाबला कर सकता है। फांसी के तख्ते पर लटकता हुआ वह ही "How sweet" "कितना मधुर है" इस प्रकार कह सकता है। साथ में जहर का प्याला लेकर वह ही अपने बिलखते हुए शिष्यों को सत्य और अमृतत्व का उपदेश कर सकता है। सीने पर किसी धर्मान्ध की गोली खाकर वह ही नवीन जीवन धारण कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रण कर सकता है। शूली पर चढ़ाने के लिये पकड़ने को आए हुए दुश्मनों को देखकर अपने शिष्यों की चमकती हुई तलवारों को म्यान में रखने के लिये वह ही कह सकता है। जिस मौत से लोग थर्राते हैं, उस मौत के बिस्तरे पर पड़ा कोई ब्रह्म में चरण करने वाला ब्रह्मचारी ही, "प्रभु ! तेरी इच्छा से संसार संचालित है, तेरी इच्छा पूर्ण हो"—इस प्रकार हंसते हुए शान्तिपूर्वक मृत्यु का स्वागत कर सकता है। अस्थिपञ्जर मात्र शेष अपने दुर्बल और वृद्ध शरीर के साथ कोई प्रभु का हाथ देखने वाला ही २१ दिन के उपवास का कठोर प्रण कर पाप को मिटाने के लिये अपने प्राणों की बाजी लगाने को

तैय्यार हो सकता है। सचमुच ब्रह्म में चरण करने वाला, सर्वत्र व्याप्त मंगलमय भगवान् की शक्ति का अनुभव करने वाला, मनुष्य निर्भय होकर विचरता है। विपदा में सम्पद् को, दुःख में सुख को, और मौत में ज्योतिर्मय जीवन को देखता है।

इस प्रकार ब्रह्म में चरण (ब्रह्मचर्य्य) से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यह सतत ब्रह्म-चरण कठिन तप है। इसके लिये—

"दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" ॥ योगदर्शन।

दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। और जो इस कठोर तप को करते हैं वे विद्वान् जन मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। संसार में उनके लिये रोना धोना रह नहीं जाता। परम आनन्द को वे प्राप्त होते हैं। भगवान् वेद कहता है:—

"यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।"

भगवान् का आश्रय अमृत है, उस का अनाश्रय मृत्यु है। भगवान् के अवलम्बन में मौत के भय से मुक्ति है, आनन्द है। अनवलम्ब में मृत्यु का भय है, दुःख है।

जिस प्रकार बच्चा पिता के हाथ को पकड़ कर बड़ी भारी भीड़ को चीर कर पार कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् का हाथ पकड़ कर मनुष्य भवसागर से पार तर जाता है।

वेदों का उत्पत्तिकाल

[ले०—वैदिक धर्म-विशारद श्री पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम० ए० एल० टी०]

आधुनिक पुरातत्त्वान्वेषण के युग में वेदों की उत्पत्ति के काल का निरूपण भी एक रहस्यमयी समस्या ही बना हुआ है। प्राच्य और पाश्चात्य अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपनी लेखनी उठाई, अनेक प्रकार के तर्क और युक्तियां उपस्थित कीं, अनेक भौतिक शास्त्रों तथा विज्ञान का आश्रय लिया, किन्तु किसी निश्चयात्मक निर्णय तक पहुँचने में वे प्रायः असफल ही रहे। "नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्" की कहावत पूर्णरूप से उन पर चरितार्थ होती रही और अब भी हो रही है।

हमारे शास्त्रकारों ने तथा अन्य पूर्व ऋषियों ने तो वेदों को अपौरुषेय ही माना।

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः प्रमाणाभावात्"

कह कर उन पर अपौरुषेयत्व की गहरी छाप लगादी। यद्यपि मीमांसाकार और महाभाष्यकार ने केवल अर्थ को अनादि, नित्य और अपौरुषेय मान कर शब्द वर्णानुपूर्वी को अनित्य ही माना है, तथापि इस में कोई सन्देह नहीं कि वे किसी पुरुष विशेष द्वारा निर्मित किया हुआ वेदों को नहीं मानते। इस-लिये हमारे ऋषियों और शास्त्रकारों के सिद्धान्तानुसार

तो वेदों के उत्पत्ति-काल का प्रश्न ही नहीं उठता। वहां तो "स्वतन्त्र्यात्मक प्रामाण्यम्" से वेदों को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करके उसकी प्रामाणिकता और प्रकाशन सृष्टि के आरम्भ से ही माना जाता है। लेकिन आधुनिक युग के विद्वान् तो इसको "आर्यों की वेदों में अत्यधिक श्रद्धा" कह कर टाल देते हैं। उनके लिये 'शास्त्र-तर्क प्रमाणम्' का सिद्धान्त लागू नहीं होता। वेदों की उत्पत्ति का समय अथवा उसका विषय निरूपण करने में वे जिन अन्य शास्त्रों का आश्रय लिया करते हैं, उनमें मुख्यतः ये हैं:—

(१) Mythology (गाथा शास्त्र)
(२) Philology (तुलनात्मक भाषा विज्ञान)
(३) Archeology (पुरातत्त्व–विज्ञान)
(४) Arthrapology (मानवीय शास्त्र)
(५) Astronomy (ज्योतिष शास्त्र)
(६) Phrenology (मस्तक-विज्ञान)
(७) Geology (भूगर्भ शास्त्र)

इनमें से प्रथम दो शास्त्रों का विशेषकर भाषा विज्ञान का आश्रय लेकर सबसे पहले प्रो० मोक्षमूलर ने वैदिक काल का निरूपण करते हुए अपने सम्पादित ऋग्वेद की भूमिका में यह कहा कि The Rigved is the oldest book in the library of the world." अर्थात् संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है। साथ ही साथ अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में वैदिक साहित्य के तीन विभाग करके इस प्रकार अनुमान लगाया:—

(१) बौद्धकाल—६०० वर्ष ईस्वी से पूर्व
(२) सूत्रकाल—६००-८०० वर्ष ,, ,,
(३) ब्राह्मणकाल—८००-१००० वर्ष ,, ,,
(४) संहिता काल—१०००-१२०० वर्ष ,, ,,

प्रो० मोक्षमूलर के इस अनुमान को बहुत वर्षों तक लोग सत्य ही मानते रहे और वेदों का समय ईस्वी सन् से १२०० वर्ष पूर्व तक ही एक प्रकार से "ऐतिहासिक सत्य" माना जाने लगा। लेकिन अब विद्वान् इस आनुमानिक भित्ति पर प्रासाद बनाने के लिये कटिबद्ध नहीं हैं। लोग समझ गये हैं कि प्रो० मोक्षमूलर का तर्क कितना लचर था। भला कहीं २०० वर्ष के एक काल में भाषा में इतना परिवर्तन हो सकता है जितना संहिता, ब्राह्मण और सूत्रों की भाषा में पाया जाता है ? । फिर बौद्धकाल से पूर्व ये समस्त ग्रन्थ उपस्थित थे, इससे यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि बौद्धकाल के निकट भूतकाल में ही इनका निर्माण हुआ हो। लिखते २ तो मोक्षमूलर साहब लिख गये लेकिन अपनी तर्क की निस्सारता का उन्हें बाद में स्वयं अनुभव हुआ और उन्होंने स्वीकार किया कि "वेदों के काल का ठीक निर्णय करना कुछ सरल कार्य नहीं है। यह वर्तमान साधनों के द्वारा तो माननीय बुद्धि से परे है"।

इसी प्रकार के अनुमानों का आश्रय लेकर प्रो० विल्सन, राथ, ओल्डन बर्ग, ह्विटनी ग्रांड आदि ने वैदिक काल का निरूपण किया और उनके अनुमान भी अधिकतर ईस्वी सन् से १२०० वर्ष अथवा अधिक से अधिक २२०० वर्ष पूर्व तक ही सीमित रहे, इससे आगे कोई न बढ़ा।

भारतीय प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने वैदिक काल का निरूपण ज्योतिष शास्त्र के आधार पर किया। अपनी पुस्तक "Orion' और

"The Arctic home of the Aryans" में उन्होंने ऋग्वेद के:—

"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः

ऋ० १।३२।११।

इत्यादि मंत्रों को देकर जहां यह सिद्ध किया कि ऋग्वेद के समय आर्य लोगों का आदि निवासस्थान उत्तरीय ध्रुव के निकटवर्त्ती स्थान में था, वहां ब्राह्मण ग्रन्थों में 'कृत्तिका' नक्षत्र से नक्षत्रों की गणना होने का पता लगा कर यह भी सिद्ध किया कि ब्राह्मण काल ईसा से कम से कम २५०० वर्ष पूर्व रहा होगा, क्योंकि उसी समय खगोल की उपरोक्त बातें उपस्थित हो सकती थीं। इसी प्रकार संहिताकाल में 'मृगशिरा' नक्षत्र से नक्षत्रों की गणना होती थी, इसी नक्षत्र में Vernal Equinox (रात दिन का बराबर होना) पड़ता था। ऐसा होना खगोल और ज्योतिष् शास्त्र के अनुसार ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व या अब से ६५०० वर्ष पूर्व सम्भव था। अतएव संहिताकाल अब से ६५०० वर्ष पूर्व तक रहा होगा। और कम से कम २००० वर्ष उसमें व्यतीत हुए होंगे। इस हिसाब से लोकमान्य तिलक के अनुसार वेदों का निर्माण-काल अब से ८५०० वर्ष पूर्व तक हो सकता है, इससे अधिक नहीं।

उन्हीं दिनों जर्मनी के एक उत्कट वैदिक विद्वान् मि० जैकोबी ने भी ज्योतिष् शास्त्र के आधार पर वेदों के समय का निरूपण किया। उनका अन्वेषण लोक-मान्य तिलक से बिलकुल स्वतंत्र था, लेकिन आश्चर्य-मय सामञ्जस्य से वे भी उसी निर्णय पर पहुंचे थे। उन्होंने भी वेदों का समय अब से ६७०० वर्ष पूर्व का ही बतलाया। उनका यह निर्णय गृह्यसूत्र के विवाह प्रकरण में पठित 'ध्रुव इव स्थिरा भव' आदि वाक्यों पर निर्भर है, जबकि ध्रुवतारा आज से अधिक चमकीला और स्थिर था अर्थात् ईसा से २७०० वर्ष पूर्व इसलिये वैदिककाल ईसा से लगभग ४७०० वर्ष पूर्व या अब से ६७०० वर्ष पूर्व होना चाहिये था। इन विद्वानों ने यही अन्तिम सीमा बतलाई।

पुरातत्त्व विज्ञान के अनुसार जर्मनके प्रो० विंकलर्स ने एशिया माइनर में मिली हुई, ईस्वी से १४०० वर्ष पूर्व की शिलाओं और उन पर के लेखों से अनुमान लगाया कि उस समय वेदों की सभ्यता पूर्णरूप से फैली हुई थी क्योंकि उन लेखों में मितानी और हितानी जातियों की संधि का वर्णन है, जिस में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक देवता साक्षीरूप से लिख गये हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि अब से ३४०० वर्ष पूर्व वैदिक सभ्यता फैली थी और उससे लगभग २००० वर्ष पूर्व अर्थात् अब से ५४०० वर्ष पूर्व वेदों का काल रहा होगा।

भूगर्भ शास्त्र का आश्रय लेकर मि० नारायण राव ने अपनी अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी की जिन चट्टानों और दशाओं का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, वह समय इतना प्राचीन है, जिस का स्वप्न में भी किसी को अभी तक ध्यान ही नहीं आया।

लेकिन इस विषय पर सब से महत्व पूर्ण ग्रन्थ सन् १९२६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० अवि-नाशचन्द्रदास ने "Rigvedic India" लिखा है। जिस में प्राचीन भूगर्भ शास्त्र और भूगोल के अनुसार यह सिद्ध किया गया है कि वैदिक काल में भारत की बनावट ऐसी नहीं थी। राजपूताना, युक्त प्रान्त, विहार,

बंगाल आदि के स्थानों में समुद्र हिलोरें ले रहा था। यह समय ईसा से २५००० वर्ष पूर्व रहा होगा। इस मन्तव्य के अनुसार वेदों का समय अब से लगभग २७००० वर्ष पूर्व का ठहरता है। बस, अब तक निर्णय किये गये वैदिक काल की यह अन्तिम सीमा है। इस से आगे कोई नहीं पहुँचा।

जैसा पूर्व कहा जा चुका है, ये सब काल उन लोगों द्वारा निर्णीत किये गये हैं, जो वेदों को मनुष्य कृत मानते हैं। इस विषय पर इन लोगों की ओर से यूरोप और अमेरिका तथा भारत में प्रति वर्ष अनेक ग्रन्थ लिखे जाते हैं। ऐसी दशा में आर्यसमाज का जो कि वेदों को नित्य, अपौरुषेय और सृष्टि काल के आरम्भ से मानता है, कितना बड़ा उत्तरदायित्व है, यह एक बड़ा विचारणीय विषय है, जिस पर पुनः कभी लिखा जायगा।
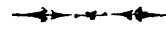
दीनता का दलन

[लें०—श्री प्रो० लालचन्दजी M.A. गुरुकुल कांगड़ी]

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ऋग्वेद ७।८९।३॥

(समह) हे तेजोयुक्त ! (शुचे) हे दीप्यमान ! (दीनता) दीनता अशक्तता के कारण मैं (क्रत्वः) अपने क्रतु से, संकल्प से, प्रज्ञा से, कर्त्तव्य से (प्रतीपं) उलटा (जगम) चला जाता हूँ (सुक्षत्र) हे शुभ शक्ति वाले ! (मृड) मुझे सुखी कर (मृडय) मुझे सुखी कर ॥

जैसे घने अन्धकार में रात्रि के समय जब आकाश मेघाच्छादित होता है, बिजली चमकती है और क्षण भर के लिये प्रकाश कर देती है, ऐसे ही हे ज्योतिः—स्वरूप ! जब हमें चारों ओर से घोर निराशा घेर लेती है और हमें कुछ सूझ नहीं पड़ता कि क्या करें, किधर चलें ? तब तू अपनी ज्योति की झलक दिखाता है, ढाढ़स बंधाता है, राह दिखाता है और हम संकल्प करते हैं कि अब इस शुभ मार्ग पर चलेंगे पर दीनता वश उलटा चलते हैं, ठीक जानते हुए भी ठीक नहीं कर पाते, पाप को कोसते हुए भी पाप ही करते हैं।

I know the right, approve it too,
I condemn the wrong, yet the wrong I pursue.

इसलिये उत्तम बलयुक्त प्रभो ! उत्तम बल से हमें युक्त करो। हमारे हृदय में, हमारी भुजाओं में बल दो, जिससे कि हम सन्मार्ग पर चलते हुए बाधाओं पर विजय पाए और इस लोक तथा परलोक में सुखी हो सकें।

दीनता दो प्रकार की है, अन्दर की और बाहर की। अन्दर की दीनता के कारण मनुष्य, जो कुछ करना चाहिये वह नहीं करता, और जो नहीं करना चाहिये उसे करता है। बुद्धि कहती है—पूर्व को चल, मन पश्चिम को चलता है। बुद्धि कहती है—सत्संग कर, मन कुसंग को दौड़ता है। बुद्धि कहती है—मित आहार कर, मन उठ कर खाता है, अभक्ष्य पदार्थ भी खाता है और नाना प्रकार के दुःख उठाता है। ओह,

कितनी दीनता है, कितनी नपुंसकता है। न चाहते हुए भी कुमार्ग पर खिंचे चले जा रहे हैं।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

भरि २ उदर, विषय को धावौं जैसे सूकर ग्रामी॥

दूसरी दीनता बाहर की है। वह कई प्रकार की है। एक नौकर, क्रूर स्वामी का जुल्म सहता है, एक पराधीन जाति, स्वाधीन जाति के पांव के नीचे रोंदी जाती है। अछूत उच्च जातियों से दबते हैं। एक मनुष्य अशुद्ध सामाजिक रिवाजों के कारण अपना सत्यानाश कर लेता है, जो ग़रीब होता हुआ भी शादी के समय बहुत रुपया खर्च कर देता है, जो बच्चों की बचपन में शादी कर देता है, जो अपनी जाति में ठीक वर न मिलने पर भी अपनी लड़की एक नालायक लड़के को दे देता है किन्तु दूसरी जाति से लायक लड़का नहीं लेता, वह दीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है।

जीवन एक संग्राम है। इस में कायर हारते हैं और बहादुर विजयी होते हैं। पंजाबी में एक भजन इस तरह शुरू होता है:—

"दुनिया मनदी है ज़ोरा नूं

लख लानत है कमज़ोरा नूं।

Milton ने कहा है:—

To be weak is miserable doing or suffering.

काम करते हुए या सहते हुए कमज़ोरी बड़ा दुःख है। दीनता क्या है? निर्बलता। ओ शेर! क्यों नहीं जागता। उत्तम बल से युक्त प्रभु, तेरे हृदय में विराजमान है, तेरी भुजाओं में मौजूद है। उठ, जाग, बन्धनों को तोड़। ओ वीर! यह कायरता, यह नपुंसकता, तुझे शोभा नहीं देती। ओ परन्तप! उठ, दुश्मनों को भस्मीभूत कर। कोई शत्रु न अन्दर रहे, न बाहर। लड़ने से मत डर। जान की बाज़ी लगादे, मरेगा तो स्वर्ग का सुख भोगेगा, जीता रहेगा तो राज्य का सुख भोगेगा। सुख तो योद्धा के लिये है, शूरवीर के लिये है। जो डरता है, सो मरता है। सुख कहाँ है? सुख सच्चे क्षत्रियों की भुजाओं में है, सुख बल में है, सुख शान्ति में है, सुख निर्भयता में है, सुख स्वाधीनता में है, सुख स्वतन्त्रता में है। दीनता सब से बड़ा दुःख है। स्वाधीनता सब से बड़ा सुख है। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'

सुख की याचना के लिये भगवान् का सुक्षत्र नाम से आवाहन किया है। क्यों? सुख तो शुभशक्ति में ही है। यों तो ज़ालिमों के पास भी बल है, पर वह बल उन को चैन की नींद नहीं सोने देता। उन्हें दुश्मनों का सदा भय रहता है। न जाने किस समय पिस्तौल या बम्ब चल जाय। कंसों का विध्वंस होता ही रहता है। बल तो हो, पर बल का दुरुपयोग न हो। मत दब जातियों से, मत दबा ग़रीबों को। तेरे बल से जालिम कांपें, और दीनों की रक्षा हो। जो अपनी शक्ति को भली प्रकार खर्च करता है उस का सुख नित्य प्रति बढ़ता है। ब्रह्मचर्य से, व्यायाम से, सुक्षत्र की उपासना से खूब शक्ति का सञ्चय कर और फिर उससे खूब सुख भोग और गरीब की रक्षा कर। शक्ति उपार्जन का अपना सुख है, सशक्त अनुभव करने का अपना सुख है, और शक्ति के सदुपयोग का अपना सुख है। हे सुक्षत्र! मुझे ये तीनों सुख प्राप्त हों, मेरी दीनता काफ़ूर हो, मैं अपने संकल्प को पूरा कर सकूं। मैं जिधर कदम उठाऊं, विजय प्राप्त करूँ। मैं देव बन कर असुरों को परास्त करूँ और स्वाधीन होकर सुखमय जीवन व्यतीत करूँ।

कर्मफल

[ले० श्री पं० धर्मदेवजी वेदवाचस्पति]

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मफल के सिद्धान्त के विना अपूर्ण तथा अन्याय्य है। यदि मनुष्य का किया हुआ काम उसके लिये किसी प्रकार का फल नहीं लाता; यदि मनुष्य को अपने उचित तथा अनुचित कर्म के अनुसार इनाम या दण्ड नहीं मिलता, तो मनुष्य इस संसार में अच्छे काम क्यों करे और बुरे कामों से बचने का कष्ट क्यों कर उठाए? उस अवस्था में उसके लिये अच्छे या बुरे कामों को परखने की कसौटी ही क्या है?। क्योंकि परिणाम में सुखावह कर्म ही अच्छा और दुःखावह बुरा समझा जाता है। इसलिये इस जगत् में सुख, शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिये कुछ नियम आवश्यक हैं। और उन नियमों के मुताबिक मनुष्यों को दण्ड आदि देना भी लाज़मी है। अतएव जिस प्रकार इस जन्म में कर्मों का फल मिलना आवश्यक है उसी प्रकार अगला जन्म भी हमारे कर्मों का फल स्वरूप होना चाहिये। कर्मफल के सिद्धान्त के स्वीकार किये विना पुनर्जन्म का सिद्धान्त समझ में नहीं आ सकता। 'परमात्मा स्वयमेव अपनी अप्रतिहत इच्छा से मनुष्य को ऊंच नीच अवस्थाओं में पैदा कर देता है' यह कहना परमात्मा को क्रूर तथा अन्यायकारी मानना होगा। जब मनुष्य भी यदि किसी से खुश होता है उसे इनाम देता है और जिससे नाराज़ होता है उसे दण्ड देता है तो क्या वह न्यायकारी दयालु परमात्मा मनुष्य के कर्मों की जाँच पड़ताल किये विना ही उससे नाराज़ या खुश हो जाता है? परमात्मा धर्मात्मा (Moral) है अतः उसका नाराज़ या खुश होकर दण्डादि देना हमारे पाप पुण्य के अनुसार होना चाहिये। मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म मिलना चाहिये। अतः वेद प्रतिपादित पुनर्जन्म के सिद्धान्त को हम तभी बुद्धिसंगत कह सकते हैं जब कि वेद में हम कर्मफल का सिद्धान्त भी उपलब्ध कर सकें। अर्थात् वैदिक फ़िलासफ़ी के अनुसार पुनर्जन्म का कारण ईश्वरेच्छा मात्र न हो, परन्तु मनुष्य के कर्म ही उसमें प्रेरक हों।

इस दृष्टि से जब हम वेद का स्वाध्याय करते हैं तो सब से पहले जो बात ध्यान को आकर्षित करती है वह है धार्मिक जीवन बनाने का उपदेश। स्थान २ पर पाप से बचने का उपदेश दिया गया है और अच्छे काम करने की आज्ञा दी गई है।

वयं अनागाः स्याम[1] ॥ ऋ० ७ ८७ ७॥

व्यहं सर्वेण पाप्मना[2] ॥ अथर्व० ३।३१।१॥

अव मा पाप्मन् सृज[3] ॥ अथर्व० ६।२६।१॥

तथा

एनो मा निगां कतमच्चनाहम्[4] ॥ ऋ० ५।३।४॥

इत्यादि मन्त्र वाक्यों से पाप से बचने की इच्छा

१—'हम पाप रहित हों'।

२—'मैं सब पापों से विगत हो जाऊं'।

३—'हे पाप! मुझे छोड़ दे'।

४—'किसी दिन भी पाप को प्राप्त न होऊं'।

प्रकट की गई है। यदि पाप या पुण्य का कोई फल नहीं मिलता तो पाप से बचने की प्रार्थना या इच्छा करना व्यर्थ है। इतना ही नहीं, परन्तु—

'यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्[1]'।
अथर्व० ६।२६।२

कहकर पाप दूर करने के लिये पूरी तरह से कटिबद्ध हो जाना स्पष्ट दर्शाता है कि वक्ता पाप से बड़े भारी अनिष्ट की सम्भावना करता है। इसी प्रकार—

'सुकृतश्चरेयम्[2]'। अथर्व० १७।१।२७॥ तथा
'स्वपसो अभूम[3]'। अथर्व० ४।२।१९॥

कह कर अच्छे कामों के करने की इच्छा प्रकट करना इसी बात को पुष्ट करता है कि कर्त्ता अच्छे कामों के करने से लाभ की सम्भावना करता है। इसलिये यह अनुमान करना कि वैदिक फ़िलासफ़ी के अनुसार अच्छे कर्मों का फल अच्छा मिलता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है, अशुद्ध न होगा। इसी प्रकार एक ही वस्तु को अच्छा और बुरा कहना स्पष्ट दर्शाता है कि एक ही वस्तु प्रयोगभेद वा क्षेत्र-भेद से भिन्न २ प्रकार का फल देने वाली होती है। अर्थात् परिणाम में सुखावह या दुःखावह होने से कोई वस्तु या काम अच्छा और बुरा कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, उत्तम वस्तु या काम का फल उत्तम और बुरे काम का फल बुरा होता है।

अथर्व० ७।११५।३,४ मन्त्र हैं:—

"एकशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषो जाताः।
तासां पापिष्ठाः निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ" ॥ १ ॥

"एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्" ॥ २ ॥

अर्थः—मनुष्य के शरीर के साथ जन्म से ही एक सौ एक लक्ष्मियाँ पैदा हुई हैं। उन लक्ष्मियों में से पापी लक्ष्मियों को यहां से निकाल देते हैं। हे सकल-सम्पत्ति-शालिन् प्रभो! हमें कल्याणकारिणी लक्ष्मियां दो ॥ १ ॥

जिस प्रकार चरागाह में गौएं पृथक् २ होती हैं वैसे ही मैंने इन पापी और कल्याणकारिणी लक्ष्मियों को पृथक् २ कर दिया है। जो पुण्यमयी लक्ष्मियां हैं वे रमण करें, और जो पापमयी लक्ष्मियां हैं उन्हें मैं नष्ट करता हूं ॥ २ ॥

इन दो मन्त्रों में दो प्रकार की लक्ष्मियां बताई गई हैं। एक 'पापी' और दूसरी 'शिवा' या 'पुण्या'। एक लक्ष्मी सामान्य का, 'शिवा' और 'पापी' नाम से दो प्रकार का भेद करना यही दर्शाता है कि इनके फल में भेद है। जिस लक्ष्मी से परिणाम में दुःख मिलता है वह 'पापी' है और जो परिणाम में सुखकारिका है वह 'शिवा' या 'पुण्या' कहलाती है। इस प्रकार से उद्धरण यद्यपि स्पष्ट तौर से स्वयं कुछ नहीं कहते तथापि कुछ इशारा जरूर कर रहे हैं, जो हमें कर्मफल के सिद्धान्त पर पहुंचाते हैं। इस कर्मफल के सिद्धान्त का न केवल संकेतमात्र ही उपलब्ध होता है, प्रत्युत कई मन्त्रों में इस सिद्धान्त का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन भी किया गया है। उदाहरणार्थः—

१—'हे पाप! यदि तू मुझे नहीं छोड़ता तो मैं तुझे छोड़ देता हूं'।

२—'अच्छे काम करूं'।

३—'सुकर्मी होवें'।

"अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्" ॥ ऋ० ४।५।५॥

अर्थ—भ्राता आदि बन्धुरहित विपथगामिनी स्त्रियों के समान, और पतिविद्वेषिणी, दुष्टाचारिणी पत्नियों के समान मानस—सत्यरहित तथा वाचिक—सत्यविहीन मनुष्यगण पापी होते हुए इस अत्यन्त अगाध शोक आदि स्थान को उत्पन्न करते हैं ॥

इस मन्त्र में पापाचरण का फल शोकाकुल, चिन्तित तथा दुःखित रहना बताया गया है। अर्थात् असत्य व्यवहार का फल बुरा होता है। इसी बात को निम्न दो मन्त्र और अधिक स्पष्ट करते हैं।

"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्" ॥ ऋक्० ७।१०४।१२॥

"न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते"॥ ऋ० ७।१०४।१३॥

अर्थ—विवेकी मनुष्य के लिये यह सुविज्ञेय है कि सत् तथा असत्, दोनों प्रकार के वचन परस्पर विरोधी हैं। उनमें से जो सत्य और अकुटिल हैं उन की सोम (परमात्मा) रक्षा करता है और असत् का वह नाश कर देता है ॥१॥

परमात्मा पापी को नहीं बढ़ाता है। वह मिथ्यावादी बलवान् पुरुष को भी नहीं छोड़ता अर्थात् उसे भी दण्ड देता है। वह राक्षस तथा असत्यवादी को मारता है। वे दोनों परमात्मा के बन्धन में पड़े हैं॥२॥

परमात्मा (सोम = शान्तिदायक) उचित व्यवस्था रखने के लिये पापी को दण्ड देता है और पुण्यात्मा की रक्षा करता है। इस मन्त्र में जहाँ कर्म फल के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, वहां साथ में कर्मफल देने वाला परमात्मा बताया गया है बौद्ध दार्शनिकों की तरह कर्मों को स्वयं फलदान का कर्त्ता नहीं माना गया। यद्यपि किये हुए कर्म का फल मिलना इतना स्वाभाविक वा प्राकृतिक है कि हमें मालूम नहीं पड़ता कि किसी व्यक्ति ने यह फल दिया है। हम समझते हैं कि क्योंकि हमने भोजन अधिक किया था इसलिये प्रकृति के नियमों के अनुसार हमारा शरीरयन्त्र खराब होगया और हम बीमार पड़ गये। यह ठीक है कि जो कुछ फल हमें मिलना है वह प्रकृति के नियमों के अनुकूल अतएव प्रकृति के नियमों के रूप में मिलता है। परन्तु वे नियम बिना किसी कर्त्ता के हम पर लागू होते रहते हैं, यह नहीं कह सकते। इन नियमों का कोई नियन्ता होना चाहिये और उस नियन्ता को परमात्मा कहते हैं। वह उन प्राकृतिक नियमों द्वारा हम पर शासन कर रहा है। उसको इन नियन्त्रण के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। हमारे श्वास प्रश्वास की तरह उसका यह काम बिलकुल स्वभाविक है। इस लिये यह कहना कि प्रत्येक कर्म का फल मिलता है या प्रत्येक कर्म का परमात्मा फल देता है, एक ही बात है। इसी प्रकार अनेक मन्त्रों में परमात्मा को कर्मफल का दाता कहा गया है। परमात्मा के प्राकृतिक नियम रूपी पाश सर्वत्र फैले हुए हैं। वह उनके द्वारा सब जगत् की व्याख्या कर रहा है। जो मनुष्य पाप करता है वह कभी इनसे नहीं बच सकता। अथर्ववेद ७।८३।३,४ मन्त्र हैं—

"उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम "॥३॥
'प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्' ॥४॥

अर्थः—हे पापनिवारक देव ! मेरे ऊर्ध्वस्थित तथा निम्नभाग के पाश को तथा मध्यमलोक में विस्तृत जाल को शिथिल करो। हे ज्योतिःमय प्रभो ! हम आपके नियमों में रहते हुए निष्पाप होकर बन्धन रहित मोक्ष के अधिकारी बनें ॥ ३ ॥

हे पापनिवारक देव ! आपके ऊपर नीचे तथा बीच में फैलाये हुए जो पाश हैं, उन से हमें मुक्त कीजिये। हम से दुष्ट संकल्प तथा दुष्कर्मों को दूर कीजिये, जिससे हम पुण्य लोक मोक्ष को प्राप्त हों ॥४॥

इन दो मन्त्रों में परमात्मा के सर्वत्र व्याप्त पाशों का वर्णन किया गया है। कोई पापी पुरुष उनसे बच नहीं सकता। इसके अतिरक्त एक और बात जो इन मन्त्रों में पाई जाती है वह ध्यान देने योग्य है। इन मन्त्रों में मुक्ति का कारण परमात्मा की इच्छा नहीं कही गई प्रत्युत मनुष्य के उत्तम कर्म ही मोक्ष के साधन बताये गये हैं। दोनों मन्त्रों के उत्तरार्धभाग इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं।

'अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम'
'दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्'

इन दोनों मन्त्र-वाक्यों में परमात्मा से निष्पाप जीवन व्यतीत करने की प्रार्थना की गई है जिससे कि 'सुकृत लोक' और 'अदितित्व' को प्राप्त कर सकें। इन मन्त्रों में परमात्मा से सीधी मोक्ष की प्रार्थना न करके पहले निष्पाप होने की प्रार्थना की गई है। इस से यह अभिव्यक्त होता है कि मोक्ष प्राप्ति पापरहित होने में तथा पुण्य करने से होती है। अर्थात् पाप-शून्य होने का मोक्ष स्वाभाविक परिणाम है। मोक्ष प्राप्ति ईश्वर की स्वेच्छाचारिता पर आश्रित नहीं प्रत्युत मोक्ष वह उत्तम पद है जिसे प्रत्येक पापरहित मनुष्य प्राप्त कर सकता है। कर्मफल सिद्धान्त के निदर्शन के लिये और अधिक क्या लिखा जावे। ईश्वर-सिद्धि सूक्त (अथर्व० २०।१४) में लिखा है:—

'यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानां छर्वा जघान '।"[1]

अर्थात् इन्द्र वह है जो अत्यन्त पापी नास्तिकों का नाश कर देता है। इस मन्त्र में पापियों का नाश करना भी परमात्मा का स्वाभाविक गुण बताया गया है।

इसी प्रकार वरुण सूक्त में वरुण की सर्वव्यापकता का सुन्दर तथा हृदयङ्गम वर्णन करते हुए उसके सर्वत्र व्याप्त पाशों का वर्णन किया गया है।[2] वे पाश दुष्कर्म

१—अथर्व० २०।३४।१०॥

२—ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ अथर्व० ४।१६।६॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ अथर्व० ४।१६।७॥

यः समाम्यो यो व्याम्यो यः संदेश्यो वरुणो यश्च विदेश्यः। यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ अथर्व० ४।१६।८॥

अर्थ—हे वरुण ! जो तेरे दृढतया बद्ध दीप्ति वाले सात प्रकार के पाश हैं और जिन की तीन प्रकार की स्थिति है वे सब पाश झूठ बोलने वाले को बाँध लेवें और जो सत्य वादी हैं उसे छोड़ देवे ॥ १॥

हे वरुण ! इस को सैंकड़ों पाशों से बांधा दे। हे सर्व दुष्ट हन्तः ! झूठ बोलने वाला तेरे से न छूटे। बन्धनरहित

करने वालों को बन्धन में जकड़ लेते हैं। पापी मनुष्य भौतिक दुर्घटनाओं द्वारा अपने किये का फल भोगता है। परन्तु वे पाश सत्य व्यवहार करने वाले अकुटिल मनुष्य को नहीं बांधते। इस प्रकारः—

'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'।

मन्त्रभाग कर्मफल के सिद्धान्त की दूसरी तरह से व्याख्या कर रहा है। बुरे काम करने वाले पापी मनुष्य को दण्ड मिलता है और उत्तम आचरण वाला सुखी रहता है।

वेद में सत्य तथा अनृत के आधार पर पाप पुण्य का भेद किया हुआ है। सत्य से अभिप्राय पुण्यमात्र का है और अनृत (या असत्) से पापमात्र का तात्पर्य समझना चाहिये। सब पुण्य कर्मों का आधार सत्यभाषण या व्यवहार माना गया है, और सब पापों का मूलकारण अनृत भाषण या अनृत आचरण कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण का निम्न वाक्य कि:—

'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।
सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति[1]।'

सच्ची वैदिक भावना लिये हुए प्रतीत होता है।

कटे हुए कुड्मल की तरह पापी मनुष्य का पेट कट जावे॥ २॥

हे वरुण! जो तेरा पाश समदृष्टि से फैलने वाला अर्थात् जनपदध्वंसी है। जो व्यक्तिगत रोग का उत्पादक है। जो स्थानिक देश का रोग है और जो दूर स्थान से आया हुआ है। जो रोग मनुष्यों द्वारा पैदा किया हुआ है और जो देवों (पञ्चभूतों) से पैदा किया हुआ है॥ ३॥

१—शतपथ ब्राह्मण १।१।१।१-४॥

अथर्व० १२।३।५२ में अनृत को सब पापों का मूल कारण बताया गया है—

यदक्षेषु वदा यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या।
समानं तन्तुमभिसंवसानौ तस्मिन्सर्वं शमलं सादयाथः॥

अर्थः—धन की कामना से जो मैंने साधारण व्यवहार में या समिति में अनृत भाषण किया है। दोनों (पति पत्नी) एक वस्त्र को धारण करते हुए सब पाप उसमें रख देते हैं।

इस मन्त्र में अनृत भाषण को सब पापों का आश्रय बताया गया है। इसीलिये स्थान २ पर अनृत भाषण से बचने का उपदेश दिया गया है[1]। और 'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'।

तथा—

'तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्'।

मन्त्र भी इसीलिये ही असत्यभाषी को अत्यन्त दण्डनीय बता रहे हैं। इसी कारण ही

'यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्[2]'।

मन्त्र में देवों (मुक्त या मोक्ष योग्य पुरुषों) का मुख्य गुण सत्य तथा तत्परिणामी अनृत बताया गया है। क्योंकि सत्याचरण से तथा तत्परिणामी धर्माचरण से मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है। वह मुक्त हो सकता है, इसलिये सत्यभाषण वा सत्याचरण सब पुण्यों का मूल माना गया है। यह सब व्याख्या वेद में प्रतिपादित नियमबद्ध कर्मफल के सिद्धान्त को पुष्ट करती है। परमात्मा सर्वान्तर्यामी

१—यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् पात्वंहसः॥
अथर्व० १०।५।२२॥

२—अथर्व० १०।३।२५॥

तथा सर्वव्यापक है। वह सब के कामों को भली भांति जानता है और उसके अनुकूल फल देता है। अतः यम-यमी-संवाद में यम विवाह का निषेध करता हुआ कहता है:—

'महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्[3]'।

अर्थात् महान् परमेश्वर के वीर पुत्र जो द्युलोक के धारण करने वाले हैं, वे खुली दृष्टि से देख रहे हैं। इस मन्त्र में वक्ता का तात्पर्य यह है कि परमात्मा हमारे इस काम को देख रहा है। यदि हम यह बुरा काम करेंगे तो वह हमें यथोचित दण्ड देगा। क्योंकि यदि वक्ता अपने अनुचित कार्य से किसी प्रकार के दण्ड की आशंका न रखता तो वह इस तरह से कभी अपील न करता। क्योंकि यदि परमात्मा दण्ड नहीं देता या नहीं दे सकता तो हमारे एक काम को क्या सब कामों को देखता रहे, इससे किसी को क्यों भय वा आशंका होनी चाहिए। परन्तु वह परमात्मा बुरे का दण्ड दे सकता है और देता है इसलिये बुरा काम करने में संकोच होता है। इसी प्रकार—

'न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति'।[4]

मन्त्र से भी पूर्वोक्त ध्वनि निकलती है। इस तरह पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर हमने यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक फ़िलासफ़ी के अनुसार प्रत्येक कर्म का फल मिलता है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है।

'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' न्यायानुसार प्रसंग से हम एक और बात का भी विवेचन कर देना चाहते हैं। उपरिलिखित प्रमाणों के आधार पर यह तो मानना पड़ता है कि प्रत्येक कर्म का फल मिलता है। परन्तु क्या कोई ऐसा उपाय (ईश्वरोपासनादि) नहीं जिससे मनुष्य कर्मफल से मुक्त हो जाए? पाप करके भी या प्रार्थना आदि करके दण्ड से मुक्त हो जावे? यह एक प्रश्न है जिसका हम यहाँ विचार करना आवश्यक समझते हैं। ईसाइयों का कहना है कि परमात्मा हम सबका पिता है और वह दयालु है। इसलिये यदि हम कोई पाप कर बैठें तो प्रायश्चित्त आदि करने से परमात्मा अपने प्रिय पुत्रों को उस पाप के लिये दिये जाने वाले दंड से मुक्त कर देता है। यदि परमात्मा को पिता तथा दयालु समझने या कहने से हम उससे प्रार्थना करके दंड से मुक्त हो सकते हैं, यदि यह मांग न्यायानुकूल तथा युक्तियुक्त है तो वेद-प्रतिपादित ईश्वर को भी अपने भक्तों के दंड क्षमा कर देने चाहियें। क्योंकि वेदों में भी परमात्मा को पिता कहकर पुकारा गया है और वह दयालु कहा गया है। निम्न मन्त्रों में परमात्मा को पिता करके सम्बोधन किया गया है:—

"सनः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भवा" ऋक्० १।१।९॥

"आहि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये।" ऋक्० १।२६।३

"यो नः पिता जनिता" ऋक्० १०।८२।३

"....। सखा पितृ पितृतमः पितृणाम् ऋक्० ४।१७।१७।

"अग्निं मन्ये पितरम्" ऋक्० १०।७।३

"य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषि र्होता न्यसीदत् पिता नः। स आशिषा" ऋक्० १०।८१।१ इत्यादि

इन मन्त्रों के अर्थ अत्यन्त स्पष्ट हैं। इनमें परमात्मा को पिता कह कर पुकारा गया है। इतना ही नहीं कि परमात्मा को पिता कह कर पुकारा गया है प्रत्युत—

३—ऋग्वेद १०।१०।२॥

४—ऋग्वेद १०।१०।८॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।"[१]

मन्त्र में परमात्मा को माता भी कहा गया है। पिता की अपेक्षा माता का पुत्र के प्रति प्रेम अधिक होता है। माता के निःस्वार्थ तथा पवित्र सच्चे प्रेम के तुल्य किसी का प्रेम नहीं। पुत्र को कष्ट में देख कर माता का दिल पसीज जाता है। यदि परमात्मा माता तुल्य है तो उसमें भी पुत्रों के लिये अतिशय प्रेम प्रवाहित होता होगा, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार जहां उसे माता पिता कहा गया है, वहां साथ २ कतिपय मन्त्रों में दयालु भी कहा है। परमात्मा को 'शंकरः'[२] 'सुशेवः'[३] तथा 'सूपायनः'[४] आदि करके पुकारा गया है। एवमेव ऋग्वेद ७।८७।७ मन्त्र में परमात्मा को अपराधियों पर दया करने वाला कहा[५] है। इसलिये ईसाइयों के तर्क के अनुसार हमें यह भी आशा रखनी चाहिये कि परमात्मा हमारी प्रार्थना से प्रसन्न होकर हमें दण्ड से मुक्त कर देगा।

परन्तु पूर्व इसके कि वेद की ऋचाओं में इस विषय का अनुसन्धान किया जावे, इसे मुक्ति की कसौटी पर परख लेना उचित जान पड़ता है। परमात्मा हम सब का पिता है और हम सब पर दया रखता है, यह ठीक है; परन्तु साथ ही वह न्यायकारी भी है यह हमें न भूलना चाहिये। यदि वह दया करता है तो न्यायानुकूल दया करता है। न्याय तथा दया विरोधी शब्द नहीं समझने चाहिएं। वस्तुतः न्याय तथा दया साथ २ चलते हैं। न्याय से रहित की गई दया, दया नहीं, वह केवल दया करने वाले का अपनी दिली कमज़ोरी प्रदर्शित करना है। इसी प्रकार ठीक न्याय भी कभी दया रहित नहीं हो सकता। 'न्याय' शब्द ही समाज पर दया तथा व्यक्ति की भलाई को ध्वनित करता है। अतः न्यायरहित होकर दया करने का कोई मतलब नहीं। यदि परमात्मा न्याय का विचार किये विना दया करता है तो वह उस समय मनुष्य की भलाई या दया नहीं कर रहा प्रत्युत उस व्यक्ति को बिगाड़ रहा है और समाज की अवस्था को शिथिल कर रहा है। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष किसी राजा से अपने पुत्र के प्रति की गई क्षमा (दया ?) को न्यायानुकूल तथा उचित नहीं कह सकता। उस राजा का अपने पुत्र को क्षमा कर देना पुत्र को बिगाड़ने वाला तथा प्रजा में व्यवस्था शिथिल कर देने वाला होगा। इसलिये यदि परमात्मा 'न्यायकारी दयालु पिता' है तो हमें उससे यह आशा न करनी चाहिये कि वह प्रार्थना आदि के वश में आकर हमारे किये गये पाप का हमें फल न देगा। यह हो सकता है कि प्रायश्चित्त आदि द्वारा भविष्य में आने वाले भयंकर परिणाम की भयंकरता को बहुत कुछ कम कर सकें। परन्तु उस परिणाम से बिलकुल मुक्त हो जावें, वह सम्भव नहीं। अपथ्य कर लेने के बाद उपवास तथा औषध आदि सेवन कर लेने से हम परिणाम की भयंकरता को कम कर सकते हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि अपथ्य करने का हम पर कोई असर नहीं हुआ। इस कारण प्रार्थना तथा प्रायश्चित्त आदि करने से दंडमुक्त होने की कल्पना युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती।

१—अथर्व० २०।१०२।२१॥

२—यजु० १६।४११॥

३—अथर्व० ६।१।२॥

४—ऋग्वेद १।१।९॥

५—"यो मृडयाति चक्रुषे चिदागो–" ऋ० ७।८७।७॥

अब हम अधिक विस्तार न करके वैदिक ऋचाओं के आधार पर इस विषय में कुछ विवेचना करना चाहते हैं। वेदों में कुछ ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा प्रार्थना आदि करने पर कभी २ दंड से मुक्त भी कर देता है। उदाहरणार्थः—

"यदु वक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥"

अथर्व० १।१०।३॥

अर्थः—हे मनुष्य! जिह्वा से जो तू ने झूठ बोला है अथवा कोई बड़ा भारी पाप किया है, उस पाप से मैं तुझे सत्यधर्मा वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ। इसी प्रकार—

यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ ऋ० ७।८९।५॥

यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठा चित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः।
कृधीष्वास्माँ अदितेरनागान्व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने॥

ऋ० ४।१२।४॥

अर्थः—हे परमेश्वर! हमने जो कोई अपराध श्रेष्ठ मनुष्यों के प्रति किया है। अथवा अज्ञान से जो आप के नियमों का उल्लंघन करते हैं। हे देव! उस पाप के निमित्त आप हमारा हनन मत करो॥ १॥

हे परमेश्वर! मानुषोचित दौर्बल्य के कारण अज्ञान से जो कोई हमने अपराध किया है। हे देव! मोक्ष लाभ के लिये आप हमें उस पाप से रहित कीजिये और हमारे सब पापों को शिथिल कीजिये॥ २॥

इन मन्त्रों से ऐसा सन्देह होता है कि प्रार्थी को यह आशा है कि परमात्मा अपने भक्तों को कभी २ दंड से मुक्त कर देता है। परन्तु वास्तव में क्या ये मन्त्र इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं, यह हमने विचारना है।

यदि इन मन्त्रों के शब्दों पर ध्यान दिया जाए तो हम कदापि नहीं कह सकते कि परमात्मा अपने भक्तों को पाप का दंड नहीं देता। इन मन्त्रों में दंड से बचने की प्रार्थना नहीं की गई, प्रत्युत पाप से बचने की प्रार्थना की गई है। यदि पाप के परिणाम (दंड) से मुक्त करने की प्रार्थना की गई होती तो हम यह कल्पना कर सकते कि परमात्मा अपने भक्तों को दंड से मुक्त कर देता है। परन्तु इन मन्त्रों में तो पाप से बचने की प्रार्थना की गई है। इन से यह तो अनुमान कर सकते हैं कि परमात्मा की भक्ति से मनुष्य के पाप छूट जाते हैं अर्थात् उसकी पाप की ओर से प्रवृत्ति हट जाती है। परन्तु मनुष्य को अपने किये गए पापों का दंड नहीं मिलता, यह ध्वनि इन मन्त्रों से नहीं निकलती। अथर्व० १।१०।३ में परमात्मा को 'सत्यधर्मा' कहा गया है अर्थात् वह सत्य धर्म वाला है। उसे सत्यधर्मा सम्बोधन करके उससे अनृत या वृजिन के दंड से मुक्ति पाने की आशा करना दुराशा मात्र है, असंगत है। इसलिये उपरि लिखित प्रथम तथा तृतीय मन्त्र से तो यह परिणाम हम किसी तरह नहीं निकाल सकते कि परमात्मा अपने भक्तों को दंड से मुक्त कर देता है। हां, द्वितीय मन्त्र ऋक् ७।८९।५ का 'मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः' पद अवश्य भ्रमात्मक है। इस मंत्र में पाप के दंड-हिंसा-से बचने की प्रार्थना की गई है। जहां एक जगह यह लिखा है कि-
'यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानां छर्वि जघान[1]।'

१—अथर्व० २०।३४।१०॥

वहां दूसरे स्थान पर—

'मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।'

मन्त्र से दण्ड मुक्त होने की प्रार्थना करने का यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि वक्ता को दण्डमुक्त होने की आशा है। परन्तु हमारी सम्मति में यह मन्त्र किसी और बात का निर्देश कर रहा है। इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि अनजाने किये गये पापों का दण्ड महान् नहीं होता। बड़े भारी पाप करने वाले को मृत्युदण्ड मिलता है और अनजाने किये हुए पाप पर मृत्युदण्ड नहीं मिलता। मनुष्य कुछ पाप जान बूझ कर करता है और कुछ विना जाने बूझे उससे हो जाते हैं[२]। परन्तु हर एक पाप का एक समान दंड मिलना अनुचित है। पाप की मात्रा तथा अतिशयिता के अनुसार दंड की मात्रा होनी चाहिये। इसलिये मृत्युदंड तो 'मह्यनो दधानान्' बहुत बड़े पापियों के लिये बताया गया है। परन्तु जिनसे अनजाने कोई पाप हो गया है उनको मृत्युदंड देना अनुचित है।

उपर्युक्त मन्त्र ऋक् ७।८९।५ में अनजाने (अचित्ती) किये गये पाप से मृत्युदंड न होने की प्रार्थना की गई है। इसलिये यदि इन मन्त्रों से कोई परिणाम निकाल सकते हैं तो यह कि जान बूझ कर किये हुए बड़े भारी पाप के लिये मृत्युदंड मिलता है और अनजाने किये गये पाप का मृत्युदंड नहीं मिलता। पाप का दंड मिलता ही नहीं यह परिणाम हम इस मन्त्र से कभी नहीं निकाल सकते। अन्यथा—'यो मृडयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः।'

इत्यादि प्रार्थनाओं का कोई तात्पर्य्य ही नहीं रहता। इस मन्त्र में जब यह कह दिया गया कि परमात्मा अपराधियों पर भी दया करता है तो फिर पाप से बचने की प्रार्थना क्यों की गई। यदि परमात्मा अपराधियों पर इतनी दया करता है कि उन्हें दंड ही नहीं देता तो फिर पाप से बचने का कष्ट ही क्यों कर किया जावे। पाप से बचने की इच्छा इसी लिये बनी रहती है कि क्योंकि इस से मनुष्य को परिणाम में दुःख भुगतना पड़ता है। इस कारण उपर्युक्त मन्त्र में परमात्मा को दयालु कहते हुए भी जो निष्पाप होने की प्रार्थना की गई है उसका यही तात्पर्य है कि परमात्मा अपराधियों पर भी हित बुद्धि रखता है। उनसे द्वेष करके उनको दंड कभी नहीं देता। उन पापी पुरुषों की वह हितकामना करता है। यह सब कुछ होते हुए भी वे पापी मनुष्य तब तक पूर्ण सुखी नहीं हो सकते जब तक वे निष्पाप न हो जावें। इस लिये वेद मन्त्रों के आधार पर हम यह कभी नहीं कह सकते कि परमात्मा प्रार्थना आदि के वश में आकर पापी भक्त को दंड से मुक्त कर देता है। इस बात को अब यहीं समाप्त करके हम पुनः अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

हम यह दिखा चुके हैं कि वैदिक फ़िलासफ़ी के अनुसार प्रत्येक प्राणी को अपने किये हर एक कर्म का कभी न कभी, कुछ न कुछ फल अवश्य मिलता है। यद्यपि प्रायश्चित्त और ईश प्रार्थना आदि से मनुष्य अपने को पवित्र तथा पापरहित बना सकता है, परन्तु प्रार्थना आदि करने से परमात्मा किसी पापी को दंड से मुक्त नहीं करता।
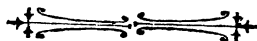
वेद की वर्णन शैली

(ले० श्री पं० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालंकार गुरुकुल कांगड़ी)

वेद का अध्ययन करते हुए कभी२ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सूक्त का विषय एक नहीं रहा। पाश्चात्य विद्वानों को तो इसमें कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती परन्तु वेद यदि ईश्वरीय ज्ञान है, तो एक ही सूक्त में भिन्न २ असंबद्ध विषयों का होना कुछ खटकता है। ऐसे अनेक सूक्त दिखलाए जा सकते हैं जिनमें किसी मन्त्र में परमात्मा का, किसी में अग्नि का तथा किसी में किसी अन्य देवता का वर्णन है। इस प्रकार के वर्णन से विद्यार्थी भ्रम में पड़ जाता है और उसे वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में सन्देह होने लगता है। परन्तु अगर हम वेद की वर्णन शैली को समझलें तो इस प्रकार के किसी भ्रम होने की आशंका नहीं रहती। उसी वर्णन शैली का संक्षिप्त सा वर्णन हम इस लेख में करेंगे।

जैसा प्रत्येक वेद के विद्यार्थी को ज्ञात है, प्रत्येक सूक्त या मन्त्र का विषय 'देवता' कहलाता है, देवता के विषय में भिन्न २ विद्वानों के भिन्न २ विचार हैं। यास्क की दृष्टि में मन्त्र के विषय को ही देवता कहते हैं। पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी ने सब प्रमेयों का प्रतिपादन कर यह बतलाया है कि बुद्धिगम्य पदार्थों को ३३ भागों में बांट सकते हैं और इसीलिये ३३ देवता माने गए हैं। भिन्न २ विचारों का आधार भूत विचार यही प्रतीत होता है कि मन्त्र का मुख्य विषय ही उसका देवता है। वेद के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि इन देवताओं की कल्पना परमात्मा की भिन्न २ शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में की गई है।
'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'

यह मन्त्र देवतावाद पर सम्भवतः सब मन्त्रों की अपेक्षा अधिक प्रकाश डालने वाला मन्त्र है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि भिन्न २ देवताओं की पृथक् सत्ता नहीं है, वे सब एक ही परमात्मा को शक्ति के भिन्न २ रूप हैं। सूर्य भौतिक प्रकाश का मण्डल है, उसे वेद में देवता कहा गया है। परन्तु उसे देवता कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह जीवधारी या प्राणयुक्त है, परन्तु उसका यही अभिप्राय है कि परमात्मा की भिन्न २ शक्तियों से प्रकाश देने वाली उसकी शक्ति सूर्य को प्रकाश देती है और इसी कारण चन्द्र, वायु, अग्नि, जल, भिन्न २ प्राकृतिक पदार्थ परमात्मा की ही भिन्न २ शक्तियों के कारण अपनी भिन्न २ शक्तियाँ रखते हैं और उन शक्तियों के कारण वे भी देवता कहलाते हैं।

जब हम किसी सूक्त का अध्ययन करते हैं तो उस में या तो परमात्मा को लेकर वर्णन किया होगा, या किसी अन्य देवता को लेकर वर्णन होगा। अगर उस सम्पूर्ण सूक्त में परमात्मा का ही वर्णन है और कोई अन्य देवता बीच में नहीं आजाता, तब तो किसी प्रकार की शंका नहीं होती, ऐसा वर्णन तो स्वाभाविक वर्णन ही होगा। मनुष्य के मन की यही आकांक्षा है कि जिस विषय को लेकर वह चला है, उसी का प्रति-

पादन करे, बीच में इधर उधर न भटक जाए। इसी प्रकार यदि किसी सूक्त में एक देवता को लेकर उसी को अन्त तक निभाया है, तब भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इसका तात्पर्य भी यही है कि उस सूक्त में परमात्मा की किसी एक शक्ति का वर्णन है। परन्तु बहुधा वेद के सूक्तों में ऐसा नहीं पाया जाता। परमात्मा के वर्णन में किसी अन्य देवता का वर्णन आजाता है और किसी एक देवता के वर्णन में भी दूसरे देवताओं का ज़िक्र कर दिया जाता है। विद्यार्थी के लिये यही सन्देह की वस्तु हो जाती है। ज़रा गहरा विचार करने से और देवताओं के विषय में हमने जो कुछ भी लिखा है उसे ध्यान में रखने से यह समस्या आसानी से हल हो जाती है।

कल्पना कीजिये कि किसी सूक्त का अग्नि देवता है और उसके प्रथम मन्त्र में जो विशेषण पाये जाते हैं, वे भौतिक अग्नि पर न लगकर परमात्मा पर ही लग सकते हैं ऐसी अवस्था में अर्थ करने वाले के लिये यह स्वाभाविक है कि वह उस सूक्त के अग्नि देवता का अभिप्राय ज्योतिर्मय परमात्मा ही करे। सम्भवतः अगले दो तीन मन्त्रों में सारा वर्णन परमात्मा पर ही घटेगा और यह भी सम्भव है कि सारे सूक्त में सब विशेषण परमात्मा पर ही घटने वाले हों, भौतिक अग्नि पर घटने वाले न हों। परन्तु अगर बीच में ऐसे मन्त्र आ जायं जो परमात्मा पर नहीं घट सकते और केवल भौतिक अग्नि पर घट सकते हैं—और वेदों के अध्ययन में ऐसा प्रायः ५० % से अधिक सूक्तों में पाया जाता है—तो उन मन्त्रों का ज़बरदस्ती परमात्मा परक अर्थ न करके भौतिक अग्नि परक अर्थ ही करना चाहिये। यह वेदों की अपनी ही वर्णन शैली है। अगर यह समझ लिया जाए कि वेदों की यही शैली है तो केवल यही आपत्ति रह जाती है कि यह शैली उचित है या नहीं ?

हमारी सम्मति में इस शैली में कोई दोष नहीं है, यह शैली तभी दूषित कही जा सकती है, अगर अग्नि आदि भिन्न २ देवताओं का, जिनका असंबद्ध सा वर्णन सूक्तों में कहीं २ आजाता है, परमात्मा से कोई सम्बन्ध न हो। परन्तु होता क्या है ? सूक्त का देवता अग्नि है। अग्नि का अर्थ हम परमात्मा कर रहे हैं, सब विशेषण परमात्मा पर ही घट रहे हैं, दो तीन मंत्रों का इसी प्रकार अर्थ हो जाता है, तीसरे चौथे मंत्र में भौतिक अग्नि का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है और उसके बाद फिर सारे मंत्र परमात्मा पर ही लगने वाले आ जाते हैं। इस वर्णन शैली में दूषण ही क्या है ? जिस अग्नि से सूक्त का प्रारम्भ हुआ था वह, इस में सन्देह नहीं कि परमात्मा को ही सूचित करने वाली थी, परंतु भौतिक अग्नि भी तो उसी परमात्मा की एक दृश्य विभूति है। और अगर अग्नि नाम से परमात्मा का वर्णन करते २ आगे चल कर भौतिक अग्नि का ही वर्णन कर दिया जाए तो वह वर्णन अप्रासंगिक या असंबद्ध नहीं कहा जा सकता। जैसे शुरू में कहा गया था कि भिन्न २ देवता उसी एक परमात्मा की विभूति को प्रकट करने वाली भौतिक शक्तियां हैं। इस लिये सूर्य के नाम से परमात्मा का वर्णन करते हुए बीच में भौतिक सूर्य का वर्णन कर देना, अग्नि नाम से परमात्मा का वर्णन करते हुए बीच में भौतिक अग्नि का वर्णन कर देना, वायु नाम से परमात्मा का वर्णन करते हुए बीच में भौतिक वायु का वर्णन कर देना, समुद्र नाम से

परमात्मा का वर्णन करते हुए बीच में भौतिक समुद्र का वर्णन कर देना, किसी प्रकार से अप्रासंगिक या असंबद्ध वर्णन नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जब हम यह देख चुके हैं कि भिन्न २ देवता परमात्मा की ही भिन्न २ शक्तियों के प्रतिनिधि हैं, उनकी पृथक् कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं, तब तो इस प्रकार का वर्णन असम्बद्ध तो दूर रहा, अपितु बड़ा सुंदर स्वाभाविक वर्णन है। हां, ऐसा नहीं होना चाहिये कि अग्नि नाम से परमात्मा का वर्णन हो और आगे चलकर भौतिक अग्नि पर मन्त्र आने के बजाय भौतिक जल पर घटने वाले मन्त्र आने लगें। परमात्मा का अग्निरूप भौतिक अग्नि की याद दिला सकता है परन्तु वह उस नाम से असंबद्ध किसी दूसरे गुण की याद नहीं दिला सकता। इसीलिये वेद का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी यदि ध्यानपूर्वक देखेगा तो उसका यही अनुभव होगा कि जिस नाम से परमात्मा का वर्णन किसी सूक्त में प्रारम्भ किया गया है उसी नाम से याद आने वाले उससे सम्बद्ध भौतिक देवता का वर्णन ही आगे चलकर किसी मन्त्र में आ जाता है, असम्बद्ध देवता का वर्णन नहीं आता। इसी प्रकार यह हो सकता है कि किसी सूक्त का प्रारम्भ भौतिक अग्नि को लेकर हुआ हो, पहले दो चार मन्त्र केवल भौतिक अग्नि पर ही लगने वाले हों और आगे चल कर वे मन्त्र भौतिक अग्नि पर न लग कर केवल परमात्मा पर ही घट सकते हों। इसका भी यही अभिप्राय है कि क्योंकि भौतिक अग्नि परमात्मा की ही भिन्न शक्तियों में से एक है इसलिये भौतिक अग्नि का वर्णन करते हुए जिस परमात्मा की वह विभूति है उसका वर्णन, सम्बद्ध होने से, प्रासंगिक होने से, प्रकरण प्राप्त होने से, अप्रासंगिक या आनुषंगिक होने से नहीं, कर दिया जाता है। वेदों की यही वर्णन शैली है। और जब हम यह ध्यान रक्खें कि भिन्न २ देवता परमात्मा की ही भिन्न २ शक्तियों के प्रतिनिधि हैं, स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले नहीं, तो इस शैली की उत्तमता और अधिक स्पष्ट होने लगती है।

हम वेद के सूक्तों में यह देखते हैं कि भौतिक अग्नि का वर्णन शुरु करके आगे चलकर परमात्मा का वर्णन शुरु हो जाता है और किसी दूसरे सूक्त में अग्नि नाम से परमात्मा का वर्णन शुरु करके, भौतिक अग्नि का वर्णन शुरु होजाता है यह दोनों बातें विद्यार्थी को असम्बद्ध सी जान पड़ती हैं और वेदों के विषय में भ्रम डाल देती हैं, परन्तु अगर जिन बातों का हमने निर्देश किया है उन्हें ध्यान में रखा जाय, तो यही असम्बद्धता वेदों की वर्णन शैली की अपनी निराली खूबसूरती बन जाती है।

वैदिक सुभाषित

[ले०—श्री सम्पादक]

[२]

पशु-रक्षा

गत अङ्क में यजुर्वेद के कतिपय उन सुभाषितों का संग्रह किया गया था, जिनमें पशु-हिंसा का साक्षात् निषेध प्रतीत है। इस अङ्क में उन सुभाषितों का उल्लेख किया जा रहा है जो कि पशु-रक्षा के संबंध में स्पष्ट उपदेश देते हैं।

(१)

यजमानस्य पशून् पाहि ॥ यजु० १।१॥

(यजमानस्य) यज्ञकर्त्ता मनुष्य के (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कर।

यज्ञ का सारा खर्च यजमान देता है। यजमान वह होता है जो अपना धन देकर अपने नाम से यज्ञ कराता है। पशुयज्ञ यदि पौराणिक मत के अनुकूल वेदाभिमत हो तो यजमान ही उस यज्ञ में पशुओं से होम करने के लिये पशुओं को उपस्थित करेगा। इस प्रकार यजमान के पशुओं की रक्षा न हुई अपितु हिंसा हुई। परंतु यजुर्वेद के पहले ही मंत्र में यजमान के पशुओं की रक्षा के लिये उपदेश अथवा आज्ञा दी गई है। अतः यजुर्वेद के मंत्रों में यथार्थ पशु-हिंसा की आज्ञा नहीं हो सकती।

(२)

ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ यजु० ११।८३॥

(नः) हमारे (द्विपदे) दो पगवाले मनुष्य आदि तथा (चतुष्पदे) चार पग वाले गौ आदि पशुओं के लिये (ऊर्जं) बल और प्राण शक्ति (धेहि) दीजिये।

इस प्रकार जब प्राणियों के संबंध में उन्हें बल और प्राण शक्ति देने की प्रार्थना परमात्मा से की गई है तो यह कैसे संभव हो सकता है कि ऐसा प्रार्थी परमात्मा का ही नाम लेकर प्राणियों की हिंसा वेदानुकूल समझे।

(३)

द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ यजु० १२।९५॥

(अस्माकं) हमारे (द्विपाद्) दो पग वाले मनुष्य आदि और (चतुष्पाद्) चार पग वाले गौ आदि (सर्वं) तथा सब जगत् (अनातुरम्) आतुरता से रहित (अस्तु) होवे।

इस सुभाषित में परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि आप की कृपा से दुपाए तथा चौपाए सभी आतुरता अर्थात् कष्टों और चिन्ताओं से रहित हों। वेद का हृदय जब कि प्राणियों की आतुरता से ही पसीज जाता है तो वह प्राणियों की हिंसा की आज्ञा किस प्रकार दे सकता है।

(४)

द्विपादव ॥ यजु० १४।८॥

(द्विपाद्) सब दो पग वाले प्राणियों की (अव) रक्षा कर।

मनुष्य प्राणियों तथा पक्षियों की रक्षा का यहाँ स्पष्ट प्रतिपादन है।

(५)

चतुष्पात्पाहि ॥यजु० १४।८॥

(चतुष्पाद्) परमात्मन् ! आप सब चार पग वाले पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये।

इस सुभाषित में चार पैर वाले प्राणियों की रक्षा का स्पष्ट वर्णन है।

(६)

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ यजु० १६।४॥

(नः) हमारा (सर्वम्) सब (इत्) ही (जगत्) संसार (अयक्ष्मम्) यक्ष्मा आदि रोगों से रहित और (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (यथा) जिस प्रकार (असत्) हो जाय, इसलिये हम आपसे प्रार्थना करते हैं।

जैसे परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का परिवार की दूसरी व्यक्ति पर ममत्व का भाव हो जाता है इसी प्रकार उदारचित्त और विशाल हृदय वालों का ममत्त्व संसार के सभी प्राणियों पर हो जाता है। इसलिये वे उनके भले के लिये भी परमात्मा से प्रार्थना करते रहते हैं।

(७)

शमसद् द्विपदे चतुष्पदे ॥ यजु० १६।४८॥

(द्विपदे) दो पग वाले मनुष्य आदि को और (चतुष्पदे) चार पग वाले गौ आदि पशुओं को (शम्) शान्ति (असत्) होवे।

यहाँ सभी प्राणियों के सम्बन्ध में शान्ति की भावना को उत्तेजित किया गया है।

(८)

ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ यजु० १७।६६॥

(नः) हम में, (द्विपदे) तथा दो पग वाले मनुष्यादिक और (चतुष्पदे) चार पग वाले पशुओं में, (ऊर्जं) बल और प्राण शक्ति को (धेहि) स्थापित करो।

प्राण शक्ति दीर्घ आयु को सूचित करती है और बल शक्ति शरीर आदि की पुष्टि का निर्देश करती है। इस सुभाषित में मनुष्य अपनी दीर्घ आयु तथा पुष्टि के साथ २ समग्र दुपायों तथा चौपायों के लिये दीर्घ आयु की कामना करता है।

(९)

शन्नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ यजु० ३६।८॥

वह परमात्मा (नः) हमारे लिये (शं) कल्याणकारी हो और (द्विपदे) दो पग वाले मनुष्यों तथा पक्षियों तथा (चतुष्पदे) चार पग वाले पशुओं के लिये (शं) कल्याणकारी हो।

(१०)

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त ॥ यजु० २३।१७॥

(अग्निः) आग (पशु) पशु (आसीत्) था (तेन) उस आग से (अयजन्त) विद्वान् यज्ञ करते आये हैं।

यह सुभाषित वेद की एक परिभाषा का निर्देश कर रहा है। इस सुभाषित में अग्नि को पशु कहा गया है। वेद में यज्ञ के सम्बन्ध में पशु शब्द को देखकर चौंक न जाना चाहिये, अपितु उन वैदिक स्थलों का समाधान वैदिक परिभाषाओं के आधार पर ही करना चाहिये। वेद की परिभाषा में आग पशु है। आग के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। आग द्वारा यज्ञ करना ही पशु द्वारा यज्ञ करना है। विद्वानों को इसी पशु द्वारा यज्ञ करना होता है।

(११)

वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त ॥ यजु० २३।१७॥

(वायुः) वायु (पशुः) पशु (आसीत्) रहा है (तेन) उससे विद्वान् (अयजन्त) यज्ञ करते आए हैं। इस सुभाषित में वायु को भी पशु कहा गया है। आहुति प्रथम आग में डाली जाती है। आग द्वारा आहुति के अंश सूक्ष्म हो जाते हैं। सूक्ष्म होकर वे अंश वायु में फैल जाते हैं। वायु न हो तो ये अंश सूक्ष्म होकर कैसे फैलें और किस प्रकार दूरस्थ प्राणियों तक पहुंच सकें ? इसलिये यज्ञ की पूर्त्ति में वायु भी सहायक है। वायु दूसरा पशु है, जिसके द्वारा कि विद्वान् लोग यज्ञ किया करते हैं।

(१२)

सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त ॥ यजु० २३।१७॥

(सूर्यः) सूर्य (पशुः) पशु (आसीत) रहा है, (तेन) उससे विद्वान् लोग (अयजन्त) यज्ञ करते आए हैं। इस सुभाषित में सूर्य को पशु कहा गया है। यज्ञ को सफल बनाने में सूर्य अति सहायक होता है। यदि सूर्य का ताप न हो तो वायु आदि पदार्थों में कभी गति न हो सके। वायु के अवयवों में गति सूर्य के ताप के कारण होती है और इस गति के कारण आहुति के सूक्ष्म अंश सर्वत्र फैल जाते हैं।

यज्ञ में आग, वायु और सूर्य ही सहायक हैं। इन तीनों को यजुर्वेद के इन सुभाषितों में पशु कहा है। अतः प्रतीत हुआ कि पशु यज्ञ वह है जो कि आग, वायु और सूर्य की सहायता से सम्पन्न होता है। कई यज्ञ ऐसे भी हैं जिनके सम्पादन के लिये आग आदि की साक्षात् आवश्यकता नहीं होती। यथा—ब्रह्म यज्ञ, अतिथियज्ञ आदि। पशुयज्ञ वे यज्ञ हैं जिनके सम्पादन के लिये आग, वायु तथा सूर्य की आवश्यकता हो। स्वाध्याय यज्ञ पशुयज्ञ नहीं है। दैनिक अग्निहोत्र पशुयज्ञ है। दर्शपौर्णमासेष्टि पशु यज्ञ है। इसी प्रकार और भी नाना पशुयज्ञ हैं।

लाजीञ्छाचीन् यव्ये गव्ये एतदन्नमत्त देवाः एतदन्नमद्धि प्रजापते ! ॥ यजु० २३।८॥

(लाजीन्) लाजाओं को, (शाचीन्) सत्तुओं को (यव्ये) जौं के बने पदार्थों को, (गव्ये) गौ के दूध, दही, मक्खन, तथा इसके दूध के बने अन्य पदार्थों को, (एतत् अन्नम्) इस तथा इस प्रकार के अन्य अन्न को अर्थात् वानस्पतिक तथा दूध और इसके विकार रूपी अन्न को (देवाः ! अत्त) हे देवो ! खाया करो। (प्रजापते !) हे गृहस्थी ! तू भी (एतत् अन्नम् अद्धि) ऐसे ही अन्न का सेवन किया कर।

मांस भोजन न करना चाहिये इस सम्बन्ध में यह सुभाषित सहायक है। इस सुभाषित में देवों तथा गृहस्थियों के भोजन के पदार्थों का निर्देश किया गाय है। भोजन के इस विधान में मांस का कहीं भी जिक्र नहीं आया। वेदों में मांसभक्षकों को राक्षस तथा पिशाच कहा गया है। अगले अङ्क में मांसभक्षण के सम्बन्ध में वैदिक भावना पर कुछ प्रकाश डाला जायगा। वेद जब कि पशु हिंसा का निषेध करता है तथा साथ ही साथ पशुरक्षा का उपदेश भी करता है तब वेद मांसभक्षण की आज्ञा कैसे दे सकता है इस का निर्णय विद्वान् पाठक स्वयं ही कर सकते हैं।
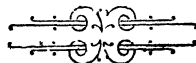
वधू के वस्त्रों से पति को दोष

[ले० श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी आचार्य दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर]

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥
अथर्व० १४।१।२७॥

(१) इस मन्त्र पर जो भाष्य इस समय प्राप्त हैं, वे यही भाव प्रकट करते हैं कि यदि पति अपने अंग को वधू के वस्त्र से आच्छादित करे तो अच्छा शरीर भी अश्लील होजाता है। इसलिये मैं प्रथम उन भाष्यकारों के शब्द ही लिखता हूं ताकि पाठक स्वयं ही समझलें कि उनका भाव यही है।

सायणाचार्यजी—ने इस पर कुछ नहीं लिखा है, केवल पद पाठ देकर छोड़ दिया है।

क्षेमकरणदासजी—चमकता हुआ रूप उस पाप क्रिया से अश्लील होजाता है जबकि पति बधू के वस्त्र से अपने अंग को ढक लेता है।

भावार्थ—जब पति पुरुषार्थ छोड़कर कामी होकर बुरी स्त्रियों के समान कुचेष्टा करता है तब उस दुर्बलेन्द्रिय का रूप बिगड़ जाता है और वह लज्जा को प्राप्त होता है।

(३) जयदेवजी—यदि वधू के वस्त्र से, पति अपना शरीर आच्छादित करे तो इस पाप या बुरी रीति से सुन्दर शोभायुक्त शरीर भी गन्दा, मलिन, शोभा रहित हो जाता है। पति कभी अपनी स्त्री के उतरे हुए कपड़े न पहना करे।

(४) राजारामजी—उस पापिनी (कृत्या) के साथ चमकता हुआ इसका तन शोभाहीन हो जाता है पति जब वधू के वस्त्र से अपने तन को ढांपता है।

(५) श्री दा० सातवलेकरजी—जब स्त्री के वस्त्र से पति अपने शरीर को आच्छादित करता है तब इस पापी रीति से सुन्दर शरीर भी शोभा रहित होता है।

भावार्थ—स्त्री का वस्त्र पुरुष कभी न पहने, यदि किसी ने पहना तो उसका तेजस्वी शरीर भी शोभा रहित सा हो जाता है।

मूल पाठ 'वध्वो वाससः' है। सब टीकाकार इसका अर्थ—अपनी स्त्री के वस्त्र से'—करते हैं। इसमें चिन्तनीय यह है कि सामान्य स्त्री के वस्त्र पहनने से यह फल होता है, या विवाहिता स्त्री के वस्त्र पहनने से ही होता है ? । यदि द्वितीय पक्ष माना जाय तो प्रष्टव्य होगा कि यदि किसी स्त्री का पति और भाई सम शरीर वाले हों और दोनों ही उसके वस्त्र लेकर पहन लें तो पति का शरीर अश्लील हो जायगा और भाई का न होगा, इसमें क्या कारण है ? यदि यह भाव माना जाय कि सब का ही शरीर अश्लील हो जायगा तो इस प्रश्न को इस भांति विचारना चाहिये —जिन देशों में स्त्री और पुरुष के वस्त्र समान नहीं हैं, जैसे महाराष्ट्र वा दक्षिण प्रान्त में,—वहां तो कोई पहनता ही नहीं है परन्तु जहां समान हैं, जैसे पंजाब के नगर में पुरुष की धोती और स्त्री की साड़ी एकही समान है, और कुरता भी पहले समान था, अबतो कुछ भेद होगया है, और पोठोहार में सलवार समान है ! जिला गुजरात में स्त्री और पुरुष (मुसलमान)

समान ही तहमत बांधते हैं। इन स्थानों में सुना जाता है कि कई बार कई स्नेही अपने वस्त्र बदल लेते हैं और उन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं होता है। इसी भांति क्या स्त्री का पहिना हुआ वस्त्र ही हानिकारक है अथवा स्त्री का नया सिला हुआ उपयोग में न लाया हुआ भी हानिप्रद होता है। यदि अन्त्य पक्ष मानें तो नाटकों में जो पात्र, स्त्री का कार्य्य करते हैं उन पर प्रभाव होना चाहिये, अनुभव तो यही है कि उन पर कोई प्रभाव नहीं होता है। इस रीति से न तो सामान्य स्त्री का वस्त्र हानिप्रद है, और न ही विवाहिता का वस्त्र अश्लीलता कारक है; परन्तु वेद वधू के वस्त्र को पहनने की आज्ञा नहीं देता। इस अवस्था में इसकी संगति अवश्य होनी चाहिये। यदि कणाद ऋषि को देखें तो वह वेद के वाक्यों के सम्बन्ध में 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृति र्वेदे' लिख कर यही सिद्ध करते हैं कि मनुष्य भूलता है और भूल सकता है, परन्तु वेद सर्वदा ठीक ही हैं। इसी पर भाई गुलाबसिंहजी ने लिखा है:—

प्रत्यक्ष प्रमाण विषे बहु दोष।
वेद प्रमाण सदा निर्दोष॥

तब इस अवस्था में इस वेदमन्त्र का क्या अर्थ है? यह चिन्तनीय हो जाता है। मेरी सम्मति में यहां 'वाससः' शब्द का अर्थ वस्त्र नहीं है, किन्तु इसका अर्थ है—'रजस्वला' जैसा कि पूर्व मीमांसा में 'मलवद्वासः अधिकरण है। 'मलवद्वासः' का अर्थ सामान्यरूप से—मल वाला कपड़ा—होता है। परन्तु इसका अर्थ सब—रजस्वला—करते हैं। इस रीति से जैसे 'मलवद्वासः' का अर्थ रजस्वला है वैसे ही 'वाससः' का अर्थ भी 'रजस्वला' ही है। एक अंग का वाचकपद सारे का बोध करा देता है-यह तो सामान्य नियम है। इस रीति से अर्थ करने पर मन्त्र का यह भाव होगा:—

जो पति रजस्वला वधू से मैथुन करता है उसका शरीर अश्लील हो जाता है। यदि पहले शरीर चमकता हुआ भी हो तो इस पाप से शोभारहित हो जाता है।'

इस विषय में निम्न प्रमाण भी मेरे पक्ष के पोषक मिलते हैं:—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद् विर्गीहतैः॥
मनु० अ० ३। श्लो० ४६।
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैः। मनु० अ०६। श्लो० ४७।

भावार्थ—स्त्रियों के ऋतुकाल की स्वाभाविक १६ रात्रियां हैं, उनमें से आरंभ की ४ रात्रियां विद्वानों ने निन्दित कही हैं।

इस मनु वाक्य से रजस्वला के जो रजोदर्शन के दिन हैं वे वर्जित हैं। स्मृति को छोड़कर इस बात को प्रायः सब ही गृहस्थ जानते हैं और ऐसा ही करते होंगे। इन निन्दित रात्रियों में जो मैथुन करेगा वह अश्लील तनू अवश्य ही होगा। अश्लील तनू होने का लेख भी महाभारत में इस प्रकार है। महाभारत मौसल पर्व में जब कृष्णजी का देहान्त होगया और अर्जुन ने उनकी अन्त्येष्टि की। पश्चात् द्वारका से स्त्रियों को लेकर चला और पंचनद के समीप लुटा गया तदनन्तर अर्जुन कुरुक्षेत्र भूमि में व्यासजी से मिला। उस समय व्यासजी ने अर्जुन को श्री रहित देखकर उससे पूछा कि, क्या क्या तूने इन पापों में से कोई पाप किया है?—

निर्विण्णमानसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम्॥ ४॥

नखकेशदशाकुम्भवारिणा किं समुक्षितः ।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया ॥ ५ ॥
युद्धे पराजितो वाऽसि गतश्रीरिव लक्ष्यसे ।
म० भा० मौ० अ०८॥

नीलकण्ठजी इस पर टीका करते समय लिखते हैं:-

नखोदकं, केशोदकं, वस्त्रप्रान्तो दशा तदुदकं, कुम्भ मुखोदकं च, आवीरजा नारी रजस्वला तस्या रजः प्रसवकाले दिन अथवा दर्शनगनुगमनं तस्यां मैथुनं, ब्राह्मणस्य वधो, युद्धे पराजयश्चेति सप्तभि र्निमित्तैः पुरुषो भ्रष्टश्रीर्भवति ।

भावार्थः—नखों का जल, केशों का जल, वस्त्र भीगने वा धोने से प्रान्त (कोने) का जल, कुम्भ (घट) के मुख के बाहर का जल, रजस्वला गमन, ब्राह्मण का मारना और युद्ध में पराजित होना, श्री के नाशक हैं। तूने इनमें से कौन पाप किया है जो तू गत श्री अर्थात् वेद के शब्दों में अश्लील तनू हो रहा है। इसमें रजस्वला के मैथुन का निषेध है। इसलिये मेरी सम्मति में इस मन्त्र का अर्थ यही है कि जो रजस्वला वधू से मैथुन करेगा वह शोभा रहित होगा। इस विषय में किसी का भी मतभेद नहीं है। ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में भी यह आक्षेप करते हैं और १४वें समुल्लास में लिखते हैं कि रजस्वला से सम्बन्ध न करने की जो बात है यह अच्छी है। इसलिये 'वध्वो वाससः' का अर्थ 'रजस्वला वधू' ही होना चाहिये, न कि वधू के वस्त्र पहनने से कोई आपत्ति आती है और सामान्य स्त्री के वस्त्र न पहनने से नहीं।
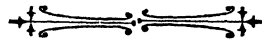
सामवेद का स्वाध्याय

[ले०—श्री सम्पादक]

(२८) इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्याँसम्।
अग्ने देवेषु प्रवोचः ॥ ८ ॥

(सनिम्)[1] भक्ति के उपहार रूप (नव्याँसम्)[2] तथा सदा नवीन (अस्माकम्) हमारे (इमम्) इस (गायत्रम्)[3] गान का (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू ने, (उ) अवश्य (देवेषु) देवों में (सु) उत्तम प्रकार से (प्रवोचः) प्रवचन अर्थात् उपदेश किया था ॥

१—सनिम्:—यह शब्द "षणु" धातु का बना है, जिसका कि अर्थ है "दान"। उपासक अपने प्रभु इष्ट देव के प्रति क्या दे सकता है, उसके प्रति क्या उत्तम भेंट कर सकता है जब कि संसार की सब वस्तुएं ही उसी की दी हुई हैं। उसी की दी वस्तुओं को उसी के प्रति भेंट करना कोई भेंट नहीं। हां, उपासक के पास एक वस्तु है जिसे कि वह चाहे तो अपने प्रभु के प्रति भेंट करे, न चाहे तो न करे। वह है उस की वाणी। इसीलिये मन्त्र में कहा कि "भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम"[4]। अर्थात् हे प्रभो ! हमारे पास हमारी वस्तु है वाणी, इस वाणी द्वारा हम आप के

१ षणु दाने ।
२ नव—ईयसुन् (ई का लोप छान्दस)।
३ गान करने वाले का त्राण करने वाला वैदिक छन्द।
४ यजुर्वेद ४०।१६ ॥

प्रति बहुतायत में नमस्कार वचन भेंट रूप में उपस्थित करते हैं।

२—गायत्रम्—उपहार रूप में दिया गया यह नमस्कार वचन गानरूप है, वैदिक गानरूप है। उपासक प्रभु के दर्शन में मग्न होकर, उसके गुणों से मुग्ध सा हुआ २ उसके प्रति वैदिक मन्त्रों के गान गाता है और इन द्वारा उसकी स्तुति करता है, महिमा गाता है।

३—नव्याँसम्—ये वैदिक गान सदा नवीन हैं। लाखों और अरबों सालों के होते हुए भी पुराने नहीं हुए हैं। इन में सदा नवीन और ताज़े रस का भान होता रहता है। ये नित्य हैं अतः सदा नवीन हैं।

४—देवेषु—इस सदा नवीन गान का उपदेश मनुष्यों को कैसे हुआ—इस का वर्णन "देवेषु" पद द्वारा किया गया है। सृष्टि के आदि के चार ऋषि जिन्हें कि प्रथम २ वैदिक ज्ञान का उपदेश हुआ—वे देव हैं चूंकि वे दिव्य गुणों वाले थे। इन देवों के हृदयों में परमात्मा ने सदा नवीन रहने वाले इस वैदिक गान का प्रवचन किया था—यह भाव "देवेषु प्रवोचः' इन दो शब्दों द्वारा दर्शाया गया प्रतीत होता है।

(२९) तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः।
स पावक श्रुधी हवम् ॥९॥

(अङ्गिरः) अङ्गिरस् अर्थात् शरीर के रस रूप (अग्ने) हे परमात्माग्नि ! (गोपवनः)[१] इन्द्रियों को पवित्र करने वाला उपासक, (तं त्वा) उस तुझ को (गिरा) वेद वाणी द्वारा (जनिष्ठत्) उत्पन्न करता है। (पावक) हे पवित्र करने वाले ! (सः) वह तू (हवम्) मेरे आह्वान को (श्रुधि) सुन।

१—अङ्गिरम्—उपासक जब यह समझने लगता है कि मेरे शरीर का रस या मेरे जीवन का तत्त्व यही उपास्य प्रभु है तब ही वह अनन्य मन होकर इस इष्ट देव की उपासना करने लगता है। इस भाव के द्योतन के लिये इस मन्त्र में परमात्माग्नि को अङ्गिरस् कहा गया है।

२—गोपवनः—परन्तु उपासक जब तक अपनी इन्द्रियों को शुद्ध पवित्र नहीं कर लेता तब तक वह परमात्मा की उपासना का अधिकारी नहीं बन पाता। यम नियमादि द्वारा मन का नियन्त्रण, तथा बाह्यशुद्धि द्वारा बाह्य इन्द्रियों को शुद्ध करने के पश्चात् ही उपासक को उपासना के निमित्त आसन जमाना चाहिये।

३—गिरा—इस आत्म-शुद्धि का तथा उपासना का क्या प्रकार है, तथा उस परमात्माग्नि को हृदय-कुण्ड में जागृत करने का क्या प्रकार है—इस सब का उचित उत्तर प्रभु की वाणी वेद में दिया गया है। अतः उस वेदवाणी की सहायता द्वारा वह उपासक उस परमात्माग्नि को हृदय-देश में प्रकट करता है।

४—पावकः—अग्नि स्वयं पवित्र है और जहां अग्नि का आवास होगा अग्नि उसे भी पवित्र कर देती है। इसी प्रकार परमात्माग्नि भी पवित्र करने वाली है, चूंकि वह स्वयं शुद्ध-पवित्र है। यह भाव यहां इसलिये दर्शाया गया है ताकि अपनी इन्द्रियों के पवित्र करने में जो उपासक लगा हुआ है वह इस शुद्ध-पवित्र अग्नि की पूजा कर सके। उपासक को इस सम्बन्ध में निराश न होना चाहिये। उसे अपनी इन्द्रियों को पवित्र करने का यत्न करते रहना चाहिये।

---

१ इस पद का "गो × प × वनः (वन संभक्तौ)—" ऐसा भी पदच्छेद सम्भव है। इसका अभिप्राय होगा "इन्द्रियों के रक्षक परमात्मा का उपासक"।

वह साथ ही यह भी समझ रखे कि जैसे २ वह उपासना की विधि से परमात्मा के समीप चलता जायगा वैसे ही वैसे परमात्माग्नि भी उसे स्वाभाविक रूप से अधिकाधिक पवित्र करती जायगी। इस प्रकार परमात्मा की सहायता पाकर वह उपासक अत्यन्त पवित्र हो जायगा।

५—श्रुधि—इस प्रकार उपासना करते २ परमात्मा जब प्रत्यक्ष हो जाता है तब वह दयालु परमात्मा उपासक की पुकार को सुनता है. और इस प्रकार उपासक की मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं।

(३०) परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्।

दधद्रत्नानि दाशुषे ॥१०॥

(वाजपतिः) बाज के पति (कविः[1]) और कवि (अग्निः) परमात्माग्नि ने,—(दाशुषे) उपहार देने वाले के लिये (रत्नानि) रत्नों को (दधत्) धारण करते हुए,—(हव्यानि) दाता के उपहारों को (परि अक्रमीत्) स्वीकार किया है।

१—वाजपतिः—वाज शब्द के नाना अर्थ हैं। यथाः—युद्ध, घृत, अन्न, जल, प्रार्थना, मन्त्र, यज्ञ, बल, शक्ति, धन, वेग, आदि[2]। अतः वाजपति शब्द का अर्थ करते हुए वाज शब्द के इन अर्थों में से जो जो अर्थ, इस मन्त्र में, उपयुक्त तथा प्रकरणसङ्गत हों वे सब ग्रहण करने योग्य हैं।

२—दाशुषे—'वाजपति' और 'दाशुषेइ' न दोनों के अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं। उपासक परमात्मा को उपहार देता है। वह उपहार देते हुए या तो उन वस्तुओं का उपहार देगा जो कि उसके अस्तित्व से बाहर की हैं, या उन वस्तुओं का देगा जो कि उसके अस्तित्व का भागरूप हैं। बाहर की वस्तुओं में धन, गृह, पशु, वस्त्र, तथा घृत आदि पदार्थ हैं और दूसरे प्रकार की वस्तुओं में शरीर, इन्द्रियाँ, मन, आत्मा तथा इनकी शक्तियां हैं। इन दोनों प्रकार की ही वस्तुओं का उपहार रूप में दान हो सकता है। परमात्मा के नाम पर अर्थात् यह जान कर कि अमुक २ कार्य परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करने वाले हैं, उस २ कार्य के निमित्त धनादि तथा शरीरादि वस्तुओं का त्याग करना यही परमात्मा के प्रति उपहार देना है। परन्तु परमात्मा के प्रति इस त्याग या उपहार-दान के साथ २ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वह परमात्मा 'वाजपति' है। हमारे अस्तित्व के बनाने वाली वस्तुएं तथा हमारे अस्तित्व से बाहर की वस्तुएं ये दोनों प्रकार की वस्तुएं ही—परमात्मा की हैं, वही इन का पति है। इस भाव को लक्ष्य में रखकर उपासक यदि परमात्मा के प्रति त्याग करेगा या उपहार देगा तो उसके दिल में अभिमान और आत्मश्लाघा का लेप न लगने पायगा।

३—दधत्—यद्यपि ये सब वस्तुएं परमात्मा की हैं और वही इन का पति है तो भी परमात्मा ने इन वस्तुओं का दान जीवों के उपहार के निमित्त कर रखा है। जो जीव परमात्मा की इन दी हुई वस्तुओं को भी परमात्मा के प्रति उपहार देता है, परमात्मा उन्हें स्वीकार करता हुआ उस जीव के प्रति नाना प्रकार के रमणीय पदार्थ और देता है। रमणीय पदार्थों का यहां अभिप्राय नाना प्रकार की रमणीय शक्तियों से है।

---

१ क्रान्तदर्शी या वेद-काव्य का रचयिता।

२ आपटे कोष ॥

(३१) उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ११ ॥

(त्यम्) उस (जातवेदसम्) जातवेदा (सूर्यम्[1]) सूर्य (देवम्) देव को, (केतवः) झण्डे या प्रज्ञाएं (उद्वहन्ति) दर्शा रही हैं, (विश्वाय) विश्व को उसका स्वरूप (दृशे) दिखाने के लिये ।

१—जातवेदसम्—जातवेदस् शब्द के पांच अर्थ निरुक्तकार यास्क मुनि ने दिये हैं[2] । यथाः—

(१) जातानि वेद ।

(२) जातानि वैनं विदुः ।

(३) जाते २ विद्यत इति वा ।

(४) जातवित्तो वा जातधनः ।

(५) जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः ।

इनके अभिप्राय यथाक्रम निम्न लिखित हैं । यथाः-

(१) संसार के सभी पदार्थों को जो जानता है अर्थात् जो कि सर्वज्ञ है ।

(२) उत्पन्न सब प्राणी इस परमात्मा को जानते हैं, अर्थात् इसकी शक्तियां इतनी प्रभावोत्पादक तथा महिमा और गरिमा से सम्पन्न हैं कि इसकी सत्ता की छाप उन प्राणियों पर अनिवार्य है ।

(३) संसार के प्रत्येक पदार्थ में यह विद्यमान है, अर्थात् यह सर्वत्रव्यापक है ।

(४) संसार का सब धन और ऐश्वर्य इसीका है, यही उसका स्वामी और अधीश्वर स्वभाव से है ।

(५) यह विद्यावान् है, स्वभाव से ही यह प्रज्ञावान् है । इसका ज्ञान नैमित्तिक नहीं, अपितु स्वाभाविक है, नित्य है ।

इस प्रकार निरुक्तकार ने "जातवेदस्" शब्द के ५ निर्वचन कर इसके ५ अर्थों को प्रकट किया है । यथाः-

(१) वह सर्वज्ञ है (२) उसकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता (३) सर्वत्र व्यापक है (४) अधीश्वर है (५) तथा नित्य ज्ञानवान् है ।

ये पांचों अर्थ परमात्मा के सम्बन्ध में ठीक बैठते हैं ।

२– सूर्यम्:—जगत में नाना सौर-मण्डल हैं । प्रत्येक सौर-मण्डल में सूर्य और सूर्य का परिवार शामिल है । सूर्य के परिवार से अभिप्राय उन ग्रहों, उपग्रहों तथा अन्य पदार्थों से है जो कि साक्षात् या परम्परा से सूर्य से उत्पन्न हुए हैं और उसी के इर्द गिर्द घूमते हैं । प्रत्येक सौर-मण्डल में (१) सूर्य (२) और ग्रह, जो कि सूर्य से फटकर पृथक् हुए हैं (३) तथा उपग्रह, जो कि इन ग्रहों से फटकर पृथक् हुए हैं, जिन्हें कि चन्द्र भी कहते हैं–शामिल हैं इन सौर-मण्डलों में सूर्य मुखिया है और केन्द्र-शक्ति रूप है, जिसके कि चारों ओर इससे उत्पन्न ग्रह अपने २ उपग्रहों को साथ लिये हुए गति करते हैं, और उस केन्द्र-शक्ति से शक्ति का सञ्चय करते हैं । इस प्रकार परमात्मा को सूर्य कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सौर-मंडल में सूर्य की न्याई, परमात्मा समग्र संसार में एक मुखिया केन्द्र-शक्ति है, जिसकी कि मानो समग्र संसार परिक्रमा कर रहा है और उसी से शक्ति का सञ्चय कर रहा है । इस उपमा या रूपण के दर्शाने के निमित्त इस मन्त्र में परमात्मा को सूर्य कहा गया है ।

---

(१) इस अग्नि के प्रकरण में सूर्य नाम आना यह निर्दिष्ट करता है कि जिसका नाम अग्नि है उसका नाम सूर्य भी है । यथाः—"तदेवाग्निस्तदादित्यः" आदि (यजु० अ० ३२, मन्त्र १)

(२) निरुक्त, अ० ७, खं० १९ ॥

३—केतवः—केतु शब्द का अर्थ झण्डा तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु निघण्टु में इसका अर्थ "प्रज्ञा"[1] भी दिया है। वर्त्तमान समय में भी झण्डे निदर्शन का काम देते हैं। प्रत्येक स्वतन्त्र देश का अपना २ झंडा है और उस झंडे के देखते ही उस २ देश का भान हो जाता है। वायसराय की कोठी पर झण्डा यदि लगा हुआ हो तो वह निशानी समझा जाता है कि वायसराय कोठी में मौजूद है। प्राचीन समयों में प्रत्येक मुख्य २ सेनापति का अपना २ झण्डा हुआ करता था। उस झण्डे को देखते ही ज्ञात हो जाता था कि अमुक झण्डे वाला योद्धा अमुक २ नाम वाला है। संसार की भिन्न २ शक्तियां, सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि नियम, कर्म—सिद्धान्त, संसार में सौन्दर्य की सत्ता, संसार की प्रयोजनवत्ता—आदि कई उत्तेजक घटनाएं संसार में हैं जो मन को उत्तेजित करती रहती हैं कि वह इन घटनाओं को घटित करने वाले किसी अपूर्व, सर्वशक्तिमान, अप्रमेय, तथा ज्ञानवान् चेतन को स्वीकार करे। इस प्रकार सर्व साधारण के लिये संसार के ये अदृश्य परन्तु देखने वाले के लिये दृश्य झण्डे मानो इस संसाररूप कोठी में रहने वाली शक्ति की वर्त्तमानता को सूचित कर रहे हैं। ये झंडे सदा काल से और अनादि हैं। ये इस प्रयोजन के लिये हैं कि ये विश्वमात्र को, सब प्रजामात्र को, अपने स्वामी का दर्शन करा सकें।

केतु का दूसरा अर्थ है "प्रज्ञा"। संसार में भिन्न २ प्रकार की प्रज्ञाएं हैं। दर्शन-शास्त्र एक प्रकार की प्रज्ञा देता है और विज्ञान-शास्त्र दूसरे प्रकार की। विज्ञान में भी नाना प्रकार के विषय हैं जो कि नाना प्रकार की, परन्तु स्वानुरूप, भिन्न २ प्रज्ञाएं पढ़ने वाले को देते हैं। इन प्रज्ञाओं को प्राप्त मनुष्य अपनी २ दृष्टि से तथा अपनी २ तत्तच्छास्त्रीय युक्तियों के आश्रय पर परमात्मा का या उसके भिन्न २ रूपों का ज्ञान करता है।

इस प्रकार ये भिन्न २ प्रज्ञाएं भी परमात्मा का बोध कराती हैं। ज्योतिष शास्त्र उसकी अपारता का, फ़िज़िक्स या भौतिक शास्त्र उसके शक्तिमय होने का, रसायन उसके कौशल तथा रचना चातुर्य्य का, प्राणि-शास्त्र उसकी प्राणन-शक्ति का, इस प्रकार भिन्न २ शास्त्र परमात्मा के भिन्न २ रूप का ज्ञान कराते हैं। और अध्यात्म-शास्त्र द्वारा प्राप्त की हुई अनुभव-रूप प्रज्ञा तो उसका साक्षात् ज्ञान करा देती है। इस प्रकार इन सांसारिक प्रज्ञाओं का भी अन्तिम ध्येय, उस परमात्मा का बोध कराना ही है।

(३२) कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥

(कविम्) कवि (सत्य-धर्माणम्) सत्यधर्मा (अमीव-चातनम्) और रोग नाशक (अग्निं देवम्) अग्नि देव की (अध्वरे) इस अहिंसामय उपासना-यज्ञ में (उपस्तुहि) उपासना के प्रकार से स्तुति कर।

१—उपस्तुहि—विवरणकार सामवेद के एक व्याख्याकार हुए हैं। उनका कथन है कि उपासक इस मन्त्र में अपने अन्तरात्मा को कहता प्रतीत होता है कि हे मेरे अन्तरात्मा! तू इस परमात्मा की स्तुति कर, और जैसे कोई किसी के समीप होकर उसकी स्तुति करता है वैसे ही तू भी, परमात्मा के समीपस्थ होकर, उसके समीप आसन जमा कर उसकी स्तुति कर।

(१) ३।१३॥

पूर्व मन्त्र में यह भाव दर्शाया गया है कि संसार के झंडे या भिन्न २ प्रकार के विज्ञान परमात्मा की सत्ता का बलात्कार बोध कराते हैं। उस बोध होने के अनन्तर ज्ञानी अपने अन्तरात्मा को सम्बोधन करता है और उसे कहता प्रतीत होता है कि हे अन्तरात्मन्! इस परमात्मा की, जिसका कि बोध सांसारिक झण्डों या विज्ञानों द्वारा तुझे हो चुका है, अब उपासना की विधि से स्तुति कर, उसका गुण गान कर।

२—कवि—क्योंकि वह परमात्मा कवि है, अर्थात् क्रान्तदर्शी है, भूत और भविष्यत् घटनाओं का तथा सूक्ष्म और व्यवहित वस्तुओं का भी जानने वाला है, वह तेरी इच्छा या आकांक्षा को भी जानता है। अतः तू उसकी स्तुति कर।

कवि द्वारा निर्देश यह भी हो सकता है कि उसने वेद काव्य का उपदेश दिया है। ताकि जीव अपने कर्म-धर्म को जानकर सुखी हो सकें। इस प्रकार जिसने दयार्द्र होकर जीवों को दुःखों से छुड़ाने के निमित्त, आरम्भ में, अपना अक्षय वेद-भण्डार दान रूप में दिया है, क्या वह हे उपासक! तुझ पर कृपा न करेगा और तुझे दुःखों से मुक्त न करेगा। इसलिये तू उस कवि की अवश्य उपासना कर और उसकी स्तुति कर।

३—सत्यधर्माणम्—परमात्मा का धर्म है—सत्य। वह सत्य का अनुष्ठाता है, सत्यज्ञानी है, तथा सत्य का ही उपदेश करने वाला है, वह सत्यस्वरूप है। परमात्मा के इस गुण के कथन का प्रयोजन यह है कि उपासक को यह ज्ञात हो सके कि जिसकी उपासना या स्तुति उसने करनी है वह सत्यमय है और सत्य को ही चाहता है। इसलिये जब तक वह असत्य का त्याग नहीं करता और अपने जीवन को सत्य के सांचे में नहीं ढाल लेता तब तक सत्यस्वरूप परमात्मा उसको अपना संगी नहीं बनाएगा। इसलिये उपासना या स्तुति की पूर्वावस्था यह है कि उपासक या स्तोता अपने जीवन को सत्यमय बनाए।

४—अमीव—चातनम्—"अमीव" का अर्थ है रोग, और "चातन" का अर्थ है नाश करना। इसलिये "अमीव-चातन" का अर्थ है-जिसके कि संग से रोगों का नाश हो जाता है, या रोगों का नाश करना जिसका कि स्वभाव है। इस उपासना के प्रकरण में उपासना के बाधक कारणों को रोग कहा है। और वे बाधक कारण रोग हैं—अविद्या तथा तज्जन्य काम, क्रोध आदि। परमात्माग्नि का प्रकाश, अविद्यान्धकार का तथा उस अन्धकार के सहचारी काम, क्रोध आदि का उच्छेद कर देता है।

५—अध्वरे—उपासनायज्ञ का स्वरूप दर्शाया है कि वह अध्वर अर्थात् हिंसा रहित यज्ञ है। इस यज्ञ के करने से उपासक के मन से हिंसामय भाव दूर हो जाते हैं और वह उपासक परमात्म-पिता का सच्चा उपासक होने के कारण संसार में सर्वभूतमैत्री की दृष्टि वाला हो जाता है। साथ ही इस यज्ञ के करने से संसार-चक्र में उसे घुमाने वाले उसके अविद्या आदि कारण भी शनैः २ निर्बल पड़ते जाते हैं। इस प्रकार वह आत्म-हिंसा से भी बच जाता है।

(३३) शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो[1] भवन्तु पीतये।
शंयो रभिस्रवन्तु नः ॥ १३ ॥

---

(१) ऋ० ७।६।५ में इसके स्थान में "आपो" पाठ है।

(देवीः) अप्[2]-देव (शम्) शान्तिकारी हो (नः) हमारी (अभिष्टये) इच्छापूर्त्ति या यज्ञपूर्त्ति के लिये, (शम्) शान्तिकारी (भवन्तु) हो (नः) हमारी (पीतये) रक्षा के लिये। (शंयोः[3]) तथा उपस्थित दुःखों की शान्ति और आगामी दुःखों के भय को दूर कर (नः) हम पर (अभिस्रवन्तु) वह सुखों की वर्षा करे।

१—देवीः—इस मन्त्र में देवता का निर्देश नहीं है। ऋग्वेद[4] में इस मन्त्र के द्वितीय "शन्नो" के स्थान में "आपो" पाठ है। इस प्रकार इस मन्त्र का देवता "आपः" समझ लेना उचित ही प्रतीत होता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि इस मंत्र में "देवीः" शब्द का स्त्रीलिंग होना तथा "देवीः, भवन्तु और अभिस्रवन्तु"-इन तीन पदों का बहुवचनान्त होना इस बात को सूचित कर रहा है कि मन्त्र का देवता भी ऐसा ही होना चाहिये जिसका कि वाचक पद भी स्त्रीलिंग वाला तथा बहुवचनान्त हो। इन दो युक्तियों के आधार पर मन्त्र में "आपः" देवता समझ कर अर्थ किया गया है।

साथ ही यह भी ख़याल रखना चाहिये कि यह समग्र प्रकरण अग्नि का है। अग्नि के प्रकरण में "आपः" के वर्णन का समर्थन इसी कल्पना के आधार पर हो सकता है कि सम्भवतः इस प्रकरण में आपः और अग्नि ये दोनों नाम एक ही वस्तु के हों[4]। इस लिये इस मन्त्र में "देवीः आपः" का अर्थ है "व्यापक परमात्म-देव"।

यदि "आपः" पद परमात्मा[5] का नाम माना जाय तब तो यह अर्थ ठीक है। और यदि यह माना जाय कि "आपः" शब्द लुप्तोपमा या रूपक है तब "आपः" शब्द का स्वतन्त्र अभिप्राय दर्शा कर उस अभिप्राय का सम्बन्ध परमात्मा के साथ दर्शाना उचित होगा।

"आपः" का प्रसिद्ध अर्थ है—जल। इस अर्थ में "आपो देवीः" का अर्थ होगा "जल की तरह शान्त परमात्म-देव"। यह अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है। क्योंकि इस मन्त्र में उस देव से शान्ति की प्रार्थना की गई है। शान्ति वही दे सकता है जो स्वयं शान्त हो। अशान्त देव से शान्ति की प्रार्थना कैसी ? जल शान्त स्वरूप है। इसके स्पर्श मात्र से मनुष्य को शान्ति मिल जाती है। इस अभिप्राय से परमात्मा को जल की उपमा दी गई है या परमात्मा और जल का रूपण किया गया है।

२—अभिष्टये, पीतयेः—'अभिष्टि' शब्द सम्भवतः अभीष्टि है, अभि + इष्टि। और इष्टि शब्द यज्ञ अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा इच्छा अर्थ में भी। यज्ञ का अर्थ है उत्तम कर्म, उपकारी कर्म, धार्मिक कर्म, परमात्मा से शान्ति की प्रार्थना इस निमित्त की जा रही है ताकि उपासक अपने यज्ञ को पूर्ण कर सके। क्योंकि जीवन में, मन में, तथा विचार में जब तक शान्ति नहीं तब तक कर्मों का साधु प्रकार से सम्पादन नहीं हो सकता। और इन कर्मों के उत्तम प्रकार से सम्पादन के बिना मनुष्य की उन्नति नहीं हो सकती

(२) व्यापक परमात्म-देव (आप्लृ व्याप्तौ) ॥

(३) शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् (निरुक्त, अ० ४, खं० २१)।

(४) देखो, यजु० अ० ३२, मन्त्र १ ॥

(५) व्यापक परमात्मा

इसीलिये 'पीति'[1] अर्थात् रक्षा और उन्नति के निमित्त भी शान्ति की प्रार्थना की गई है।

(३४) कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥

(सत्पते) हे सच्चे रक्षक ! या सत्पुरुषों के रक्षक (कस्य) किसकी (धियः) प्रज्ञाओं, कर्मों तथा संकल्पों को तू (नूनम्) निश्चय से (परीणसि)[2] बहुत (जिन्वसि) तृप्त करता है ? (ते) तेरी (गिरः) वाणियां (यस्य गोषाता[3] = गोषातौ या गोषाताः) जिसकी इन्द्रियों को शान्ति या प्रकाश देने में लगी हैं, उसकी।

१—सत्पते—(१) उपासक, प्राकृतिक वस्तुओं और उनके अधीश्वरों के सम्बन्ध में जब यह जान लेता है कि ये वस्तुएं तब तक ही मनुष्य की रक्षा कर सकती हैं जब तक कि मनुष्य की रक्षा करना परमात्मा को अभीष्ट हो, उसकी अनिच्छा में ये सब वस्तुएं होती हुई भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकतीं, तब उपासक इस परिणाम पर पहुँचता है कि वह परम प्रभु ही एक सच्चा रक्षक है। यह समझ कर और इस की सत्यता का अनुभव कर वह इस प्रभु की ओर झुकता है और इसकी शरण जाता है।

(२) साथ ही उपासक को यह समझ लेना चाहिये कि परमात्मा सच्चा रक्षक तो अवश्य है, परन्तु उसकी रक्षा की कृपा के पात्र सत्पुरुष ही होते हैं, असत्पुरुष नहीं। वैसे तो सच्चे गुरु की न्याईं ही परमात्मा पापियों को उनके अपराध का दण्ड देता है ताकि वे सुधर जायं। इस प्रकार गुरु जैसे दण्ड द्वारा बिगड़े शिष्य की रक्षा करता है वैसे परमात्मा भी यदि पापियों को दण्ड देता है तो उन्हें यह न समझना चाहिये कि परमात्मा उनकी रक्षा नहीं कर रहा। वह उस समय वास्तव में दण्ड द्वारा उन्हें सीधे मार्ग पर लारहा होता है और इस प्रकार वह उनकी रक्षा ही कर रहा होता है। तो भी परमात्मा का यह सुधारक दंड जिन पर नहीं गिरता वे सत्पुरुष ही होते हैं, असत्पुरुष नहीं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के निमित्त भी मन्त्र में परमात्मा को सत्पति कहा गया है। यह सिद्धान्त इसलिये दर्शाया गया है ताकि उपासक सत्पुरुष बनने का प्रयत्न करता रहे।

२—जिन्वसि—उपासक इस प्रकार परमात्मा को सत्पति जान जब उसकी ओर झुकता है तो अभ्यास के पश्चात् उसे अनुभव होने लगता है कि परमात्मा के सहवास में एक विशेष प्रकार की तृप्ति होती है। उसकी प्रज्ञा, कर्म और संकल्प शनैः २ तृप्त होने लगते हैं अर्थात् उसकी प्रज्ञा, कर्म और संकल्प में उस समय गति परमात्मा की प्रेरणा द्वारा होती है, उसकी इच्छा और आज्ञा के पालने तथा पूर्ण करने के लिये होती है। यह अवस्था "आप्तकामः, आप्तसंकल्पः"—की सी है।

३—गोषाता—परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार के मनुष्य में इस प्रकार की तृप्ति की अवस्था उत्पन्न हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में यह दिया है कि यह अवस्था उसी मनुष्य में हो सकती है ? जिसकी इन्द्रियां शान्त हो रही हैं या

(१) पा पाने; ओ प्यायी वृद्धौ।

(२) परीणसि = बहु (निघण्टु, ३।१३।१) ॥

(३) महीधर आदि ने "गोषातौ" असली रूप माना है और विवरणकार ने "गोषाताः" माना है; गो (इन्द्रियां, प्रकाश आदि) + षण् (दान, संभक्ति) ॥

जो प्रकाश पाने में लगा हुआ है। परमात्मा ने मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में, आत्म विद्या के रहस्यों का ख़ज़ाना वैदिक ज्ञान के रूप में दिया। इस ज्ञान का आलोचन करते २ जिस आलोचक ने अपने इन्द्रिय-घोड़ों की लगाम को खींच, इन घोड़ों को अपने काबू कर, इन्हें शांत कर दिया, या जिसने आत्म प्रकाश को वैदिक ज्ञान का सर्वस्व जान अपने आपको उसी प्रकाश का पतंगा बना दिया वह तृप्ति का, इस अनोखी आत्मतृप्ति का अधिकारी बन गया। यह अभिप्राय इस मन्त्र के तीसरे पाद का प्रतीत होता है।

तीसरी दशति समाप्त।

(क्रमश)
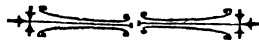
शतपथ ब्राह्मण-व्याख्या

[ले०—श्री० पं० देवराजजी, विद्यावाचस्पति]

अथ तृतीयं ब्राह्मणम्

पवित्र-करणम्

मन्त्र—पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ, सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवो, ऽग्र इममद्य यज्ञन्नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्॥ यजु० अ० १ मं० १२॥

ब्रा०—पवित्रे करोति—पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति। यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह ॥१॥

प०—पवित्र[1] बनाता है। पवित्र बन जाने के बाद उन्हें कहता है कि तुम पवित्र हो और विष्णु के हो। विष्णु नाम यज्ञ का है। तुम यज्ञ सम्बन्धी हो अर्थात् यज्ञ कर्म के योग्य हो, यही कहता है जब वह कहता है कि तुम विष्णु[2] के हो॥ १॥

१—पवित्र कुशा घास के बनाए जाते हैं। पवित्रों से, किसी पदार्थ को शुद्ध करने के लिये, उस पदार्थ पर जल छिड़का जाता है। इस प्रकार जल प्रोक्षण के द्वारा ये पदार्थों को पवित्र करते हैं इसलिये पवित्र कहाते हैं। कुशा घास को ऊपर से छील २ कर पत्ते हटाते जावें तो बीच में रहे हुए केवल दो पत्तों को पवित्र कहा जाता है। पवित्र बनाने का अर्थ यह है कि कुशा-घास के बाहर के पत्तों को हटाकर मध्य के केवल दो पत्तों को रहने देना॥

२—सोम (अप्) को आकर्षित करने की कुशा में विशेष शक्ति होती है। जहाँ कुशा बहुत होती है वहां भूमि प्रायः आर्द्र रहती है। अप् के विशेष आकर्षण के गुण के कारण ही पवित्रों को वैष्णव्य और यज्ञिय कहा है।

यज्ञ प्रक्रिया से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों भावों में सम्बन्ध दिखाया जाता है, अतः जो पदार्थ यज्ञ क्रिया में काम आते हैं वे सब यज्ञिय कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में जो बृहद्यज्ञ हो रहा है उसमें कुशा तथा अन्य वन्य घास भी वायु को शुद्ध करने में बड़ा हिस्सा लेरही है। वायु में मिश्रित अपान (CO_2) को जिसको प्राणी अपने उच्छ्वास से और अधोमार्ग से बाहर निकाला करते हैं, कुशा विष्णु के द्वारा ग्रहण करके और इन्द्र के द्वारा उसका विश्लेषण करके प्रतिक्षण वायु को पवित्र करता हुआ यज्ञ कर रहा है। इस प्रकार यज्ञ में भाग लेने से कुशा यज्ञिय है।

ब्रा०—ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते। सोऽयमेक इवैव पवते। सोऽयं पुरुषे ऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च। ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्राम्। तस्माद् द्वे भवतः॥ २॥

प०—वे पवित्र[3] दो होते हैं। इसका कारण यह है कि जो यह पवन है यह पवित्र है। यह पवन विना भेद के एक सा ही बहता रहता है। वह यह पवन पुरुष के अन्दर घुसा हुआ अन्दर की ओर और बाहर की ओर गति भेद से दो रूप का हो जाता है। एक रूप को प्राण[4] और दूसरे रूप को उदान[4] कहते हैं। इन्हीं प्राणोदान के प्रतिनिधिरूप में पवित्र बनाए जाते हैं इस कारण पवित्र दो होते हैं॥ २॥

ब्रा०—अथो अपि त्रीणि स्युः, व्यानो हि तृतीयः। द्वे त्वेव भवतः। ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षति, तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति॥ ३॥

प०—अथवा तीन भी हो सकते हैं क्योंकि व्यान[5] तीसरा है। व्यान तीसरा है तो भी दोही[5] बनाये जाते हैं। उन पवित्रों से प्रोक्षण निमित्त रक्खे हुए जलों को पवित्र करके उन पवित्र जलों से अन्नादि पदार्थ का प्रोक्षण करता है अर्थात् पवित्रों के द्वारा उस जल को छिड़कता है। जल छिड़कने का क्या प्रयोजन है? उस छिड़कने से क्या होता है? इसका हेतु आगे कहा जायगा।

३—कुशा में पवित्र करने का धर्म अर्थात् जल, वायु में से सूक्ष्म वायवीय मलिनता को दूर करने का गुण अग्नितत्व के कारण होता है। अग्नितत्व की प्रधानता कुशा में उस समय अधिक होती है जिस समय पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती हुई सिंह राशि में गई हुई होती है अर्थात् जब सूर्य सिंह का होता है। अतः सिंहस्थ सूर्य की अमावास्या में कुश निकालना चाहिये।

४—संसार में यह जो वायु बह रहा है यह पवित्र है। जहां जब वायु की गति मन्द पड़ जाती है वहां तब मलिनता इकट्ठी हो जाती है। वायु के बहने से मलिनता इकट्ठी नहीं होने पाती। वायु फैला कर उसे छिन्नभिन्न कर डालता है। यह वायु बहता हुआ एक सा ही बहता रहता है। जब पुरुष में भीतर घुसता है तो अन्दर जाकर इस में भेद पड़ जाता है, एक की गति अन्दर की ओर हो जाती है और दूसरे की बाहर की ओर हो जाती है। इन दोनों को प्राण और उदान कहते हैं। प्राण की गति अन्दर की ओर है और उदान की बाहर की ओर है। प्राण वायु शरीर में रक्त के द्वारा सारे शरीर में भ्रमण करके शक्ति प्रदान करता है और शरीर की मलिनता लेकर उदान रूप में निःश्वास के द्वारा बाहर निकल जाता है। इन्हीं प्राणोदान के प्रतिनिधि रूप में दो पवित्र बनाये जाते हैं। ये दोनों जल के अन्दर रक्खे हुए होते हैं और जल की मलिनता को चूस कर वायु में फेंक देते हैं। इस प्रकार वायु के दो भेद प्राणोदान के समान पवित्र करने से ये पवित्र भी उनकी संख्या के समान दो ही बनाये जाते हैं।

५—हृदय में व्यान रहता है। व्यान से ऊपर प्राण है और व्यान से नीचे अपान कहाता है। व्यान से ऊपर प्राण के दो भेद हैं। एक उदान दूसरा प्राण। कण्ठ में उदान और शिर में प्राण का स्थान है। नीचे अपान के दो भाग हैं। एक समान और दूसरा अपान। नाभि देश में समान है और गुदमण्डल तथा बस्ति प्रदेश में अपान है। एक ही प्राण इस प्रकार पञ्चधा विभक्त है, परन्तु अनुकूल पदार्थ को देने और प्रतिकूल को बाहर निकालने की प्रधान क्रियाओं के विचार से याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं कि दो ही होते हैं और उनकी संख्या के अनुसार पवित्र भी दो ही होते हैं।

ब्रा०—वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी। स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥ ४॥

प०—द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में यह जो कुछ भी है उस सब को वृत्र[६] घेरे पड़ा है। द्युलोक और पृथिवी लोक को जिसने घेरा है उसका नाम वृत्र इसी लिये है क्योंकि वह इस सब को घेरे पड़ा है ॥४॥

ब्रा०—तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोऽभि प्रसुस्राव, सर्वत इव ह्ययं समुद्रः, तस्मादु हैका आपो बभित्साञ्चक्रिरे, ता उपर्युपर्यतिपुप्रुविरे अत इमे दर्भाः ता हैता अनापूयिता आपः। अस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभि प्रास्रवत्, तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ ५॥

प०—इन्द्र अर्थात् सूर्य ने अपनी किरणों से वृत्र को मारा[१]। वह मरा हुआ होने से पूति

६—
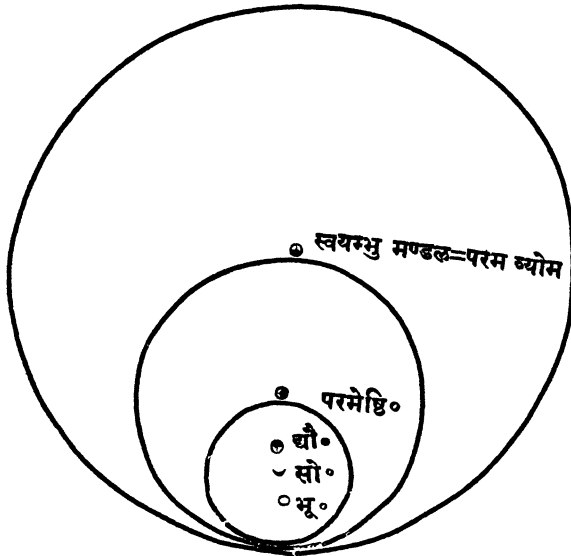
परमेष्ठि०—परमेष्ठिमण्डल = आपः = समुद्र = वृत्र
द्यौ०—द्यौमण्डल = ज्योतिः
सो०—सोममण्डल = अमृत
भू०—भू मण्डल = रस

इस ऊपर के चित्र में दिखाया है कि सोम (चन्द्र) मण्डल को भू (पृथिवी) मण्डल ने घेरा हुआ है। भूमण्डल को अन्य सब सात ग्रहों के सहित द्यौ मण्डल ने घेरा हुआ है। सम्पूर्ण द्यौ मण्डल को भी परमेष्ठिमण्डल (आपः = समुद्र) ने घेरा हुआ है। इसी परमेष्ठि मण्डल को वृत्र भी कहते हैं। अतः द्यावा पृथिवी के बीच में जो कुछ भी है उसको अर्थात् भूमण्डल, ग्रह, उपग्रह सहित द्यौमण्डल को वृत्र ने घेरा हुआ है। सम्पूर्ण द्यावापृथिवी के बीच में आप् व्याप्त होकर विराजमान है। इस परमेष्ठि—मण्डल अर्थात् वृत्र को भी स्वयम्भु मण्डल ने घेरा है। स्वयम्भु मण्डल भी सूक्ष्म जल है। यह सूक्ष्म जल सर्वत्र व्याप्त है।

१—यह मरा हुआ सोम अन्तरिक्ष में सूक्ष्म जल रूप में इतस्ततः विचरता है। सूर्य किरण से बचकर जिस पदार्थ के साथ इसका सम्बन्ध होता है उसमें सड़ांद दुर्गन्ध और फूई आदि का लगना इत्यादि दोष पैदा हो जाते हैं। इस दोष को 'वारुण्य दोष' कहते हैं। वारुण्य दोष को पैदा न होने देने के लिये ही दुग्ध अन्न आदि पदार्थों को (airtight bottles) वातरक्षित पात्रों में रक्खा जाता है, जिनमें वारुण्य दोष पैदा होने की सम्भावना हो या अल्पमात्रा में पैदा हुआ हो, उन्हें धूप में सुखाकर सूर्य की किरणों के द्वारा वारुण्य दोष दूर किया जाता है। जहां सूर्य की किरण का स्वच्छन्द प्रवेश नहीं है वहां वारुण्य दोष पैदा होता ही रहता है। वारुण्य दोष से दुष्ट हुए पदार्थ के सेवन से हमारा प्राण भी दूषित होता है। उसमें तेज न होने से गुरुता होने से वह हमारे मन में तामसिक वृत्ति को पैदा करने वाला होता है अर्थात् मन में स्फुरण नहीं होता, बुद्धि से कोई

हो गया अर्थात् सड़ांद और दुर्गन्ध पैदा करने वाला होगया और चारों ओर से जल रूप में गिरने लगा। द्युमण्डल में जहां इस प्रकार की वृत्र हनन क्रिया वा संघात[2] क्रिया होती रहती है उसके चारों ओर चूंकि समुद्र ही समुद्र है इस कारण एक प्रकार के आप् जो किरणों से अनाहत रहे वे उन हत हुओं से बीभत्सा करने लगे, वे उन हत हुए जलों के ऊपर २ फिरने लगे, इस कारण से ये दर्भ हुए। इस प्रकार वे दर्भ[3] वस्तुतः अनापूयित अर्थात् दुर्गन्ध रहित आप्

बात समझ में नहीं आती या देर में समझ में आती है, चित्त किसी बात को स्मरण नहीं कर सकता, स्मृति शक्ति मन्द पड़ जाती है, आत्मा में उत्साह नहीं रहता, निरुद्यमी, प्रमादी और आलसी हो जाता है। इसलिये वारुण्य दोष से दूषित पदार्थ का सेवन कभी नहीं करना चाहिये। कन्द मूल तथा जड़ें जो पृथिवी के अन्दर पैदा होते और बढ़ते हैं, सूर्य की किरण के सीधे स्पर्श से रहित होने से फलों की अपेक्षा गुरु होते हैं, फल लघु होते हैं। फलों के सेवन का परिणाम यदि लघुता और सात्विक अंश की वृद्धि है तो कन्द आदि के सेवन का परिणाम गुरुता और तामसिक अंश की वृद्धि है। सब फलादि और सब कन्द आदि एक से ही हों ऐसी बात नहीं है इनमें देवताओं के कार्य के अंशांशी भाव की कल्पना के विचार से सात्विक आदि भावों की मात्रा आपेक्षिक माननी पड़ती है। यही वारुण्य दोष यज्ञ में लाये हुए जलों में तथा अन्न आदि पदार्थों में जो कुछ भी है उसे दूर करने के लिये दर्भ के बनाये पवित्रों का प्रयोग है॥

२—प्रत्येक मण्डल में जो कुछ भी पदार्थ विद्यमान् है उस सब में प्राण है। प्राण होने से सर्वत्र प्राणी की उपस्थिति है। पृथिवी में भी प्राणी हैं। खनिज, द्रव्य, धातु, रत्न आदि भी अपने २ प्राण से अपने २ स्वरूप में विद्यमान हैं। उनका प्राण हत हो जाने से उनका शरीर भी मर जाता है। कोयले में प्राण शक्ति के होने से ही कोई पदार्थ उसमें आ रहा है और कोई पृथक् हो रहा है। प्राण शक्ति के द्वारा कोयले में देवता मिलकर जो यज्ञ कर रहे हैं उससे कालान्तर में कोयले का हीरा बन जाता है। विष्णु देवता सोम को द्रव्यस्थ अग्नि में डालता जाता है, इन्द्र मलिनता को दूर करता जाता है, अग्नि सोम को सम्पूर्ण शरीर में फैलाकर उस द्रव्य का शरीर बनाता जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों में प्राण के द्वारा रचना हो रही है। यह प्राण (जीवन शक्ति) समुद्र में भी है। समुद्र में अनेक प्राणी और अनेक प्रकार की वनस्पति मूंगा आदि तल में रहते हैं वहां बढ़ते हैं, उनको जीवन वहां से ही मिलता है। वायु में भी अनेक प्राणी हैं, सूक्ष्म और स्थूल हैं। ये वायु से ही प्राण शक्ति लेते हैं। ज्योतिर्मण्डल सूर्य में भी प्राणी विद्यमान हैं। हम से उनमें यही विशेषता है कि हमारे शरीर में देवता अन्दर विद्यमान हैं और स्थूल पदार्थ सोम से आवृत हो रहे हैं, परन्तु द्युस्थ प्राणियों के शरीर में बाहर देवता विद्यमान हैं और अन्दर सूक्ष्म सोम का बना हुआ शरीर है। इसी प्रकार द्यौ मण्डल से अन्यत्र भी परमेष्ठि-मण्डल और स्वयम्भु-मण्डल में प्राणशक्ति विद्यमान है वह स्थूल सोम और सूक्ष्म सोम के आश्रय है। सोम में संकुचित होने का गुण है। वह पदार्थों के अन्दर बैठता है। जिस समय परमेष्ठि-मण्डल का सोम द्यु-मण्डल में प्रविष्ट होता है तो सूर्य की किरणों से प्रताड़ित होने से उसका संघात हो जाता है।

३—दर्भ में पवित्र करने की शक्ति सूर्य की किरणों से आती है। वह इस प्रकार कि द्यु-मण्डल के चारों ओर समुद्र ही समुद्र है। उस समुद्र में परमेष्ठि-मण्डल के जल

रूप हैं। अन्यों में तो दुर्गन्धित आप् मिला हुआ सा रहता है, क्योंकि दुर्गन्धित वृत्र इनमें पड़चुका होता है। यज्ञ कर्म में लाये हुए जलों का वही दोष इन पवित्रों से दूर करता है। जलों को पवित्र करने के बाद मेध्य[४] जलों से ही प्रोक्षण करना होता है, इस कारण पवित्रों से जलों का उत्पवन करता है॥ ५॥

ब्रा०-स उत्पुनाति-सवितुर्वः प्रसवं उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति। सविता वै देवानां प्रसविता, तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनाति अच्छिद्रेण पवित्रेणेति। योवाऽयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्, एतेनैतदाह। सूर्यस्य रश्मिभिरिति, एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः,तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति॥ ६॥

प०-'सवितु र्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः' इस मन्त्र से वह उत्पवन करता है। इसका अर्थ है कि सविता की आज्ञा से अच्छिद्र पवित्र (वायु) द्वारा और सूर्य की रश्मियों द्वारा तुम्हारा उत्पवन करता हूँ। सविता (सूर्य) ही देवों को काम में लगाता है। इस कारण सविता की आज्ञा पाया हुआ ही इस उत्पवन को करता है। जो यह पवन है यह ही अच्छिद्र पवित्र है, इसी से ऐसा कहता है। सूर्य की जो रश्मियां हैं ये भी उत्पवन करने वाली हैं इसी कारण सूर्य की रश्मियों का नाम लेता है॥६॥

ब्रा०-ताः सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति। उपस्तौत्येवैना, एतन्महयत्येव-देवीरापोऽग्रेगुवोऽग्रेपुव इति। देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीराप इति। अग्रेगुव इति। ता यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवः। अग्रेपुव इति। ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवः। अग्र इम मद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवमिति। साधु यज्ञं साधु यजमान मित्येवैतदाह॥ ७॥

प०-उन प्रोक्षणी जलों को बाएं हाथ में पकड़ कर दाहिने हाथ से उदिङ्गन अर्थात् छिड़काव करता है, और मन्त्र बोलता जाता है 'देवीरापोऽग्रे गुवोऽग्रे पुवो अग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्'। इस प्रकार इन जलों की स्तुति और पूजा करता है। जल दिव्य[१] गुण वाले हैं, इस कारण कहता है 'देवीरापः'। वे जल चूंकि[२] अग्र अर्थात् समुद्र की ओर जाते हैं, इस कारण वे अग्रेगु हैं।

सूर्य की किरणों से हत हुए यद्यपि वायु में विचर कर वारुण्य दोष को उत्पन्न करते हैं तथापि स्वयम्भु मण्डल के आप् (जल) लघु होने से उन हत हुओं से पृथक् रहकर सूर्य की किरणों के आश्रय से पृथवी पर पड़े हुए जलों के ऊपर २ जलाशयों के किनारे २ तैरते रहते हैं। वे ही जल तैजस अंश से युक्त हुए जलाशयों के किनारे, दर्भरूप में प्रकट होते हैं।

४—जब वे जल मेध्य हो जाते हैं अर्थात् जल में पड़े हुए पवित्र जल की सम्पूर्ण सूक्ष्म मलिनता को चूसकर बाहर कर देते हैं तब सब जल एक जैसा हो जाने से मनुष्य के शरीर में गया हुआ भी प्राण, मन और वाक् में समता वा अनुकूलता को पैदा करता है तथा जिस वस्तु के साथ भी उसका सम्बन्ध होता है उसके प्राण, मन और वाक् में समता पैदा करके उसे पवित्र कर देता है, इसीलिये दर्भ के द्वारा मेध्य किये हुए जलों से प्रोक्षण किया जाता है॥

१—जल में सूर्य का तेज और प्राणो-उदानरूप से वायु देव निवास करते हैं, उनके निवास से जलों की मलिनताएं वा दोष दूर हो चुके हैं, इसलिये जल दिव्य हैं।

२—जलों का अग्रस्थान या प्रधान स्थान समुद्र है। इसीलिये समुद्र की ओर जाने से इन्हें 'अग्रेगुवः' कहा है।

और चूंकि सबसे पहले वे सोम राजा का भक्षण करते हैं अर्थात् उसके रस को अपने में धारण करते हैं, इस कारण वे अग्रेपू[3] हैं। हे जलो[4] ! तुम आज इस यज्ञ को आगे लेचलो और अतिशय पालन पोषण करने वाले तथा देव बनने की इच्छा रखने वाले यज्ञपति को भी आगे ले चलो। इस प्रकार यज्ञ और यजमान दोनों की साधुता की आकांक्षा को बतलाता है ॥ ७ ॥

३—सोमलता के भक्षण से सब से प्रथम जल ही पवित्र होते हैं। जिस समय सोमलता का स्वरस सोमलता को कूटकर निकाला जाता है उस समय सोमलता को कितना ही कूट २ कर निचोड़ते जावें परन्तु स्वरस नहीं निकलता है। सोमलता का स्वरस निकालने के लिये उसे जल डाल २ कर कूटते और निचोड़ते हैं। जल के साथ कूटने से सोमलता का सार जल में मिलता जाता है अर्थात् सोमलता के सार भाग को जल अपने अन्दर रख लेते हैं। वह सोमलता का सार भाग जल में मिल जाने से ऐसा कहा गया है कि जल सोमलता को खा लेते हैं। सोमलता को खाकर जल पहिले पवित्र होते हैं और फिर दूसरों को पवित्र करते हैं। इस प्रकार प्रथम पवित्र होने से ही जलों को 'अग्रेपू' कहा है ॥

४—ऐसे महत्व युक्त जलों का यज्ञ से प्रथम प्रयोग करके अर्थात् महान् व्यक्ति का हाथ यज्ञ के आरम्भ में लगवाकर उन जलों से अथवा कार्य के आरम्भ को अपने हाथ से सम्भालने वाले उस महान् व्यक्ति से कहते हैं कि आप इस यज्ञ (शुभकार्य) को आगे ले चलो, जिसने यह यज्ञ रचा है उस यज्ञपति यजमान की भी आपके कारण शुभ कीर्ति फैले, और जो वह देव होने की इच्छा और प्रयत्न कर रहा है सो उसका प्रयत्न आपकी कृपा से सफल होवे ॥

मन्त्र—युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिताः स्थ। अग्नयेत्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै, यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ यजु० अ० १ मं० १३ ॥

ब्रा०—युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य इति। एता उ हीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्धमानः, एताभिर्ह्येनमहन्, तस्मादाह युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये इति ॥ ८ ॥

प०—इन्द्र ने वृत्र के साथ लड़ाई करने में तुम्हें वरण[1] किया था, अर्थात् वृत्र के साथ स्पर्धा करते

१—जिस समय प्राचीन काल में कश्मीर के ऊपर पहाड़ों पर इन्द्र का राज्य था, उस समय नीचे काकेशस पर्वत के आसपास असुरों के राजा वृत्र का राज्य था। इन्द्र ने अपने राज्य में अनेक विज्ञान शालायें खोल रक्खी थीं। जिन विज्ञान शालाओं में ऋषि लोग परीक्षण कर २ के अनेक प्रकार के प्रयोग सिद्ध करते और आविष्कार करते थे। उनकी इस प्रकार वृद्धि को देखकर वृत्र ने उनको अन्न और जल प्राप्ति के सब साधन रोक दिये कि ऋषि लोग अन्न और जल के बिना कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जावें और सम्पूर्ण वैज्ञानिक उन्नति रुक जावे। जल को रोकने के लिये पहाड़ों में से आने वाली पञ्जाब की नदियों के मुखों पर बड़े २ बन्ध लगा दिये। बन्ध लगा देने से नदियों का पानी पर्वतों में भरने लगा। देवलोक घबराने लगे और उनकी बस्तियां उजड़ने लगीं। नीचे जो ऋषि आदि लोग रहते थे वे अन्न और जल के कष्ट से मरने लगे। इस प्रकार वृत्र के दुष्कृत्य से सम्पूर्ण प्रजा में हाहाकार मच गया, और प्रजा अत्यन्त विह्वल और दुःखित हो गई। तब कुत्स ऋषि किसी प्रकार अत्यन्त कष्ट से पर्वतों ऊपर से नौका से एक स्थान से दूसरे स्थान को पार करते हुए

हुए इन्द्र ने इन्हीं जलों को वरण किया था और इन्हीं से मैं इस जल को मदद रूप से वरण कर रहा हूं इसी कारण से कहता है कि इन्द्र ने तुम्हें वृत्र के साथ लड़ाई में वरण किया था ॥ ८ ॥

ब्रा०—यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य इति । एता उ ह्रीन्द्रमवृणत वृत्रेण स्पर्धमानम्, एताभिर्ह्येनमहम्, तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य इति ॥ ९ ॥

प०—वृत्र की लड़ाई में तुम इन्द्र को वरण कर चुके हो । वृत्र के साथ संघर्ष करते हुए इन्द्र को ये जल वरण[१] कर चुके थे, अब इन जलों से इस प्रकार मैं वरण किया गया हूँ, इसी कारण कहता है तुम इन्द्र को वृत्र की लड़ाई में वरण कर चुके हो ॥ ९ ॥

ब्रा०-प्रोक्षिता स्थेति—तदेताभ्यो निहुते । अथ हविः प्रोक्षति । एको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥ १० ॥

इन्द्र के पास पहुंचे और सब हाल कह सुनाया । कुत्स ऋषि भी एक विज्ञानशाला के अध्यक्ष थे । उनके सब हाल सुनकर इन्द्र ने असुरों के संहार की प्रतिज्ञा की । बड़ी भारी सेना तय्यार करके सब असुरों का संहार किया और वृत्र को भी मार डाला । इस देवासुर संग्राम का वर्णन विस्तार पूर्वक देखना हो तो पं० मधुसूदनजी झा का बनाया हुआ 'इन्द्रविजय महाकाव्य' पढ़ना चाहिये । इस देवासुर संग्राम में इन्द्र की सेना नौकाओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को बड़ी शीघ्रता से पहुँची । इस प्रकार वृत्र के साथ संग्राम करने में इन्द्र ने इन जलों से बहुत लाभ उठाया ।

१. इन्द्र ने बन्ध तोड़ कर जलों के प्रवाह को खोल दिया । स्वतन्त्र हुए जलों ने बहुत सी असुर सेना का संहार किया । इस प्रकार इन जलों ने भी वृत्र के साथ संघर्ष करते हुए इन्द्र को सहायता देकर वरण किया था ।

प०—तुम तो प्रोक्षित[१] ही हो इस प्रकार इन जलों से प्रोक्षण क्रिया को छिपा लेता है । अब हविः का प्रोक्षण करता है । प्रोक्षण का एक ही तात्पर्य मेध्य करना मात्र है, इस प्रकार प्रोक्षण करके द्रव्यों को मेध्य करता है ॥ १० ॥

ब्रा०—स प्रोक्षति-अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति । तद् यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोति । एवमत्र यथापूर्वं हवींषि प्रोक्ष्य ॥ ११ ॥

प०—'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इस मन्त्र से प्रोक्षण करता है । इसका अर्थ है कि अग्नि के लिये ग्रहण किये हुए तुझ को प्रोक्षित करता हूं । इस प्रकार जिस देवता के लिये हवि होता है उसका नाम लेकर उसी के लिये मेध्य करता है । इसी प्रकार पूर्व पूर्व के क्रम से हवियों को प्रोक्षण करके ॥ ११ ॥

ब्रा०—अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति—दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्याया इति । दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै । यद्वो ऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति । तद्यदेवैषा मत्राशुद्धस्तक्षा वा ऽन्यो वा ऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति, तस्मादाह यद्वो ऽशुद्धाः पराजघ्नु रिदं वस्तच्छुन्धामीति ॥१२॥

प०—अब यज्ञ पात्रों का प्रोक्षण करता है और मन्त्र बोलता है 'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै' । इसका अर्थ है कि देव सम्बन्धी देवयजन कर्म के लिये तुम शुद्ध हो जाओ । इस प्रकार चूंकि वह देव सम्बन्धी कर्म देवयजन के लिये शुद्ध करता है अतः कहता है

१. पदार्थों पर जल छिड़क कर उन्हें प्रोक्षित किया जाता है कि जिससे वे पवित्र हो जावें परन्तु ऐसे महत्व पूर्ण पवित्र हुए जलों का क्या प्रोक्षण किया जाय क्योंकि वे तो प्रोक्षण करने से जैसे होने चाहियें वैसे वे पहिले से ही हैं अतः जलों पर प्रोक्षण किया नहीं करता ।

'यद्वोऽशुद्धा परा जघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि' कि तक्षा (तरखान) वा अन्य किसी अयाज्ञिक अमेध्य अशुद्ध ने इन पात्रों में किसी प्रकार का आघात किया हो जिसके कारण ये अशुद्ध (Affected) होगये हों तो. वह इनकी अशुद्धि (Affection) को जलों से दूर करके इन्हें मेध्य करता है। इसी कारण कहता है कि अशुद्धों ने तुमको आघात पहुँचाये हैं अतः उसका तुमसे शोधन करता हूँ ॥ १२ ॥
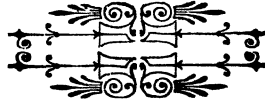
सम्पादकीय टिप्पणियां

१—चन्द्रमा का प्रकाश

(क) ऋग्वेद मं० १, सू० ८४ का १५ वां मन्त्र इस सम्बन्ध में निम्न लिखित है। यथाः—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे

इस मन्त्र पर निरुक्तकार ने लिखा है किः—

"अत्र ह गोः सममंसत आदित्यरश्मयः स्वं नाम, अपीच्यम् अपचितम् अपगतम् अपिहितम् अन्तर्हितं वा, अमुत्र चन्द्रमसो गृहे" ॥ निरुक्त ४।२५ ॥

अर्थात्, इस चन्द्रमा के मण्डल में सूर्य की रश्मियों ने अपनी कतिपय रश्मियों का नत होना, झुकना मान लिया।

(ख) इसी उपरोक्त मन्त्र की, ऋग्वेद के अपने अंग्रेजी अनुवाद में, व्याख्या करते हुए प्रोफ़ेसर H.H. Wilson M.A., F.R.S. टिप्पणी में लिखते हैं किः—

The purport of the stanza is, apparently, the obscure expression of an astronomical fact,-known to the outhors of the Vedas, that the moon shone only through reflecting the light of the sun.

अर्थात् "इस मन्त्र में अस्पष्टरूप से ज्योतिष की एक घटना का वर्णन किया गया प्रतीत होता है वह यह कि केवल सूर्य के प्रकाश के द्वारा चन्द्रमा प्रकाशित है। यह घटना वेदों के ऋषियों को ज्ञात थी।"

(ग) इस मन्त्र का भाष्य करते हुए सायणाचार्य भी इस सिद्धान्त को मानते हैं कि चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है। यथाः—

"उदकमये स्वच्छे चन्द्रबिम्बे सूर्य किरणाः प्रतिफलन्ति"

अर्थात् स्वच्छ चन्द्रमा के मण्डल में सूर्य की किरणें प्रतिफलित होती हैं।

(घ) निरुक्त में पृथिवी नामों की व्याख्या के प्रसंग में गौ शब्द की व्याख्या यास्काचार्य ने विशेषरूप से की है। इस प्रसंग में यास्काचार्य लिखते हैं किः—

"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तदेतेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति" ॥२।६॥

अर्थात् "सूर्य की रश्मियों का एक पुञ्ज चन्द्रमा को चमका रहा है—यह बात वेदज्ञों को ध्यान में रखनी चाहिये। इस चन्द्रमा की दीप्ति अर्थात् प्रकाश आदित्य के कारण है।"

(ङ) यास्काचार्य के इस लेख पर डा० लक्ष्मण स्वरूप M.A., D. Phil निरुक्त के अपने अंग्रेजी अनुवाद की टिप्पणी में लिखते हैं कि:—

This shows that yaska was aquainted with the nonself-luminous character of the moon.

अर्थात् "यह लेख दर्शाता है कि यास्काचार्य चंद्रमा के स्वतः प्रकाशित न होने की घटना से परिचित था"।

(च) इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय १८ का ४० वां मन्त्र भी इस सम्बन्ध में विशेष महत्व का है। यथा:—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ।

स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥

इस मन्त्र के प्रथमपाद से हमारा यहां अभिप्राय है। इस प्रथम पाद का अर्थ है कि:-सूर्य से निकली हुई रश्मि उत्तम सुख के देने वाली है, चन्द्रमा इसी रश्मि को धारण करता है अतः चन्द्रमा गन्धर्व है। "गो" का अर्थ है सूर्य से निकली हुई उसकी रश्मि तथा "धर्व" का अर्थ है धारण करने वाला। इसलिये गो×धर्व=गन्धर्व। अर्थात् गो नामी सूर्य किरणों का धारण करने वाला चन्द्रमा ।

इस प्रकार वेदों तथा वैदिक साहित्य के इन प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध है कि वेदों में तथा वैदिक साहित्य में यह सत्य सिद्धान्त अवश्य प्रतिपादित है कि चन्द्रमा स्वतः प्रकाशित नहीं, अपितु वह सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है।

२—वेदों का ध्येय और निरुक्तकार

वेदों को अर्थ सहित पढ़ने के क्या लाभ हैं—इस सम्बन्ध में निरुक्तकार ने ऋग्वेद का निम्नलिखित मंत्र प्रस्तुत किया है:—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

इस का अभिप्राय यह है कि:—

"कोई तो वेदवाणी के रहस्य का पान किये हुआ होता है। ऐसे व्यक्ति को ज्ञान की दृष्टि से कोई लांघ नहीं सकता। और जिसने कि वेदवाणी को सुना तो है परन्तु इसके पुष्पों और फलों का आस्वाद नहीं लिया वह मानो ऐसी गौ के साथ विचरता है जो कि दूध नहीं देती।" वेदवाणी के पुष्प और फल क्या हैं—इस सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क मुनि का निम्न लिखित लेख है:—

'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह ।
याज्ञदैवते पुष्पफले, दैवताध्यात्मे वा'।

अर्थात् वेदवाणी के अर्थ को मन्त्र, पुष्प और फल कहता है। यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान पुष्प है तो देवता सम्बन्धी ज्ञान फल है; अगर देवता सम्बन्धी ज्ञान पुष्प है तो आत्म सम्बन्धी ज्ञान फल है।

निरुक्तकार यास्क के इस संक्षिप्त तथा गूढ़ वाक्य की व्याख्या भगवद्दुर्गाचार्य ने अपनी टीका में निम्न प्रकार से की है। यथा—

"किं पुनर्वाचः पुष्पफलम्? अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। एतस्मिन्मन्त्रे मन्त्रदृगाह। कः पुनरसावर्थः? याज्ञं दैवतमध्यात्ममित्येष वाचः समासतोऽर्थः। स पुनरेष रूपककल्पनया पुष्पफलविभागेन द्विधा प्रविभज्यते,—"याज्ञदैवते" "पुष्पफले" "दैवताध्यात्मे वा" इति। यज्ञ परिज्ञानं याज्ञं, देवता परिज्ञानं दैवतम्, आत्मन्यधि यद् वर्तते तदध्यात्मम्। स

एष सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणराशिरेवं त्रेधा विभक्तः। तत्रैवं सति यदा अभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते तदा याज्ञं पुष्पं दैवतं फलम्। किं कारणम्? पूर्वं हि पुष्पं भवति फलार्थं, याज्ञमपि च पूर्वं तन्यते देवतार्थम्, इत्येतस्मात् सामान्याद् याज्ञं पुष्पं, दैवतं फलम्। यदा पुनर्निःश्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते, तदोभे अपि याज्ञदैवते पुष्पत्वमेव बिभृतः। दैवते हि याज्ञमन्तर्भूतमेव तदर्थत्वात्, अतो न पृथगुच्यते। यत् पुनरेतदधिदैवतं सर्वमपि प्रतिविशिष्टज्ञानेनोपासकेन मुमुक्षुणा निरूप्य चेतसा आत्मानमेव प्रत्यभिसम्पद्यते कार्यकारणाधिदेवताद्वारेण, सोऽयमेवाधिदैवतमधियज्ञं चोच्छिद्याध्यात्ममेवाभिसम्पादयति, यथा पुष्पभावमुच्छिद्य पुष्पं फलभावायेति। एवं सोऽयमात्मयाज्येवाभिसम्पद्यते। तत्रैवं सति—अध्यात्मार्थत्वादधिदैवतस्य, अध्यात्मस्य च पुरुषार्थस्य निष्पन्नत्वात्, दैवतं पुष्पम्, अध्यात्मं फलमित्येवमुक्तम्"।

इस सन्दर्भ का अभिप्राय निम्न लिखित है:—

"वेद वाणी के पुष्प और फल से क्या अभिप्राय है?

वेद वाणी का अर्थ ही उसके पुष्प और फल हैं।

तो उस अर्थ का स्वरूप क्या है?

याज्ञ, दैवत और अध्यात्म ये ही संक्षेप से वेद वाणी के अर्थों का स्वरूप है।

पुष्प और फल के दृष्टान्त के आधार पर इन अर्थों को दो रूपों में बांटा जा सकता है।

(१) याज्ञ पुष्प है तो दैवत फल है।

इन में से यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान को याज्ञ कहते हैं, देवताओं सम्बन्धी ज्ञान को दैवत, तथा परमात्म-सम्बन्धी ज्ञान को अध्यात्म।

सांसारिक अभ्युन्नति अर्थात् आधिभौतिक तथा आधिदैविक दृष्टि से यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान तो वेद वाणी का पुष्प है और देवता सम्बन्धी ज्ञान फल। (देवता सम्बन्धी ज्ञान में पंचभूत, इनके कारणों तथा कार्यों का ज्ञान अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान शामिल है)। पुष्प पहले होता है और इसका प्रयोजन होता है—फल की उत्पत्ति। यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान भी इस दृष्टि से पुष्प है। चूंकि याज्ञिक क्रियाओं द्वारा देवताओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। निःश्रेयस या मोक्ष की कामना वाले के लिये अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से याज्ञ तथा दैवत ज्ञान पुष्प है और अध्यात्म ज्ञान फल है। निःश्रेयस या मोक्ष की कामना वाला तत्त्व-ज्ञानी उपासक इस समग्र आधिदैविक जगत् में आत्मा की सत्ता का भान करने लगता है। वह समझने लगता है कि यज्ञ जो कि क्रियामय हैं वास्तव में कार्य होने से अपने कारणों का निर्देश किये बिना नहीं रह सकते। मुमुक्षु पहले इन कार्यों को देखकर इनके कारणों की ओर अपने चित्त को ले जाता है। अर्थात् वह समझने लगता है कि यज्ञ रूपी कार्य वास्तव में अपने कारणों की शक्तियों के द्वारा ही हो रहे हैं। अग्नि, वायु तथा सूर्य आदि देव अर्थात् ये आधिदैविक पदार्थ ही इस क्रियामय यज्ञ के कारण हैं। तदनन्तर वह इस कार्यकारणभाव की परम्परा द्वारा इन कारणों में स्थित परमात्म-देव की प्रेरक शक्ति का भान करने लगता है। इस प्रकार वह मुमुक्षु क्रियामय कार्य यज्ञों में, तथा इन क्रियामय यज्ञों के कारणों अर्थात् अग्नि, वायु, तथा सूर्य आदि में उसीकी शक्ति का भान करने लगता है। अतः मुमुक्षु जन के लिये वेद, क्रियामय यज्ञ तथा इसके कारण भूत अग्नि, वायु और सूर्य आदि का भी वर्णन करते हुए परमात्मा का ही वर्णन कर रहे होते हैं। अतः प्रतीत हुआ कि भिन्न २ अधिकारी की दृष्टि से वेदों के वर्णन भी भिन्न २ ही प्रतीत होने लगते हैं। परन्तु वेदों का अन्तिम ध्येय यही है कि वे स्वाध्याय प्रेमी को यज्ञ और देवता रूपी पुष्पों के सहारे अन्त में परमात्मा रूपी फल की प्राप्ति तक ले जायँ। अतः अध्यात्म-अधिकारी के लिये वेदों के याज्ञिक तथा आधिदैविक अर्थ बिलकुल नहीं से हो जाते हैं। वह इन आवरणों में भी स्पष्ट परमात्मा का वर्णन वेदों में देखता है। इसलिये वेदों का अन्तिम ध्येय आध्यात्मिक तत्व ही है, यह बात निश्चित है।

आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड अजमेर की ओर से

तीन अनमोल रत्न

(१)

वेद में स्त्रियां

इसके रचयिता हैं हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक

श्री पं० विद्यावाचस्पति गणेशदत्त शर्मा, गौड़ आगर (मालवा)

इस ग्रन्थ में बड़े ही उत्तम और रोचक रूप में गृहस्थ जीवन के हरएक पहलू पर वेद मन्त्रों द्वारा प्रकाश डालते हुए गृहस्थ के आदर्श कर्त्तव्यों को विशुद्ध रूप में स्मृतियों और इतिहासों के प्रमाणों सहित दर्शाया है। प्रत्येक स्त्री को इस पुस्तक का स्वयं पाठ करना चाहिये और अपनी कन्याओं को पढ़ाना चाहिये। आर्य-कन्या-विद्यालयों में यह पुस्तक उच्च कक्षाओं में धर्मशिक्षा की पाठ्य पुस्तक होने योग्य है।

मूल्य केवल ।।)

नित्य स्वाध्याय के लिये अपूर्व रत्न

(२)

वेदोपदेश

इस पुस्तक के रचयिता आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ हैं।

इस पुस्तक में मातृभूमि के प्रति अपूर्व श्रद्धा और स्वराज्य का सत्यार्थ बतलाने वाले वेद के ही प्रसिद्ध सूक्तों के व्याख्या सहित सरल अर्थ दिये गये हैं। यह पुस्तक समस्त संसार के लिये समान रूप से 'वैदिक राष्ट्र गीता' कहाने योग्य है। आर्य विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में धर्मशिक्षा की पाठ्य पुस्तक होने योग्य है। इस पुस्तक के पाठ से मातृभूमि, प्रजा प्रेम और स्वराज्य सुख के उत्तम भाव आप से आप हृदय में जागृत होते हैं।

मूल्य केवल ।।)

(३)

भारतीय समाज शास्त्र

भारत की प्राचीन उज्ज्वल सुवर्णीय आर्य-सभ्यता और आदर्श समाज व्यवस्था को दिखलाने वाला अभी तक एक भी ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुआ और अंग्रेजी में जो कुछएक पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं उनके लेखकों ने बीसियों ऐसी बातें लिखी हैं, जो प्राचीन ऋषियों और धर्म ग्रन्थों और आर्य-सभ्यता तथा आर्य संस्कृति पर कलंक लगाने वाली हैं, जिनके आधार भी कच्चे व बेतुके हैं।

इस ग्रन्थ को पढ़ने से आप को आर्य संस्कृति और वैदिक काल की आदर्श समाज व्यवस्था का गौरवपूर्ण दृश्य भली भाँति विदित हो जावेगा। इस ग्रन्थ के लेखक हैं गुरुकुल कांगड़ी के प्रसिद्ध विद्वान् वेदवाचस्पति श्री पं० धर्मदेवजी बंगलोर। प्रत्येक आर्यत्व के अभिमानी को अपना सिर गौरव से ऊँचा करने के लिये यह पुस्तक अपने हाथ में रखने योग्य है। आर्य उपदेशकों के लिये यह एक रत्न है। मूल्य १)

मिलने का पता—आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर।

चारों वेदों के सरल सुबोध भाषा भाष्य

१ सामवेद भाषा-भाष्य

सामवेद भाषा-भाष्य छपकर तैयार होते ही सारे का सारा बिक गया। दूसरा संस्करण तैयार है। पृष्ठ-संख्या ८५० से अधिक। मूल्य ४) रु०।

भाष्य की बड़े-बड़े विद्वानों तथा समाचारपत्रों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। प्रशंसापत्रों की छपी प्रतिलिपि मँगाने पर भेजी जा सकती है।

२ अथर्ववेद भाषा-भाष्य

(चार भागों में)

अथर्ववेद के विषय में लोगों का और सायण जैसे प्रखर विद्वान् आचार्यों का भी यही आग्रह रहा है कि उसमें जादू-टोना और मारण, उच्चाटन, मोहन आदि तान्त्रिक लीला भरी पड़ी है। इस विश्वास का कारण प्रायः अथर्ववेदी कौशिक सूत्र है, परन्तु हमारा विश्वास ऐसा नहीं है। इस सरल भाषा-भाष्य को देखकर सबको विदित हो जायगा कि तन्त्र-मन्त्र की लीला केवल लोगों की मनगढ़न्त है। अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या, राजविद्या और मानव-समाज की उन्नति के लिये सभी उत्तम-उत्तम विद्याओं का बड़ी गम्भीरता और उत्तमता से उपदेश किया गया है। मूल्य चारों भागों का १६) रुपये।

३ यजुर्वेद भाषा-भाष्य

(दो भागों में)

इस भाष्य में महर्षि दयानन्द की दर्शाई दिशा को मुख्यता दी गई है। आवश्यक स्थलों पर अन्य भाष्यों और अनुवादकों के मतभेद और त्रुटियाँ दिखाते हुए विशेषताओं को भी नहीं छिपाया गया। मन्त्रों के साथ शतपथ ब्राह्मण के पते आदि भी दिये गये हैं। भूमिका में वेद का परिचय लिखा गया है। मूल्य दोनों भागों का ८) रु०

४ ऋग्वेद भाषा-भाष्य

(पाँच भागों में)

इसमें महर्षि दयानन्द कृत संस्कृत-भाष्य शैली को अनुसरण करते हुए भाषा-भाष्य किया गया है और जिन भागों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर भी सरल भाष्य कर दिया गया है। स्थान-स्थान पर अन्य भाष्यकारों की विशेषता दर्शाई गई है। भूमिका में ऋग्वेद का परिचय देते हुए ऋग्वेद से सम्बद्ध कल्पित इतिहासों का भी विवेचन किया गया है। प्रथम भाग छप गया। आगे छप रहा है। मूल्य पाँचों भागों का २०)रु०

वेद-भाष्य के स्थिर ग्राहक होने के नियम

१—जो महाशय १) पेशगी कार्यालय में जमा कराकर अपना नाम स्थिर ग्राहकों में लिखवा लेंगे, वे चारों वेदों के भाष्य के स्थिर ग्राहक होंगे, उनको प्रथम जिल्द के साथ ही १) की रसीद दी जायगी। यह १) रु० अन्तिम भाग के मूल्य में मुजरा कर दिया जायगा।

२—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की प्रत्येक जिल्द ३) रु० में ही प्राप्त हो सकेगी।

३—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की कुल जिल्दें लेना आवश्यक होगा।

४—वेद-भाष्य में चारों वेदों का भाष्य अनुमानतः १२ जिल्दों में पूर्ण कर दिया जायगा और जो जो जिल्द प्रकाशित होती जायगी, वह वह क्रमशः स्थिर ग्राहकों को वी० पी० द्वारा भेजदी जाया करेगी। मार्ग-व्यय मूल्य से पृथक् लिया जायगा।

५—जिनकी वी० पी० लौट आयेगी उनका मार्ग-व्यय पेशगी से काटलिया जायगा और उनकी ओर से बिना दूसरी सूचना प्राप्त किये उनको पुनः वी० पी० न भेजी जायगी।

प्रबन्धकर्त्ता—"आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड," अजमेर.

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २॥),नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये।

२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो ⌐) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करा लेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या ⌐)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है।
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	२०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१२) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १	भाद्रपद, संवत् १९९० वि०, अगस्त, सन् १९३३ ई०	सं० ११

वेदोपदेश

(सत्यवरण और प्रणय)

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्त्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सहः ॥

अथर्व० ७ । १०५ । १ ॥

"असत्य से दूर हटता हुआ और सत्यवाणी का वरण करता हुआ तू सब सखाओं के साथ प्रणय का वर्त्ताव कर।"

व्यक्ति के लिये यह कितना सरल परन्तु भाव पूर्ण उपदेश है। इस मन्त्र में तीन उपदेश दिये गये हैं।

१—तू असत्य से दूर हट।

२—सत्यवाणी का वरण कर।

३—तथा सब सखाओं के साथ प्रणय का वर्त्ताव कर।

१—असत्य के लिये मन्त्र में "पौरुषेय वचः" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द बड़ा स्वाभाविक तथा मार्मिक है। वेद मनुष्य की कमज़ोरी को

अच्छे प्रकार समझता है। प्रकृति के चोले से घिरे हुए जीवात्मा की दुर्बलता को अच्छे प्रकार जानता है। इसलिये वेद असत्यवचन को "पौरुषेय वचन" कहता है। पौरुषेय वचन का अर्थ होता है "पुरुषों के वचन"। सर्वसाधारण पुरुष प्रकृति के आवरण से ऊपर नहीं उठ सकते। प्रकृति का घेर उनकी स्वाभाविक शक्तियों को, उनकी आत्मिक ज्योति को घेरे रहता है। इसलिये वे परवश से होकर जानते बूझते भी कि असत्य बुरा है—असत्य वचनों के बोलने में उद्यत हो जाते हैं। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है कि "सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः" अर्थात् सत्य व्यवहार से देव बन जाता है और असत्य व्यवहार से मनुष्य का मनुष्य ही रहता है।

वेद इन सर्वसाधारण मनुष्यों को मार्ग दिखलाता है कि तुम मनो में संकल्प करो, दृढ़ संकल्प करो कि "इस असत्य मार्ग से हमने दूर हट जाना है"। बस देखो, इस संकल्प को परिपक्व करलो तो तुम अपने आप को इस असत्य मार्ग से छूटा हुआ पाओगे। इसी दृढ़ संकल्प का सूचक "अपक्रामन्" पद है।

(२) व्यक्ति के लिये दूसरा उपदेश है कि "तू सत्य का वरण कर"। इसके लिये मन्त्र में "दैव्यं वचः वृणानः" इन पदों का प्रयोग किया गया है। "दैव्य वचन" का अर्थ होता है "देवों का वचन"। शतपथ ब्राह्मण के उपरोक्त प्रमाण द्वारा सिद्ध है कि देवों का वचन है--सत्य वचन। सत्य के बोलने से मनुष्य देव बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति यह चाहे कि पहले वह असत्य से हट ले, तत्पश्चात् वह सत्य का वरण करेगा—तो यह असम्भव है। खेत को पहले साफ़ करना और तत्पश्चात् उसमें नये बीज बोना यह दृष्टान्त प्राकृतिक घटनाओं के लिये ठीक है, मानसिक घटनाओं के लिये नहीं। मानसिक घटना में यह नियम है कि गन्दी भावना का नाश सदा उस की विरोधी अच्छी भावना के द्वारा हुआ करता है। तभी योगदर्शन में इस निमित्त में "प्रतिपक्ष-भावना" की विधि का उपदेश दिया गया है। असत्य से हट जाने का सीधा उपाय यही है कि व्यक्ति सत्य मार्ग का वरण करले। वैदिक तथा लौकिक साहित्य में "वरण" शब्द का बहुत महत्त्व है। वरण शब्द के साथ स्वेच्छा का अनिवार्य सम्बन्ध है। स्वेच्छा से यदि सत्य मार्ग को स्वीकार किया जायगा तो सत्य मार्ग पर चलने में व्यक्ति शीघ्र अग्रसर होगा। क्योंकि किसी मार्ग का ग्रहण जब स्वेच्छा से होता है तब ग्रहण करने वाले व्यक्ति की श्रद्धा और प्रेम उस मार्ग के प्रति स्वभावतः अधिक हो जाते हैं, और व्यक्ति उस मार्ग पर चलने में तत्पर हो जाता है। इसी दृष्टि से मन्त्र में "दैव्य वचन" अर्थात् सत्यवचनों के वरण करने का उपदेश दिया गया है।

(३) व्यक्ति के लिये तीसरा उपदेश यह है कि तू "सब सखाओं के साथ प्रणय अर्थात् प्रेम का वर्त्ताव कर"। संसार के सब व्यक्तियों के साथ सखि-भाव रखना तथा उन सब के साथ प्रेम का वर्त्ताव करना असम्भव नहीं। यही "सार्वभौम मैत्री" है। उच्च कोटि के महात्मा संसार के सब व्यक्तियों को अपने सखा समझा करते हैं और उनके साथ सदा प्रेम का व्यवहार किया करते हैं। इस सम्बन्ध में महात्मा गान्धी का जीवन एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस महात्मा का संसार के किसी भी व्यक्ति के साथ

द्वेष नहीं। वह सब को अपना सखा समझता है और सब के लिये इसके हृदय में प्रेम का सतत स्रोत बह रहा है। परन्तु वही व्यक्ति संसार के सब व्यक्तियों को सखा समझ सकता है तथा उनके साथ प्रेम का वर्त्ताव कर सकता है जो कि असत्य मार्ग को सर्वथा त्याग कर सत्य मार्ग पर वास्तव में चल पड़ा है। सत्यमूर्त्ति महात्मा गान्धी इस सम्बन्ध में भी चमका हुआ दृष्टान्त है।

ईश्वर

(सृष्टि-रचयिता)

[ले० ब्र० श्री बालकृष्ण त्रयोदश श्रेणी, गुरुकुल कांगड़ी]

आजकल के बुद्धिवाद के युग में किसी चीज को केवल इसलिये नहीं माना जाता कि वह वेद में, कुरान में या बाइबल में लिखी है, अपितु युक्ति से जिसकी सत्ता में प्रमाण मिलता है और युक्ति से जिसकी उपयोगिता समझ में आती है, उसको स्वीकार किया जाता है। युक्ति ही प्रत्येक वस्तु की जाँच की अन्तिम कसौटी है। इसलिये ईश्वर की सत्ता है या नहीं ? इसके लिये इतना कहना पर्य्याप्त नहीं है कि हमारे पूर्वज ईश्वर को मानते चले आये हैं या हमारे धर्म ग्रन्थों में लिखा है, इसलिये इसके मानने में क्या हर्ज ? परन्तु ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करने चाहियें, जिससे उसकी सत्ता में सन्देह न रहे।

मुख्यतया निम्न चार युक्तियां परमात्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिये उपस्थित की जाती हैं:—

१—सृष्टिरचना सम्बन्धी युक्ति (Cosmological argument)।

२—उद्देश्य सम्बन्धी युक्ति (Teleological argument)।

३—आचार सम्बन्धी युक्ति (Moral argument)।

४—अन्तिम सत्ता सम्बन्धी युक्ति। (Ontologieal argument)।

इस लेख में सृष्टि रचना सम्बन्धी युक्ति को ही पेश किया जायगा। सृष्टि रचना सम्बन्धी युक्ति का आधार कार्य-कारण का नियम है। इसका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु बनी है, उसका उससे पूर्ववर्त्ती कोई कारण अवश्य होना चाहिये, जिससे उस वस्तु के निर्माण की भली भांति व्याख्या होसके। इससे यह न समझना चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कारण होना आवश्यक है क्योंकि कुछ सत् पदार्थ ऐसे भी हो सकते हैं जो नित्य हों, जिनका निर्माण न हुआ हो। ऐसे नित्य और कूटस्थ पदार्थों के कारण की आवश्यकता नहीं होती।

इस संसार में इस कार्य-कारण के नियम का कहीं भी कोई अपवाद नहीं मिल सकता। इसकी सत्यता का अनुभव मनुष्य को अपनी प्रत्येक चेष्टा और क्रिया से होता है। परन्तु ह्यूम और काम्टे (Comte) जैसे कतिपय विचारक हुए हैं जो कार्य-कारण के नियम को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि हमें किन्हीं दो वस्तुओं में पूर्वापरक्रम का और उनमें परस्पर सादृश्य तथा असादृश्य का ही ज्ञान हो सकता है। इनके अतिरिक्त कोई कार्य-कारण सम्बन्ध हमारे अनुभव में नहीं आता।

काण्ट ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि हमें जितना ज्ञान उपलब्ध होता है वह सारा बाह्य जगत् से नहीं आता, अपितु उसका कुछ भाग तो बाहर से आता है और अवशिष्ट भाग हम अपनी बुद्धि से उसमें मिलाते हैं। हमारी बुद्धि की कुछ विशेष रचनायें हैं और हम सब पदार्थों को उन्हीं के अनुरूप देखते हैं। कार्य-कारण का नियम और अवयवावयवी का नियम बाह्य जगत् में नहीं पाये जाते। अपितु ये हमारी बुद्धि के नियम हैं। हम अपने अनुभवों को इन नियमों के रूप में देखते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हम अपने अनुभव पर इसकी छाप डालते हैं। बाह्य जगत् से Matter आता है और हम अपनी बुद्धि से उसे कार्य-कारण का रूप या अवयवावयवी का रूप (Form) दे देते हैं। इसलिये यह कहना कि चूंकि कार्य-कारण का नियम हमारे अनुभव में नहीं आता, इसलिये यह है ही नहीं, ठीक नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त बच्चों को और अशिक्षित जातियों को कार्य-कारण का नियम इस रूप में चाहे विदित न भी हो, परन्तु व्यवहार में वे भी इस नियम को लगाते हैं। इसलिये कार्य-कारण के नियम जैसे सार्वजनिक नियम को यदि स्वीकार न किया जाय तो संसार में कोई भी ऐसा नियम या सिद्धान्त नहीं जो स्वीकार किये जाने योग्य हो।

इसके अतिरिक्त यह ठीक है कि कारण का कार्य से सदा पूर्व रहना आवश्यक है, अन्यथा वह कारण, कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार कार्य का कारण के पश्चात् रहना भी आवश्यक है, अन्यथा कार्य, कार्य नहीं हो सकता। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि कार्य और कारण में पूर्वापर क्रम के अतिरिक्त कोई और अन्तरीय सम्बन्ध नहीं होता। आर्मस्ट्राङ्ग महाशय का कथन है कि "सोमवार हमेशा मंगलवार से पूर्व होता है परन्तु कोई यह नहीं कहता कि सोमवार मंगलवार का कारण है।" वस्तुतः कार्य केवल कारण के बाद ही नहीं अपितु कार्य कारण के द्वारा भी होता है और उस पर आश्रित भी होता है।

इस प्रकार कार्य-कारण के नियम की विवेचना के बाद हम प्रस्तुत विषय पर आते हैं कि इस नियम के द्वारा ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

कार्य-कारण के नियम के द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि इस समस्त ब्रह्मांड को कार्य सिद्ध किया जाय और ब्रह्माण्ड को कार्य सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि यह सिद्ध किया जाय कि किसी काल में, चाहे वह अत्यन्त प्राचीन या नवीन क्यों न हो, इस विश्व का निर्माण अवश्य हुआ था। यह प्रश्न अन्य सब प्रश्नों में सब से अधिक महत्व पूर्ण है।

इस ब्रह्माण्ड का निरीक्षण करने से हमें ज्ञात

होता है कि इस विश्व की जितनी वस्तुयें हमारे अनुभव में आती हैं, उनमें से कोई भी ऐसी नहीं जो कि नित्य हो या जिसका नाश न हो सकता हो। विज्ञान के सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्रों की पहुँच में भी कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसे अनश्वर कहा जासके। बड़ी २ चट्टानें और पर्वत जो हमें साधारणतया नित्य और अविनाशी प्रतीत होते हैं किसी समय अवश्य बने थे। यहां तक कि सूर्य और चन्द्र भी इस बात का दावा नहीं कर सकते कि हम हमेशा से इस प्रकार संसार को ज्योतिः प्रदान करते चले आये हैं और करते चले जायँगे। वैज्ञानिकों ने संसार के सब भौतिक पदार्थों को ८५ तत्त्वों में विभक्त किया है। क्या ये तत्त्व अविनाशी हैं ? नहीं। ये भी परमाणुओं से मिलकर बने हैं। परमाणु ही भौतिक जगत् की अन्तिम सत्तायें हैं। बौद्धों या जैनियों के इस सिद्धान्त को कि यह संसार अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है, कोई भी वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता। यह तो आज विज्ञान द्वारा सिद्ध कर दिया गया है कि इस सृष्टि की रचना हुई थी और इस का नाश भी होगा।

प्रकृतिवादी कहते हैं कि इन विविध शक्तिसंपन्न परमाणुओं के संयोग से विश्व की रचना हो सकती है, इसलिये एक सर्वशक्तिमान्, जगत्-नियन्ता और जगत्स्रष्टा परमेश्वर को मानने की क्या आवश्यकता ?

अगर अणुओं के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता को स्वीकार न किया जाय तो यह प्रश्न स्वाभाविकतया उत्पन्न होगा कि इन असंख्यात और सर्वथा असम्बद्ध परमाणुओं से व्यवस्थासम्पन्न ब्रह्माण्ड का निर्माण कैसे हुआ ? क्या अणुओं ने एकत्रित हो इस प्रकार के विश्व को निर्माण करने के लिये परस्पर सलाह की थी ? जड़ अर्थात् चेतना रहित अणु इस प्रकार परस्पर विचार कर सकते हैं यह कल्पना बिलकुल बेहूदा है। तो क्या अणुओं की गतियों से अकस्मात् इस संसार की उत्पत्ति होगई ? अगर संसार की उत्पत्ति अकस्मात् हुई है तो इसमें व्यवस्था की बजाय अव्यवस्था अधिक होनी चाहिये। अणु अपनी गतियों से सरल से सरल पदार्थ को भी उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हैं, तब सौर-संस्थान जैसी जटिल रचनाओं के बारे में तो कहना ही क्या ? असंख्यात और अपरिमित अणु चाहे कितनी भी महान् शक्तियों से सम्पन्न क्यों न हों, वे विश्वस्रष्टा और विश्वनियन्ता परमेश्वर की सहायता के विना विश्व-रचना में समर्थ नहीं हो सकते।

यूरोपीय दर्शन के इतिहास में सृष्टिरचना की युक्ति के द्वारा परमेश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रथम प्रयास प्लेटो और अरिस्टाटल ने किया था। अरिस्टाटल ने कहा था कि जड़ प्रकृति में गति स्वयमेव पैदा नहीं हो सकती, इसलिये इस संसार को प्रथम गतिदाता (First mover) की आवश्यकता है। उसके विना इसका चल सकना असम्भव है। एक्विनास ने भी परमात्मा की सिद्धि की इस युक्ति को प्रमुख स्थान दिया था। प्रो० एडिङ्गटन और जेम्स-जीन लिखते हैं कि "भौतिक जगत् के विशेषाध्ययन से हम परमेश्वर को मानने के लिये बाधित होते हैं।" A. N. Whitehead लिखते हैं कि "प्रकृति से परे परमेश्वर की सत्ता को माने विना विश्व की व्यवस्था की पूर्ण व्याख्या कर सकना असम्भव है।"

इस प्रकार सृष्टि रचना की युक्ति परमात्मा की सत्ता को सिद्ध करने के सम्बन्ध में एक युक्ति है।

चेतन और अचेतन

[ब्र० श्री योगेन्द्रजी, त्रयोदश श्रेणी, गुरुकुल कांगड़ी]

यह जागृति, वह है शयन
वह जीवन, वह है मरण ।
यह उन्नति, वह है पतन
यह देखो ! अनमोल रतन ॥

यह सेवा करता पर जन की
वह चाह बढ़ाता पर धन की ।
आशा आशा यह जीवन
वह आतुर रखता तन मन ॥

इसका सुन्दर प्रतिपल
उसके अन्दर छल बल ।
यह मधु का मान सरोवर
वह अहि का गरल भयंकर ॥

चल, न्हाले, इसमें मल मल
तन निर्मल कर, मन शीतल ।
मत भूल, देखकर झलमल
वह मृग तृष्णा का है जल ॥

न जाओ अपनापन यह भूल
उड़ेगा वह तो बनकर धूल ।
बसेगा जाकर रवि के अंक
रहेगा विधु में तब न कलंक ॥

यह प्रकाश वह अन्धकार है
दोनों का अद्भुत विकार है ।
"यही चेतन जगदाधार है"
वह अचेतन हाहाकार है ॥

वेद और मांसभक्षण

[ले०—श्री सम्पादक]

वैदिक-विज्ञान के गत दो अंकों में हमने यजुर्वेद के कतिपय सुभाषित दिये थे जिसमें पशुहिंसा के निषेध तथा पशुरक्षा के विधान का भाव पाया जाता है। इन सुभाषितों में कतिपय सुभाषित ऐसे भी थे जिनमें मांसाहारी को उग्रदण्ड देने का विधान किया गया है। वेदों में मांसाहार की विधि है या निषेध, इस सम्बन्ध में विद्वानों में प्रायः विवाद चला आया है, और वर्त्तमान समय में भी है। अतः इन सुभाषितों के क्रम में हमने "वेद और मांसभक्षण"—इस विषय के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना आवश्यक समझा है। वर्त्तमान लेख में इसी सम्बन्ध की आलोचना है। यथाः—

मांस के सम्बन्ध में विचारणीय निर्देश

मास भक्षण के सम्बन्ध में, निम्नलिखित निर्देशों पर विचार किया जायगा। यथाः—

(१) वेदों में मांस को, राक्षस-भोजन कहा है।

(२) वेदों में मांसभक्षण का निषेध है।

(३) वेदों में क्षुधा की निवृत्ति के लिये जौ आदि अन्नों का ही विधान है, मांस का नहीं।

(४) भोज्य पदार्थों की प्रार्थनाओं अथवा सूचि में मांस का परिगणन नहीं किया।

(५) वैदिक प्रार्थनाओं में, यद्यपि गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये प्रार्थनायें हैं, तथापि उनकी प्राप्ति (भोजन के सम्बन्ध में) उनके दूध आदि के लिये है, न कि उनके मांस के लिये।

(६) वैदिक रहस्यवाद में मांस शब्द का अर्थ।

(७) वैदिक रहस्यवाद में अश्व आदि शब्दों के अर्थ।

अब इन निर्देशों पर, क्रमपूर्वक, संक्षेप से, विचार किया जाता है। यथाः—

१—मांस-भक्षक राक्षस हैं

"वेदों में, मांस को राक्षस भोजन कहा है"—इस कथन को प्रमाणित करने के लिये, वेदों में पठित राक्षसों के कतिपय नामों पर विचार किया जाता है।

(क) क्रव्याद—यह नाम राक्षसों का है। क्रव्याद = क्रव्य + अद। क्रव्य शब्द क्रुवि धातु से बनता है। जिसका अर्थ है "हिंसा"। यथा—क्रुवि हिंसायाम्। अतः क्रव्य शब्द का अर्थ है "हिंसा से प्राप्त मांस"। 'अद' का अर्थ है "खाने वाले या खाने वाला। अतः क्रव्याद का अर्थ है "हिंसा से प्राप्त मास के खाने वाले"। वेदों में क्रव्याद यह नाम राक्षसों का है। अतः वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सभी मांस भक्षक राक्षक हैं—यह सिद्ध हुआ।

(ख) पिशाच—यह नाम राक्षसों का है। पिशाच शब्द = पिशित का अर्थ है "मांस" और अश का अर्थ है "खाने वाले"। अतः पिशाच का अर्थ है 'मांस' के खाने वाले"। अतः पिशाच शब्द भी यही सिद्ध कर रहा है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार, मांस भक्षक राक्षस हैं।

(ग) असुतृप—यह नाम राक्षसों का है। असु-

तृप = असु + तृप। असु का अर्थ है 'प्राण या जीवन' और तृप का अर्थ है "तृप्त होने वाले"। अतः असुतृप का अर्थ है "दूसरों के प्राणों पर तृप्त होने वाले"। अर्थात् जो दूसरों का जीवन हरण कर, उनके मांस द्वारा अपनी तृप्ति करते हैं वे 'असुतृप' हैं। अतः असुतृप शब्द से भी यही सिद्ध होता है कि वे मनुष्य जो कि दूसरों के मांस से अपनी तृप्ति करते हैं, वास्तव में, राक्षस कोटि के ही हैं। असुर शब्द का भी यही अर्थ है। 'असु' का अर्थ है "प्राण" और 'र' का अर्थ है 'रमण करने वाले'। अर्थात् जो दूसरों के प्राणों पर रमण करें वे 'असुर' हैं।

(घ) गर्भाद—यह नाम भी राक्षसों का है। गर्भाद का अर्थ है 'गर्भ के खाने वाले'। गर्भ के दो अर्थ हैं। (१) वह जीवन-तत्त्व जिससे कि बच्चे का शरीर बनता है। (२) नवजातशिशु अथवा छोटे २ पशु-पक्षी। पहले अर्थ में अण्डों के खाने वाले गर्भाद हैं। क्योंकि अण्डे में, बच्चे के शरीर को बनाने वाला जीवन-तत्त्व रहता है, जिसे कि लोग खा जाते हैं। दूसरे अर्थ में नवजात या छोटे २ पशु-पक्षियों के खाने वाले 'गर्भाद' हैं। इस श्रेणी में वे लोग शामिल होते हैं, जोकि चूजों को खाते हैं, या उनका सत निकाल कर खाते हैं। इस प्रकार के सभी लोग, वैदिक दृष्टि में, पूर्ण राक्षस हैं।

(ङ) अण्डाद—यह नाम भी राक्षसों का है। अण्ड का अर्थ है 'अण्डे' और अद का अर्थ है 'खाने वाले'। अतः अण्डाद का अर्थ है "अण्डों के खाने वाले"। वर्तमान समय में, अण्डों के खाने का बहुत रिवाज है। वेदों की दृष्टि में, अंडों के खाने वाले राक्षस नाम से पुकारे जाने के योग्य हैं।

(च) मांसाद—यह नाम भी राक्षसों का है। 'मांसाद' का अर्थ है "मांस खाने वाले।" यह शब्द अत्यन्त स्पष्ट है जो कि मांस के खाने का निषेध कर रहा है।

राक्षसों को दंड

वेदों में, इन राक्षसों को कठोर दण्ड देने का विधान है। यथा—इनके सिर काट देने; इन्हें जला देना; गृह, धन तथा परिवार से इन्हें वियुक्त कर देना; इन्हें भूखा मारना; इत्यादि।

अतः जो वेद, मांस भक्षकों के लिये इतने कठोर दंडों का विधान करता है, और जो इन्हें घृणित राक्षस नाम से पुकारता है—वह अतिथि यज्ञ, श्राद्ध, पशु-यज्ञ और साधारण भोजन में मांस के प्रयोग की आज्ञा देगा, यह बात समझ में नहीं आ सकती।

२—मांस भक्षण का निषेध

"वेदों में मांस भक्षण का निषेध है"—इस कथन की प्रामाणिकता के लिये, यहाँ कतिपय मन्त्र उपस्थित किये जाते हैं। यथाः—

(क) व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ, मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥
अथर्व० ६। १४०। २॥

अर्थः—हे दाँतो! तुम धान खाओ, जौ खाओ, माष खाओ, तथा तिल खाओ। यह अन्न ही तुम्हारा नियत हिस्सा है। इसके भक्षण से तुम्हें रमणीय फल मिलेगा। तुम पिता और माता की हिंसा न करो, अर्थात् पितृ-शक्ति और मातृ-शक्ति से संपन्न पशुओं की हिंसा न करो।

इस मन्त्र में दाँतों को सम्बोधित करके कहा है कि हे दाँतो! (१) प्रभु ने, तुम्हारे खाने के लिये

धान आदि अन्न ही नियत किया है, मांस नहीं। (२) इस धान आदि अन्न के खाने से ही तुम्हें उत्तम फल मिल सकता है। क्योंकि अन्नभक्षियों के दाँत शीघ्र नहीं बिगड़ते और मांसभक्षियों के शीघ्र बिगड़ जाते हैं। (३) तुम पिता और माता की हिंसा न करो। अर्थात् तुम पितृशक्ति या मातृशक्ति से सम्पन्न किसी भी प्राणी का विलोप न करो। मांसभक्षी, पशु-पक्षियों की हत्या द्वारा, संसार में, पितृशक्ति और मातृशक्ति का विलोप करते हैं। इस मन्त्र में दाँतों के प्रति कहा है कि तुम मांसभक्षण द्वारा पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो।

अतः यह मन्त्र मांस-भक्षण का स्पष्ट निषेधक है।

(ख) उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वा घोरं तन्वः परैतु, मा हिंसिष्टं मातरं च॥
अथर्व० ६। १४०। ३॥

अर्थः—हे सुखदायक तथा सुमङ्गल दाँतो! तुम्हारा छेदन-भेदन रूपी घोर कर्म, शरीरों अर्थात् प्राणियों से अन्यत्र (धान जौ आदि में) हो, तुम पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो।

इस मन्त्र में दाँतों के प्रति स्पष्ट आज्ञा है कि तुम्हारा छेदन-भेदन तथा चबाना-पीसना आदि घोर कर्म, प्राणिदेहों अर्थात् मांस में न हो; अपितु उससे अन्यत्र अर्थात् धान, जौ आदि में हो। तथा यह भी आज्ञा दी है कि तुम पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो। मांसभक्षण द्वारा इन शक्तियों की हिंसा होती है। अतः इस वर्णन द्वारा, मांस के भक्षण का निषेध किया गया है।

(ग) य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥
अथर्व० ८। ६। २३॥

अर्थः—जो आम[1] मांस (कच्चे, घर में पके, तथा गौ के मांस) को खाते हैं, जो पौरुषेय[2] क्रवि (पितृशक्ति और मातृशक्ति की हत्या से प्राप्त मांस) को खाते हैं, जो गर्भों,[3] (अण्डों तथा नवजात या छोटे २ पशु-पक्षियों) को खाते हैं—इस प्रकार केशवों[4] (जिनका देह कब्रस्तान बना हुआ है) का, हम यहां से नाश करते हैं।

इस मन्त्र में कच्चे, घर में पके, तथा गौ के मांस के

(१) आम मांस के तीन अर्थ हैं—(क) कच्चा मांस, इसके लिये देखो वाचस्पत्य कोष। यथा—आम्यते ईषत् पच्यते, आ + अम; ईषत्पक्वे, पाक रहिते॥ (ख) घर में पका मांस। अमा = घर; निघं० अ० ३, खं० ४॥ अतः आम = घर सम्बन्धी, अर्थात् घर में पका हुआ। (ग) गौ का मांस। इस अर्थ के लिये आम शब्द पर आप्टे कोष देखो।

(२) पुरुष शब्द से, यहां, पुरुष और स्त्री दोनों का ग्रहण है। यहां "पिता मात्रा" सूत्र के आधार पर एक शेष मानना चाहिये। अतः पौरुषेय का अर्थ हुआ "पुरुष और स्त्री की हिंसा से प्राप्त"। इसलिये पौरुषेय क्रवि = पुरुष और स्त्री की हिंसा से प्राप्त मांस। मांस के प्राप्त करने में या तो पितृशक्ति की हिंसा होगी या मातृशक्ति की। क्योंकि संसार में प्राणी या तो पितृशक्ति सम्पन्न हैं या मातृशक्ति सम्पन्न।

(३) गर्भ = उत्पादन का जीवन-तत्त्व, तथा नवजात या छोटे २ पशु-पक्षी।

(४) क = देह, और शव = मुर्दा। "के" सप्तमी विभक्ति का एक वचन है। अतः केशवाः = वे मनुष्य जिन के देह अर्थात् पेट में मुर्दे निवास करते हैं। "क" का अर्थ देह है, इसके लिये देखो वाचस्पत्य तथा आप्टे कोष।

खाने वालों; पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा करने वालों; अण्डों तथा नवजात या छोटे २ पशु-पक्षियों के खाने वालों के नाश करने की आज्ञा दी है।

(घ) क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति ॥

यजु० ३० । १८ ॥

अर्थः—गौ काटी जा रही हो और उस समय जो गो-मांस की भिक्षा के लिये वहां आ उपस्थित हो, उसे क्षुधा का दण्ड देना चाहिये। अर्थात् उसे भूखा रहने की सजा देनी चाहिये।

यह मन्त्र यजुर्वेद के ३० वें अध्याय का है। इस अध्याय में एक पूर्ण राष्ट्र का तथा यत्किंचित् दण्ड-नीति का भी वर्णन है। इसी दण्डनीति के सिलसिले में "क्षुधादण्ड" का भी विधान है। इसी ३० वें अध्याय के निम्न लिखित प्रमाण के आधार पर यह प्रतीत होता है कि गोघाती को प्राणदण्ड देना चाहिये यह राजकीय धर्म है। यथाः—

अन्तकाय गोघातम् ॥ यजु० ३० । १८ ॥

इसलिये गोघाती को तो "प्राणदण्ड"; और जो स्वयं गोघाती तो नहीं, परन्तु गौ को कटती हुई देख कर मांस की भिक्षा के लिये आ उपस्थित होता है, उसे "क्षुधादण्ड" देना चाहिये, यह यहां अभिप्राय है। परन्तु उस मनुष्य को—जो कि गौ का घात तो नहीं करता, और न गौ का मांस ही खाता है, परन्तु चर्मकार होने के कारण गौ का चमड़ा उतारना चाहता है—कोई दण्ड न मिलना चाहिये।

३ क्षुधा निवृत्ति के साधन धानादि अन्न हैं, मांस नहीं

"वेदों में, क्षुधा की निवृत्ति के लिये धान आदि, अन्नों तथा दुग्ध आदि पदार्थों का ही विधान है, मांस का नहीं"—इसके स्पष्टीकरण के लिये, निम्न लिखित मन्त्रों पर विचार किया जाता है। यथा—

(क) गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम[1] ॥

अथर्व० ७ । ५० । ७ ॥

अर्थः—हे पुरुहूत प्रभो! हम सब, दुर्व्यवहार की उत्पादक अमति (कुबुद्धि और बुद्धि की न्यूनता) को, गौओं के दूध आदि के सेवन से दूर करें। हम सब जौ आदि अन्नों के द्वारा क्षुधा को दूर करें। इस प्रकार हम सब रोग रहित हों। तथा हम सब, सेनाओं के द्वारा, राजाओं के खज़ानों को जीतें या लूटें।

इस मन्त्र में चार निर्देश हैं। (१) पहला निर्देश यह कि "गौ के दूध आदि पदार्थ अमति अर्थात् कुमति के नाशक तथा सद्बुद्धि के वर्धक हैं"।

(२) दूसरा निर्देश यह कि "विश्वे" अर्थात् हम सब, अपनी क्षुधा की निवृत्ति जौ आदि अन्नों द्वारा करें"। इस निर्देश में 'विश्वे' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। विश्वे का अर्थ है "सब"। अतः इस निर्देश द्वारा सभी मनुष्यों के प्रति यह वैदिक आज्ञा है कि वे, अपनी क्षुधा की निवृत्ति, जौ आदि अन्नों द्वारा ही करें, मांस द्वारा नहीं।

(३) तीसरा निर्देश यह कि "इस प्रकार गौ के दूध आदि सात्विक पदार्थों तथा जौ आदि अन्नों के सेवन से हम सब रोग रहित हों"। सम्भव है कि शाकभोजी तथा दुग्धाहारियों में रोगों की सम्भावना कम हो।

(४) चौथा निर्देश यह है कि "हम सब, सेनाओं

(१) वृजन = बल; निघं० अ० २, खं० ९ ॥ तथा "मध्योदात्तं तु वृजनं वर्त्तते बलयुद्धयोः" (माधवः)।

के द्वारा, राजाओं के ख़ज़ानों को लूटें"। वैदिक सिद्धान्त यह है कि राजा लोग, प्रजा से प्राप्त धन को अपना न समझें। अपितु प्रजा का ही समझें। अतः उस धन को प्रजा की ही भलाई में लगाएं, न कि अपने भोगविलास में। परन्तु जो राजा इससे उलटा चलता अर्थात् प्रजा से प्राप्त धन को प्रजा की भलाई में नहीं लगाता अपितु उसे अपने भोगविलास की सामग्री समझने लगता है, उसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये। ऐसी अवस्था में वैदिक प्रजा को पूर्ण अधिकार है कि वह अपनी सेनाओं द्वारा राजा पर आक्रमण करे, और उसके ख़ज़ाने को लूट ले।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस अमति और क्षुधा की निवृत्ति के प्रकरण में, इस राष्ट्रीय सिद्धान्त का वर्णन क्यों किया ?। इसका उत्तर यह है कि आर्थिक और राष्ट्रिय समस्याएं सर्वथा ही भिन्न नहीं हैं। आर्थिक समस्याएं कई वार और प्रायः ही, राष्ट्रीय विप्लवों को उत्पन्न कर देती हैं। "जिस राष्ट्र में, दुग्ध, घृत आदि पौष्टिक और बुद्धिवर्धक पदार्थ, तथा क्षुधा के निवारक अन्न दुर्लभ हो जायें, वहां राष्ट्र विप्लव कर राजकीय ख़ज़ानों को लूट लेना चाहिये" इस सिद्धान्त को दर्शाने के लिये ही, ऊपर के मन्त्र में आर्थिक और राष्ट्रीय निर्देशों का वर्णन साथ २ आया है।

(ख) गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥
अथर्व० २० । १७ । १० ॥

अर्थः—हे पुरुहूत प्रभो ! हम दुर्व्यवहार की उत्पादक अमति (कुमति तथा बुद्धि की न्यूनता) को गौओं के दूध आदि के सेवन से दूर करें। हम जौ आदि अन्नों के द्वारा सब प्रकार की क्षुधा को दूर करें। तथा हम अपने बल द्वारा राजाओं के ख़ज़ानों को जीतें या लूटें।

इस मन्त्र का भाव भी, लगभग, पूर्व मन्त्र के भाव के सदृश ही है। मुख्य विशेषता केवल यही है कि इस मन्त्र में, सब प्रकार की क्षुधा की निवृत्ति के लिये जौ आदि अन्नों का विधान है। वह क्षुधा चाहे पेट की हो, या रसना इन्द्रिय की हो अर्थात् आस्वाद और लालच।

(ग) प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोपानो व्रीहिरुच्यते ॥
अथर्व० ११ । ४ । १३ ॥

अर्थः—वास्तव में, धान और जौ, प्राण और अपान रूप (जीवनरूप अर्थात् जीवन के प्रधान साधन) हैं; बैल भी प्राणरूप हैं (चूंकि बैल के कारण ही कृषि तथा गौओं की वृद्धि होती है और कृषि तथा गौएँ प्राण को अन्न देती हैं); जौ में प्राण तथा धान में अपान स्थित है।

इस मन्त्र में कृष्यन्न तथा गव्यान्न के ही सेवन की ओर निर्देश किया है।

लाजीञ्छाचीन् यव्ये गव्ये एतदन्नमत्त देवाः।
एतदन्नमद्धि प्रजापते ॥ यजु० २३। ८॥

अर्थः—हे देवो ! तुम लाजाओं, सत्तुओं, जौ के बने पदार्थों तथा गौ से उत्पन्न दूध आदि पदार्थों को खाओ। हे प्रजापते ! अर्थात् सन्तान के रक्षक गृहस्थी सज्जन ! तू भी इन्हीं अन्नों का सेवन कर।

इस मन्त्र में देवों (अर्थात् जो अपने को सात्विक बनाना चाहें, या अपने में दिव्य गुण लाना चाहें) और गृहस्थियों को स्पष्ट आज्ञा है कि वे कृषि से पैदा

हुए अन्न तथा गौ से पैदा हुए दूध आदि का ही सेवन करें।

४—प्रार्थनाओं में मांस की कहीं प्रार्थना नहीं

"भोज्य पदार्थों की वैदिक प्रार्थनाओं अथवा सूचि में, मास का परिगणन नहीं किया" इस कथन की प्रामाणिकता के लिये हमें वेदों के वे स्थल पढ़ने चाहियें जहाँ कि भोज्य पदार्थों की प्रार्थनाएं की गई हैं या अकस्मात् जहां कहीं भोज्य पदर्थों के परिगणन का प्रसंग आगया है। उन स्थलों के पठन से यह परिणाम अवश्य निकलेगा कि इन प्रार्थनाओं, या प्रसंगोपात्त सूचियों में मांस का परिगणन नहीं है। यदि वैदिक ऋषि मांस लौलुप होते तो, इन प्रार्थनाओं या सूचियों में, मांस का परिगणन भी अवश्य होता। इस निश्चय के लिये पाठक यजुर्वेद के १८वें अध्याय तथा वेदों के अन्य ऐसे स्थलों को देखें। इस लेख में भी, प्रसंगवश जो मन्त्र उपस्थित किये हैं, उनमें भी कहीं २ भोज्य पदार्थ गिनाये गये हैं, परन्तु मांस का परिगणन इनमें भी नहीं।

५—पशुओं की प्रार्थना मांस के लिये नहीं

"वैदिक प्रार्थनाओं में यद्यपि गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएं हैं, तथापि उनकी प्राप्ति (भोजन के सम्बन्ध में) उनके दूध आदि के लिये है, न कि उनके मांस के लिये" —इस कथन की प्रामाणिकता में निम्नलिखित मन्त्र पर अवश्य विचार करना चाहिये यथाः—

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥
अथर्व० १९। ३१। ५॥

अर्थः—मैं ने दोपाये चौपाये पशुओं तथा धान्य को खूब एकत्र किया है। आज्ञाकारी महान् प्रभु ने, पशुओं का तो दूध और औषधियों का सार भूत उत्तम अन्न मेरे (भोजन के लिये) नियत किया है।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि "आज्ञाकारी महान् प्रभु ने पशुओं का दूध ही, मेरे लिये नियत किया है (मांस नहीं)"। अतः वैदिक प्रार्थनाओं में, जहां कहीं भी, गौ आदि दूध देने वाले पशुओं का वर्णन है, वहां वह वर्णन, उनके दूध के लिये ही जानना चाहिये मांस के लिये नहीं। इस प्रकार भेड़ का वर्णन उसकी ऊन के लिये भी उत्पन्न हो सकता है।

पुल्लिंग पशुओं की प्रार्थना पशु सन्तति के बढ़ाने के लिये भी हो सकती है। इसी प्रकार सर्वत्र, यथा-शक्य, उपपादन करना चाहिये।

६—मांस शब्द का रहस्यार्थ

"वैदिक रहस्यवाद में, मांस शब्द, पशु मांस से भिन्न अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त है"—इस कथन की पुष्टि के लिये, निम्नलिखित निर्देशों पर अवश्य विचार करना चाहिये। यथाः—

(क) अनेक वैदिक तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि, यज्ञ में या यज्ञ से अन्यत्र व्यवहार कार्य में भी, निरपराधी पशु की हत्या नहीं करनी चाहिये। वेद में तो यह भी लिखा है कि पशु, परमात्मा के प्रिय प्राणरूप हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेद में मांस के खाने वाले को राक्षस नाम से, पुकारा है। अतः वह वेद जो कि पशुओं पर परम कृपालु है, और जो मांस-भक्षक को राक्षस कहता है, पशुओं के मांस के भक्षण की आज्ञा देगा। यह मानना तर्क सिद्ध प्रतीत नहीं होता। तो

भी वेदों में कतिपय ऐसे स्थल अवश्य मिलते हैं, जहाँ मांस के भक्षण या उसके यज्ञ में डालने का आभास अवश्य प्रतीत होता है। यथाः—

अपूपवान्मांसवांश्चरुरेह सीदतु। लोककृतः पथिकृतो यजामहे। ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ अथर्व० १८।४।२०॥

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥
अथर्व० १८।४।४२॥

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपाहरति।
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनावरुन्द्धे ॥
अथर्व० कां० ९, सू० ६, पर्याय ४, मं० ७,८॥

इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में मांस के वर्णन का समाधान क्या है?

आस्तिक लोग, जो कि समग्र वेद को सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी मानते हैं, वेदों में इस प्रकार के परस्पर विरोध के प्रश्न को एक दम उपेक्षित नहीं कर सकते। इसका कोई न कोई समाधान उन्हें सोचना ही पड़ेगा। जब कि वैशेषिक दर्शनकार जैसे तत्त्ववेत्ता और वैज्ञानिक भी वेदों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" अर्थात् वैदिक वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है, तब हमारे लिये और भी आवश्यक हो जाता है कि हम भासमान इस परस्पर-विरोध का कोई समाधान ढूँढें।

परन्तु प्रश्न यह है कि उपस्थित मांस की समस्या को हल कैसे किया जाय? इसका हल, सम्भवतः, इस कल्पना में मिल जाय कि "जब वेदों के विधिवाक्यों में पशु हिंसा तथा मांस-भक्षण के स्पष्ट निषेध मिलते हैं, तब वेदों के ऐसे स्थलों में, जिनमें कि मांसभक्षण के आधार की यत्किंचित् सम्भावना प्रतीत होती है, इसके जानने की कोशिश की जाय कि, सम्भवतः वेदों के रहस्यवाद में, पशुमांस से अतिरिक्त, मांस शब्द का कोई अन्य अप्रसिद्ध अर्थ भी हो।"

(ख) बृहदारण्यक उपनिषद्, अ० ३, ब्रा० ९, कण्डि० २८ में पुरुष और वृक्ष में पूर्ण समता दर्शाई है। यथाः—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥

अर्थः—जैसे बड़ा वृक्ष होता है पुरुष भी वैसा ही है, यह सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते ही रोम हैं, बाहर की छाल ही त्वचा है। आहत होने पर मनुष्य की त्वचा से रुधिर निकलता है, और वृक्ष की त्वचा से गोंद का रस। वृक्ष के शकर (गूदा?) मांस रूप हैं, सूक्ष्म २ तन्तु सम शिराएं स्नावा हैं, अन्दर की दारु अस्थि, तथा दारु में रहने वाला स्नेह पदार्थ मज्जा है।

इस प्रकार, इस वर्णन में स्पष्ट दर्शाया है कि रोम, त्वचा, रुधिर, मांस, स्नावा, अस्थि, तथा मज्जा आदि शरीरावयववाची पद, वृक्षों के भिन्न २ अवयवों के भी वाचक हैं।

अतः वेदों में, भोजन के सम्बन्ध में, मांस शब्द के केवल दर्शन मात्र से ही पशुमांस की कल्पना कर लेना न्यायानुमोदित तथा युक्ति सिद्ध प्रतीत नहीं होता।

(ग) अथर्ववेद ४।१२।१-७। के मन्त्रों में, रोहिणी औषधि का वर्णन है। इस औषधि के वर्णन

में कहा है कि यह टूटी फूटी हड्डी को, जले हुए मांस, त्वचा तथा मज्जा को पुनः पूर्वावस्थित कर देती है। इसी वर्णन क्रम में, रोहिणी के भिन्न २ अवयवों को "मज्जा परुः" चर्म, असृक्, मांस, लोम, तथा अस्थि" आदि नामों द्वारा निर्दिष्ट किया है। अतः प्रतीत होता है कि वैदिक परिभाषा में, मांस, अस्थि आदि नाम औषधि जगत् के भिन्न २ अवयवों में भी प्रयुक्त होते हैं, केवल एक मात्र पशु या जङ्गम प्राणी जगत् में ही इनका प्रयोग सीमित नहीं। अतः भोजन के सम्बन्ध में, वेदों में, यदि मांस आदि शब्द प्रयुक्त हों, तो इन के उचित अर्थों के चुनाव में, बुद्धिमत्ता तथा व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिये।

रोहिणी औषधि के सम्बन्ध में तीन मन्त्र यहां उपस्थित किये जाते हैं, जिनके पठन से उपरि लिखित वक्तव्य की सत्यता प्रतीत हो सकेगी। यथा—

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु॥
मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे॥ ३–५॥

(ष) ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर वह दर्शाया जा सकता है कि, भिन्न २ अवस्थाओं में, धान और जौ की पीठी के तथा इस पीठी के भिन्न २ अवयवों के भी, मांस, अस्थि, रुधिर, तथा त्वचा आदि नाम हैं, यथाः—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति; यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति; यदा संयौत्यथ मांसं भवति, सन्तत इव हि स तर्हि भवति, सन्ततमिव हि मांसम् यदाश्रतोऽथास्थि भवति दारुण इव हि स तर्हि भवति, दारुणमित्यस्थि; अथ यदु-द्वासयिष्यन्नभि घारयति तं मज्जानं दधात्येषो सा सम्पद्-दाहुः पांक्तः पशुरिति॥ शतपथब्राह्मण १,२,३, ८॥

अर्थः—व्रीहि (धान) और यव (जौ) की पीठी के दाने लोम रूप हैं, पानी डालने से इस पीठी पर जो पिप्पड़ी बन जाती है वह त्वचा रूप है, जल और पीठी के मिलाने पर पीठी मांस रूप है, चूंकि जल के मिलाने पर वह पीठी फैल सी जाती है, और मांस भी फैला हुआ ही होता है; जब पीठी पकाई जाती है तब वह अस्थि (हड्डी) रूप है, उस समय वह कठोर होजाती और अस्थि भी कठोर ही होती है। जब पीठी को अङ्गारों पर से उतार कर उसपर घी डालते हैं तब अस्थिरूप पीठी में मज्जा पैदा होती है। इस प्रकार इसी पीठी में पांचों पशुओं की श्री है।

इससे भी प्रतीत होता है कि वेद में, यत्र तत्र, भोजन के सम्बन्ध में भी पठित मांस आदि शब्द, आवश्यक नहीं कि प्राणि पशु के ही भिन्न २ अवयवों के वाचक हों।

(ङ) चरक संहिता आदि वैद्यक ग्रन्थों में, केसर को रुधिर, खजूर के गूदे को मांस, बेर की गुठली को अस्थि, तथा पके आम के गूदे रस और गुठली को, क्रम से, मांस, मज्जा, तथा अस्थि के नामों से पुकारा है।

(च) आप्टे कोष में भी, मांस शब्द के अर्थों में "फल का गूदा" अर्थ दिया है।

अतः इन कतिपय प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध होता है कि, वेदों में पठित मांस आदि शब्द, आवश्यक नहीं कि प्राणी पशुओं के ही अवयवों के सूचक हों।

इस प्रकार हिंसा तथा अहिंसा सम्बन्धी पूर्वोक्त परस्पर विरोध का भी परिहार हो सकता है।

७ अश्व आदि शब्दों के रहस्यार्थ

वैदिक रहस्यवाद में, जिस प्रकार मांस आदि शब्दों के, गूदा आदि अर्थ सम्भव हैं। इसी प्रकार अश्व आदि शब्दों के भी, पशु भिन्न अन्य अर्थ भी सम्भव हैं। जिनके कतिपय उदाहरण निम्न लिखित हैं। यथा:—

(क) अश्व = तण्डुल के कण[१]; सूर्य, अश्वपर्णी या असगन्धा[२] औषधि, एक नक्षत्र[३] आदि।

(ख) अज या छाग = तीन वर्ष या सात वर्ष के पुराने धान[४]; राशिचक्र में मेषराशि[५]; अजा नामक औषधि[६] आदि।

(ग) धेनु = धाना[७]; पृथिवी[८], अन्तरिक्ष[८], द्युलोक[८], दिशाएं[८] आदि।

(घ) वृषभ = ओदन[९]; बादल, ऋषभ औषधि आदि।

(ङ) गौ = तण्डुल[१०]; शमीवृक्ष[११]; रश्मि, चन्द्रमा, दूध, चर्म, धनुष की डोरी आदि (निरुक्त अ० २, पा० २, खं० १-३)

(च) उक्षा = सोम[१२] औषधि आदि।

यहां परिचय मात्र के लिये कतिपय उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार पशुवाचक अन्य शब्दों के भी सर्व साधारण में अप्रसिद्ध अर्थ, वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में मिलते हैं[१३]। अतः वेदों के अध्ययन करने वाले के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह, मन्त्रों के अर्थ करते समय, परस्पर विरोधी वर्णनों पर विशेष ध्यान दे और विरोध के समाधान के लिये वेदों के रहस्यार्थों की खोज करे।

---

(१) अथर्व० कां० ११, सू० ३, पर्याय १, मंत्र ५

(२) यजु० २१। १८।

(३) देखो ज्योतिष ग्रन्थ।

(४) देखो—श्री पं० विश्वनाथजी लिखित, वैदिक पशु यज्ञ-मीमांसा का अजमेध प्रकरण।

(५) देखो ज्योतिष ग्रन्थ।

(६) देखो आयुर्वेद के ग्रन्थ।

(७) अथर्व० १८। ४। ३२॥

(८) अथर्व० १८। ४। ३९॥

(९) अथर्व० ११। १। ३५॥

(१०) अथर्व० कां० ११, सू० ३, पर्याय १। मं० ५॥

(११) ऋग्वेद १०। ३१। १० पर सायण भाष्य।

(१२) ऋग्वेद १०। २८। ११ पर सायण भाष्य।

(१३) पाठकों के परिज्ञान के लिये, यहां पशु वाचक कतिपय अन्य शब्दों के वैद्यक प्रसिद्ध अर्थ भी दिये जाते हैं। वेदों के स्वाध्याय काल में इन अर्थों का भी स्मरण रखना चाहिये। यथा—अश्व = अश्वगन्धा। ऋषभ = ऋषभक कन्द। श्वान = कुकुरमुत्ता। वराह = वाराही कन्द। काक = काकमाची। अज = अजमोद। मत्स्य = मत्स्याक्षी। लोम = जटामांसी। महिष = महिषाक्ष गुग्गुल। मेष = चकवड़, मेषपर्णी। मातुल = धतूरा। मृग = सहदेवी बूटी। पशु = मोथरा। कुमारी = घिव कुमारी। रुधिर = केशर। पेशी = जटामांसी। हृद = दारचीनी।

प्रभु से

[ब्र० वेदव्रतजी, द्वादश श्रेणी गुरुकुल कांगड़ी]

क्या, इस जग को चञ्चलता में
ही है छिपा हुआ कुछ सार ?
यह सब शक्ति रूप ही तेरा,
है विभूतिमय क्या संसार ?
शान्ति नाम की वस्तु मुझे है,
मेरे प्रभु ! बिलकुल अज्ञात,
यही जान पाया हूं अब तक,
तुझ को पाने का आधार ।
तुझे प्राप्त करने का केवल,
एक यही है सरल उपाय,
शक्ति प्राप्त कर जग में जाऊं,
जड़ता जीवन से भग जाय ।
और स्वार्थ को छोड़ कार्य में
लगा रहूं दृढ़ हो दिन रात,
तेरा नाम रहे रसना में,
तुझे सौंप दूं निज मन काम ।
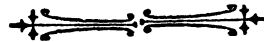
भारत में सामाजिक क्रान्ति

[ले० श्री पं० देवराजजी, विद्यावाचस्पति गुरुकुल कांगड़ी]

(१)

संसार के सम्पूर्ण लोगों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे लोग हैं जो परम्परा वा सनातन (Traditions) का अनुसरण विना बुद्धि के प्रयोग के करते हैं, दूसरे वे लोग हैं जो किसी भी बात का अनुसरण, विना तर्कना के नहीं करते। एक मनुष्य परम्परा की रक्षा में ही लगे हुए हैं, और दूसरे मनुष्य देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अपने आप को ढालने में लगे हुए हैं। एक अपरिवर्त्तनवादी हैं और दूसरे परिवर्त्तनवादी हैं। जो मनुष्य परम्परा के साथ चिपटे हुए हैं, जहां के तहां रहना चाहते हैं, वे न तो दूसरे से स्वयं कुछ सम्बन्ध रखते हैं और न ही यह चाहते हैं

कि उनसे कोई दूसरा भी कुछ सम्बन्ध रखे। दूसरों के साथ सम्बन्ध उत्पन्न होने में वे समझते हैं कि उनकी परम्परा टूटती है और परम्परा के टूटने से वे पथभ्रष्ट वा धर्मभ्रष्ट होते हैं। दूसरे प्रकार के लोग समय के अनुसार अपने आप को बदल लेने में ही सत्पथ का अनुसरण वा धर्म का पालन समझते हैं। एक प्रकार के लोगों के लिये धर्म कभी भी न बदलने वाला अपरिवर्त्तनशील स्थिर पदार्थ है और दूसरे प्रकार के लोगों के लिये धर्म बदलने वाला परिवर्त्तनशील, अस्थिर पदार्थ है। पहिले प्रकार के लोगों को हम सनातनी नाम देते हैं और दूसरे प्रकार के लोगों को आर्य। संसार के सब मनुष्यों का और एक मनुष्य की भी अपनी सब क्रियाओं (activities) का विभाग सनातनी और आर्य इन दो रूपों में हो सकता है। जो जहां का तहां रहना चाहे वह सनातनी और जो आगे बढ़ना चाहे वा Progressive हो वह आर्य है।

भारतवर्ष किसी समय अपनी भौगोलिक विशेषता के कारण संसार से अलग था। भारतवर्ष के पास और अन्य संसार के पास भी आज कल के समान ऐसे सुविधा के साभान उपस्थित न थे कि आसानी से भारत का सम्बन्ध दूसरे देशों के साथ हो सकता। भारतीय संस्कृति के संचालक विद्वानों ने न जाने किन २ कारणों से भारतियों को ऐसे नियमों की शिक्षा दी कि जिसके परिणाम स्वरूप में आज तक भी विदेश जाने में और वहाँ से कुछ विद्या सीख आने में लोगों को संकोच होता है और धर्म भ्रष्ट हो जाने का भय मालूम होता है। जिसके पास उच्च विचार, उच्च आचार हो उसे कभी दूसरे के साथ सम्पर्क में आने के लिये भय न लगेगा, क्योंकि वह जानता है कि उसका धर्म कर्म बड़ा पक्का है दूसरे के आघात का उस पर आसानी से असर नहीं हो सकता। बलवान् मनुष्य कमजोर के आक्रमण से वा उसके सामने आने से नहीं घबराता क्योंकि वह जानता है कि वह बलवान् है। सूर्य नभोमण्डल में अनेक ताराओं और चन्द्र को देखकर नहीं घबराता कि ये इतने सारे मिल कर उसके प्रकाश को मन्द कर देंगे क्योंकि वह जानता है कि उसके उदय होते ही इन अनगिनत ताराओं और चन्द्र का प्रकाश लुप्त हो जायगा, वे सब छिप जाएंगे। भारतवर्ष के अन्दर हिन्दुओं के लिये विदेश से सम्बन्ध विच्छेद करने और मुसलमानों के सम्बन्ध में बहिष्कार करने के नियम बनाने में अवश्य ही उस समय में विद्यमान राजनैतिक और आर्थिक कारण होने चाहियें ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। क्योंकि भारतीय प्राचीन इतिहास से तथा अन्य देशों में हुई, वर्त्तमान भूगर्भ की गवेषणाओं से यह बात सिद्ध है कि भारतियों का विदेशों से घनिष्ट सम्बन्ध था, यहां की सभ्यता का प्रभाव वहां पड़ा था और भारतियों के साथ विदेशियों के विवाह सम्बन्ध भी होते थे। इतिहास के विशेषज्ञ प्रयत्न के साथ यदि तत्कालीन राजनैतिक और आर्थिक अवस्थाओं पर विचार करें तो हमें निश्चय है कि वे उसी परिणाम पर पहुंच सकते हैं जिसका निर्देश हमने ऊपर किया है। यदि यह ठीक हो तो समझाने से इस समय के हिन्दू मस्तिष्क (Hindu mind) के अन्दर भारी परिवर्त्तन आ सकता है और हमारी पाठशालाओं में इतिहास के बदल जाने से कुछ ही वर्षों के अन्दर हिन्दू मुसलमानों का तथा हिन्दू अहिन्दुओं का पारस्परिक

वैमनस्य अत्यन्त शिथिल हो सकता है और लुप्त भी हो सकता है।

इस विषय में हमारी कल्पना तो ऐसी है कि महा-भारत-युद्ध-काल में जब कि यहां के राजाओं का विदेशियों के साथ सम्पर्क था तो आना जाना, विवाह, व्यापार आदि सभी कुछ था, परन्तु युद्ध में यहां के धन और जन का बड़ी मात्रा में संहार होजाने से युद्ध के पश्चात् देश की आन्तरिक अवस्था में जीवन डालने के लिये यहां के समाज सञ्चालकों ने ऐसे नियम बना दिये हों कि समुद्र यात्रा वा विदेश यात्रा करना अधर्म है और विदेशियों के साथ सम्पर्क करना भी अधर्म है। युद्ध के पश्चात भारत में पुरुषों की संख्या की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अवश्य अधिक हो गई होगी। सारे संसार के देशों से यहां पर सेनाएं भी आई। इतने बड़े अन्तर्जातीय युद्ध (International War) का होना कोई साधारण घटना न थी। युद्ध के लिये जिन २ विदेशियों ने यहां के राजाओं को सहायता दी होगी अवश्य ही युद्ध के पश्चात उन विदेशियों को पर्याप्त धन भी भारतीय कोष से और भारतीय प्रजा से दिया गया होगा। ऐसी हालत में भारत में दरिद्रता की वृद्धि और स्त्रियों की संख्या की वृद्धि हो जाने से स्वाभाविक तौर पर भारतीय स्त्रियों में भी विदेशियों के साथ मिलने की और विदेशियों में भारत के अन्दर आ-आकर बस जाने और खप जाने की प्रवृत्ति अवश्य हुई होगी। इस प्रवृत्ति के कुछ सालों तक लगातार रहने से और इसके स्वयं बन्द न होने का अनुभव करने के पश्चात् यहां के समाजसञ्चालकों ने अवश्य समुद्र-यात्रा-निषेध सम्बन्धी नियम और विदेशियों के सम्पर्क से अलग रहने का नियम बनाया हो, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। अब अवस्थाओं के बदल जाने के पश्चात् भी वे ही भाव जारी हैं। जैसे उस समय की अवस्थाओं के अनुकूल वैसा विधान था, वैसे ही अब उनसे विपरीत अवस्थाओं के होजाने से वह विधान भी हट जाना चाहिये।

(३)

वर्त्तमान संसार के अन्दर भारतवर्ष विदेशियों के सम्पर्क से अछूत नहीं रहा है और नहीं आगे रह सकता है। पारस्परिक सम्पर्क को बढ़ाने वाले साधनों में दिनों दिन तरक्की होती जा रही है। उन साधनों का प्रयोग भारत में लगातार बढ़ रहा है। इसी कारण भारत की छोटी २ आर्थिक घटनाओं पर विदेशियों के विचारों और क्रियाओं का भारी असर पड़ता है। अपनी राजनैतिक और आर्थिक अवस्थाओं के परिवर्त्तन में विद्यमान वैदेशिक कारणों के आघातों से यदि अपने आप को सुरक्षित रखना है—नष्ट नहीं कर डालना—तो अवश्य ही हमें विदेशियों के सम्पूर्ण जीवन के अध्ययन को उतना ही महत्त्व देना पड़ेगा जितना हम अपने जीवन के अध्ययन को महत्व देते हैं। इस अध्ययन से अनेक बातें हमें ऐसी मालूम होंगी जिनकी कभी हम अपने भारतीय जीवन में अनुभव करेंगे और अनेक ऐसी भी होंगी जिनमें विदेशियों को हम अपने से कम पायेंगे। तब यह हो नहीं सकता कि जो कमियां हम अपने यहां अनुभव करें। उनको पूरा करने का उद्योग न करें और जो अपने में खूबियां हों उनको सुरक्षित करने का उद्योग न करें। यदि ऐसा होना और ऐसा करना हम आवश्यक समझते हैं तो इसका अर्थ यह है कि हम समय

के अनुसार अपने जीवन को ढालना आवश्यक समझते हैं अर्थात् हम चाहते हैं कि हम में से और इसी प्रकार संसार में से सनातनी पना उठ जाय और उसके स्थान में आर्यत्व बैठ जाय। इसी आर्यत्व की स्थापना से हमारे जीवन की रक्षा है अन्यथा मृत्यु है। धर्म तो किसी जाति की और किसी व्यक्ति की अपनी कोई चीज नहीं है वह तो विश्व में विद्यमान विश्व-व्यापी नियम (Universal law) वा परमात्मा की जीवन धारा है जिसका स्वरूप हमें संसार की प्रत्येक घटना में दीखता है और जिसके अनुसार हमें अपने अपने जीवनों को समय २ पर ढालना पड़ता है। इसलिये समयानुसार अपने जीवनों में परिवर्तन लाने से धर्म की रक्षा होती है न कि धर्म की हानि, प्रत्युत समयानुसार परिवर्तन न लाने से धर्म की रक्षा नहीं किन्तु धर्म की हानि होती है। कूएँ का पानी खिंचता रहे तो बदलता रहता है, सड़ता नहीं। तालाब का पानी बदलता रहे तो सड़ता नहीं, बदबू नहीं मारता। अन्न को धूप दिखलाते रहें तो वह जीवित रहता है और जीवन देता है नहीं तो मुर्दा हो जाता है और मारता है। Air tight bottles के अन्दर सुरक्षित पदार्थ भी कालान्तर में विकृत हो जाता है। परन्तु धर्म को Air tight bottles में कैसे रखा जाय। जीवनरूपी बोतलों में विद्यमान धर्मरूपी पदार्थ सुरक्षित नहीं रह सकता क्योंकि बुद्धि की हवा लग २ कर उसमें विकृति आती ही रहती है। जीवन में से बुद्धि निकल गई, तो जीवन कहां रहा? फिर तो मुर्दा हो गया, बेकदर होगया। जब तक बुद्धि है तब तक परिवर्तन भी अवश्य है। परिवर्तन से ही तो जीवन है, नहीं तो मृत्यु है। 'धर्म में अक्ल का दख़ल नहीं' कहने से अक्ल का दख़ल हट नहीं जाता वह तो रहता ही है। यदि हट जाय तो धर्म ही नहीं रहता क्योंकि धर्म की सत्ता तो अक्ल से ही है। यदि हमारा धर्म इतना पक्का है कि उस पर दूसरों का आघात नहीं लग सकता तो उस धर्म को दूसरों के सन्मुख लाने से हमें जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये क्योंकि बलवान् का असर दूसरे पर पड़ने से दूसरे लोग हमारे धर्म के अनुयायी हो जायँगे और यदि दूसरे के सम्पर्क में लाने से हमारा धर्म टूटता है तो ऐसे कच्चे धर्म को मान कर हमारा कुछ भी लाभ नहीं होगा। उसमें अवश्य हमें परिवर्तन करना चाहिये, यदि हम परिवर्तन नहीं करेंगे तो समय के अनुसार उत्पन्न हुई राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियां अवश्य हम से उस को छुड़ा देंगी। 'पूँछ तो पकड़े भेड़ की, उतरा चाहे पार' के अनुसार कच्चे धर्म से कैसे पार उतरेगा? डूब जायगा।

(४)

आजकल चारों ओर से सुधार सुधार की पुकार हो रही है। जैसे एक मैशीन के भिन्न २ पुर्जे आपस में सहयोग करके एक उद्देश्य की पूर्ति में क्रम बद्ध हो जाते हैं और उस उद्देश्य को पूरा कर डालते हैं, वैसे ही एक राष्ट्र के भिन्न २ कार्यों की शक्ति रखने वाले व्यक्ति यदि आपस में सहयोग करके एक ही उद्देश्य से बँधे हैं तो वह राष्ट्र सफल तथा उन्नतिशील राष्ट्र बन जाता है। एक मैशीन के पुर्जों में कौन सा पुर्जा अधिक महत्व का है और कौन सा कम—यह कुछ कहा नहीं जा सकता। शरीर में जितनी इन्द्रियां हैं उनमें किसी को अपने बड़प्पन का अभिमान नहीं हो सकता, क्योंकि अपने २ कार्य में

सब बड़ी हैं किसी एक इन्द्रिय के न होने से अन्यों की मृत्यु हो जाती हो,—ऐसा भी नहीं, परन्तु सब इन्द्रियों में प्राणरूप कार्यकर्तृत्व शक्ति ऐसी है जिस के न रहने से सब ही इन्द्रियां बेकार हो जाती हैं। मैशीन में भी संचालक बल की प्रधानता है, वह न रहे तो मैशीन बेकार है। इसी प्रकार भारतीय राष्ट्र में सब मनुष्य अपनी २ शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य कर रहे हों तो कोई किसी से नीच अथवा उच्च वा अधिक कैसे कहा जा सकता है। सब से प्रधान वस्तु राष्ट्रीय आत्मा वा राष्ट्रीय भावना है जो राष्ट्र के सब व्यक्तियों को बाँधती है और जिसके नष्ट होने वा निकल जाने से सब मनुष्य विशृङ्खल हो जाते हैं। इसलिये भारतीय राष्ट्र भावना को अपने २ हृदयों में हम सब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि को जागृत करके एक हो जाना चाहिये। व्यर्थ का भेद भाव सर्वथा साफ कर देना चाहिये।

यदि मैं जन्म का ब्राह्मण हूँ, और दूसरा मनुष्य जिसको मैं जन्म से ब्राह्मण नहीं मानता-उसका सन्मान वा पूजा भी अपने समान होते देखता हूं तो मुझे उस मनुष्य की तरफ घृणा वा ईर्ष्या की दृष्टि क्यों रखनी चाहिये। दूसरे की बढ़ती देखकर जलन पैदा होना—यह मनुष्यता नहीं है। जो क्षत्रिय समझा जाता है वह चाहता है कि और कोई क्षत्रिय न बने। जिस कार्य को पहले एक ब्राह्मण करता था, उसी को यदि दूसरा ब्राह्मण सम्भाल लेगा तो पहिले का काम छिन जाएगा, वह बेकार हो जाएगा, उसकी रोजी मारी जायेगी। इसी प्रकार जिस पुलिस के वा सेना के काम में एक सिपाही के स्थान को दूसरा सिपाही ले लेता है तो अवश्य पहिले सिपाही को दूसरे से डाह लगती है। क्षत्रिय अधिक बढ़ जाएंगे तो क्षत्रियों के स्थान परिमित होने से दुष्प्राप्य और महँगे हो जाएंगे इसी प्रकार किसी देश में जितने वैश्य वा व्यापारी हैं, उनसे अधिक यदि व्यापार क्षेत्र में आजावेंगे तो उनमें प्रतिस्पर्धा बढ़ जायेगी और उनकी आमदनी कम हो जायेगी। इसी प्रकार शूद्रों की संख्या नगर में बढ़ जाने से शूद्र सस्ते हो जायेंगे। जो जाति कुछ काम करती है उस काम में यदि उस जाति के लोग बढ़ जाते हैं तो उस काम के लिये वे आदमी तो सस्ते हो जायेंगे परन्तु उन आदमियों की आमदनी अवश्य कम हो जायेगी। इसलिये जातिगत मनुष्यों की संख्या वृद्धि को रोकने के लिये जन्म के सिद्धान्त पर वर्णव्यवस्था का होना आवश्यक होता है। ऐसा न होने से लोगों में अपने २ कार्य्य के प्रति उत्साह टूटता है। परन्तु जातिगत संख्या वृद्धि जैसे उत्साह के भंग होने में कारण है और एक कार्य में उत्साह के भंग होने से भग्नोत्साह को अन्य कार्य का अनुसरण करना आवश्यक होता है, चाहे वह कार्य अपनी जाति के कर्म के अनुकूल न हो, वैसे अनेक राजनैतिक और आर्थिक कारण समय २ पर ऐसे उपस्थित होजाते हैं कि जिनके प्रभाव में आये हुये मनुष्य अपने जातीय कार्य को छोड़कर दूसरी जाति के कार्य को विवशतया ग्रहण करते हैं, यदि न करें तो उनका निर्वाह नहीं होता। जब से वर्णव्यवस्था के आधार में कोई दूसरा परिवर्त्तन नहीं हुआ, परन्तु प्रत्येक देखने वाले को स्पष्ट दीख रहा है कि मनुष्य अपने २ वर्णों से भिन्न २ कर्मों को कर रहे हैं। वर्णों के अन्दर यह कर्म का व्यत्यास राजनैतिक और आर्थिक कारणों के द्वारा ही है। यह व्यत्यास इस बात को वतलाता है कि

मनुष्य अपने वर्णोचित कर्म की परवाह नहीं करते, उनको अपनी आजीविका के लिये जिस कर्म से पर्याप्त सम्पत्ति मिलती है और जिस कर्म को करने की वे सामर्थ्य रखते हैं उसी कर्म को वे ग्रहण कर लेते हैं। इसका अर्थ यह है कि वर्ण का और कर्म का सम्बन्ध मनुष्य अस्थिर मानते हैं और आवश्यक कर्म के सामने वर्ण वा वर्णोचित कर्म का कुछ मूल्य नहीं समझते। मनुष्यों की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को लेकर और वर्तमान जन्म मूलक वर्णों—जो कभी कर्म मूलक थे—को लेकर समाज के अग्रणी मनुष्यों के सामने हम एक आवश्यक विचार उपस्थित करते हैं कि वे भारतीय समाज विभाग का रूप फिर कर्ममूलक करने का प्रयत्न करें। वर्णों को कर्ममूलक करने का प्रयत्न किसी व्यक्ति वा किसी जाति वा किसी समाज से नहीं हो सकता है। यह प्रयत्न केवल गवर्नमेण्ट से सफल हो सकता है। अग्रणी मनुष्यों का केवल इतना ही काम है कि जनता की सामाजिक अवस्था को ऊंचा करने की दृष्टि से और जनता में विद्यमान नाना प्रकार के कलहों को शान्त करने की दृष्टि से वे गवर्नमैण्ट से निम्न लिखित कानून बनवावें कि:—न्यायालय, नौकरी, शिक्षणालय, मर्दुमशुमारी आदि सरकारी और गैरसरकारी कामों में किसी मनुष्य से पेशा और शिक्षा, योग्यता के सिवाय जाति, उपजाति वा धर्म न पूछा जाया करे।

गवर्नमैण्ट यदि यह नियम बनादे तो बहुत से साम्प्रदायिक झगड़ों का अन्त होजायँ, जाति विरोध और जातिभेद के बहुत से झगड़े मिट जायँ। मनुष्यों में महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न होजाय, और महत्त्वाकांक्षा से से लोगों के जीवन ऊंचे हो जायँ। छूआछूत और मन्दिर-प्रवेश आदि के प्रश्न आप से आप हल होजावें।

(५)

आजकल क्रान्ति का युग है। धर्म और अर्थ को लेकर सारे संसार में क्रान्ति हो रही है। धनियों के धन के मद से तपे हुए पीड़ित दरिद्री लोग अर्थ के प्रश्नों को लेकर क्रान्ति कर रहे हैं। और धर्माधिकारियों के धर्म के मद से सन्तप्त दीनजन आज धर्म के विरुद्ध क्रान्ति कर रहे हैं। रूस, टर्की, जर्मनी, फ्रांस, इटली, इंगलैण्ड और अमेरिका आदि देशों में धर्म के विरुद्ध क्रान्ति हुई और होरही है। आज भारतवर्ष भी इस क्रान्तिकारी अग्नि की चिनगारियों से बचा नहीं है। सारे भारतवर्ष में धर्म और अर्थ के प्रश्नों को लेकर क्रान्ति की ज्वालाएं देदीप्यमान होरही हैं। धर्म छिपा नहीं रह सकता, उसका वास्तविक स्वरूप आंखों के सामने आजायेगा। धर्म की कठोर अग्नि-परीक्षा होगी, धर्म और अर्थ की अति विषमता भारत से उठ जायेगी। धर्म और अर्थ मनुष्य जीवन के साधन हैं, मनुष्य जीवन के प्राण हैं, वे सचमुच मनुष्य-जीवन के प्राण बनकर रहेंगे। इस क्रान्ति के अन्दर सनातनी विचार नहीं रह सकता उसका स्थान आर्य्यत्व लेलेगा और अवश्य लेलेगा। सारे संसार को क्रान्ति ने हिला दिया है, भारतवर्ष भी हिल गया है। सनातन पना संसार से उठता जा रहा है और सर्वत्र आर्यत्व की विजय होरही है।
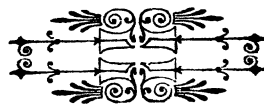
स्कम्भ सूक्त में परमेष्ठी का स्वरूप

[ले०—श्री० पं० वीरेन्द्रजी विद्यावाचस्पति]

परमेष्ठी का अर्थ है—पुरुष का अधिष्ठाता

'वैदिक विज्ञान' के अङ्क ९ में "स्कम्भ कौन है" नामक लेख में हमने देखा था कि स्कम्भ के ज्ञान के लिये 'परमेष्ठी', 'प्रजापति' और 'ज्येष्ठ ब्रह्म' का ज्ञान होना आवश्यक है। और इसी प्रसङ्ग में हमने देखा था कि ब्रह्म-ज्ञान के लिये श्वेताश्वतर उपनिषद् की सम्मति में दो अज (जीवात्मा और परमात्मा) और एक अजा (प्रकृति) अथवा दूसरे शब्दों में भोक्ता, प्रेरिता और भोग्य का ज्ञान आवश्यक है। परमेष्ठी क्या है इसके लिये बहुत ढूंढ करने की आवश्यकता नहीं। स्वयं सूक्त ने इस पारिभाषिक शब्द का वही अर्थ दे दिया है। 'जिन्होंने पुरुष में ब्रह्म को जान लिया उन्होंने परमेष्ठी को जान लिया[१]'। अर्थात् पुरुष में रहने वाले ब्रह्म की परमेष्ठी संज्ञा है। परमेष्ठी का अर्थ है जो 'परम' में स्थित हो[२]। जब लोग 'सत्' और 'असत्' को परम समझ सकते हैं[३]। तो पुरुष तो परम अवश्य ही है। इस सृष्टि का एक ऊँचा तत्व पुरुष कहा जा सकता है। उस परम में स्थित होने वाला ब्रह्म परमेष्ठी ही कहा जायगा। परमेष्ठी और परम पुरुष एक ही हुए। परमेष्ठी को ही दूसरे शब्दों में परमात्मा कहा जा सकता है। यह परमेष्ठी ही गीता के अनुसार पुरुषोत्तम है[४]।

अधिष्ठाता आवश्यक है

कहा जा सकता है कि पुरुष से और ऊंचे उसके अधिष्ठाता रूप में या प्रेरक के रूप में अन्य किसी तत्व को मानने की जरूरत क्या है ? पर इस प्रश्न का उत्तर 'स्कम्भ कौन है' इस लेख में आ चुका है। जीवात्मा अपने आप में 'अज्ञ' है, उसे जब तक किसी के द्वारा ज्ञान न मिले वह उन्नति नहीं कर सकता। यह ज्ञान परमेष्ठी ऋग्वेद आदि के निर्माण द्वारा दे देता है[५]। पुरुष अपने भूत के बारे में थोड़ा बहुत ज्ञान रख भी सकता है पर अपने भविष्य के बारे में उसे क्या मालूम ? 'यह भूत और भव्य उस परमेष्ठी में निहित हैं[६]'। वह पुरुष को उसके धर्माधर्म के अनुसार, उसके भूत के अनुसार भविष्य में फल देगा। मनुष्य का भविष्य उसके हाथ में नहीं, वह तो उससे ऊपर की किसी शक्ति के हाथ में है। और फिर संसार में मनुष्य सत्य बोलते हैं यह किस लिये ? अगर मनुष्य ही संसार की सब से बड़ी शक्ति है तो

१—ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। अथर्व० १० । ७ । १७ ॥

२—परमे तिष्ठतीति परमेष्ठी।

३—असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ॥ अथर्व० १० । ७ । २१ ॥

४—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ गीता १५ । १७ ॥

५—यस्मादृचो अपातक्षन्। अथर्व० १०।७।२०॥

६—अथर्व० १०।८।१॥

फिर उसे झूठ बोलने से कौन रोक सकता है ? वह अपने स्वार्थ के लिये क्यों न झूठ बोले ? इसी तरह 'व्रत' 'श्रद्धा' और 'तप' करने की क्या जरूरत है ? श्रद्धा तो किसी ऊँची ही चीज़ में होती है, तप और व्रत भी किसी ऊँचे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं। जब मनुष्य से न कोई ऊंची चीज़ है, न उसका कोई उद्देश्य है तो फिर श्रद्धा, व्रत और तप के लिये स्थान कहाँ ? इस सत्य के पीछे कौनसी शक्ति (Sanction) है जो मनुष्य को विरुद्ध आचरण करने पर दण्डित करेगी। इसीलिये तो इन नैतिक सिद्धान्तों का आधार[1] परमेष्ठी (स्कम्भ) को मानना पड़ता है जो कि पुरुषों का अधिष्ठाता है। मनुष्य अपने आप में अल्प शक्ति है वह किस तरह से अपने आप को इस संसार मार्ग में लेजा सकता है। उसे तो 'अरों की तरह रथ की नाभि का सहारा करना ही पड़ेगा[2]'। वह परमेष्ठी 'स्कम्भ' तो सब आत्मा वाले प्राणियों का आधार है[3]। इसलिये यह तो मानना ही उचित है कि पुरुष के ऊपर कोई शक्ति है जो इसकी अधिष्ठात्री है और जो उसका नेतृत्व कर रही है।

परमेष्ठी के विचार के लिये जीवात्म-विचार आवश्यक

इस तरह परमेष्ठी का विचार जब कभी हम संसार के अन्तिम तत्वों के बारे में विचार करेंगे, तो स्वयं उठ खड़ा होगा। मैं क्या हूँ ? कहाँ से आया, मेरा क्या उद्देश्य है, इनका चिन्तन स्वाभाविक रूप से परमेष्ठी तक ले जायगा। परन्तु परमेष्ठी को पूरा तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि पुरुष को न समझ लिया जाय। यही कारण है कि श्वेताश्वतर ने परमेष्ठी न रख, सीधा जीवात्मा रख दिया है। जीवात्मा को समझ लिया तो परमेष्ठी तो स्वयं ही ध्यान में आ जायगा। पुरुष का विचार ही अध्यात्म-विचार है[4]।

स्कम्भ सूक्त ने जीवात्मा या पुरुष पर बहुत कम कहा है। उसका कारण भी है। हर एक व्यक्ति चाहे कितना भी मूर्ख हो वह अपनी सत्ता के बारे में कभी सन्देह नहीं कर सकता। उसको अपने मानसिक क्षेत्र का कुछ न कुछ परिचय अवश्य होता है। वह जानता है कि मैं विचार करता हूँ, संकल्प-विकल्प करता हूँ, मुझे सत्य बोलना चाहिये, कभी मैं पाप करने लगता हूँ तो मेरी अन्तरात्मा को कोई रोकता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस सब का आधारभूत प्रेरक कौन है। इसलिये सूक्त में प्रेरक का विस्तार से वर्णन है। साथ ही जीवात्म-विषयक व्याख्याएँ केन-सूक्त में प्रश्न रूप में अच्छी तरह रखी जा चुकी हैं[5]। भोक्ता को तो हरएक कुछ न कुछ समझता ही है। पर फिर भी जीवात्मा या पुरुष के बारे में हमें कुछ न कुछ स्कम्भ सूक्त में वर्णन मिलता ही है।

वह आत्मशक्ति "अपने आप में कल्याणमय है, अजर है, मरने से ऊपर उठी हुई (अमर्त्य) है, पर

१—अथर्व० १० । ७ । १, १० । ७ । १० ॥

२—अथर्व० १० । ८ । ३४ ॥

३—अथर्व० १० । ८ । ४३ ॥

४—गीता का क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार इसी अध्यात्म विचार को प्रतिपादित करता है। गीता अ० १३ ॥ इसके लिये गीतारहस्य (तिलक कृत) का आधिदैवतपक्ष और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार नाम के अध्याय ९ । १२३—१४८ देखो।

५—अथर्व० १० । २ ॥

मरणधर्मा (शरीराविष्ट) प्राणियों के घर में आती है। तू स्त्री है, तू पुमान् है, तू कुमार है और तू कुमारी है। तू वृद्ध होकर डण्डे के सहारे चलती है और तू उत्पन्न होकर विश्वतोमुख (सर्वत्रगामी) होती है। तू इन का पिता है और उनका पुत्र है, उनका तू ज्येष्ठ है और उनका तू कनिष्ठ है ...[६] ।

जीवात्मा अमर है, पर कर्मानुसार जीवन धारण करता है।

जीवात्मा तो अमरण धर्मा है, पर फिर भी वह अपने कर्मानुसार जन्म लेता है, मरता है, अर्थात् शरीर से सम्बद्ध होता है और शरीर से वियुक्त होता है। वह ही भिन्न २ पिता, पुत्र आदि सम्बन्धों में और कुमार, कुमारी आदि लिङ्गभेदों में पड़ता है[१] ।

जीवात्मा ब्रह्म को जान सकता है

वह जीवात्मा अपने उस अधिष्ठाता को अच्छी प्रकार जान सकता है। जिस 'स्कम्भ' में ब्रह्मज्ञानी लोग ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं। जो भी उन ब्रह्मज्ञानियों को प्रत्यक्ष करके जान ले (उनका सत्संग करे) वह ब्रह्मा, पण्डित, ज्ञाता हो जायगा[२] ।'

जीवात्मा का उद्देश्य मोक्ष (स्वाराज्य) प्राप्ति

जीवात्मा या पुरुष के जीवन का उद्देश्य उस पर ब्रह्म को जान कर मुक्त होना ही है। 'निष्काम' धीर, अमर, स्वयम्भू, रस-आनन्द से वृद्ध, जिसमें कुछ भी कभी नहीं है, उस ही धीर, अजर, युवा, परम आत्मा को जानता हुआ पुरुष मृत्यु से डरता नहीं[३] । परमात्मा का जब ज्ञान हो गया तो फिर संसार के बन्धन कहां रहे। वह तो मोक्ष को प्राप्त हो गया। उसे अब मौत का डर क्या? वह तो है ही अमरणधर्मा। अपने किये हुए के फल स्वरूप ही नानारूपों को धारण कर रहा था। परमेश्वर के ज्ञान से अब उसके कार्यों का अवसान हो गया। वह अब अपने शुद्ध स्वरूप में होकर परमेष्ठी में स्थित हो गया है।

इसी अज-पुरुष के लिये श्वेताश्वतर ने कहा है 'दो सुपर्ण साथ रहने वाले मित्र (पक्षी) समान ही वृक्ष का सेवन कर रहे हैं। उनमें से एक स्वादु पीपल के पेड़ को खाता जा रहा है और दूसरा फल को खाये विना निरन्तर दूसरे को देख रहा है।' "समान वृक्ष में निमग्न हुआ पुरुष (जीवात्मा) अपने असामर्थ्य के कारण मूढ़ हुआ दुःखित होता है। परन्तु ज्योंही आनन्द पूर्ण दूसरे समर्थ (ईश्वर) को देख लेता है, उसकी महिमा को जान लेता है, वह झट शोकरहित हो जाता है[४] ।" उसे मालूम हो जाता है कि मैं इस प्रकृति का भोग करने के लिये नहीं हूं, अपितु दूसरे साथी परमात्मा की तरह इससे दूर रहने के लिये हूं।

६—अथर्व० १० । ८ । २६, २७, २८ ॥

१—देखो ऐतरेय उप०—आ० ३ । अ० २ ॥

२—अथर्व० १० । ७ । २९ ॥

३—अथर्व० १० । ८ । ४४ । इसी प्रकार—

'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

कठउप० १ । २ । १२ ॥

मुं० उप० २ । २ । , १३—४, ६ ॥

माण्डूक्य उप० १ । तैत्तिरीय अ० ८ ॥

४—श्वेताश्वतर प्र० अध्याय मं० १४—१५ ।

मुण्डक उप० मुं० ३ खं० १ । १–२ ॥

ऋग्वेद १ । १६४ । २०॥

पहले मिथ्याज्ञान के मिटते ही अब दुःख कहां। अब तो वह वीतशोक है—अब मृत्यु से डर कहां? उसे तो वास्तविक अर्थ में स्वाराज्य मिल जाता है[५]।

ब्रह्मज्ञान का साधन प्रणव जाप और तप ध्यान

उस ब्रह्म को जानने का साधन है 'उन दो अरणियों का ज्ञान जिनसे वस्तु का मन्थन किया जाता है[६]।' श्वेताश्वतर इन अरणियों को स्पष्ट करता है "अपने देह को निचली अरणि बना कर और प्रणव (ओ३म्) को ऊपर का अरणि बनाकर ध्यान रूप मथन के बार २ अभ्यास से छिपे हुए देव को देख लेता है"। "तिल में तेल की तरह, दही में घी की तरह, झरनों में पानी की तरह, अरणियों में आग की तरह वह अपने आत्मा में उसे पालेता है जिसने सत्य और तप से उसे देख लिया है[७]।" यह तप, ध्यान और ओ३म् का जाप ही उस ब्रह्म को जानने के साधन हैं। साथ ही परमेश्वर का नित्य प्रातः-सायं स्मरण और सब इन्द्रियों से जो भी कर्म किये जाते हैं उनका समर्पण उसकी प्राप्ति के साधन हैं[१]।

शरीर का प्रसंगिक वर्णन

प्रसंगानुसार मनुष्य के शरीर का भी वर्णन स्कम्भ सूक्त में कर दिया गया है। "नौ दरवाजों वाला, तीन गुणों से आवृत यह पुण्डरीक है। उसमें जीवात्मा से युक्त जो पूजनीय-ब्रह्म है उसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं[२]।"

ये नौ द्वार शरीर के अन्दर शिरः प्रदेश में होने वाले ७ छिद्र और निचले २ छिद्र हैं। मनुष्य की दो आंखें, २ नाक के छिद्र, १ मुँह और २ कान के छिद्र तथा पायु और उपस्थ मिलाकर ९ छिद्र हैं। द्वार का कार्य सर्वदा किन्हीं चीजों के प्रवेश या बाहर जाने के लिये होता है। मनुष्य के शरीर में जो कुछ जाता है वह बाहर के ७ छिद्रों से, हमें संसार का जितना ज्ञान होता है उसमें आंख, नाक और कान का बड़ा भारी भाग है। बाहर से रश्मियां हमारे आंख के मार्ग से प्रवेश कर मज्जातन्तु (रेटिना) पर प्रभाव करती हैं और हमें बाहर की वस्तु दिखाई दे जाती है। इसी तरह शब्द कान से और गन्ध नासिका से अन्दर प्रवेश पाते हैं। मुख से, सारे शरीर को जीवित रखने वाला, अन्न प्रवेश पाता है और उसी में रहने वाली जिह्वा स्वाद का ज्ञान करा देती है। नासिका से वायु का भी प्रवेश-बहिर्गमन होता है, हमारा श्वास और प्रश्वास इससे चलता है। वायु और उपस्थ का काम हमारे अन्दर होने वाले मलों को 'शौच' और 'मूत्र' के रूप में बाहर फेंक देता है। वह शरीर तीन गुणों से आच्छादित है। शरीर अन्ततो गत्वा प्रकृति से ही बना है। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के मेल का ही नाम है। इस तरह शरीर का निर्माण भी तीन गुणों से है और साथ ही इन तीनों गुणों के कारण कोई सात्विक अन्तःकरण का पुरुष होता है, कोई राजस का और कोई तामस का। शरीर को पुण्डरीक कहा गया है। पुण्डरीक का सामान्य अर्थ कमल है। कमल का प्रयोग सर्वत्र सुन्दरता के लिये किया जाता है। यह शरीर सौन्दर्य का आगार है प्रजापति की एक

५—अथर्व० १० । ७ । ३१ ॥

६—अथर्व० १० । ८ । २० ॥

७—श्वेताश्वतर प्रथम अध्याय मं० १४–१५ ।

प्रणवजाप के लिये देखो—कठ उप० अ० १ । व० २ । १५, १६, १७, १८ ॥

१ अथर्व० १० । ७ । ३१ ॥

२ अथर्व० १० । ७ । ३९ ॥

उत्कृष्ट रचना है। इस पुण्डरीक को ही केन सूक्त में 'अयोध्या' नाम से स्मरण किया है [३]। शरीर के सारे अंग विभागों का तथा मानसिक तत्वों का विस्तार से वर्णन केन-सूक्त में आचुका है। इस केन-सूक्त में आत्म तत्व का बहुत वर्णन है।

३ अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
१०।२।३१॥

सन्ध्या के मन्त्रों की व्याख्या

(कविता में)

[ले०—श्री पं० सत्यपालजी विद्यालंकार, अमेठी राज्य]

ओ३म् भूः। ओ३म् भुवः। ओ३म् स्वः।
ओ३म् महः। ओ३म् जनः। ओ३म् तपः।
ओ३म् सत्यम् ॥

दीजिये हमको वर आज दान,
'ओम्' 'ओम्' की अखंड जगे ज्योति प्राण प्राण।
सकल-सृष्टि-सृजन-हेतु [१],
सुख-स्वरूप हो महान् [२] ॥ १ ॥
जगत-जनन, सत्यरूप [३],
हो प्रभो ! तपो निधान [४], ॥ २ ॥

१—भूः, भुवः।
२—स्वः, महः।
३—जनः, सत्यम्।
४—तपः।

सम्पादकजी का वायुरथ

[ले० श्री दुर्गाप्रसादजी मिश्र, काव्यमध्यम, एम एस० सी० (गणित), बी० एस सी० ऑनर्ज़ (भौतिक) प्रॉफ़िशिएण्ट् इन् फ्रेंश, मेम्बर ऑव दि इंस्टीट्यूट् ऑव ऐक्टुअरीज़ (लण्डन)]

आश्विन सम्वत् १९८९ विक्रमीय (तदनुसार अक्टूबर १९३२ ई०) के 'वैदिक विज्ञान' में श्री प्रो० विश्वनाथजी ने निम्नलिखित मन्त्र की व्याख्या की है:-

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम् ।

कण्वा अभि प्रगायत ॥ ऋ० मं० १ । सू० ३७ । मं० १॥

सम्पादकजी ने स्वर नहीं लगाये हैं। मैंने वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित मूल ऋक्संहिता से देखकर स्वर लगा दिये हैं। मेरे पास निगम की कोई और पुस्तक नहीं है। अतः यदि स्वरों में कोई अशुद्धि[1] हो तो उसका उत्तर दायित्व मुझ पर नहीं है। मेरी आलोचना इन्हीं स्वरों पर निर्भर होगी।

(१) सम्पादकजी ने 'ळ' के स्थान में 'ड' लिखा है। निगम में जब 'ड' दो स्वरों के बीच में आता है तब उसको 'ळ' आदेश हो जाता है। मुझ को बतलाया गया है कि 'ळ' का उच्चारण फ्रांसीसी 'ड' (d) की भांति होता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'ळ' का उच्चारण फ्रांसीसी 'ड' की तरह तो नहीं होता परन्तु 'ड' के उच्चारण से भिन्न अवश्य है, शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य में बतलाया है कि वेद मित्र कहते हैं कि 'ळ' का उच्चारण जिह्वामूल और तालु से करना चाहिये। कलिकाता के ग्रन्थों में 'ळ' को 'ऌ' ऐसा भी लिखते हैं।

इन दोनों बातों में से एक अथवा दोनों ठीक हों या न हों, वेद मन्त्रों में 'ळ' के स्थान में 'ड' नहीं लिखना चाहिये[2]।

(२) सम्पादकजी ने सम्पूर्ण लेख भर में 'वः' पद का अर्थ नहीं किया है। शायद वह इस पद को भूल गये हैं अथवा अर्थ दर्शाने में उन्होंने 'वः' को किसी कोष्ठ

१—स्वर ठीक लगाये गये हैं। इसमें कोई अशुद्धि नहीं है। (सम्पादक)।

२—दो स्वरों के बीच में जब 'ड' हो तो उसके स्थान में "ळ" या "ऌ" होना ही चाहिये यह कोई आवश्यक नियम नहीं। शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य में भी "द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य स सम्पद्यते डकारो ळकारः" इस द्वारा 'ड' का 'ळ' या 'ऌ' होना केवल वेदमित्र की ही दृष्टि से लिखा गया है। इस कथन का पोषक श्लोक में "अस्य" पद है। शौनक ऋषि की दृष्टि में यह नियम सार्वत्रिक नहीं। इस नियम के अपवाद ऋग्वेद से अतिरिक्त वेदों में बहुमात्रा में हैं। यथाः—

(क) इडः; अथर्व० ६ । ६३ । ४, १८ । १ । ४३, १८ । ४ । ४७ ॥

(ख) इडया; अथर्व० ३ । १० । ११, ६ । ६२ । ३ ॥

(ग) इडायाः; अथर्व० ३ । १० । ६, १५ । ६ । २१ ॥

(घ) जिहीड; अथर्व० ४ । ३२ । ५ ॥

(ङ) जिहीडते; अथर्व० २० । १२७ । २ ॥ इत्यादि

हाँ, ऋग्वेद में "ड" के स्थान में "ळ" ही छपा मिलता है। अर्थ के स्पष्टीकरण की दृष्टि से हमने "ड" पाठ ही छापा है। (सम्पादक)।

में न लिखकर उसको 'यूयम्' के स्थान में व्यत्यय मान कर 'तुम' अर्थ कर दिया है। यदि उत्तर पक्ष ठीक है तो मेरी राय में 'अनुर्वार्णम्' पद में लिङ्गव्यत्यय निर्विवाद तथा मौजूद होने पर 'वः' में सुब्व्यत्यय' मानकर व्यत्ययों का दिवाला निकालना ठीक नहीं है।

सम्भावित यही है कि सम्पादकजी का 'वः' पद पर शायद दृष्टिपात नहीं हुआ है। इसलिये इस पद का इस स्थल पर वास्तविक अर्थ करना मुझे उचित ही है।

आर्यसमाज हसनगंज पार लखनऊ के गत वार्षिकोत्सव पर पं० चन्द्रमणिजी ने कहा था कि वेदों का अर्थ समझने के लिये विविध विद्याओं के जानने के अतिरिक्त विविध भाषाओं के जानने की भी आवश्यकता है। उनका कहना है कि वैदिक भाषा ही सब भाषाओं की जननी है। इसलिये किसी न किसी भाषा में अवश्य किन्हीं न किन्हीं वैदिक प्रयोगों का अर्थ जैसा का तैसा मौजूद रहा होगा।

इस स्थल पर हमें उक्त पण्डितजी की बात ठीक जान पड़ती है। आङ्ग्ल, फ्रांसीसी तथा शार्मण्य (जर्मन) भाषाओं में 'स्व' (अपना) के लिये कोई भिन्न शब्द नहीं है। केवल जिस पुरुष और वचन का कर्त्ता होता है उसी पुरुष व वचन का सम्बन्ध अथवा कर्म लिख देते हैं। यथा:—

I am reading my book.

मैं हूं पढ़ रहा मेरी (अपनी) पुस्तक।

I etudie mon liore.

मैं पढ़ता हूं मेरी (अपनी) पुस्तक।

Ich verkaufe mein buch.

मैं बेचता हूं मेरी (अपनी) पुस्तक।

यह तो पाठकगण जानते हैं कि हिन्दी में 'तुम तुम्हारा काम करो' ऐसा न कहकर 'तुम अपना काम करो' यही कहते हैं। परन्तु संस्कृत में बहुतायत से 'स्व' (अपना) का प्रयोग होते हुए भी कभी २ 'तुम तुम्हारे बल का गान करो' ऐसा भी देखने में आता है। ऐसे वाक्य संस्कृत में मैंने कई स्थानों पर पढ़े हैं परन्तु इस समय दो ही स्थल याद हैं:—

दशकुमार चरित' में चतुर्थोच्छ्वास के ३० वें वाक्य में—'सुमुखि' तव मुखारविन्दस्य दैन्यकारणं कथय' ऐसे शब्द हैं। अर्थात 'हे सुमुखि' तेरे (अपने) मुखारविन्द के दैन्य कारण को कह'।

'दशकुमारचरित' में तृतीयोच्छ्वास के १८ वें वाक्य में—'ततोऽर्धरात्रे तेषां मम च शृङ्खलाबन्धनं निर्भिद्य ...... मानपालशिविरं प्राविशम्।' ये शब्द हैं। अर्थात् 'तब आधी रात को उनके और मेरे (अपने) शृङ्खलाबन्धन को तोड़कर ......मानपाल के शिविर में मैंने प्रवेश किया'।

इन दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी की अपेक्षा लौकिक संस्कृत में कभी २ यूरोपीय भाषाओं वाली विलक्षणता दीख पड़ती है। तब फिर वैदिक संस्कृत का क्या कहना !।

(१)—"वायु रथ" के लेख में हमारा तात्पर्य केवल "वैदिक वायुरथ" के स्वरूप का दर्शाना था। मन्त्र के प्रतिपद के ठीक और उचित अर्थ के दर्शाने का तात्पर्य न था। ऊपर के लेख के लेखक महोदय का "वः" पद के अर्थ के सम्बन्ध में विचार यहां ठीक प्रतीत होता है क्या ही उत्तम हो यदि लेखक वेदों में आए समग्र "वः" पदों को एकत्रित करें और पता लगाएं कि इन में से कितने स्थानों में लेखक का विचार समन्वित होता है। सम्पादक

अतः उद्धृत मन्त्र में 'व.' का अर्थ तुम्हारा न करके 'अपने' करना चाहिये।

(३) 'मारुतम्' पद के सम्पादकजी ने दो अर्थ किये हैं। दोनों ही अर्थों में कोई स्वरापत्ति नहीं है।

(४) 'अनर्वाणम्' यह पद 'अनर्वन्' प्रातिपदिक की द्वितीया का एक वचन है। इसमें भी कोई स्वरापत्ति नहीं है। इसमें 'नञ्' पूर्वक समास है इसलिये 'विभक्तिनिमित्तस्वराच्च नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्' इस वार्त्तिक से इसको आद्युदात्त होना चाहिये था। परन्तु मन्त्र में अन्तोदात्त है। इसलिये कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि इसमें नञ्समास नहीं है।

परन्तु यह शंका निर्मूल है। कारण यह है कि अष्टाध्यायी में इस वार्त्तिक के अपवाद सूत्र मौजूद हैं जिनमें इस स्थल पर उपर्युक्त सूत्र 'नञ्-सुभ्याम् ॥ ६। २। १७२॥ यह है। अर्थात् यदि बहुव्रीहि समास हो तो नञ् से परे उत्तरपद अन्तोदात्त होना चाहिये।

(५) सम्पादकजी ने 'अभि प्रगायत' का अर्थ करते हुए 'अभि' तथा 'प्र' का अर्थ छोड़ दिया है। इससे लोग यह शंका कर सकते हैं कि वेदों में कुछ शब्द व्यर्थ भी आते हैं। परन्तु यह शंका भी निर्मूल है। वेदों में केवल 'वर्णन करो' ऐसा उपदेश नहीं है वरन् 'प्रत्यक्ष प्रकृष्ट वर्णन करो' ऐसा उपदेश है।

कारण यह कि ऐसे निर्माणों से, जैसा की सम्पादकजी ने कहा है, पशु पीड़ा प्रतिदिन कम होती जायगी।
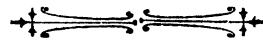
सामवेद का स्वाध्याय

[ले०—सम्पादक]

चौथी दशति

(३५) यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शँसिषम्॥१॥

(वः) तुम्हारे प्रति (वयम्) हम (अमृतम्) अमृतरूप (जातवेदसम्[1]) जातवेदा की, (प्रियं मित्रं न) प्रिय मित्र की न्याईं (प्र शंसिषम्[2]) प्रशंसा करते हैं; (प्र) और बार २ प्रशंसा करते हैं। तुम भी (यज्ञायज्ञा[3]) प्रत्येक यज्ञ में (दक्ष से[4]) बल प्राप्ति के निमित्त (गिरा गिरा) वाणियों द्वारा (अग्नये) अग्नि के लिये (प्रशंसा का उपहार दिया करो)।

१—वयम्:—पहुंचे हुए अभ्यासी लोग, सांसारिक मनुष्यों के प्रति, परमात्मा की ओर उनकी प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिये, ध्येय परमात्मा की प्रशंसा करते हैं, ताकि वे परमात्मा के अलौकिक गुणों को सुनकर

(१) (i) जिससे वेद उत्पन्न हुए। (ii) जो उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ को जानता है या उसमें विद्यमान है। (iii) सब धन का ऐश्वर्य जिसका है। (iv) उत्पन्नप्रज्ञा वाला इत्यादि।

(२) प्रशंसामः॥

(३) यज्ञा यज्ञा = यज्ञे॥

(४) तुमुन्नर्थ में असेन् प्रत्यय॥

इसकी ओर आकृष्ट हों, और अमृत-परमात्मा के संग से वे भी अमृत बन सकें।

२—मित्रम्—संसार में मित्र मित्र की प्रशंसा किया करता है। और यदि वह सामान्य मित्र नहीं, अपितु ऐसा है जिसे कि दूसरा अत्यन्त प्रिय समझता है तब तो दिन-रात उसी मित्र की प्रशंसा जिह्वा पर सवार रहती है। प्रशंसा के सम्बन्ध में "प्रिय मित्र" को दृष्टान्त, सांसारिक लोगों के लिये, बहुत स्वाभाविक है। अभ्यासी के लिये परमात्मा ऐसा ही प्रिय है, जैसा कि सांसारिक मनुष्य के लिये अपना "प्रिय मित्र"। इसलिये अभ्यासी लोग अपने इस प्रिय की प्रशंसा करते थकते नहीं। वे बार २ इसकी प्रशंसा करते रहते हैं, ताकि अन्य मनुष्य भी इसके साथ प्यार करना सीखें और अपने जन्म को सफल बनाएँ।

३—दक्षसे—मनुष्य को समझना चाहिये कि पवित्र और यज्ञिय कर्मों के करने के निमित्त, बल की प्राप्ति, इस परमात्मा द्वारा ही होती है। प्रत्येक शुभ कर्म के करने में बल की प्राप्ति होसके, इस लिये, उस पर सहायक की प्रशंसा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

(३६) पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभि रूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कर (एकया) एक वाणी द्वारा, (उत) और (पाहि) रक्षा कर (द्वितीयया) दूसरी वाणी द्वारा; (ऊर्जां पते) हे बल और प्राण के पति ! (पाहि) रक्षाकर (तिसृभिः गीर्भिः) तीन वाणियों द्वारा; (वसो) हे सबके भीतर बसने वाले ! या सब को बसाने वाले ! अथवा उत्कृष्ट धन ! (पाहि) रक्षाकर (चतसृभिः) चार वाणियों द्वारा।

१—गीर्भि इस मन्त्र में चार वाणियों का वर्णन है, और इन चार वाणियों के साथ परमात्मा का सम्बन्ध दर्शाया गया है, निश्चय से चार वाणियां चार वेद हैं, ऋक्, यजु, साम और अथर्व। पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि प्रथम "ऋग्वेद" संहिता के रूप में आया पुनः "सामवेद", तत्पश्चात् "यजुर्वेद" और बहुत समय पीछे "अथर्ववेद"। यदि यह कल्पना सत्य मानली जाय तो सामवेद के इस मन्त्र में चार वाणियों का क्या अभिप्राय है यह समझ में नहीं आता। मेरी सम्मति में तो ये चार वाणियां निश्चय से चार वेद ही हैं।

२—इन चार वाणियों द्वारा, उपासक, परमात्मा से रक्षा की प्रार्थना करता है। इस रक्षा के निमित्त, उपासक, परमात्मा का सम्बोधन (i) अग्नि (ii) ऊर्जां पति (iii) और वसु शब्दों द्वारा करता है। अग्नि शब्द "ज्ञान" को भी सूचित किया करता है। यथाः—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ऽर्जुन[1]।" इस प्रकार मन्त्र में अग्नि शब्द परमात्मा की ज्ञानाग्नि का मुख्य रूप से सूचक प्रतीत होता है। 'ऊर्ज्' शब्द का मुख्य अर्थ बल और प्राण है[2]। प्राण और बल एक दूसरे के सहचारी हैं। बल्कि प्राण कारण है बल का। प्राणायाम का अभ्यासी बल का भण्डार बन सकता है। इस लिये "ऊर्जांपति" शब्द परमात्मा की प्राणशक्ति को सूचित कर रहा है ऐसा मानने

(१) गीता।
(२) ऊर्ज्ज बल प्राणनयोः (चुरादि)॥

में कोई क्षति प्रतीत नहीं होती। वसु शब्द का अर्थ मन्त्रार्थ में स्पष्ट है।

३—अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कारण है कि मन्त्र में प्रथम वाणी और द्वितीय वाणी के सम्बन्ध में तो "अग्नि" शब्द का प्रयोग किया गया है, तीसरी वाणी के सम्बन्धी में "ऊर्जां पति" शब्द का और चौथी वाणी के सम्बन्ध में "वसु" शब्द का।

इस प्रयोग का एक रहस्य है। वह यह कि ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चार वेदों के विषय क्रम से, ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान है[3]। इन में "ज्ञान और विज्ञान" दोनों ही—ज्ञान दृष्टि से-ज्ञानाग्नि रूप हैं, जिनका कि सम्बन्ध क्रमशः ऋग्वेद और अथर्ववेद से है।

मन्त्र में "एक वाणी" और "द्वितीय वाणी" शब्द सम्भवतः ऋग्वेद और अथर्ववेद को सम्भवतः क्रम का विशेष तात्पर्य न रखते हुए—सूचित करते है। इस प्रकार—

"हे अग्निस्वरूप परमात्मन्! तू एक वाणी द्वारा हमारी रक्षा कर और दूसरी वाणी द्वारा हमारी रक्षा कर"—इन दो वाक्यों का यह अर्थ प्रतीत होता है कि "हे परमात्मन्! चूँकि तू ज्ञानाग्नि से प्रकाशस्वरूप है और चूँकि तेरे उस ज्ञानाग्नि स्वरूप से ऋग्वेद और अथर्ववेद की ज्ञानाग्नि संसार में प्रकट हुई है, इसलिये इन दो ज्ञानाग्नियों द्वारा मुझे प्रकाश देकर मेरी रक्षा कर।"

ऊपर दर्शाया गया है कि "ऊर्जांपति" शब्द परमात्मा की प्राण-शक्ति को सूचित करता है। प्राण-शक्ति का एक ओर सम्बन्ध तो उपासना से है और दूसरी ओर सामवेद से। उपासना का और प्राण का या प्राणायाम का परस्पर कितना घनिष्ट सम्बन्ध है—इसके निमित्त योग-दर्शन की आलोचना करनी चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि प्राण शक्ति का और सामवेद का परस्पर क्या सम्बन्ध है। इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें निम्न लिखित मन्त्र पर ध्यान देना चाहिये। यथाः—

ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये,
साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये[1] ॥

इस मन्त्र में ऋग्वेद के साथ वाणी का सम्बन्ध दर्शाया गया है, यजुर्वेद केसाथ मन का, सामवेद के साथ प्राण का तथा चक्षु अर्थात् अथर्ववेद के साथ श्रोत्र का।

इसलिये निश्चय हुआ कि वैदिक-विज्ञान में प्राण का सम्बन्ध सामवेद से है। इस प्रकार प्राणशक्ति वाले परमात्मा, उपासना और सामवेद-इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिये मन्त्र के तीसरे वाक्य का यह भाव प्रतीत होता है कि "हे परमात्मन्! तू प्राण-शक्ति वाला है, और तेरी प्राण-शक्ति से प्राणमय सामवेद उत्पन्न हुआ है, अतः तू सामवेद द्वारा हमें प्राणशक्ति और उपासना देकर हमारी रक्षा कर।"

अब शेष रहा "वसु" का और "यजुर्वेद" का सम्बन्ध। यजुर्वेद का सम्बन्ध यज्ञों से है। और यज्ञों द्वारा संसार वास के योग्य होता है, नहीं तो महारोगों का भय सदैव बना रहता है। यज्ञों के कारण महारोगों का नाश, सामायिक वर्षा, पुष्ट अन्न, और पुष्ट जल,

(३) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (दयानन्द कृत)

(१) यजुर्वेद ३६। १॥

स्वस्थ्य शरीर तथा स्वस्थ्य मन। ये सब इष्ट वस्तुएं प्राप्त होती रहती हैं। इसलिये यज्ञ वास के हेतु हैं।

परमात्मा वसु है, चूंकि वह इन साधनों द्वारा हमें बसा रहा है। अतः यह मानने में कोई विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि वसु-परमात्मा की वास-शक्ति से यजुर्वेद का विषय प्रकट हुआ है। इसलिये इस वसु-परमात्मा से चौथी वाणी यजुर्वेद द्वारा यज्ञाश्रित वास की अभिलाषा से रक्षा की प्रार्थना इस मन्त्र के चौथे वाक्य में की गई है।

स्वास्थ्य, मनुष्य-जीवन में उत्कृष्ट धन-स्वरूप है। और यज्ञ स्वास्थ्य के भी उत्पादक हैं। इस प्रकार वसु का अर्थ जब "उत्कृष्ट धनस्वरूप परमात्मा"— हो तब भी यजुर्वेद द्वारा रक्षा की उससे प्रार्थना करना उचित ही है।

(३७) बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ रेवत्पावक दीदिहि ॥३॥

(यविष्ठ)[1] हे युवतम! (पावक) पवित्र करने वाले! (अग्ने देव) अग्नि देव! (बृहद्भिः अर्चिभिः) महाज्वालाओं के साथ (शुक्रेण शोचिषा) तथा निर्मल प्रकाश के साथ (भरद्वाजे) मन में (समिधानः) संदीप्त होता हुआ तू (रेवत्) रयि देता हुआ (दीदिहि)[2] चमक।

१—युवतम—इसका अर्थ है "पूर्ण-युवा"। शरीर की तीन अवस्थाएं मुख्य हैं, बाल, युवा और वृद्ध। बाल और वृद्ध तो शक्ति के पुंज नहीं कहे जा सकते। युवा शक्ति के पुञ्ज हो सकते हैं। और जो पूर्ण युवा है, युवतम है, उससे तो शक्ति-पुञ्ज के भाव को पृथक् किया ही नहीं जा सकता। संसार की जिसने रचना की और इस संसार को जो थामे हुए है वह बिना शक्ति-पुञ्ज हुए संसार को कैसे रच सकता था और कैसे इसे थामे हुए हो सकता है? इसलिये "युवतम" शब्द के प्रयोग द्वारा परमात्मा के "शक्तिमान् होने" के भाव को सूचित किया गया है।

२—पावकः - यह प्रकरण अग्नि का है और इस मन्त्र में भी "अग्ने! देव!" ये पद आये हैं। प्राकृतिक पार्थिव-अग्नि पावक है, पवित्र करने वाला है। जलता हुआ अग्नि अपने चारों ओर के वायु-मण्डल को शुद्ध कर रहा होता है। उसका ताप गन्दे मादे को छिन्न भिन्न कर देता है। परमात्मा को भी अग्नि नाम से स्मरण किया है, चूंकि एक तो अग्नि में पवित्र करने की शक्ति का वही दाता है, और दूसरे यह परमात्माग्नि जिस सौभाग्यशील मनुष्य के हृदय कुण्ड में प्रदीप्त हो उठता है उसके हृदय के मलों को यह भस्मीभूत कर देता है। इसलिये इस परमात्माग्नि को पावक कहा है चूंकि यह पवित्र करने वाला है।

३ बृहद्भिः—परमात्मा का प्रकाश महान् उज्जवल होता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में तारागणों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है ऐसे परमात्म-ज्योति के उग्र प्रकाश में सूर्यादि ज्योतियों का भी प्रकाश मन्द पड़ता हुआ प्रतीत होता है। यथाः—

(क) न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। क० उप०॥

(ख) दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥गीता॥

४—शुक्रेण—परमात्मा जब भासित होता है तब

(१) युवा + इष्ठन् (पाणिनी० ५। ३। ५५), तथा स्थूल दूर युव० (पाणिनी० ६। ४। १५६)

(२) दीधीङ् दीप्तौ (अदादिः) ॥

यह "प्रकाश-रूप" में भासित होता है। और यह प्रकाश निर्मल, स्वच्छ तथा उज्जवल होता है। यह भाव "शुक्र-शोचिस्" शब्दों द्वारा सूचित किया गया है। पार्थिव-अग्नि के प्रकाश को धूम का सम्पर्क होने के कारण, निर्मल, स्वच्छ तथा उज्जवल नहीं कहा जा सकता।

५—भरद्वाजः—यहां भरद्वाज का अर्थ मनुष्य की आकृति वाला कोई ऋषि नहीं। भरद्वाज का अर्थ है "मन"। ब्राह्मण[1] ग्रन्थों तथा वैदिक[2] संहिताओं में भरद्वाज का अर्थ "मन" किया गया है। भरद्वाज शब्द के यौगिक अर्थ में "मन" रूपी अर्थ निम्न प्रकार से उत्पन्न हो सकता है।

(क) बिभर्ति वाजमन्नं यः सः भरद्वाजः। अर्थात् जो अन्न का धारण करने वाला है। मन के स्वास्थ्य पर अन्न के खाने की इच्छा उत्पन्न होती है, इसलिये मन भरद्वाज है।[3]

(ख) बिभर्ति वाजं बलं यः सः भरद्वाजः। अर्थात् जो बल का धारण करने वाला है। मन के आधार पर ही शरीर और इन्द्रियों में बल आता है। जिसका मन कमज़ोर है उसका शरीर भी कमज़ोर और इन्द्रियां भी कमज़ोर रहती हैं। इस मन में परमात्मा का प्रकाश प्रकट होता है। मन जब रज और तम के मल से पृथक् होजाता है और इस प्रकार जब यह शुद्ध सत्त्व गुण का पुञ्ज सा बन जाता है तब परमात्मा की दिव्य ज्योति का भान होता है।

६—रेवत्—परमात्मा जब मनोरूप दिव्य-मन्दिर में प्रकट होता है तब वह रयि अर्थात् धन भी देता है। शूरवीरों का धन एक प्रकार का होता है, वैश्यों का दूसरे प्रकार का, विद्वानों और त्यागियों का तीसरे प्रकार का, तथा तपस्वियों का धन चौथे प्रकार का। इसी प्रकार ध्यानी और अभ्यासी उपासकों का धन भी अन्य प्रकार का होता है। उपासक लोग अपने इष्टदेव से इसी प्रकार के धन की अभिलाषा करते हैं और वह इष्ट-देव उपासक की कामना को पूर्ण करता है—यह भाव "रयिवत्" शब्द द्वारा सूचित किया गया है।

[३८] त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः। प्रेरक
मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥ ४ ॥

(स्वाहुत) पूर्णरूप से आहुति को प्राप्त (अग्ने) हे अग्निस्वरूप परमात्मन्! (ये) जो (मघवानः) ऐश्वर्यशाली होकर (जनानाम्) जनों के (सूरयः) प्रेरक होते हैं (यन्तारः) और उन्हें नियम में चलाते हैं, (गोनाम्) तथा इन्द्रियों की (ऊर्वम्)[4] अग्नि को (दयन्त)[5] बुझाते हैं वे (त्वे) तेरे (प्रियासः) प्रिय बनते हैं।

१—स्वाहुतः—प्राकृतिक अग्नि में घृत आदि सामग्री की आहुति दी जाती है, और आहुति देने के पश्चात् कहा जाता है कि "इदं न मम" अर्थात् यह मेरी

(१) मनो वै भरद्वाज ऋषिः। अन्नं वाजः। यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति, तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः शत० ब्रा० ८। १। १। ९॥

(२) यजुर्वेद १३। ५५॥ इसी प्रकार यजुर्वेद के इसी प्रकरण में वसिष्ठ ऋषि = प्राण (१३। ५४); जमदग्नि ऋषि = चक्षु (१३। ५६); विश्वामित्र ऋषि = श्रोत्र (१३। ५७); विश्वकर्मा ऋषि = वाक् (१३। ५८)॥

(३) महीधर, यजुर्वेद १३। ५५॥

(४) ऊर्वः = समुद्राग्निः (आप्टे)॥

(५) दय् = दान, गति, रक्षण, हिंसा आदि॥

वस्तु नहीं इस प्रकार आहुति-दान के साथ त्याग का भाव सम्बद्ध है। उपासक लोग भी आहुति दिया करते हैं। परन्तु वे आहुति परमात्माग्नि में देते हैं हृदय-कुण्ड में दीप्यमान परमात्माग्नि में वे स्व और स्वीय सब वस्तुओं की आहुति दे देते हैं, और वास्तव में समझने लगते हैं कि शरीर, इन्द्रियां, मन, आत्मा तथा इनकी शक्तियां और बाह्य पदार्थ ये मेरे नहीं, इदं न मम। "स्वाहुत" शब्द त्याग की भावना की इस अवस्था का निर्देश कर रहा है।

२—प्रियासः—परमात्मा के प्रिय किस प्रकार के उपासक होते हैं यह प्रश्न इस मन्त्र में है। इसका उत्तर यह दिया गया है किः—

(क) जो जन-साधारण के प्रेरक होते हैं। उन्हें सन्मार्ग पर चलने की जो प्रेरणा करते रहते हैं। कष्ट आने पर भी जो प्रेरणा के मार्ग से टलते नहीं।

(ख) तथा जो जन-साधारण को प्रेरणा द्वारा नियमों में चलाते हैं, उनके जीवनों को नियमों में बाँध देते हैं।

३—गोनाम्—परन्तु उपासकों में ऐसी शक्ति कैसे आती है, जिस द्वारा कि वे जन-साधारण के प्रेरक तथा नियन्ता बन सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि चूँकि वे अपनी इन्द्रियों की आग को बुझा देते हैं—इस कारण उन में यह शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियों की आग मनुष्य जीवन को भस्मीभूत कर देती है। जिस विजयी ने इन्द्रियों की इस आग पर विजय पालिया वही जन-साधारण का प्रेरक और नियन्ता हो जाता है। और ऐसे मनुष्य—

४—मघवानः—आध्यात्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाते हैं।

(१९) अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् गृहपते महां असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (जरितः) हे उपदेष्टा! (विश्पतिः) तू प्रजा का रक्षक है। (देव) हे देव! (रक्षसः) राक्षसी भावों और विचारों को (तपानः) तू तपाता है। (गृहपते) हे हृदय-गृह के स्वामिन्! (अप्रोषिवान्) तू इस गृह से कभी प्रवास नहीं करता। (महान् असि) तू महान् है, (दिवस्पायुः) द्युलोक का रक्षक है, (दुरोणयुः) और गृह को चाहने वाला है।

१—जरितः—"परमात्मा उपदेष्टा है"—यह भाव इस शब्द द्वारा सूचित होता है। "जरिता" शब्द निघण्टु[1] में स्तोता अर्थ में पठित है—स्तोता का अर्थ है—स्तवन करना, पदार्थों के गुणों या धर्मों का कथन करना। उपासकों का कथन है कि चित्त की शुद्ध अवस्था के हो जाने पर, उपासक, परमात्मा के दिव्य उपदेशों और प्रेरणाओं की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से परमात्माग्नि को मन्त्र में उपदेष्टा कहा है। सम्भवतः परमात्मा को उपदेष्टा इसलिये भी कहा हो कि उसने सृष्टि के आरम्भ में वेद-ज्ञान का उपदेश किया था।

२—अग्नेः—ज्ञानाग्नि के प्रकाश से प्रकाशित मनुष्य का ही अधिकार होता है कि वह उपदेश दे सके। इस ज्ञानाग्नि से सम्पन्न होने के कारण ही मन्त्र में परमात्मा को भी 'अग्नि' कहा है। वैदिक साहित्य में इस दृष्टि से ब्राह्मण को भी 'अग्नि' कहा गया है।

३—विश्पतिः—परमात्मा प्रजा की रक्षा उपदेश द्वारा करता है। समय २ पर उपासकों के हृदयों में

[1] १—३। १६॥

परमात्मा-ज्योति द्वारा प्रकाश यदि न आता रहे और वे इस प्राप्त प्रकाश द्वारा जगत् के अन्धकार को यदि दूर न करते रहें तो प्रजा की रक्षा असम्भव है। ऐसी अवस्था में प्रजा गाढ़ अन्धकार से आवृत होकर नष्ट भ्रष्ट हो जाय। परन्तु परमात्मा का नियम ऐसा है कि जगत् में अन्धकार और प्रकाश की क्रिया-प्रतिक्रिया निरन्तर जारी रहती है। इस प्रकार परमात्मा प्रजा की रक्षा करता रहता है।

४—देवरक्षसः—राक्षस-भावों और राक्षस-विचारों को मिटाने और उन्हें भस्मीभूत करने के सम्बन्ध में उस अग्निमय परमात्मा को देव पद द्वारा सम्बोधित किया है। देव का अर्थ है दिव्य गुणों से सम्पन्न। उपासक परमात्माग्नि के देव-रूप का जब स्मरण और ध्यान कराता है तो वह स्वयं भी देव बनने लगता है, उसमें भी तब दिव्य गुणों का शनैः २ पदार्पण होने लगता है। इस प्रकार उपासक जैसे २ देवपन की ओर पग बढ़ाता जाता है वैसे २ उसके अदिव्य, राक्षसी भाव और विचार शनैः २ नष्ट होने लगते हैं।

५—गृहपतेः- गीता में लिखा है कि "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"। इस श्लोक में हृदय को परमात्मा का आवास-गृह कहा है। इस देह के भौतिक जीवन का केन्द्र स्थान हृदय है। परमात्मा इसी हृदय रूपी केन्द्र में विराजमान है। साथ ही परमात्मा-देव का पूजा-मन्दिर यही हृदय-देश है। परमात्मा इस हृदय-गृह का पति है, स्वामी है। इसलिये इस हृदय-मन्दिर को अपवित्र भावों द्वारा कलुषित न होने देना चाहिये। साथ ही उपासक को यह भी समझना चाहिये कि यह स्वामी अपने इस गृह से कभी प्रवास नहीं करता। यह इसमें सदा विराजमान रहता है। उपासक यदि इस भाव को सदा स्मरण रखेगा तो वह बुरे भावों के चिन्तन से भी बचा रहेगा।

६—दुरोणयुः—साथ ही यह भी समझना चाहिये कि परमात्मा इस हृदय-गृह को चाहता भी है। वह पिता है, माता है। इसलिये अपने पुत्रों को सन्मार्ग पर लाने की उसकी सदैव इच्छा रहती है। बिना हृदय-गृह में अन्तर्यामी रूप से वास किये वह अपने पुत्रों में प्रेरणा नहीं कर सकता। इसलिये वह चाहता भी है कि मेरा इस हृदय में वास बना रहे ताकि वह पुत्रों का सन्मार्ग में प्रेरक हो सके।

(४०) अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः १॥

(अमर्त्य)[1] मनुष्य की आकृति से रहित तथा न मरने वाले (जातवेदः अग्ने) हे जातवेदा अग्नि ! (उषसः) उषा काल सम्बन्धी (विवस्वत्) विशिष्ट[2] जीवन वाला या अन्धकार[3] हटाने वाला (चित्रम्) जो अद्भुत (राधः) अराधना रूप धन है उसे (त्वम्) तू (अद्य) आज (दाशुषे) आत्म-समर्पण करने वाले के लिये (आ वह) ला, (उषर्बुधः) तथा उषाकाल में जागने वाले (देवान्) दिव्य गुणों को भी (आ वह) ला।

भावार्थः—भारतीय धार्मिक साहित्य में, उषाकाल या प्रभात वेला की बहुत महिमा है। यह काल सात्विक गिना गया है। आराधना का यह उत्तम काल है। इस शान्त तथा चढ़ते हुए काल में की गई आरा-

१—मर्त्य = मनुष्य और मरना, नाश होना ॥
२—वि × वस् (To live, dwell, आपटे) + वत् ॥
३—विवस् = हटाना, To banish (आपटे) ॥

धना जीवन में विशेष परिवर्तन लाती है और अविद्यान्धकार को शनैः २ दूर करती है। इस समय प्राकृतिक घटनाओं का, उपासक पर, भारी प्रभाव होता है और वह इन से प्रभावित होकर आराधना की ओर झुक जाता है। आराधना की पराकाष्ठा आत्म-समर्पण में है। आराधना करता २ उपासक जब प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है। तब उसमें दिव्य गुणों का प्रवेश होता है। प्रातःकाल का समय इन दिव्य गुणों के आवाहन का समय है। प्रातःकाल की सात्विक-भावना में दिव्य-गुण अंकुरित होते हैं। इस लिये उषाकाल में मनुष्य को आराधना में निमग्न रहना चाहिये। (क्रमशः)
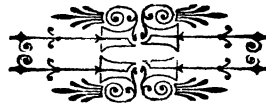
एक कन्या 'सूर्या' और दो वर 'अश्वी'

[ले०—श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ]

अथर्व वेद के चौदहवें काण्ड के प्रथम सूक्त का ७ वां तथा ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ८५ वें सूक्त का ९ वां मन्त्र है—

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तासुभा वरा।

सूर्या यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात् ॥

इसका स्थूलार्थ यह है कि 'सोम' वधूयू हुआ दोनों अश्वी वर रहे। कब ? जब पति के लिये प्रशंसा करती हुई सूर्या को सविता ने मन से दिया।

श्रीसायणाचार्य के अर्थ के अनुसार अर्थ यह है–"जब सोम वधू की कामना से युक्त था उस समय दोनों अश्वी वर हुए" पति की कामना करती हुई। अर्थात् यौवन को प्राप्त सूर्या को मन से सहित सोम वर के हाथ उसके पिता सविता ने देदिया अर्थात् देना चाहा।

इसी मन्त्र का पं० ग्रीफिथ ने अर्थ किया है—

Soma was he who woed the maid; groomen were both Ashwins, when,

The Sun God Savitar bestowed his willing Surga on her lord.

सोम वह था जिसने वधू चाही, 'वर थे दोनों अश्विन्' जब सूर्य देव सविता ने दी अपनी कामना-वाली कन्या उसके पति को।

डा० पं० ह्विटने का अर्थ है।

Soma was the Bride-seeker both Ashwins were woers, when Savitar gave to her husband Surya, praising with her mind.

सोम वधू की तलाश में था, दोनों अश्वी वरने वाले थे, जब सविता ने अपने मन से प्रशंसा करती सूर्या को कि उसके पति को दे दिया।

इन सब अर्थों में हमने सोम, वधूयु, पति, शंसान्ती सूर्या, सविता आदि शब्दों को वैसे का वैसा ही बने

रहने दिया है परन्तु इसका रहस्यार्थ स्पष्ट नहीं किया। सायण के अर्थों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सोम' ने वधू को लेना चाहा, उसी समय दोनों 'अश्वी' भी 'वर' थे। सूर्या पति की कामना कर रही थी उसको सविता अर्थात् सूर्या के पिता ने मन के सहित सोम नामक वर को सूर्या दे दी, अर्थात् अश्वी जो दो वर थे उनको सूर्या न देकर सोम के हाथों ही सूर्या को दे दिया। परन्तु सायण ने 'अददात्' के पर्याय 'प्रादात् दित्सांचकार' दो दिये हैं इससे यह भावना होती है कि सूर्या के प्रदान काल में वर और दो अश्वी ये तीनों सूर्या को चाहते थे, पर सविता ने अश्वियों को न देकर सोम को देना चाहा। आगे क्या हुआ यह सारे सूक्त में कुछ भी पता नहीं चलता। ग्रीफ़िथ के लेखानुसार यह प्रतीत होता है कि सूर्या को सोम और दोनों अश्वी तीनों ही चाहते थे। परन्तु पिता सविता ने उसको उसके पति (किसी चौथे) के हाथ ही दे दिया।

ह्विटने के अनुसार भी इसी प्रकार की भावना होती है।

इन सब अनुवादकों ने अपने चित्त में सोम अश्वी, सूर्या, सविता आदि को ऐतिहासिक पात्र बना कर उनको विशेष्य व्यक्ति का नाम मान लिया और उनका योगिक अर्थ लेने का सर्वथा यत्न नहीं किया। ग्रीफ़िथ ने अथर्ववेद कां० २। ३०। २। की प्रतीक देकर—

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।

टिप्पणी में यह बतलाना चाहा है कि 'अश्विनौ' दोनों वर थे, वे दोनों सोम के लिये सूर्या को लेना चाहते थे। परन्तु यहां भी इस कथा पर प्रकाश डालने वाला कोई स्पष्ट कथाप्रसंग नहीं उपलब्ध होता। इसलिये सब यह कल्पित ऐतिह्य गड़बड़, बनावटी, कपोल-कल्पित मालूम होता है।

अब हम उन पदों के रहस्यों पर ध्यान आकर्षण करते हैं।

१. सोमः वधूयुः अभवत्।

सोम 'वधूयु' होता है। सोम कौन? वधू कौन? इस चरण में दो ही पदार्थ हैं एक सोम, दूसरी वधू। इन दोनों में से सोम वधूयु होता है। सोम वधू की कामना करता है, और वह (वधूयुः) वाधू का स्वामी भी होता है। फलतः वधू की कामना करने वाले को ही वेद ने 'सोम' शब्द से कहा है। वधू की कामना करने का अधिकारी सोम है। सोम कौन? (षुञ् प्रसवैश्वर्ययोः) उत्पन्न करने और स्वामित्व करने वाले को 'सोम' कहा जाता है। वह पुरुष जो सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हो और जो ऐश्वर्य युक्त अर्थात् गृह का स्वामी हो सके, वही पुरुष सोम है और उस को ही वेद का आदेश है कि वह 'वधूयु' अर्थात् वधू की कामना करे। 'वधू' क्या? 'वधू' 'वह प्रापणे' धातुध से बनता है। जो वहन कर सके, धारण कर सके वह 'वधू' है। जो गृहस्थ या प्रजार्थ वीर्य धारण करने में समर्थ स्त्री है वही स्त्री 'वधू' कहाती है। फलतः यदि पुरुष स्त्री की कामना करे तो वह ऐसी स्त्री की कामना करे जो वीर्य धारण कर सके और गृहस्थ का भार उठा सके। इन कार्यों में अयोग्य स्त्री की पुरुष कभी चाहना न करे, यह वेद का आशय प्रतीत होता है।

२. अश्विना स्ताम् उभा वरा।

अब प्रश्न उठता है। क्या सोम के केवल चाह लेने भर से वधू उसको मिल जायेगी और वह वधू

का स्वामी हो जायगा ? वह कौन सा उपाय है कि जिससे सोम वधू को प्राप्त करले। इसका उत्तर वेद ने अगले चरण में दिया है। (उभा) वे दोनों (अश्विना) अश्वी और (वरा) वर हों। अर्थात् वे दोनों सोम और वधू विवाहयोग्य युवति और पुत्रोत्पादन समर्थ युवा पुरुष दोनों ही 'अश्वि' हों। 'अश्ववान्' हों। अश्व का अर्थ घोड़े, अश्व का अर्थ इन्द्रियगण अश्व का अर्थ मन, आत्मा तथा विद्वान् आदि हैं। यहां स्पष्ट है कि जिस प्रकार एकरथ में बैठे रथी और सारथि दोनों ही रथ में लगे अश्व के स्वामी कहाते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ रूप रथ में पुरुष और स्त्री दोनों ही 'अश्वी' हैं। अर्थात् दोनों गृहस्थ रथ में लगे अश्वों के स्वामी हैं। गृहस्थ रथ में लगे दो अश्व स्त्री पुरुष स्वयं हैं तो दोनों का दोनों पर समान अधिकार होने से दोनों पति पत्नी, स्वामी स्वामिनी भी हैं। जब दोनों अश्व हैं, तो दोनों ही अश्व के स्वामी स्वामिनी भी हैं। इस लिये वे दोनों 'अश्वी' हैं।

(२) अथवा वे दोनों (अश्विना स्ताम्) अश्वी हों। उनका कर्त्तव्य है कि वे दोनों अश्वी, अर्थात् दोनों एक दूसरे के स्वामी बनें, वे दोनों एक दूसरे के अधि पति बनने को उद्यत हों। पर यह कैसे हो सकता है ? वेद की दृष्टि में यह समस्या बड़ी सरल है। स्त्रियों को जड़ पदार्थ या गाय बकरी के समान लेने, देने, बेचने, बांध रखने और भोगने आदि व्यवहार करने वाले लोग तो कदाचित् इस समस्या को सहज ही न सुलझा सकें। परन्तु वेद जो दोनों में मानवीय सत्ता को स्वीकार करता है उसने इस समस्या को एक ही पद से सुलझा दिया है। वेद कहता है 'उभा वरा स्ताम्' दोनों ही 'वर' हों। दोनों एक दूसरे का वरण किया करें, वधू उसे अपना पति चुने और पुरुष वधू को अपनी पत्नी चुने। दोनों एक दूसरे को अपना मालिक और मालिकन या मल्कां, राजा या रानी बना लेते हैं। वेद साहित्य में 'वर' दक्षिणा को भी कहते हैं। अर्थात् दोनों ही जब एक दूसरे को चुनते हैं तो साथ ही वे दोनों अपने को एक दूसरे के हाथ देने को भी उद्यत होते हैं। प्रत्येक अपने को दूसरे के हाथ में दान दिये जाने योग्य, उपहार, भेंट (गिफ्ट Gift) समझें। तब कोई भी समस्या अनसुलझी नहीं रहती है। अब प्रश्न है कि यह काम कब हो ? वेद कहता है—

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात्।

(यत्) जब (पत्ये) पति के लिये (शंसन्तीं) शंसा करती हुई (सूर्यां) सूर्या को (मनसा) मन से (सविता) सविता (अददात्) दे देवे।

इधर यदि वर और वधू दोनों परस्पर वरण भी करलें और तो भी कन्या के उत्पादक माता पिता कन्या को न प्रदान करें और अपना कन्या पर अधिकार या स्वामित्व बनाये ही रखें तब कभी भी उनका नया घर बस ही नहीं सकेगा। इसलिये वेद कहता है कि 'सविता' उत्पादक पिता जब 'सूर्या' को मन से देदे, अर्थात् वह ज्ञानपूर्वक, होश हवास में, किसी के बहकावे में न आकर दान, दे अर्थात् अपना स्वामित्व वा भरण पोषण करने का अधिकार त्याग कर, अपना यह सम्बन्ध विच्छिन्न कर, उसके भरण पोषण का भार दूसरे को सौंप दे तब वे दोनों वर वधू वरण करलें। परन्तु वह पिता भी अपनी कन्या को कब देवे ? वह अपने पालनादि के सम्बन्ध को कब त्यागे ? तो इसके उत्तर में वेद कहता है 'पत्ये शंसन्तीं सूर्याम्' जब वह कन्या (१) सूर्या हो

(२) पति के लिये 'शंसा करें'। सूर्या हो अर्थात् सूर्य के प्रभात-कांन्ति के समान दिन के पूर्व भागवत् जीवन के पूर्व भाग अर्थात् यौवन के प्रारम्भ में हो। यौवन की अरुणाई और लुनाई उसके देह पर छाने लगे। साथ ही वह पति के लिये शंसा अर्थात् कामना, आशा, इच्छा करे। उसके हृदय में पति अर्थात् माता पिता के अतिरिक्त अपने स्वामी, धनी, पालक पुरुष के लिये कामना हो तब उसका पिता, कन्या को स्वयं पति के ही हाथ सोंप दे। वह उस समय 'सूर्या' इसलिये है कि वह भी स्वयं उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ होती है। फलतः यदि पुरुष 'सोम' है तो उसी प्रकार बधू 'सूर्या' है और सविता यहां कन्या का पिता है। वर वधू दोनों एक दूसरे को वरण करने से 'वर' और गृहस्थ रथ के दोनों रथी सारथीवत् अश्व के स्वामी होने से अश्वी हैं।

इसी भाव को अथर्व वेद का० २। ३०। ३ का मन्त्र भी स्पष्ट करता है।

सं चेत् नयाथः अश्विना कामिना सं च वक्षथः।

दोनों एक दूसरे को एक साथ २ लिये ले चलते हैं इसलिये वे दोनों (अश्विना) रथी सारथीवत् गृहस्थ रथ में लगे अश्वों के स्वामी हैं। वे दोनों कामनायुक्त हैं। दोनों (सं वक्षथः) मिलकर वहन करते हैं। गृहस्थ को धारण करते हैं। दोनों विवाह करते हैं।

इस मन्त्र से तो हमारा ही सत्य अभिप्राय पुष्ट होता है। पं० ग्रीफिथ का अभिप्राय पुष्ट नहीं होता।

'अश्व' का अर्थ इन्द्रिय भी है। दोनों 'अश्वी' अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय हों। दोनों ब्रह्मचारी हों। एक 'सोम' ब्रह्मचारी है तो दूसरी वधू सूर्या ब्रह्मचारिणी हो। उसी को दूसरे शब्दों में 'सावित्री', कहा जाता है। अन्य भी बहुत से अभिप्राय प्रकट होते हैं स्थानाभाव से नहीं लिखते।

इस प्रकार वेद मन्त्र में आये एक कन्या और दो वर की समस्या सरल होती है।
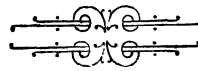
शाखाभेद—कृष्ण, शुक्ल

[मूल लेखक—श्री पं० त्र्यम्बक जी ओको]

इस वर्त्तमानकाल में शाखाभेद देशभेद से चरण व्यूह परिशिष्ट की टीका महार्णव में इस प्रकार लिखा है:—

पृथिव्या मध्यरेखा च नर्मदा परिकीर्त्तिता।
दक्षिणोत्तरयोर्भागे शाखाभेदश्च उच्यते॥
नर्मदादक्षिणे भागे आपस्तम्बाश्वलायनी।
राणायनी पैप्पलादी यज्ञकन्याविभागिनः॥
माध्यंदिनी शांखायनी, कौथुमी शौनकी तथा॥
नर्मदोत्तरभागे च यज्ञकन्याविभागिनः।
तुङ्गा कृष्णा तथा गोदा सह्याद्रिशिखरावधि॥
आ आन्ध्रदेशपर्यन्तं बह्वचश्चाश्वलायनी।
उत्तरे गुर्जरे देशे वेदो बह्वचःकीर्त्तितः॥
कौषीतकी ब्राह्मणं च शाखा शांखायनी स्थितः।
आन्ध्रादिदक्षिणाग्नेय्यां गोदायाः सागरावधि॥
यजुर्वेदस्तैत्तिरीय आपस्तम्बी प्रतिष्ठता।

सह्याद्रिपर्वतारम्भान्नैऋत्यां दिशि सागरात् ।
हिरण्यकेशी शाखा स्यात् परशुरामस्य सन्निधौ ।
मयूरपर्वताच्चैव यावद् गुर्जरदेशतः ।
व्याप्ता वायव्यदेशात्तु मैत्रायणी प्रतिष्ठिता ।
अंगवंगकलिङ्गाश्च कानीनो गुर्जरस्तथा ।
वाजसनेयि शाखा च माध्यंदिनीप्रतिष्ठिता ।
ऋषिणा याज्ञवल्केन सर्वदेशेषु विस्तृता ।
वाजसनेयिवेदस्य प्रथमा काण्वसंज्ञका ।

पृथ्वी की मध्य रेखा नर्मदा को मानकर उसके दक्षिण उत्तर के भाग में शाखाभेद इस प्रकार है। नर्मदा के दक्षिण भाग में आपस्तम्बी, आश्वलायनी, राणायनी, पैप्पलादी है इनके मानने वाले परस्पर यज्ञ में और कन्या सम्बन्ध में भी भागी होते हैं। नर्मदा के उत्तर भाग में माध्यंन्दिनी शांखायनी कौथुमी और शौनकी शाखा हैं। इनके मानने वाले परस्पर यज्ञ और कन्या सम्बन्ध में भागी होते हैं। तुङ्गभद्रा, कृष्णा, गोदावरी और सह्याद्रि से लेकर आन्ध्रदेश तक बह्वृच और आश्वलायनी, उत्तर में गुजरात देश में बह्वृचशाखा और कौषीतकी ब्राह्मण और शांखायनी शाखा है। आन्ध्र से लेकर दक्षिण और अग्नेयदिशा में गोदावरी से सागर तक तैत्तिरीय यजुर्वेद, आपस्तम्बी शाखा है। सह्याद्रि पर्वत से लेकर नैर्ऋति दिशा में सागर तक हिरण्यकेशी शाखा है। परशुराम के पास मयूर पर्वत से लेकर गुजरात तक मैत्रायणी है अंग, बंग, कलिंग, कानीन, गुजरात, इनमें वाजसनेयी माध्यंन्दिनी शाखा है और याज्ञवल्क्य ने इसका सब देशों में प्रचार किया। वाजसनेय वेद की प्रथम शाखा काण्व नाम की है।

आपस्तम्बी यजुर्वेद की शाखा है, आश्वलायनी ऋग्वेद की, राणायनी सामवेद की, पैप्पलादी अथर्ववेदकी। तैत्तिरीय वाले आपस्तम्ब कृत श्रौतसूत्रों को प्रमाण करते हैं। शाकल शाखा वाले आश्वलायन को। इसका तात्पर्य यह है कि वेदसंहिता समान होने पर भी केवल सूत्र भेद से शाखाभेद कहा जाता है। इसी प्रकार का तैत्तिरीयों की एक हिरण्यकेशी शाखा है। सूत्रभेद और संहिताभेद से भी प्राच्य यजुर्वेद की एक शाखा चरणव्यूह ने कही है। माध्यंन्दिनी शाखा यजुर्वेद की है, शांखायनी ऋग्वेद की है, कौथुमी सामवेद की, शौनकी अथर्व की, ऋग्वेद की वाष्कल शाखा का शांखायन सूत्र है। शांखायन और आश्वलायन सूत्रभेद से ही शाकल और वाष्कल दो ऋग्वेद की शाखा हैं। संहिताभेद नहीं है। इस शाखा का ब्राह्मण ऐतरेय है। हिरण्यकेशी शाखा का सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र है। रेवा के उत्तर में माध्यंदिनी, शांखायनी, कौथुमी, शौनकी और काण्व शाखा ये पञ्चगौड़ों की कहाती है। और आश्वलायनी, राणायनी, पैप्पलादी, और मैत्रायणी ये पांच शाखाएं पञ्चद्राविडों की कहाती हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं में से काण्व और माध्यंदिनी दो शाखा ही उपलब्ध होती हैं। प्रथम काण्व शाखा है।

तैत्तिरीयादि यजुर्वेद की कृष्ण शाखा है। इन दोनों के 'शुक्ल' और 'कृष्ण' कहलाने में बहुत से कारण कहे जाते हैं।

भागवतादि पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि व्यासदेव के शिष्य वैशम्पायन ने पादस्पर्शमात्र से बालक और स्त्री की हत्या की, उसके प्रायश्चित्त करने के लिये शिष्यों

से कहा। याज्ञवल्क्य ने अन्यों की अवज्ञा की स्वयं, ही सब प्रायश्चित्त करने का अहङ्कार किया इससे कुपित होकर गुरु ने अपना अध्यापित वेद मांग लिया। इस पर याज्ञवल्क्य ने उसे वमन कर दिया। उस बात को अन्य शिष्यों ने तित्तिरि होकर खालिया। उनकी प्रसारित शाखा तैत्तिरीय हो गयीं। उसके बाद उसने सूर्य की उपासना की तब वाजी अर्थात् अश्व का रूप धरकर सूर्य ने याज्ञवल्क्य को यजुर्वेद दिया। वह वाजसनेय यजुः के नाम से कहाया। वह अश्व शुक्ल अर्थात् श्वेतरंग का होने से शाखा भी शुक्ल नाम से प्रसिद्ध हुई।

परन्तु इन दोनों शाखाओं के शुक्ल और कृष्ण होने के कारण कुछ युक्तियुक्त नहीं है ये केवल पुराण में कथा या किंवदन्ती-प्रसंग से लिख दिये हैं परन्तु पूर्वोक्त चरणव्यूह की टीका में इन कारणों को लिखकर भी एक कारण यह दर्शाया है कि वेदोपाकर्मकाल में जो चतुर्दशीयुक्त-पूर्णिमा को ग्रहण करते हैं इससे वे शुक्ल यजुः हैं। दूसरे कृष्णपक्ष की प्रतिपदायुक्त पूर्णिमा को लेते हैं इससे वे कृष्ण शाखा वाले कहाते हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने लिखा है कि व्यासदेव ने जो वैशम्पायन को ८६ शाखाओं में विभक्त यजुर्वेद का प्रवचन किया था वह सब ब्राह्मण भाग से संमिश्रित था। केवल मन्त्र भाग पृथक् नहीं था, न केवल ब्राह्मण भाग पृथक् था। यजुर्वेद की १५ शाखाओं का यजुर्वेद जो 'वाजि रूप, धर सूर्य ने याज्ञवल्क्य को कहा उसमें ब्राह्मण भाग पृथक् और मन्त्रभाग पृथक् था। इसी कारण शुक्ल यजुषों की नवीनता थी। इसी अभिप्राय से भागवत कार ने उनको 'अविद्यमान' ऐसा कहा।

इस प्रकार मन्त्र भाग और ब्राह्मण भागों का न मिला रहना ही वाजसनेय यजुषों का शुक्ल होना है और मिला रहना ही 'कृष्ण' होना है *

वान्त आदि होने की बातें जो हैं वे विशेष तर्क के आगे निर्बल और निःसार प्रतीत होती हैं।

* टि०—वेद में 'वाज' शब्द ज्ञान और बल, वेग, धन आदि का वाचक है। उसको धारण करने वाले 'वाजी' कहाते हैं। लोकभाषा में वाजी घोड़े का वाचक है। वेद में ज्ञानी का वाचक है। ज्ञानवान् परमेश्वर ने और गुरुपरम्परा से ज्ञानवान् आचार्यों ने ही जिस वेद का उपदेश किया वे शुद्ध मन्त्रभाग 'शुक्ल वाजसनेय' हुए यह कल्पना अधिक उपयुक्त है। अथवा द्वैपायन व्यास का नाम 'कृष्ण' है। इसी प्रकार सम्भवतः किसी आचार्य का शुक्ल नाम हो। इसके अतिरिक्त वाजसनि सामान्य नाम आचार्यों का हो, मन्ध्यन्दिन नाम भी आचार्य का है, तित्तिरि वर्त्तन्तु नाम भी आचार्यों के हैं, इसी प्रकार अन्य भी शाखावाचक सब नाम आचार्यों के नाम है। अतः इन नामों से विचित्र कथा आदि की कल्पना करना चाहे लोक विनोद के लिये रुचिकर हो, परन्तु यथार्थता में उनका कोई महत्व नहीं।

—जयदेव शर्मा

श्री पं० त्र्यम्बकजी आके एक अच्छे दक्षिणी विद्वान् थे। वे हिरण्यकेशीयशाखी थे। आपने अपने विचार 'आचारभूषण' नामक ग्रन्थ में प्रकट किये हैं। उसी का आशय रूप यह लेख है। —संपादक

सम्पादकीय टिप्पणियां

१—शन्तनु और देवापि की कथा

निरुक्त २ । ११ में देवापि और शन्तनु की कथा दी गई है । यथाः—

"तत्रेतिहासमाचक्षते । देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः । स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे देवापिस्तपः प्रतिपेदे । ततः शन्तनोः राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष । तमूचु र्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं, तस्मात्ते देवो न वर्षतीति । स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन । तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति ॥"

"देवापि और शन्तनु ऋष्टिषेण के पुत्र थे । कुरुवंश में उत्पन्न हुए थे । इन दोनों भाइयों में शन्तनु छोटा था । इसने जैसे-तैसे अपना राज्याभिषेक करा लिया । तब देवापि तप में रत होगया । शन्तनु के राज्य में १२ वर्षों तक मेघ न बरसा । उसे ब्राह्मणों ने कहा कि तूने अधर्म किया है जो तूने बड़े भाई को लांघ कर राज्यभिषेक कराया है, इस कारण तेरे राज्य में वर्षा नहीं होती । तब शन्तनु ने राज्यदान का सन्देश देवापि को भेजा । देवापि ने उसे कहा कि मैं तेरा पुरोहित हो जाता हूं और तेरा यज्ञ करा दूंगा (जिससे कि तेरे राज्य में वर्षा हो जायगी) ।

इस कथा के सम्बन्ध में निरुक्तकार ने दो मन्त्र ऋग्वेद के उपस्थित किये हैं जो कि निम्नलिखित हैं । यथाः—

(१) आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥
ऋ० १० । ९८ । ५ ॥

(२) यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् ।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥
ऋ० १० । ९८ । ७ ॥

इनके अर्थ निम्नलिखित हैं:—

"ऋषिषेण का पुत्र देवापि ऋषि, होतृकर्म के निमित्त, बैठा । देवों की सुमति अर्थात् कल्याणी मति, वर्षादान करने की मति कैसे हो इस ढंग को देवापि अच्छे प्रकार जानता था । उसने उत्तर-समुद्र अर्थात् आकाश से निचले समुद्र में वर्षा के दिव्य-जल बरसाये ।

"पुरोहित देवापि ने-जिसका कि होतृकर्म के निमित्त वरण हुआ-दया करते हुए शन्तनु के लिये ध्यान किया, देवों में प्रसिद्ध तथा वर्षा की चाहना वाले देवापि के प्रति बृहस्पति ने इस इच्छा सम्बन्धी वचन दिया ।'

यह बृहस्पति इस वृष्टि यज्ञ में ब्रह्मा बना इस प्रकार यास्क ने यहाँ लिखा है । अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि ऋग्वेद के उपरोक्त मन्त्रों में वास्तव में ऋष्टिषेण और उसके पुत्रों अर्थात् देवापि और शन्तनु का वर्णन है और साथ ही यदि इन मन्त्रों में उनके कृत्यों आदि का भी वर्णन है तो वेद अनादि कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? ।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय के लोग तो इन मन्त्रों में वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा उनके कामों का वर्णन मानते हैं ।

निरुक्त में कई स्थलों पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने प्रथम ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मत दर्शाया है और ऐतिहासिक सम्प्रदाय की दृष्टि से मन्त्र का अर्थ दर्शा

कर उनका खण्डन भी किया है। इस शैली से प्रतीत होता है कि निरुक्तकार तो सम्भवतः ऐतिहासिक पक्ष के विरुद्ध ही था। परन्तु इस स्थल में निरुक्तकार ने ऋष्टिषेण, देवापि तथा शन्तनु के इतिहास के रहस्य के उद्घाटन में कोई सहायता विशेष रूप से नहीं दी। हां, उसने इन नामों के यौगिक अर्थ इस स्थल पर अवश्य दे दिये हैं।

इस स्थल की टीका करते हुए श्री दुर्गाचार्य ने, इस सम्बन्ध में निरुक्त पक्ष को, निम्न लिखित लेख द्वारा दर्शाया है। यथाः—

"निरुक्त पक्षे—ऋष्टिषेणो मध्यमः, तदपत्यमयमग्निः पार्थिव आर्ष्टिषेणो देवापिः, स शन्तनवे सर्वस्मै यजमानायेति योज्यम्। बृहस्पतिः वाचस्पतिरिति मध्यमः, स्तनयित्नु-लक्षणां वाचमित्यर्थः"।

"निरुक्त पक्ष में ऋष्टिषेण मध्यम अर्थात् अन्तरिक्ष में रहने वाला देव है, (अर्थात् इन्द्र विद्युत् वा वायु)। इसका पुत्र यह पृथिवी की अग्नि है, यही देवापि है। शन्तनु का अर्थ है "सब यजमान" जो कि यज्ञ द्वारा शम् अर्थात शान्ति और कल्याण का विस्तार करते हैं। बृहस्पति (बादल हैं जो कि) घन गर्जन रूपी वाणी का उत्पादक है"।

इन्द्र को देवों का सेनानी[1] गिना गया है। ऋष्टिषेण का अर्थ है "ऋष्टियों अर्थात् आयुधों से सम्पन्न सेना का स्वामी"। गर्जना जब होती है तो मानो देवसेना वज्र फैंक रही है। वर्षा जब होती है तो मानो देवसेना बाणों की बौछार कर रही है। वायु जब

१—इन्द्र एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्यम्॥
अथर्व० १६।१३।६॥

प्रबल रूप में बहती है तो मानो देवसेना आक्रमण के लिये दौड़ रही है। इस सब देवसेना का सेनानी या अधिष्ठाता इन्द्र है। इस लिये इन्द्र ऋष्टिषेण हुआ।

वायु भी ऋष्टिषेण हो सकता है। क्योंकि अन्तरिक्ष में वायु की प्रधानता है और सदा इसका हमारे प्राणों के साथ सम्बन्ध रहता है इस वायु के विना न तो अन्तरिक्ष में विद्युत् हो सकती है और न मेघ। इस पक्ष में मेघ आदि को सेना माना जा सकता है।

आर्ष्टिषेण हुआ अग्नि इस ऋष्टिषेण का पुत्र है। विद्युत्[1] से भी अग्नि उत्पन्न होती है और वायु से भी।

यह पार्थिव अग्नि ही देवापि है। यही देवों को उनका अपना २ अंश पहुंचाता[2] है। अग्नि में डाली हुई आहुति को अग्नि सूक्ष्म कर देता है और इस प्रकार आहुति का सूक्ष्मांश देवों को प्राप्त[2] होता है। इस लिये अग्नि देवापि है।

शन्तनु हैं सब यजमान। जो कि शम् अर्थात् शान्ति का विस्तार करते हैं। यज्ञों द्वारा शान्ति को फैलाते हैं।

'देवापि ने शन्तनु का यज्ञ रचाया' इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि ने यजमान का यज्ञ रचाया। अग्नि के विना यजमान के यज्ञ का हो सकना सम्भव ही नहीं।

अब रहा बृहस्पति। बृहस्पति ने वाणी द्वारा आश्वासन दिया कि वर्षा अवश्य होगी, तुम यज्ञ रचाओ। यह आश्वासन मेघों की गड़गड़ाहट प्रतीत होता है। मेघों की गर्जना के होने पर विश्वास सा होने लगता है कि वर्षा आई, या होगी।

१—देखो वैदिक विज्ञान, अंक ६, पृष्ठ २५०—२५१॥
२—देवापिर्देवानामाप्त्य, निरुक्त २।१२॥

ऊपर के दो मन्त्रों में ऋष्टिषेण, देवापि, शन्तनु तथा बृहस्पति ये चार नाम ही विशेष महत्त्व के हैं, जिनके आधार पर ऐतिहासिक सम्प्रदाय के वैदिक विद्वान् इन मन्त्रों में इतिहास का होना सिद्ध करते हैं। टीकाकार दुर्गाचार्य के प्रमाण के अनुसार जब हमने देख लिया कि ऋष्टिषेण आदि नाम किन्हीं मनुष्य-व्यक्तियों के नहीं, अपितु ये नाम प्राकृतिक शक्तियों के हैं तब यह निर्णय कर लेना कोई असंगत न होगा कि इन उपरोक्त मन्त्रों में किसी इतिहास का वर्णन नहीं।

शेष रही कथा। इस कथा में कई ऐसी भी बातों का उल्लेख है जो कि इन मन्त्रों द्वारा प्रमाणित नहीं होतीं। इसलिये उनका समाधान व्यर्थ जानकर इस स्थान पर नहीं किया गया।

अब निरुक्त पक्ष के अनुसार इस स्थान पर ऊपर के दो मन्त्रों का वास्तविक अर्थ लिखा जाता है। यथा:—

(१) "ऋष्टिषेण (अर्थात् विद्युत् या वायु) का पुत्र देवापि ऋषि (अर्थात् यज्ञीय-अग्नि) होम कर्म सम्पादन करने के निमित्त यज्ञ कुण्ड में स्थित हुआ, मानो कि यह पहिले से ही जानता है कि यज्ञ होने पर वर्षा अवश्य होगी। उस यज्ञीय अग्नि ने आकाश से निचले समुद्र में वर्षा के दिव्य जल बरसा दिये"।

(२) "देवापि (अर्थात् अग्नि) जब पुरोहित हुआ, यज्ञ-कुण्ड में सम्मुख स्थापित हुआ, और इसे होम-कार्य के लिये जब वरा गया, तो मानो शन्तनु अर्थात् यजमान पर कृपा करता हुआ यह अग्नि चमका। तब बृहस्पति अर्थात् मेघ ने वाणी की"।

इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों के इन वास्तविक अर्थों के देखने से प्रतीत होगा कि इन मन्त्रों में केवल कृत्रिम ढंग से वर्षा करा लेने का ही वर्णन है, किसी इतिहास का नहीं।

२—कुलपति

भिन्न२ समयों में शब्दों के अर्थों में कितना परिवर्त्तन होजाया करता है इसका एक उदाहरण कुलपति शब्द है। ब्राह्मणिक—साहित्य में कुलपति शब्द का बड़ा गौरव है। जो आचार्य दस हज़ार ब्रह्मचारियों के पालन-पोषण तथा पढ़ाई आदि की व्यवस्था स्वयं करता है उसे ब्राह्मणिक-साहित्य में कुलपति कहते हैं। परन्तु बौद्ध विहारों के साधुओं में जब कोई आचार्य किसी बात का निर्णय स्वेच्छा से अर्थात् केवल अपनी इच्छा से ही कर दिया करता था या यदि किसी व्यक्ति के साथ स्वेछा से अनुग्रह पूर्ण अथवा अनुग्रह हीन व्यवहार किया करता था और इस सम्बन्ध में वह साधु-सभा की इच्छा की परवाह न करता तब वह विहार से निकाल दिया जाता था और उसे उस समय कुलपति नाम दे दिया जाता था। इस सम्बन्ध में सन्तोष कुमारदास एम. ए. "The Education system of the Ancient Hindus" नामी पुस्तक के पृष्ठ १६४ में निम्नलिखित लेख लिखते हैं। यथा—

"The kulpati which according to the Hindu commentator denotes a teacher who maintains ten thousand pupils became a word of scorn among monastic Buddhists, for, says (1-9) Sing "If any priest decided anything by himself alone or treated the priest

favourably or unfavourably at his own pleasure with regarding the will of the assembly he was expelled from the monastory being called a kulpati."

ब्राह्मणिक-साहित्य में कुलपति के साथ बहुत मान तथा पूजा के भाव का सम्बन्ध वर्णित है। बौद्ध बिहार जब कि बौद्ध-साधुओं की सभाओं द्वारा शासित होते होंगे और जबकि बौद्ध साधुओं में अपनी २ वैयक्तिक सम्मति की अधिक कदर होती होगी उस समय का यह स्वाभाविक परिणाम प्रतीत होता है कि बौद्ध साधु उस व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से देखें जो कि प्रबन्ध में अपनी ही चलाता हो। इस प्रकार सम्भवतः ब्राह्मणिक-साहित्य का कुलपति शब्द बौद्ध-साधुओं में घृणा का पात्र बन गया हो।

३—न्यू गिनी द्वीप में विवाह के कतिपय वैदिकांश।

न्यूगिनी द्वीप में जो कि आस्ट्रेलिया के उत्तर में है, और आस्ट्रेलिया के ही आधीन है—विवाह किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध में 'लीडर दैनिक पत्र के १४ जुलाई १९३३ के अंक' में कुछ प्रकाश डाला गया है, जिसका भाव निम्नलिखित है। यथा:—

"न्यूगिनी की क्यूबा या गिरन जाति की जब कोई युवति पति की चाहना करती है तो वह इस बात का स्पष्ट कथन कर देती है। वह अपने इष्ट पुरुष को चुन लेती है और तत्पश्चात् उसके सम्बन्धी को कह देती है कि उसकी आत्मा अमुक पुरुष की कामना करती है।"

"अपने पुत्र के सम्बन्ध में इस प्रकार का प्रस्ताव सुनकर प्रस्तावित पुरुष के माता-पिता युवती से नाना प्रकार के प्रश्नोत्तर करते हैं। युवती की जब इस प्रकार परीक्षा लेली जाती है तब वह प्रस्तावित पुरुष के सम्बन्धियों के पास विधि पूर्वक प्रस्ताव भेजती है। तब भारी सहभोज के लिये भोजन तैयार किया जाता है और निर्दिष्ट दिन पर भावी वधू के सम्बन्ध में देन लेन का निर्णय होता है।"

"विवाह के पहिले एक सभा की जाती है जिसमें दोनों ओर के सम्बन्धी विवाह के कर्त्तव्य-धर्मों के सम्बन्ध में दम्पती को शिक्षा देते हैं। विवाह के दिन प्रातःकाल जाति का मुखिया वर वधू के मस्तक पर काले रंग से चित्रलेखन करता है। यह विवाह की मुख्य विधि है। इसके पश्चात् सब चले जाते हैं।"

"ओगोई और म्सिनी जातियों में कन्या जब विवाहयोग्य अर्थात् १० वर्ष की होजाती है—तब उसके विवाह का आयोजन किया जाता है। घर में एक मञ्च (चबूतरा या वेदी) तैयार किया जाता है। इस मञ्च के नीचे अग्नि प्रदीप्त की जाती है, वधू को इस मञ्च पर बिठा दिया जाता है, और यह कई घण्टे लगातार अग्नि के धूम में घिरी बैठी रहती है। तत्पश्चात् उसे नाना आभूषणों द्वारा आभूषित किया जाता है। गृह-द्वार लाल रंग से चित्रित किया जाता है। वेगर जाति में वधू का मूल्य एक सूअर समझा जाता है।"

ऊपर के लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि—

(क्यूबा और गिरन जाति की युवतियों में स्वयंवर की विधि अबतक भी प्रचलित है।)

(२) इस जाति में कन्या की अच्छे प्रकार से परीक्षा को भी बुरा नहीं गिना जाता। बल्कि कन्या की परीक्षा वर के माता-पिता स्वयं करते हैं। स्वयंवर की विधि में यह दोष सम्भावित है कि कहीं वर और

वधू ऊपरी सौन्दर्य के ही वशीभूत न हो जायं और परस्पर के गुणों और अवगुणों की जांच न कर पायें, परन्तु इन जातियों में यह विधि बहुत उत्तम है कि कन्या के स्वयंवरण के पश्चात् कन्या की परीक्षा वर के माता-पिता भी करें। ताकि स्वयंवर के दोष की भी सम्भावना न रहे और साथ ही विवाह में केवल माता पिता की ही इच्छा भी मुख्य काम न कर सके।

(३) विवाह-परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर कन्या स्वयं विवाह के लिये वर के माता पिता के पास प्रस्ताव भेजती है यह विधि स्वयंवर के उच्च आदर्श को दर्शा रही है। हम सभ्यताभिमानी विवाह के सम्बन्ध में कन्या की इच्छा की कितनी परवाह करते हैं इसके सम्बन्ध में विशेष टीका-टिप्पणी की यहां आवश्यकता नहीं।

(४) विवाह से पूर्व सभा कर दोनों पक्षों के लोग जो दम्पती को विवाह के सम्बन्ध के कर्त्तव्यों पर उपदेश देते हैं यह विधि भी पूर्ण वैदिक तथा उच्च कोटि की है।

(५) ओगाई और म्सिनी लोगों में कन्या को अग्नि-मञ्च पर बिठाने की विधि सम्भवतः विवाह-समय पर किये जाने वाले वैदिक-यज्ञ का अपभ्रंश मात्र हो।

(६) अग्नि के धूम में देर तक बैठे रहने के पश्चात् कन्या को नाना आभूषणों द्वारा इस जाति में आभूषित किया जाता है। वैदिक विवाह में भी कुछ देर तक विवाह की विधि हो चुकने पर बीच में वधू को वर की ओर से वस्त्र तथा आभूषण दिये जाते हैं ताकि वधू इन वस्त्रों तथा आभूषणों से आभूषित होकर पुनः सभा-मण्डप में आकर शेष विधि को पूर्ण करे। सम्भवतः धूम्र सेवन की विधि के पश्चात् की जाने वाली आभूषणों द्वारा आभूषित करने की विधि इसी वैदिक विधि का अपभ्रंश ही हो।

(७) वेगर जाति के लोगों में कन्या के मूल्य रूप में सूअर के दान की प्रथा मनुस्मृति के आर्ष-विवाह में गौओं के एक जोड़े या दो जोड़ों के देने की प्रथा का स्मरण कराती है। देखो मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक २९।

(८) इसी प्रकार क्यूबा और गिरन जाति के लोगों में देन-लेन के निर्णय की प्रथा मनुस्मृति के आसुर-विवाह में देन लेन की प्रथा का स्मरण कराती है। देखो मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ३१।

"दैनिक पत्र लीडर के लेख का उद्धरण नीचे दिया जाता है। यथाः—

"when a young woman of the cube or Giran tribes, New guines, wants a husband she frankly says so. She picks her man and then tells one of his relatives that her soul yearns for him."

"Hearing about the proposed capture of their son, his parents closely question the girl who, if approved, sends a formal proposal to his relatives in general. Food is prepared for an elaborate feast and on the appointed day, payments for the prospective bride are laid out."

"On the day before the marriage a solemn meeting is held, at which the relatives of both parties tender advise on the responsibilities of marriage. At dawn on the wedding day, the chief of the tribe paints a black pigment on the head of the bride and bridegroom. This constitutes the actual ceremony, after which every body disperses."

"In the case of the Ogoi and Msini tribes marriage is arranged when a girl reaches the age of maturity, which is about ten years. A platform is erected in a house. A fire is lit underneath and the prospective bride sits on the platform for hours while the smoke encircles her. She is then decorated with various ornaments, the door of the house is paintered and the ceremony is performed. The price of a bride to the wagor native is a pig."

चारों वेदों के सरल सुबोध भाषा भाष्य

१ सामवेद भाषा-भाष्य

सामवेद भाषा-भाष्य छपकर तैयार होते ही सारे का सारा बिक गया। दूसरा संस्करण तैयार है। पृष्ठ-संख्या ८५० से अधिक। मूल्य ४) रु०।

भाष्य की बड़े-बड़े विद्वानों तथा समाचारपत्रों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। प्रशंसापत्रों की छपी प्रतिलिपि मँगाने पर भेजी जा सकती है।

२ अथर्ववेद भाषा-भाष्य

(चार भागों में)

अथर्ववेद के विषय में लोगों का और सायण जैसे प्रखर विद्वान् आचार्यों का भी यही आग्रह रहा है कि उसमें जादू-टोना और मारण, उच्चाटन, मोहन आदि तान्त्रिक लीला भरी पड़ी है। इस विश्वास का कारण प्रायः अथर्ववेदी कौशिक सूत्र है, परन्तु हमारा विश्वास ऐसा नहीं है। इस सरल भाषा-भाष्य को देखकर सबको विदित हो जायगा कि तन्त्र-मन्त्र की लीला केवल लोगों की मनगढ़न्त है। अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या, राजविद्या और मानव-समाज की उन्नति के लिये सभी उत्तम-उत्तम विद्याओं का बड़ी गम्भीरता और उत्तमता से उपदेश किया गया है। मूल्य चारों भागों का १६) रुपये।

३ यजुर्वेद भाषा-भाष्य

(दो भागों में)

इस भाष्य में महर्षि दयानन्द की दर्शाई दिशा को मुख्यता दी गई है। आवश्यक स्थलों पर अन्य भाष्यों और अनुवादकों के मतभेद और त्रुटियाँ दिखाते हुए विशेषताओं को भी नहीं छिपाया गया। मन्त्रों के साथ शतपथ ब्राह्मण के पते आदि भी दिये गये हैं। भूमिका में वेद का परिचय लिखा गया है। मूल्य दोनों भागों का ८) रु०

४ ऋग्वेद भाषा-भाष्य

(पाँच भागों में)

इसमें महर्षि दयानन्द कृत संस्कृत-भाष्य शैली को अनुसरण करते हुए भाषा-भाष्य किया गया है और जिन भागों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर भी सरल भाष्य कर दिया गया है। स्थान-स्थान पर अन्य भाष्यकारों की विशेषता दर्शाई गई है। भूमिका में ऋग्वेद का परिचय देते हुए ऋग्वेद से सम्बद्ध कल्पित इतिहासों का भी विवेचन किया गया है। प्रथम भाग छप गया। आगे छप रहा है। मूल्य पाँचों भागों का २०)रु०

वेद-भाष्य के स्थिर ग्राहक होने के नियम

१—जो महाशय १) पेशगी कार्यालय में जमा कराकर अपना नाम स्थिर ग्राहकों में लिखवा लेंगे, वे चारों वेदों के भाष्य के स्थिर ग्राहक होंगे, उनको प्रथम जिल्द के साथ ही १) की रसीद दी जायगी। यह १) रु० अन्तिम भाग के मूल्य में मुजरा कर दिया जायगा।

२—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की प्रत्येक जिल्द ३) रु० में ही प्राप्त हो सकेगी।

३—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की कुल जिल्दें लेना आवश्यक होगा।

४—वेद-भाष्य में चारों वेदों का भाष्य अनुमानतः १२ जिल्दों में पूर्ण कर दिया जायगा और जो जो जिल्द प्रकाशित होती जायगी, वह वह क्रमशः स्थिर ग्राहकों को वी० पी० द्वारा भेजदी जाया करेगी। मार्ग-व्यय मूल्य से पृथक् लिया जायगा।

५—जिनकी वी० पी० लौट आयेगी उनका मार्ग-व्यय पेशगी से काटलिया जायगा और उनकी ओर से बिना दूसरी सूचना प्राप्त किये उनको पुनः वी० पी० न भेजी जायगी।

प्रबन्धकर्त्ता—"आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड," अजमेर.

Registered No. N--502

श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस अजमेर में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये।

२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:-
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	२०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१२) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन
तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १ | आश्विन, संवत् १९९० वि०, सितम्बर, सन् १९३३ ई० | सं० १२

वेदोपदेश

चारों वर्ण ब्रह्म के अधिकारी हैं

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते ॥

अथ० १० । २ । २३ ॥

"ब्रह्म देवों में निरन्तर वास करता है, ब्रह्म देव-जनों के सेवक वैश्यों में निरन्तर वास करता है, ब्रह्म इनमें भी निरन्तर वास करता है जो कि देवों और वैश्यों से अन्य हैं, जोकि क्षत्र अर्थात क्षत्रिय नहीं हैं (अपितु शूद्र हैं), ब्रह्म सचे क्षत्रिय के साथ भी निरन्तर सम्बद्ध है" ।

यह मन्त्र बहुत महत्व का है । इस मन्त्र में यह दर्शाया है कि ब्रह्म अर्थात् परमात्मा सभी वर्णों को प्राप्त हो सकता है । केवल ब्राह्मण ही ब्रह्म प्राप्ति का अधिकारी नहीं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी ब्रह्मप्राप्ति के अधिकारी हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में कर्मों और स्वभावों का चाहे कितना भी

अन्तर हो परन्तु इन सबको ब्रह्म प्राप्ति होसकती है। ब्रह्म प्राप्ति के लिये ब्राह्मण को कोई विशेष सुविधा और शूद्र को कोई विशेष असुविधा नहीं है। वेद इन सब को ब्रह्म प्राप्ति की दृष्टि से एक सा देखता है। इस महत्वपूर्ण उदार सिद्धान्त का एक विशेष कारण भी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण पेशों की दृष्टि से परस्पर विभिन्न हैं। पेशों का भेद अवश्य स्वभाव भेद के कारणही हुआ करता है। एक व्यक्ति है जो वकालत को पसन्द करता है, दूसरा व्यक्ति है जोकि वकालत को पसन्द नहीं करता अपितु व्यापार को पसन्द करता है। तीसरा व्यक्ति ऐसा है जो कि डाक्टरी के पेशे को पसन्द करता है। चौथा ऐसा है जो कि प्रबन्ध विभाग के काम को पसन्द करता है। इस प्रकार संसार में भिन्न २ प्रकार की आकांक्षाएं और चुनाव हैं। इन आकांक्षाओं तथा चुनावों में व्यक्तियों के स्वभावों में विभिन्नता का होना ही मूलकारण है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अपने २ पेशों की दृष्टि में भिन्न २ हैं और इन भिन्न २ पेशों के चुनाव में उनके भिन्न २ स्वभाव ही कारण हैं।

ब्राह्मण अपना पेशा करते हुए अच्छे भी होसकते हैं और बुरे भी। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने २ पेशे करते हुए अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। इसलिये ब्रह्मप्राप्ति में पेशे कारण नहीं हैं। ब्रह्मप्राप्ति में मूल कारण है संसार में लेप का न होना और ब्रह्म के प्रति अनन्य भक्ति का होना। जो वीतराग है और ब्रह्म का अनन्य भक्त है, चाहे वह पेशे की दृष्टि से ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो—वह अवश्य ब्रह्म के पाने का अधिकारी है। ब्राह्मण अपना पेशा करता हुआ यदि वीतराग नहीं और ब्रह्म का सच्चा उपासक नहीं तो वह भी ब्रह्म प्राप्ति नहीं कर सकता। इसके प्रतिकूल शूद्र समाज की शारीरिक सेवा करता हुआ, यदि वीतराग और ब्रह्म का सच्चा उपासक है तो वह अवश्य ब्रह्म के अधिक समीपवर्ती होसकता है। इसलिये चारों वर्ण ब्रह्म की प्राप्ति कर सकते हैं। गीता में लिखा है कि:—

> ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ १८ । ४१॥
> स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥ १८ । ४५॥

"अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के काम या पेशे उस २ के स्वभाव के कारण पृथक् २ विभक्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म या पेशे में लगा हुआ सिद्धि को प्राप्त कर सकता है"।

इस प्रकार वेदों की उपरोक्त उदार तथा सच्ची नीति जिसमें कि ब्रह्म प्राप्ति की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति को उसके पेशे के कारण नीच नहीं गिना गया बहुत उत्तम तथा हृदयग्राही है।

वैदिक कर्मयोग

[ले० श्री० पं० नित्यानन्दजी वेदालंकार]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
यजु० ४० । २ ॥

(इह) इस संसार में (कर्माणि कुर्वन्एव) कर्मों को करता हुआ ही (शतं समाः जिजीविषेत्) सौ साल तक जीने की इच्छा करे, (एवं त्वयि) इस प्रकार का कर्ममार्ग तेरे लिये निश्चित है, (इतोऽन्यथा नास्ति) इसके विपरीत कोई मार्ग नहीं है, (नरे कर्म न लिप्यते) मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता।

इस मन्त्र के शब्द बहुत सरल हैं। सन्देह का अवकाश नहीं। तात्पर्य बहुत स्पष्ट है। वैदिक साहित्य में ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और उपासनामार्ग का स्थान २ पर वर्णन मिलता है। ये मार्ग परस्पर विपरीत नहीं हैं। इस उपरोक्त मन्त्र में कर्ममार्ग का उपाख्यान किया गया है। अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों का यह कहना है कि वैदिक संस्कृति और आर्यसभ्यता कर्मों का त्याग करना सिखलाती है। संसार के भोगों का आनन्द और ऐश्वर्य मनुष्य के लिये नहीं, दुनियादारी और संसार के धन्धों को छोड़कर जंगलों में चले जाना वैदिक जीवन का आदर्श है। सब कर्मों को छोड़कर केवल कठोर तपस्या से अपने शरीर को कमज़ोर कर लेना और जंगल में बैठकर ध्यान और समाधि से अपनी जीवनलीला को समाप्त करना आर्यसभ्यता का सार है। संसार में दुःख बहुत हैं। कर्म तो बन्धन का कारण है इसलिये कर्मों को छोड़कर भगवान् का भजन करते हुए मोक्ष की कामना करना श्रेयस्कर है।

क्या सचमुच वैदिक संस्कृति यही सिखलाती है? वेद और उपनिषदों के अनुसार आचरण करने वाले हमारे प्राचीन आर्यों तथा ऋषि मुनियों ने इस मार्ग का अनुसरण किया या नहीं? जिस समय सनातन वैदिक संस्कृति प्रचलित थी उस समय यह हमारा हिन्दुस्तान ज्ञान-विज्ञान में, कला-कौशल में, धनधान्य में, वैभव और व्यापार में संसार में प्रसिद्ध था या नहीं? यह तो इतिहास का विषय है। साम्राज्यों का विजेता सम्राट् सिकन्दर-जिसने अपनी लाखों की विशाल फ़ौज से एचीमीनियन साम्राज्य को दो युद्धों में ही धूल में मिला दिया, उसे भारत में चप्पा २ और इञ्च २ भर ज़मीन के लिये भयंकर युद्ध करने पड़े तथा भारतीय वीरता का मुकाबला न कर सकने के कारण वापिस लौटना पड़ा या नहीं? हमें इससे बहस नहीं। इतिहास आर्यों की कर्मण्यता को बताता है या नहीं यह हमारा विषय नहीं। हम तो यह परीक्षा करना चाहते हैं कि क्या भगवान् वेद निष्कर्मण्यता का उपदेश करना चाहते हैं? मोक्ष या कल्याणपद को पाने के लिये कर्मों को छोड़ना ही क्या वेद ने उपाय बताया है?

'कुर्वन्नेवेह०' यह मन्त्र तो स्पष्टरूप से घोषणा कर रहा है कि हे मनुष्य! तेरे लिये कर्म का मार्ग नियत है। पूर्ण आयुष्य का तू उपभोग कर। यह मत भूल कि अपने जीवन को कर्म करते ही तुझे व्यतीत करना है। चाहे ब्रह्मचर्य आश्रम हो, चाहे गृहस्थ, चाहे वानप्रस्थ और चाहे संन्यास, पर कर्मों

का न्यास नहीं है। चाहे बूढ़ा हो या जवान, कर्म करना तू छोड़ नहीं। मरते दम तक इसी मार्ग पर चलना है। कल्याण पथ के ऐ पथिक ! यह तू निश्चित जान कि कर्म का मार्ग तेरी उन्नति के लिये है। इस संसार में इसके सिवाय कोई और कल्याण का मार्ग नहीं। कर्म का मार्ग कठिन प्रतीत होता है। बड़ी दौड़ धूप है। कर्म और दौड़ धूप को छोड़ना सरल प्रतीत होता है। निष्कर्मण्यता आसान मालूम होती है। परन्तु वास्तव में निष्कर्मण्य होना सरल और सम्भव नहीं। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। कवि वर्ड्सवर्थ (Wordswarth) ने लिखा है:—

The eye can not choose but see,
We can not bid the ear be still
Our bodies feel where'er they be-
Against or with our will.

'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' कर्म किये बिना कोई व्यक्ति क्षण भर भी नहीं रह सकता। इसलिये कर्म के मार्ग पर तू साहस के साथ कदम बढ़ाये जा, कर्म किये जा। कर्म के मार्ग पर चलने को उद्यत, ऐ मनुष्य ! तू घबरा मत कि कर्मों को करते हुए तू किसी जाल में फँस जायगा, जिससे तेरा छुटकारा नहीं हो सकेगा। 'न कर्म लिप्यते नरे' कर्म का लेप मनुष्य में होता नहीं, कुशलतापूर्वक कर्म करने से मनुष्य किसी जाल में फँसता नहीं। त्यागपूर्वक (Giving up the fruit of all work) अर्थात् कर्मों का फल त्यागकरते हुए जो भोग करता है, अनासक्ति और निष्काम भावना से जो कर्म करता है वह कर्म के बन्धन में फँसता नहीं। दुःख उसे होता नहीं। काम भावना से किसी कर्म को करना दुःख का कारण है। जो मनुष्य मधुर आम्रफल को खाने के ख़याल से आम के वृक्ष को बोता है, वह जब यात्रियों को अपने फल तोड़ते देखता है तो दुःखी होता है। क्रोध, ईर्ष्या और द्वेष का शिकार होता है। परन्तु जो निष्काम भाव से, कर्त्तव्य बुद्धि से, वृक्ष को बोता है, उसे यह दुःख नहीं, क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, परन्तु सन्तोष और सुख होता है। यह कर्म की कुशलता है। जो भोला इसे समझता नहीं, वह भटकता है। कर्म तो स्वयं किसी को बन्धन में बांधते नहीं, कर्म चाहे कोई हो, छोटा हो या बड़ा हो, जूते गांठना हो या कोई व्यापार हो, सेवा हो या परोपकार हो, यदि कर्म करने में कुशलता है तो श्रेय है। वह कर्मयोगी अपने कर्ममार्ग पर क़दम बढ़ाता हुआ लक्ष्य पर पहुँच जायगा। जिसे पाना है पालेगा। परन्तु जो भोला मार्ग के दोनों ओर दूर से दीखते हुए झाड़ियों के सुन्दर कुञ्जों का आनन्द और मधुर फलों को तोड़ने के लिये पगडण्डियों को पकड़ता है वह भटकता है। अपने उद्देश्य को वह नहीं पा सकता। इसलिये, भोले ! सीधा चल, विश्वास रख, कर्म तुझे किसी बन्धन में नहीं बांधेंगे। यदि भद्र भावना से कर्म के इस मार्ग पर कदम बढ़ाता जायगा तो अपने अभीष्ट पद पर तू पहुंच जायगा।

मनुष्य ! तूने जन्म लिया है तो इस संसारसागर को तूने तरना भी है। अगर निष्कर्मण्य होकर बैठ जायगा तो इस सागर के पार नहीं पहुंच सकेगा। तेरा जीवन यों ही समाप्त हो जायगा। सागर के किनारे ही निरे कङ्कड़ों को चुनता रह जायगा। समुद्र को जो तरना चाहता है, अनमोल मोतियों को जो चुनना चाहता है उसे तो समुद्र में साहस के साथ

कूदना होगा, हाथ पैर मारने होंगे, तभी तो पार पहुँच सकेगा। समुद्र की ऊंची २ लहरों से जो डर जाता है वह तो भीरु है, वह क्या फल पायगा ? यह संसार तो बीहड़ है। यहां मार्ग ढूंढना सरल नहीं है। बड़े बलशाली लोग भी यहां थक जाते हैं, रह जाते हैं। समुद्र को तरने से भी इस संसार को तरना कठिन है। मन में जिसके दृढ़ संकल्प हो, बाहु में बल हो वही कोई कर्मशील यहां तो वाञ्छित फल पासकता है। कठोर कर्म किये विना इस संसार से निस्तार नहीं हो सकता। कर्म के मार्ग पर कदम बढ़ाते हुए कदम २ पर सितम सहने होंगे, ग़लतियां होंगी, गिरना होगा, भूल होगी, ठोकर लगेगी। परन्तु ऐ कल्याण पथ के पथिक ! घबरा नहीं, साहस तोड़ना नहीं, धैर्य खोना नहीं, निराश होना नहीं, क्योंकि जिस पथ पर तूने कदम बढ़ाया है, श्रेय का पथ वह है। श्रेय को पाने में कठिनता तो होती है। दुःख सहे विना सुख मिलता नहीं। अभीष्ट को पाने के लिये कष्ट झेलना होता है। संकट और कष्ट से निराश होना ठीक नहीं। धैर्य के साथ मुसीबतों का मुकाबला करना मनुष्यता है।

"गिरते हैं शह सवार ही मैदान-ए-जंग में।
वो शख्स क्या गिरेगा जो घुटनों के बल चले॥"

जंग के मैदान में बड़े २ सवार गिरा करते हैं, परन्तु मृत्यु के डर को छोड़कर कर्त्तव्य के लिये मैदान में जो मरता है मर्द वही है। गिरता हर कोई है। ग़लती करना मनुष्य का स्वभाव है। पूर्ण तो केवल परमात्मा है, इसलिये अपने मार्ग पर निर्भीकता से कदम बढ़ाता जा, भोगों के फलों को भोगता जा, कष्टों को सहता जा, ग़लतियों से सीखता जा, भूलों को सुधारता जा, कभी कुशल होगा और कुशलता पूर्वक कर्म करता हुआ, कर्मयोगी ! विश्वास रख, कल्याण पद पर तू पहुँच जायगा।

ऐ पथिक ! इस मार्ग पर चलता हुआ तू कभी थक जाता होगा। संसार झंझट का झमेला दीखता होगा। कर्म का मार्ग कठिन प्रतीत होता होगा। संसार के पदार्थों से खेलने में जी कतराता होगा। सब कर्म और दौड़ धूप को छोड़ कर निष्कर्मण्य होकर बैठने की मन में सदा आती होगी। ऐसी अवस्था में यह तू सच जान।

"नान्यथेतोऽस्ति" इस कर्म मार्ग के सिवाय कल्याण का दूसरा मार्ग कोई नहीं। निष्कर्मण्यता का मार्ग पाप का मार्ग है। संसार सचमुच झंझट का झमेला नहीं। मंगलमय भगवान् की यह तो सृष्टि है। पदार्थ पदार्थ में प्रभु की रचना है, सत्ता है, शक्ति है। ब्रूनो और स्पारनोजा, जो बड़े दार्शनिक तत्त्ववेत्ता हुए हैं, उनके शब्दों में हरएक पदार्थ परमात्मा की भाषा बोलता है। वेद तो स्थान २ पर कहता है:—"प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः" परमात्मा अपने रचे हुए पदार्थों द्वारा "सर्वतोमुख" है। हरएक पदार्थ उसी के सन्देश का प्रवचन कर रहा है। इसलिये प्रभु के पदार्थों के साथ खेलने में कोई पाप नहीं। संसार को छोड़ना—परमात्मा के रचे पदार्थों के साथ खेलने से इन्कार करना—रचयिता के पराजय को जतलाना है जो कि प्रभु का तिरस्कार है। क्या यह सच नहीं कि प्रभु के पदार्थों से घृणा प्रभु से घृणा है, उसके पदार्थों से प्रेम प्रभु से प्रेम है। इस संसार को जो देव अपनी अनन्त शक्ति से संचालित कर रहा है, मनुष्य को उसका दर्शन करना है। इस संसार को तर

कर परमपिता प्रभु को पाने के लिये यह मनुष्य जन्म मिला है। इसलिये इस कर्म से विमुख होने का ख्याल भी प्रभु के प्रति अपराध है, उसकी अवहेलना है।

'ततो मे श्रियमावह' इस प्रकार श्री और संसार के पदार्थों की कामना बार २ हम वेद में पाते हैं। प्रो० राधाकृष्ण ने अपनी पुस्तक "Indian Philosophy" में लिखते हैं कि "वैदिक फ़िलासफ़ी" में में संसार के पदार्थ पाप की तरफ़ ले जाने वाले नहीं किन्तु दैवीय आनन्द और मङ्गल के द्वार हैं। इसलिये ऐ राही ! कर्मों को छोड़ने का, परमात्मा के पदार्थों से न खेलनें का ख्याल भी कभी मन में मत ला। किन्तु सम्यक् दृष्टि (Right vision) से, पवित्र दृष्टिसे, पदार्थों को देखते हुए भद्रभावना के साथ कर्मोंको करते हुए अपने मार्गपर साहस के साथ चलता जा। विपद् से विचलित न होना, क्योंकि सच्चा श्रेय का मार्ग यही है, जिस पर तूने क़दम उठाया है।

ऐ पथिक ! तुझे कोई मूर्ख मानेगा, कोई पागल कहेगा, कोई भोला समझेगा, कोई हठी कहेगा, परन्तु लोगों के कहे पर चल न देना, अपने संकल्प को छोड़ न देना, क्योंकि न इधर का रहेगा न उधर का रहेगा। It is to care nothing what other men choose to say or think of you, go about your work as soldiers go to battle, without care for the consequence लोग क्या कहते हैं इसकी अधिक परवाह न करना, सिपाही की तरह कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करते जाना, 'मा फलेषु कदाचन' परिणामों का हिसाब लगाने न बैठजाना, कर्म चाहे कोई कर-दौलत कमा, वेद पढ़, याग रच, संस्कार कर—परन्तु 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' के साथ 'योगस्थः कुरु कर्माणि' योगस्थ होकर, 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' सिद्धि और असिद्धि को समान जानकर कर्म कर—श्रीकृष्ण के इस सन्देश को सदा ध्यान में रखना। "We should not do our duty with the motive of purchasing shares in the other world, or opening a bank or account with you." अपने कर्मों की बदौलत स्वर्ग में कहीं स्थान मत मांग बैठना, परमात्मा के साथ कोई हिसाब खाता न खोल देना, अपनी आंखों को खोल, परमात्मा के पदार्थों को देख, उनके सन्देश को ज़रा कान लगा कर सुन। सूर्य और चांद जगत् को बिना चूके अपने प्रकाश से प्रकाशित करते जाते हैं। उनका तू अनुसरण कर। बड़े २ महात्मा और कर्मयोगी दुनियां में हो चुके हैं। इस कर्म मार्ग पर वे कुशलता पूर्वक चल चुके हैं। उनकी चर्चा को सुन, उनके चरित्र को देख। These great men go on doing their daily work, diffusing virtue as the star diffuses light and the flower perfume without even being aware of it. छोटा सितारा अनजाने आसमान में टिमटिमाता जाता है, अन्धकार में यात्रियों को रास्ता दिखाता जाता है, फूल अनजाने अपनी महक छोड़ता जाता है, पवित्रता का प्रसार करता जाता है। यह है महात्माओं के कर्म का रास्ता। जगत् के भले के लिये वे अपने आपको अनजाने स्वाहा करते जाते हैं। इस बीहड़ संसार में अपने जीवन की ज्योति से मार्ग बताते जाते हैं। यह है कर्मों की कुशलता। ऐ राही! संकट, सन्देह और संशय के समय महात्माओं की

जीवन-ज्योति से राह देखते जाना और आगे आगे चलते जाना।

ऐ अनभ्यस्त पथिक ! वस्त्र उतार कर, शरीर पर भस्म रमाकर त्यागी बने हुए दुनिया में बहुत फिरते हैं। गेरुए कपड़े पहिन कर बने हुए संन्यासी बहुत दीखते हैं ! वे त्यागी नहीं, संन्यासी नहीं, वे तो कर्मों से थक चुके हैं, दुनियां से ऊब चुके हैं, जीवन की लड़ाई से हार चुके हैं, घर की चिन्ताओं से, समाज के बन्धनों से मुक्त होने के लिये जो घर और समाज का त्याग करते हैं वे त्यागी नहीं। जीवन की कठिन उलझनों का सुलझाव समझ में न आने के कारण जो वस्त्र रंग लेते हैं वे संन्यासी नहीं। संन्यासी वे हैं जो आत्मा की उन्नति के साथ समाज के भले के लिये अपनी आहुति देते हैं। अज्ञान से कर्मों को छोड़ना तामस त्याग है। परिणामों के भय से कर्म छोड़ देना राजस त्याग है। असंग होकर कर्म करते जाना सात्विक त्याग है। कर्म के फल की कामना छोड़ना, त्यागपूर्वक कर्म करते हुए राग को छोड़ना सच्चा संन्यास है। इसलिये ऐ राही ! सात्विक त्याग के लिये, सच्चे संन्यास के लिये भस्म रमाने की, कौपीन लगाने की, चिमटा और कमण्डल उठाने की कोई ज़रूरत नहीं। घर बैठे भी वैदिक त्याग और संन्यास हो सकता है। खरे खोटे को पहचान। राग द्वेष से अपने को ऊपर उठाता जा। आत्मा को पवित्र बनाता जा। आगे २ क़दम बढ़ाता जा।

मनुष्य ! तू स्वतन्त्र है। कर्म करना तेरे हाथ में है जैसा चाहे कर सकता है, जैसा बनना चाहे बन सकता है, जैसा होना चाहे हो सकता है, क्योंकि तेरी आत्मा अनन्त शक्ति का भण्डार है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर तो धर्म का मन्दिर है। The body is the servant of the soul, and not its prison. शरीर आत्मा का क़ैदखाना नहीं, शरीर सेवक है, आत्मा स्वामी है। भौतिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति पर विजय नहीं पा सकती। प्रकृति के सामने तू मत झुक, यह जगत् की रानी नहीं है, यह तो तेरे चरणों की चेरी है। अपने को पहचान, देख, मनुष्य जैसा चाहे कर सकता है। रेगिस्तान को नहर और नदियों से सींच कर सरसब्ज़ बना सकता है। पनामा जैसी पहाड़ी की गर्दन में छेदकर अपने जहाजों के लिये मार्ग ढूंढ सकता है। ऊँची २ तरंगों से उछाल मारते हुए अभिमानी समुद्र की अगाध छाती को सुखाकर अपने रहने के लिये ज़मीन निकाल सकता है। सघन जंगलों को उजाड़ कर गगन चुम्बिनी हिमाचल की चोटियों का अट्टहास करती हुई अट्टालिकाओं को खड़ा कर सकता है। मनुष्य क्या नहीं कर सकता ?। यदि दृढ़ संकल्प हो तो दुनिया को बदल सकता है, नरक को स्वर्ग बना सकता है, परलोक को छोड़ इसी लोक में सुख के स्रोत को बहा सकता है।

ऐ राही ! संसार छोड़ने के लिये नहीं। छोड़ा वे करते हैं, जो कमज़ोर हैं। तेरी आत्मा तो अविनाशी है, बलशाली है। इस संसार के सन्देश को सुन, तेरी आत्मा को संसार का Challange है। भौतिक शक्तियां तेरी आत्मा के विरुद्ध खड़ी हैं। ललकार से पीछे नहीं हटना, मैदान से नहीं मुड़ना, कर्त्तव्य से नहीं टलना, सावधान हो ! तेरी आयु छोटी है, जीवनी थोड़ी है, मौत खड़ी है इसलिये उठ, जाग जल्दी जाग, संघर्ष मिटादे, माया को हटादे, भ्रम को भगादे, पर्दे

को उठादे, आत्मा को मिलादे, 'समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्' जिस प्रकार की नदियां जल के भण्डार समुद्र में अपने स्वरूप को मिला देती हैं। यह आत्मा और परमात्मा का मिलन परमपद की प्राप्ति है, मुक्ति है, निर्वाण है, परम शान्ति है, नित्य आनन्द है। आर्य सन्तानो! भगवान् वेद का निष्कामता का यह उपदेश है, नैष्कर्म्य का नहीं, वेद के सूक्त सूक्त से कर्म का सन्देश सुन सकते हो। क्या तुम्हें यह उठाता नहीं, कर्त्तव्य की याद दिलाता नहीं, जीवन संचार करता नहीं, मन में भाव भरता नहीं, उमंग उठाता नहीं? भगवान् कृष्ण का कर्तव्य का सन्देश जिसने कि जंगल में जाने को तैय्यार अर्जुन को संग्राम क्षेत्र में शत्रुओं के सामने खड़ा किया वह गीता (कर्मशास्त्र) का सन्देश भी तुम्हें क्या जगाता नहीं? तो फिर कब जागोगे? ऋषि के सपूतो! अपना, समाज, देश और संसार का अभ्युत्थान तुमको करना है। वेद का सन्देश देश २ में तुमको सुनाना है, विधवाओं का आर्तनाद तुमको हटाना है, अछूतों का कलंक तुमको मिटाना है, भारत माता की जंजीर तुमको तोड़नी है। दुःख दूर होगा, गरीबी हटेगी, गुलामी मिटेगी, जंजीरें टूटेंगी परन्तु तुम्हारे परिश्रम से, बाहुबल से, कठोर कर्म से, इसलिये आर्यसन्तानो! "उत्तिष्ठत जाग्रत" उठो, जागो, जागो।

मौन्टिसरी की शिक्षा पद्धति का मनोवैज्ञानिक आधार

[ले० श्री प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार]

प्राचीन शिक्षाप्रणाली में बालक को उतनी मुख्यता नहीं दी गई जितनी दी जानी चाहिये थी। शिक्षक जिन विचारों को बालक में डालना चाहता था, उन्हें बालक की योग्यता का ख्याल किये विना डालने का प्रयत्न करता था। बालक के शारीरिक विकास के लिये भी इसी प्रकार के बाह्यसाधन इस्तेमाल में लाये जाते थे। यथा बच्चे की टांग के साथ पट्टी बांध दी जाती थी ताकि टांग कहीं टेढ़ी न हो जाय, उसकी जीभ के नीचे की तांत काट दी जाती थी ताकि वह जल्दी बोलने लगे, सिर पर टोपी पहना दी जाती थी ताकि कान बहुत लम्बे न हो जायं, माताएं बच्चों की नाक को इस प्रकार मलती थीं ताकि वह चपटी न होकर लम्बी हो जाय। बच्चों के जल्दी चलना सीखने के लिये तरह २ के तरीके इस्तेमाल किये जाते थे। परन्तु जब से विज्ञान का विकास हुआ है। तब से यह बात स्पष्ट हो गई है कि बालक के शारीरिक विकास का आधार सिद्धान्त उसे खुले छोड़ देना है, उसे पूरी स्वतन्त्रता देना है। धीरे २ इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि बालक के विकास में प्रतिबन्ध उत्पन्न करने वाले कारणों को अगर हटा लिया जाय तो वह खुद-ब-खुद चौमुखी उन्नति करने लगेगा। जो अधिकार हम वनस्पतियों तक को अब तक देते रहे हैं, वे बालक के प्रति अब स्वीकार किये जाने लगे हैं। किसी भी पौधे की वृद्धि के लिये यही उचित समझा जाता है कि उसे उचित खाद देकर प्रकृति में

खुला छोड़ दिया जाय; वह स्वयं विकसित होगा, फले फूलेगा। बच्चे की शारीरिक वृद्धि के लिये भी वह समझा जाने लगा है कि उसे खुला छोड़ देने से उस का विकास अच्छा होगा। कई मातायें बच्चा जब भी रोने लगता है उसे दूध पिलाने को दौड़ती हैं, परन्तु अब समझा जाने लगा है कि यह प्रथा ठीक नहीं है। बच्चे को अगर बिगाड़ ही न दिया जाय तब, जब भी उसे भूख लगेगी तभी वह चिल्लावेगा, हर समय नहीं। ठीक समय पर बच्चे को दूध पिलादेने से फिर वह आराम से दो तीन घण्टे तक पड़ा रहेगा। मौके-बे-मौके दूध पिलाते रहने से बच्चे की आदत बिगड़ जाती है।

पौधे के विकास में उसे स्वतन्त्र छोड़ देने का जो नियम काम कर रहा है बालक के शारीरिक विकास में भी वही नियम काम करता है। इस बात को तो प्राय: सभी समझने लगे हैं, परन्तु बालक का मानसिक विकास भी इन्हीं नियमों पर आश्रित है, इसे उतना अधिक नहीं समझा जाता। अभी तक शिक्षक यह आवश्यक समझता है कि जो कुछ उसने बालक को सिखाना है, वह उसे जल्दी-से-जल्दी और ज्यादह-से-ज्यादह देने का प्रयत्न करे। इस दृष्टि में शिक्षा के क्षेत्र में जहां 'बालक' को मुख्यता दी जानी चाहिये थी वहां "शिक्षक' को मुख्यता प्राप्त होगई है। बालक जो कुछ सीखना चाहता है अगर उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो, वह उसे स्वयं बिना अधिक सहायता के सीख सकता है। जिस शिक्षा के लिये बालक तैयार है, जिसके लिये वह मानो भूखा है, वह न देकर शिक्षक उसके लिये जो उचित समझता है वह देने का प्रयत्न करता है, इसका नतीजा यह होता है कि बालक विद्रोह कर देता है। अकसर यह बात सब के अनुभव में आई होगी कि जिस समय बालक कोई काम स्वयं कर रहा हो उस समय अगर दूसरा कोई उसको सहायता देने लगे तो वह झुंझलाने लगता है और स्वयं करने के लिये आग्रह करता है। बालक अकसर कहा करते हैं "मैं स्वयं करूँगा"। अत: हमें शिक्षा के क्षेत्र में बाहर से अन्दर जाने के बजाय अन्दर से बाहर आना चाहिये। बालक जो कुछ कर रहा है वह उसके आन्तरिक विकास का फल है और वह अपने काम से हमें बतला रहा होता है कि वह किस चीज़ को लेने के लिये तैयार है। हम ऐसा न करके बाहर से अन्दर जाने का प्रयत्न करते हैं और जिस चीज़ को हम देने के लिये तैय्यार होते हैं उसे देने लगते हैं। नतीजा यह होता है कि जो चीज़ बालक लेना चाहता है, वह हम नहीं दे रहे होते और जो हम दे रहे होते हैं, उसे लेने के लिये बालक तैयार नहीं होता और शिक्षा की गाड़ी बीच में ही अटक जाती है।

शिक्षासम्बन्धी अनेक प्रश्नों को हल करने के लिये मनोविज्ञान में एक नई शाखा का प्रचार हुआ है, जिसे परीक्षणसिद्ध मनोविज्ञान कहा जाता है। इसके अनुसार यह पता लगाने का प्रयत्न किया गया है कि बालक को किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान कितने समय में हो जाता है, भिन्न २ बालकों के ऊपर परीक्षण किये गये हैं और उनके परिणाम निकाले गये हैं। कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा शक्ति की प्रबलता या निर्बलता के अनुसार काम करने में अधिक या कम थकता है। यदि उस की इच्छा शक्ति प्रबल होती है तो वह देर में

थकता है, अगर निर्बल होती है तो जल्दी थक जाता है। स्कूल के विषय में यह कहा जाता है कि ज्यों २ पढ़ते जाते हैं, त्यों २ बालक अधिकाधिक ही थकते जाते हैं। शैटन महोदय का कहना है, कि थकावट हमारी शिक्षापद्धति का परिणाम है। कइयों का कहना है कि सोमवार और शुक्रवार के दिन बहुत कम थकावट अनुभव होती है। कई कहते हैं कि विषय को बदल देने से थकावट कम होती है। कइयों का कहना है कि एक ही काम लगातार करने से थकावट कम होती है और बदलते रहने से बढ़ जाती है। तो भी यह माना जाता है कि थकावट को दूर करने के लिये भिन्न २ विषयों में हेर-फेर होते रहना चाहिये विकार्डट महोदय ने पता लगाया है कि थकावट से शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न होजाता है। इस विष का प्रतिकार करने के लिये उन्होंने कई चीजें तैय्यार की हैं जिनके इंजेक्शन से वह विष दूर हो सकता है। यह भी पता लगाया है कि जितना अधिक थकाने वाला काम होगा उतना विष अधिक पैदा होगा और जितना ही मनोरञ्जक कार्य होगा चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न किया जाय, उतना ही, विष कम उत्पन्न होगा। इसीलिये फ़ैनेलोन, रूसो, पैस्टोलोजी, हूरवर्ट, फ्रौबल और स्पेन्सर ने शिक्षा को मनोरञ्जक बनाने के सिद्धान्त पर अधिक ज़ोर दिया है।

परीक्षणसिद्ध मनोविज्ञान (Experimental Psychology) हमारे सामने शिक्षा के विषय में नये-से-नये प्रश्न खड़े कर देता है, परन्तु उनका कुछ तसल्ली देने वाला उत्तर नहीं देता। वह कहता है कि पढ़ाई से थकावट पैदा होती है, थकावट से शरीर में ख़ास तरह के विष उत्पन्न हो जाते हैं, उन विषों को भिन्न २ प्रकार के इंजेक्शनों से दूर किया जा सकता है। परन्तु वह क्या दृश्य होगा जब लड़के भूगोल पढ़कर संस्कृत का व्याकरण पढ़कर, और दूसरे कठिन विषय पढ़कर थकावट दूर करने के लिये इंजेक्शन कराया करेंगे और फिर अन्य कठिन विषयों को पढ़ने में जुट जायंगे। अगर इंजेक्शनों से बचना हो तो परीक्षणसिद्ध मनोविज्ञान वही बतला सकता है कि विषय कम कर दिये जांय, कोर्स घटा दिया जाय, पढ़ने के घण्टे आधे कर दिये जायँ, लिखने का काम छुड़ा दिया जाय। इसका यह मतलब होगा कि उनको कोरा रखा जाय, पढ़ाया ही न जाय। इंजेक्शन अथवा विषयों को बहुत कम कर देना, ये दोनों इलाज निकम्मे हैं क्योंकि इन दोनों को कोई स्वीकार नहीं कर सकता।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर इटली की रहने वाली श्रीमती डा० मौन्टिसरी ने अपनी शिक्षापद्धति का निर्माण किया है। उनका कहना है कि परीक्षणसिद्ध मनोविज्ञान ने प्रचलित शिक्षापद्धति की निस्सारता खूब अच्छी तरह से प्रकट कर दी है, उसने सिद्ध कर दिया है कि इस प्रकार शिक्षा का बोझ बालक पर लादने से उसके शरीर में विष उत्पन्न होने लगते हैं, अतः शिक्षा को किन्हीं ऐसे सिद्धान्तों पर आश्रित रखना चाहिये जो इन दोषों से मुक्त हों। जैसा पहिले कहा गया था कि प्रत्येक पौधे में स्वयं विकसित होने की शक्ति है, इसी प्रकार बालक का शरीर भी अगर उसे उचित परिस्थितियों में रखा जाय, फिर खुला छोड़ दिया जाय, स्वतन्त्रता के वायु मण्डल से उसे परिवेष्टित कर दिया जाय, तो वह स्वयं विकसित

होने लगता है। कई मातायें बड़ी कोशिश करके बच्चे को खड़ा होना सिखाती है परन्तु उनकी कोशिश का कोई परिणाम नहीं होता है। एक समय आता है जब कि बालक के शरीर का बढ़ता हुआ विकास स्वयं उसे खड़े होने की प्रेरणा करता है और वह खड़ा हो जाता है। वह एक बार का खड़ा होना उसके आगे चलना सीखने के लिये पर्याप्त है। माता का काम बालक के चारों तरफ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देता है जिनकी मौजूदगी के कारण वह खुद-ब-खुद खड़ा हो जाय। खड़े होने की क्रिया बालक के अन्दर से विकसित होनी चाहिये, बाहर से नहीं आनी चाहिये जब तक अन्दर के विकास की वह अवस्था स्वयं नहीं आपहुँची तब तक बालक से कितना ही हाथ पकड़कर क्यों नहीं चलाया जाय वह चलना नहीं सीख सकता इसी प्रकार जब विकास की वह अवस्था आ पहुँचे उस समय भी अगर उचित परिस्थितियों को उपस्थित न किया जाय तब भी बच्चा खड़ा होना नहीं सीख सकेगा। जो नियम बालक के शारीरिक विकास में काम कर रहे हैं, डा० मौन्टिसरी का कहना है कि वही नियम उसके मानसिक विकास में भी काम करते हैं। शिक्षक का कार्य बालक के मानसिक विकास को समझना है। जिस प्रकार का बालक का मानसिक विकास हो रहा हो ठीक वैसी वस्तु उसके सामने रख देने से बालक को बहुत सहायता मिलती है।

मनोविज्ञान का यह साधारण सा नियम है कि बाहर की वस्तु अर्थात् विषय (Stimulus) मन में प्रतिक्रिया (Response) उत्पन्न करते हैं। जितने भी विषय बालक के सामने आयेंगे उनकी उसके मन पर कोई-न-कोई प्रतिक्रिया होगी। वह प्रतिक्रिया ऐसी भी हो सकती है कि बालक उस विषय को ध्यान-पूर्वक, देखने लगे और ऐसी भी हो सकती है कि वह उस विषय का 'बिल्कुल भी ख्याल न करे'। 'ख्याल करना' या 'ख्याल न करना' दोनों ही मन की बाह्य विषय के प्रति प्रतिक्रियाएं हैं। अब तक यही समझा जाता रहा है कि बालक के मन के ऊपर "ख्याल न करने" की प्रतिक्रिया ही अधिक होती है, इसलिये कहा जाता है कि बालक चंचल होते हैं, उनका मन किसी बात में नहीं लगता, वे कभी एक चीज़ को उठाते हैं, कभी दूसरी चीज़ को, किसी चीज़ को देर तक नहीं देखते। मौन्टिसरी का कहना है कि वह भी देर तक यही समझा करती थी कि बालक स्वभाव से चंचल हुआ करते हैं। परन्तु वह कहती है कि एक दिन रोम में सैनलौएञ्जो स्कूल के बच्चों को वह पढ़ा रही थी तो उसने देखा कि एक बच्चा जिसकी उम्र ३ वर्ष की थी, कुछ चीज़ों को उठाने और रखने के काम में इतना व्यग्र था कि उसे और किसी बात का ख्याल ही नहीं था। मौन्टिसरी ने अब तक किसी बच्चे को ध्यान में लगा हुआ नहीं देखा था क्योंकि मौन्टिसरी अब तक यही समझती थी कि बच्चे सदा चपल होते हैं, एक चीज़ से दूसरी पर दौड़े फिरते हैं, इसलिये इस बालक की निश्चलता देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने बच्चे को उठाकर टेबल पर बैठा दिया, बच्चे ने झट से अपनी चीज़ों को ज़ोर से पकड़ लिया और टेबल पर बैठने के बाद फिर वह उसी काम में लग गया। इसके बाद मौन्टिसरी ने क्लास के सब बच्चों को गाने को कहा, सब ज़ोर से गाने लगे परन्तु इस बालक का ध्यान अपनी चीज़ों को उठाने और रखने से न हटा। बच्चे ने ४४

बार तक अपने काम को दोहराया। मौन्टिसरी का कहना है कि इस घटना को देख कर मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो मैंने कोई नया आविष्कार कर लिया हो। मुझे यह अनुभव होने लगा कि बच्चे स्वभाव से चपल ही नहीं होते परन्तु उनकी चपलता ध्यान की स्थिरता के लिये होती है, जब तक वह वस्तु उनके सामने नहीं आजाती जिससे उनका ध्यान स्थिर हो सके तब तक वे चपलता के शिकार रहते हैं। इस अनुभव को मौन्टिसरी ने अपने स्कूल के बच्चों पर घटा कर देखा। इससे मालूम होने लगा कि जो बालक चंचल थे वे किसी ऐसे समय पर आकर जब कि उनके मन के विकास के अनुकूल असली चीज उन्हें मिल गई एक दम निश्चल हो गये और ऐसा मालूम पड़ने लगा मानो इनमें एक दम कोई परिवर्तन आ गया है। सारी चंचलता को छोड़कर वे उस काम में ऐसे लगे कि फिर उन्होंने दंगा करने का नाम भी नहीं लिया।

प्रकृति में प्राय: देखा जाता है कि कुछ पौधों पर खास तरह के कीट पतंग आकर उनका रस चूसते हैं परन्तु बनस्पति शास्त्रज्ञ बतलाते हैं कि इस प्रकार जहां मक्खियां शहद इकट्ठा करती हैं वहाँ साथ ही साथ उन पौधों का भी विकास होता है। फूलों पर शहद की मक्खियाँ आती हैं और उससे पराग को दूसरे फूलों तक लेजाती हैं जिससे बनस्पतिजगत् में विकास होता है और यही बनस्पतियों की जनन-प्रक्रिया है। कई पपीते के पेड़ स्त्रीलिंगी होते हैं, कई पुल्लिङ्गी। अगर शहद की मक्खियाँ पुंल्लिङ्गी पपीते के पराग को स्त्रीलिङ्गी पुष्प तक न लेजाँय तो उस पेड़ की जनन-प्रक्रिया ही नहीं होती और पेड़ पर फल नहीं आता। इस प्रकार प्रकृति में बनस्पति तथा कीट पतंग एक दूसरे के लिये सहायक बने हुए हैं। यद्यपि शहद की मक्खी स्वतन्त्र होती है तो भी वह बनस्पति के आन्तरिक विकास में सहायक होरही होती है। इसी प्रकार बालक के आन्तरिक विकास में बाहर की घटनाएं सहायक होती हैं। देखने को स्वतन्त्र मालूम पड़ती हैं, उनका बालक से कुछ सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता, परन्तु वेही बालक के मन में ऐसी आन्तरिक लहरें उत्पन्न कर देती हैं जो उसके विकास का कारण बनती हैं। शिक्षक का काम बालक के मन की इस आन्तरिक भूख का सन्तुष्ट करना है। अगर वह इसे सन्तुष्ट कर सकता है तो सचमुच वह शिक्षक का कार्य कर रहा है। शिक्षक का कार्य बालक के मानसिक विकास को समझकर उसके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। अगर उसने ठीक परिस्थिति पैदा की है तो बालक की चंचलता एक दम रुक जायगी और उसमें एक चमत्कारिक विकास दिखलाई देने लगेगा बालक का आत्मा तो विकास के लिये तड़प रहा है, जैसे वह भूख के लिये चिल्लाता है इसी प्रकार वह आत्मिक विकास करने वाले साधनों को ढूंडता हुआ इधर उधर भागता फिरता है, उसी को चंचलता का नाम दिया जाता है। अगर शिक्षक इन साधनों को उत्पन्न करदे तो इतना नहीं कि बालक की चपलता ध्यान में परिवर्त्तित होजाती है परन्तु साथ २ आगामी विकास के लिये भी बालक के हृदय में बीज बोया जाता है। जैसे माता का काम बालक के चिल्लाने पर उसके मुँह में स्तन दे देना है इसी प्रकार शिक्षक का कार्य बालक के आन्तरिक विकास को समझते हुए उसके सामने उचित सामान उपस्थित कर देना है।

दूध पीने के बाद बालक का शरीर खुद-ब-खुद बढ़ता है, माता केवल उसकी वृद्धि का इन्तजार करती है। इसी प्रकार शिक्षक का कार्य भी उचित परिस्थिति उत्पन्न कर देने के बाद बालक को खुला छोड़ देना है उसके विकास को देखना और उसकी इन्तजार करना ही है। मनुष्य के आन्तरिक विकास का यही स्वाभाविक नियम है। शिक्षा में बच्चे की ही प्रधानता होनी चाहिये इसलिये उचित सामग्री में बच्चे को स्वतन्त्ररूप से विचरने देना और उनमें अपनी शक्ति का विकास करने देना ही शिक्षा का सर्वोत्तम साधन है।

सबसे कठिन बात यह है कि यह कैसे पता लगाया जाए कि कौनसी चीज बच्चे के आन्तरिक विकास के साथ मेल खाती हुई है? डा० मौन्टिसरी ने अनेक परीक्षण करके ऐसे साधन आविष्कृत किये हैं, ऐसे पदार्थों की रचना की है जो एक खास आयु में बालकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। उसने परीक्षणों से यह देखा है कि ३ वर्ष के बालक किस चीज पर आकृष्ट होंगे? वह चीज ऐसी होनी चाहिये जो बालक के आन्तरिक विकास से मेल खाती हुई हो। इसी प्रकार ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ वर्ष की आयु में कौनसी चीज बालक के सामने आनी चाहिये। इन सब बातों का परीक्षणों के आधार पर निर्णय किया गया है। इन साधनों के निश्चय करने में इस बात पर विशेष ध्यान रखा गया है कि वे साधन ऐसे न हों जिनसे केवल ध्यान ही आकृष्ट हो, ध्यान ही आकृष्ट करना शिक्षा का कोई अन्तिम ध्येय नहीं है, वे औजार या या उपकरण इस प्रकार के होने चाहियें जिनसे ध्यान तो आकृष्ट हो ही, परन्तु उसके साथ वे बालक के विकसित होते हुए मन को ऐसा धक्का दें जिससे वह ऊपर ही ऊपर विकास करता चला जाय और उठता जाय। वे साधन एक प्रकार की सीढ़ी का काम करने वाले होने चाहियें। जब एक साधन प्रयोग में लाया जारहा है तो वह स्वभावतः मन को ऐसी अवस्था में पहुँचा दे जिससे दूसरे उपकरण की आवश्यकता पड़ जाय। और जब दूसरे उपकरण की आवश्यकता पड़े ठीक उस समय दूसरा उपकरण बालक के सम्मुख उपस्थित कर देना चाहिये और वह भी ऐसा हो कि जिससे ध्यान भी आकृष्ट हो और आगे का विकास भी होसके। जैसे एरोप्लेन जब उड़ने लगता है तो उसके लिये थोड़ी सी जमीन पर चक्कर लगाना जरूरी होता है परन्तु अन्त तक वह उसीका चक्कर नहीं काटता रहता। वह आसमान में उड़ता है। इसी प्रकार बालक को अपनी मानसिक परिस्थिति के अनुकूल साधन केवल अपनी गति प्रारम्भ करने के लिये ही अपेक्षित होते हैं, उनके बाद वह उन्हें छोड़कर उड़ने लगता है मौन्टिसरी के शिक्षा विषयक उपकरणों की यही उपयोगिता है।

इन सिद्धान्तों को आधार में रखकर अनेक स्थानों में काम किया जारहा है और उनसे जो सफलता प्राप्त होरही है, उसके कुछ दृष्टान्त देना अप्रासंगिक न होगा।

(१) मिस जॉर्ज का कथन है कि मैंने एक बच्चे को शिक्षा देते हुए उसको दिलचस्पी पैदा करने वाले सब साधनों का इस्तेमाल कर लिया परन्तु बच्चे का कुछ न बना, इसके बाद अचानक एक दिन मैंने उसे लाल और नीले रंगों की दो तख्तियाँ दिखलाई और इन दोनों रंगों के भेद की तरफ उसका ध्यान आकर्षित किया। उन्हें दिखाते ही वह बच्चा भूखे की तरह उन तख्तियों को चिपट गया और एक ही पाठ

में पांच भिन्न २ रंगों के विषय में उसने सीख लिया। इससे मालूम पड़ता है कि अब तक उसके सामने जो साधन उपस्थित किये जा रहे थे वे उसके मानसिक विकास से मेल नहीं खाते थे, इसलिये उसका ध्यान किसी चीज पर नहीं अटकता था। जब उसके मानसिक विकास से मेल खाने वाली चीज उसके सामने आई तब उसका ध्यान छुड़ाना मुश्किल हो गया। ज्यों ही बालक को वह चीज मिल जाती है जो उस की दिलचस्पी का केन्द्र होती है त्योंही उसकी उच्छृंखलता और उद्दंडता नष्ट हो जाती है।

(मिस जॉर्ज ने एक और अनुभव लिखा है जो बड़ा रोचक है। दो बहिनें थो, जिनमें से एक ३ और दूसरी ५ वर्ष की थी। ३ वर्ष की बालिका मानों न के बराबर थी क्योंकि वह अपनी बड़ी बहिन की हर बात में नकल करती थी। अगर बड़ी के पास नीले रंग की पेंसिल होती तो छोटी और किसी रंग वाली पेंसिल लेनेसे इन्कार कर देती और तबतक न मानती जबतक उसे भी नीले रंग की पेंसिल न देदी जाती। जब बड़ी बहिन रोटी और मक्खन खारही होती तब छोटी के पास और कोई भी चीज खाने को क्यों न होती वह उसे हाथ न लगाती और अपनी बड़ी बहिन की नकल में रोटी और मक्खन ही खाती। एक दिन यह छोटी लड़की लाल रंग की छोटी छोटी ईंटों में दिलचस्पी दिखाने लगी और उसने एक छोटा सा बुर्ज बना लिया। उसने इसे कई बार बनाया और अपनी बड़ी बहिन को बिलकुल भूल गई। उस दिन के बाद से छोटी लड़की का व्यक्तित्व प्रकट होगया और आगे से उसने हरएक बात में बड़ी बहिन का अनुकरण करना बन्द कर दिया।

(३) उक्त दृष्टान्त इस बात को पुष्ट करते हैं कि किसी व्यक्ति में जो गुण हमें नहीं दिखलाई देते, वे कभी २ इसमें खुद फूट निकलते हैं। परन्तु उनके फूटने का आधारभूत कारण यही होता है कि वह बालक अपने को देर तक किसी काम में लगा देता है। इसका एक बहुत अच्छा दृष्टान्त मिस बाटन ने दिया है, वह लिखती है, कि एक लड़की थी जो बोल नहीं सकती थी। उसके मां बाप ने उसे डाक्टरों को दिखाया। डाक्टरों ने कहा कि उसमें कोई खराबी नहीं है। एक दिन वह बालिका सिलैण्डर बनाने लगी और जब कई बार बना चुकी तो खुशी में दौड़ी दौड़ी अपने अध्यापक के पास आकर बोली "चलो देखो" वह लड़की अब तक बोल नहीं सकती थी परन्तु उस के मानसिक विकास के अनुकूल बाह्य परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर उसकी अन्तर्हित शक्ति फूटकर निकल पड़ी। यह मनोवैज्ञानिक घटना प्रत्येक बालक के जीवन में होती है, परन्तु इसका हम लोग बहुत कम ख्याल रखते हैं।

सारे कथन का अभिप्राय यही है कि बालक के मानसिक विकास में जो कारण प्रतिबन्धक रूप से मौजूद होते हैं, रुकावट के तौर से होते हैं, जो उसे विकसित नहीं होने दे रहे होते, उन्हें हटा देना ही शिक्षक का कार्य है; उन्हें हटाकर उस विकास के अनुकूल परिस्थिति का उत्पन्न कर देना, और फिर उस परिस्थिति में बालक को खुला छोड़ देना ही शिक्षक का कर्तव्य है और यही मौन्टिसरी के मत में सर्वोत्तम शिक्षा पद्धति है। इस शिक्षणपद्धति में जो स्थान 'बालक' को दिया गया है वह स्थान 'शिक्षक' को नहीं है। विकास का असली बीज बालक में है, शिक्षक ने तो

उस बीज के फूलने-फलने वाली ठीक सामग्री का चुनाव करना है। पुराना शिक्षा का तरीका सब कुछ शिक्षक पर छोड़ देता था और शिक्षक बालक के मानसिक विकास को विना जाने उस पर अपने विचारलादने का प्रयत्न करता था। परीक्षण सिद्ध मनोविज्ञान शिक्षा से होने वाले दुष्परिणामों को देख कर उस बोझ को ही हलका करने का प्रयत्न करती है, परन्तु डॉ० मौन्टिसरी की शिक्षा पद्धति उन उपकरणों को ढूंढ़ती है, जिनको बालक ढूंढ़ रहा होता है। उन्हें ढूंढ़कर बालक के सामने पेश कर देती है। बालक उनकी सहायता से अपने अन्दर मानसिक बीज का विकास करता है। इस शिक्षाप्रणाली के द्वारा बालक पर बाहर से कुछ लादा नहीं जाता और न ही उसे थकने दिया जाता है क्योंकि बालक के सामने ऐसे उपकरण लाये जाते हैं जिनमें उसका ध्यान जम जाता है, वह तन्मय हो जाता है, थकता नहीं। इस प्रकार उसे कठिन-से-कठिन विषय, पाठ विधि में विना कुछ कमी किये, पढ़ाये जा सकते हैं। डॉ० मौन्टिसरी की शिक्षापद्धति का यही मनोवैज्ञानिक आधार है।
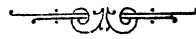
वेदों के कालनिर्णय के कुछ प्रयत्न

[ले०—श्री पं० अविनाशचन्द्रजी विद्यालंकार]

वेद तथा प्राचीन वैदिक साहित्य में वेदों की उन्नति के सम्बन्ध में कहीं २ वर्णन मिलते हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य प्रायः इस बात पर सहमत है कि चारों वेद उसी परमात्मा-पुरुष से उत्पन्न हुए हैं; किसी हाथ पैर वाले हमारे सदृश पुरुष की कृति नहीं है। और ये वेद परमात्मा के सहज स्वाभाव के परिणाम हैं। इसलिये बृहदारण्यक में लिखा भी है कि चारों वेद उस महा प्रभु के निःश्वास अर्थात् श्वास प्रश्वास की न्याईं हैं। प्राणी जाग रहा हो या सो रहा, उसे श्वास प्रश्वास के लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता इसी प्रकार से वेद परमात्मा के श्वास और प्रश्वास रूप हैं। इस सम्बन्ध के कतिपय प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं:—

१—तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांᳪसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यजु० ३१।७॥

२—न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्॥

सांख्यदर्शन ५।४६॥

३—स यथार्द्रेन्धाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

बृहदारण्यकोपनिषत् २।४।१०॥

पर यह वैज्ञानिक युग है, प्रमाणवाद का युग अब बीत गया। प्रत्येक स्थापना के लिये अब वैज्ञानिक आधार अपेक्षित है। इसलिये वेद का नित्यत्व और अपौरुषेयत्व केवल शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित करने से सिद्ध नहीं हो सकता। वैज्ञानिक जिज्ञासु का कहना

है कि समय और कर्त्ता के ठीक २ ज्ञात न होने से यह कैसे मान लिया जाय कि वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। एक तालाब है। यद्यपि आज कोई नहीं बता सकता कि यह अमुक पुरुष ने अमुक समय में बनाया, तो भी अर्थापत्ति प्रमाण से हम यही मानते हैं कि वह तालाब किसी समय किसी मनुष्य ने ही बनाया था; दैवीय शक्ति ने नहीं। इसी प्रकार वेद भी, यद्यपि आज हमें उनके कर्त्ता और उनके निर्माण का काल ज्ञात नहीं, किसी समय मनुष्य द्वारा ही बनाये गये यह मानना चाहिये। जब वेद मनुष्यकृत हैं और मनुष्यकृत होने से किसी विशेष समय में उनका निर्माण हुआ तब वेद नित्य और अपौरुषेय कैसे? हां, यह बात दूसरी है कि हम भारतवर्ष में ईसा से पूर्व किसी निश्चित संवत् तथा भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव के कारण वेदोंका ठीक २ समय तथा उनके कर्त्ता के सम्बन्ध में कोई निश्चित सम्मति नहीं दे सकते। फिर भी इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि वेद अमुक समय से पहिले लिखे जा चुके थे। इस लेख में संक्षेपतः हम आधुनिक पद्धति से विचार करने वाले पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के वेद के समय निर्धारित करने के इसी प्रयत्न पर विचार करेंगे।

सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स नाम के एक अंग्रेज विद्वान् ने कलकत्ता में "बंगाल एशियाटिक सोसायटी" की आधार शिला रखी। पूर्वीय साहित्य के अन्वेषण क्षेत्र में यह वर्ष सर्वदा स्मरणीय रहेगा। पूर्वीय साहित्य के प्रति विशेषतः भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के प्रति पाश्चात्यों की अभिरुचि का आरम्भ इसी समय से होता है। पहिले उनका ध्यान स्वभावतः लौकिक संस्कृत के साहित्य की ओर गया पर शीघ्र ही उनको यह ज्ञात हो गया कि लौकिक-संस्कृत साहित्य के पर्दे के पीछे गवेषणा की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व पूर्ण एक और साहित्य छिपा पड़ा है। कुछ वर्ष बाद ही सन् १८०५ ई० में हेनरी थॉमस कोलब्रुक का "एशियाटिक रिसर्चेज" में "हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ-वेद" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में कोलब्रुक महोदय ने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की समीक्षा की। इस आलोचनापूर्ण समीक्षा से वैदिक साहित्य के अनुशीलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। कोलब्रुक के पश्चात् यूजेन बर्नफ ने वैदिक साहित्य की ओर विशेषरूप से पाश्चात्य जगत का ध्यान आकृष्ट किया। यूजेन बर्नफ फ्रेञ्च था। पूर्वीय साहित्य में उसकी गहरी गति थी। पेरिस में वह इसी साहित्य का प्रोफ़ेसर भी था। रुडाल्फ, रॉथ, गोल्डस्टकर, और मैक्समूलर आदि प्रसिद्ध वैदिक साहित्य के विद्वान् इसी की शिष्य मण्डली के जगमगाते रत्न हैं।

सन् १८४६ में यूजेन बर्नफ के शिष्य रॉथ ने "वेद का साहित्य और इतिहास" नाम की एक छोटी सी पुस्तक लिखी। रॉथ की इस पुस्तक ने यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन की दशा बदल दी। रॉथ से पहले विद्वानों का विचार था कि क्योंकि हम वेदों के अर्थ स्वतन्त्र रीति से नहीं कर सकते, इसलिये हमें सायण आदि भाष्यकारों के पगचिन्हों पर ही चलना चाहिये। इसके विरुद्ध रॉथ ने प्रदर्शित किया कि वेदों के अर्थ वेद की ही सहायता से करने चाहियें न कि वैदिक साहित्य के सैकड़ों वर्ष के बाद के साहित्य की सहायता से। इसलिये हम रॉथ को ऐतिहासिक दृष्टि से तथा स्वतन्त्र रीति से वैदिक साहित्य के अनुशीलन की पद्धति का मार्गदर्शक कह

सकते हैं। रॉथ के बाद प्रसिद्ध जर्मन् विद्वान् वेबर ने सन् १८५२ में "भारतवर्षीय साहित्य के इतिहास पर यूनिवर्सिटी व्याख्यान" नामक पुस्तक में संस्कृत भाषा का एक सुसम्बद्ध और विस्तृत इतिहास लिखा। इस पुस्तक के अतिरिक्त बेवर महोदय ने अनेक पुस्तकों का सम्पादन किया, तथा वैदिक अनुसन्धान पर "इण्डिश स्टुडियन" नामक पत्र में धारावाहिक लेख निकाले। पीछे मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन कर सन् १८५९ में "History of Sanskrit Literature" नाम की पुस्तक लिखी, और पुस्तक में वैदिक साहित्य पर विद्वत्तापूर्ण विचार उपस्थित किये। इन सभी पाश्चात्य विद्वानों के वैदिक अनुसन्धानों का अध्ययन कर मैकडोनल्ड ने एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक को हम अब तक के वैदिक साहित्य का क्रम बद्ध इतिहास कह सकते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की वैदिक साहित्य सम्बन्धी इन गवेषणाओं का परिणाम Comparative philology) तुलनात्मक भाषाविज्ञान) और Comparative Mythology (तुलनात्मक देवता-विज्ञान) दो नये विज्ञानों के रूप में हुआ। प्राचीन अनुसन्धान के क्षेत्र में सचमुच संसार इन विद्वानों का चिर ऋणी है।

पाश्चात्य विद्वानों की वैदिक साहित्य सम्बन्धी गवेषणाओं तथा उनके अनवरत अनुशीलन की स्तुति करते हुए भी हम उनकी विचार पद्धति से सहमत नहीं। कारण यह है कि वे भारतीय आर्यसभ्यता को ग्रीक सभ्यता से प्राचीन स्वीकृत नहीं करते। इस पक्षपात के कारण न केवल वैदिक साहित्य के तिथि-

क्रम में अपितु उनके द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण वैदिकोत्तरकालीन साहित्य के तिथिक्रम में भी भारी गड़बड़ मची हुई है। तिथिक्रम की इस गड़बड़ी को देख भारतीय विद्वानों का ध्यान आधुनिक प्रणाली के अनुसार वैदिक साहित्य के अनुशीलन की ओर आकृष्ट हुआ। सब से प्रथम डा० रामकृष्णगोपाल भण्डारकर तथा श्रीयुत शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने इस ओर कदम बढ़ाया। बाद में लोकमान्य तिलक तथा श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित भी इनके साथ मिल गये। इन चारों विद्वानों के अनुशीलन का परिणाम पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं के प्रति सन्देह रूप में प्रकट हुआ। उन्होंने उनके इस कथन को मानने से इनकार कर दिया कि वेद अधिक से अधिक ईस्वी सन् से १४०० वर्ष ही पूर्व के हैं। वे असहमति ही प्रकट कर शान्त न हो गये परन्तु उन्होंने ज्योतिष की गवेषणाओं के आधार पर यह सिद्ध किया कि ऋग्वेद कम से कम ईस्वी सन् से ३००० वर्ष पूर्व की रचना है। लो० तिलक का नाम इन विद्वानों में विशेषरूप से उल्लेखनीय है। आप ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "ओरायन" में ज्योतिष की गणनाओं के आधार पर वैदिक काल की विस्तृत विवेचना की है।

इस तरह वैदिक तथा वैदिकोत्तर काल के सम्बन्ध में भारतीय तथा यूरोपियन विद्वानों में हम गहरा मतभेद पाते हैं। भारतीय विद्वानों द्वारा निर्धारित तिथिक्रम की कुछ मुख्य तिथियां निम्न हैं:—

१—ऋग्वेद की कुछ ऋचाएं (४५०० B. C. तिलक) वसन्त सम्पात के मार्गशीर्ष में होने से।

२—शतपथ (३००० B. C. दीक्षित) उत्तर में कृत्तिका नक्षत्र के उदय होने से।

३—मैत्रायणी उपनिषद् (१९०० B. C. तिलक)

४—वेदाङ्ग ज्योतिष (१४००B.C.तिलक + दीक्षित)

पाश्चात्य विद्वान् उपरोक्त साहित्य का निर्माणकाल १४०० ईस्वी पूर्व से २०० ईस्वी पूर्व तक ही मानते हैं। वैदिक साहित्य के काल के सम्बन्ध में इस गहरे मत-भेद का परिणाम यह है कि पाणिनि, महाभारत, कालिदास आदि के सम्बन्ध में भी भारतीय तथा यूरोपियन विद्वानों में गहरा मतभेद है। भारतीय विचार के अनुसार पाणिनि-ईसा से ८०० वर्ष पूर्व, महाभारत २५० वर्ष पूर्व और कालिदास ५० वर्ष पूर्व हुआ है। इसके विपरीत यूरोपियन विद्वान्, पाणिनि का काल ईसा से ३०० वर्ष पूर्व, महाभारत का ईसा से ४०० वर्ष पश्चात् और कालिदास का ईसा से ५०० वर्ष पश्चात् मानते हैं।

अगले लेखों में हम क्रमशः प्रत्येक वेद के निर्माण काल पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। पर यह यत्न भारतीय तथा यूरोपियन विद्वानों के अनुसन्धानों के आधार पर ही होगा, स्वतन्त्र नहीं।

वीणा की झंकार

[ले०—श्री बा० योगेन्द्रनाथ 'कञ्चन'']

(१)

रे मन ! उसमें, वह तुझमें
जब जब गोते खावेगा।
व्योम विहारी सागर में
तब तब तरता जावेगा॥

(२)

जागरूक हो प्रति पल तू
लहरों पर लहरावेगा।
मृदु शीत लहर बनकर तू
हो उसमें लय जावेगा॥

(३)

बोल अजामिल नारायण
था वैतरणी तर पाया।
मीरा ने ज़हर पियाला
पी सौ वरियां वर पाया॥

(४)

और इसी के बल पर तो
फोड़ नयन कहता सूरा—
नयनों से क्या दिलसे हित
सबल मानि हों तब पूरा॥

(५)

पत्ते पत्ते से पूछ पता
वह भी तो बतलाएगा।
अरे बावरे ! कुछ लिख दे
उसको ही मिल जाएगा॥

सच लेखनी जप निब को
भर नयनों की स्याही में।
मानस पर जो लिख पाया
तन्मय धारावाही में॥

(७)

करुणा प्यासे चातक की
बरसा न सकी घनश्याम।
विचलित होना मत तप से
भक्ति करना तू निष्काम॥

(८)

फिर तो निश्चय घबरा कर
भागे आवेंगे भगवान्।
गोदी पर धर कर चूमेंगे
मिलाकर प्राणों से प्राण॥

(९)

उस क्षण जाना रूठ वहीं
भर मन में प्यार अपार।
बरस पड़ेगी सावन के
घनश्यामों की अश्रुधार॥

(१०)

तब मानेगा प्रभु को तू
केवल वीणा की झंकार।
गाती जो राग निराला
प्रेमभरी खाकर मार॥

पुनर्जन्म का कारण

[ले०—श्री० पं० धर्मदेवजी, वेदवाचस्पति]

इस लेख में हमने यह विचार करना है कि वेदों में पुनर्जन्म का कारण कर्मफल कहा है या ईश्वरेच्छा। यद्यपि वेदों में कर्मफल तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का पृथक् २ मिल जाना कर्मानुकूल पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वयंसिद्ध बना देता है तथापि इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट कर देने के लिये कुछ एक मन्त्रों का उपस्थित करना आवश्यक मालूम होता है।

अथर्व वेद काण्ड ११ सूक्त ८ में कर्म की बड़ी महिमा दर्शाई गई है। इस सूक्त के आधार पर हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि परमात्मा जीवों के कर्मों के अनुसार इस विश्व को उत्पन्न करता है—यह एक वेदसम्मत सिद्धान्त है। इस सूक्त में विवाह का आलंकारिक रूप लेकर ही सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है:—

> यन्मन्युर्जायामवहत्संकल्पस्य गृहादधि ।
> क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥
> अथर्व० ११ । ८ । १ ॥

अर्थः—जब मन्यु (मनुते जानाति सर्वं जगत् यः सः परमात्मा) संकल्प के घर से जाया (जायते सर्वं जगत् यस्यां सा जाया प्रकृतिः) को लाया, उस समय कौन स्त्रीपक्ष के थे, कौन बराती थे, और कौन मुख्य वर था ?

इस प्रश्न का अगले मन्त्र में उत्तर दिया गया है—

> तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
> त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥
> अथर्व० ११ । ८ । २ ॥

"अर्थात् उस सलिलावस्था में तप और कर्म ही स्त्रीपक्ष के लोग तथा बराती थे। और मुख्य वर ब्रह्म था।" इस मन्त्र से पहिले मन्त्र के 'मन्यु' शब्द से यह अत्यन्त स्पष्ट हो गया है कि मन्यु का अर्थ क्रोध अथवा उत्ताप नहीं, प्रत्युत ज्ञान वाला ब्रह्म (परमात्मा) है। ब्रह्म और प्रकृति के विवाह का प्रबन्ध करने वाला तप तो ईश्वर का पर्यालोचन रूपी ज्ञान[1] था तथा कर्म जीवों के कर्म थे। सृष्ट्युत्पत्ति में इन दोनों का भी हिस्सा है।

परन्तु क्या ये दोनों स्वतन्त्र रूप से सृष्टि की उत्पत्ति में कारण हैं या किसी के आश्रित होने से ये कारण हैं ? अर्थात् क्या ईश्वर की सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा स्वयं हो जाती है या उसके प्रेरक कारण और है ? इस जिज्ञासा को अगला मन्त्र स्वयं पूर्ण करता है। यथा:—

> तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
> तपो ह जज्ञे कर्मणः तत्ते ज्येष्ठमुपासते ॥
> अथर्व० ११ । ८ । ६ ॥

अर्थात् प्रलय काल में तप और कर्म विद्यमान थे। उनमें से तप (ईश्वरीय पर्यालोचन रूपी ज्ञान)

१—यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ॥
मु० १ । ९ ॥

कर्म (जीवों के कर्म) से उत्पन्न हुआ। उस कर्म की ही उन्होंने (दस देवों ने) ज्येष्ठ रूप से उपासना की।

इस मन्त्र में कर्म का बड़ा महात्म्य बताया गया है। तप का कारण भी कर्म है। ईश्वर की सृष्टि उत्पन्न करने की अभिलाषा का कारण भी जीवों के कर्म बताये गये हैं। ईश्वर स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार ही सृष्टि की रचना नहीं करता, प्रत्युत जीवों के कर्मों के अनुसार ही वह सृष्टि बनाता है। जिस प्रकार मनुष्य में विवाह करने की इच्छा का कारण यौवन का स्वाभाविक उद्रेक है, उसी प्रकार ईश्वर का प्रकृति से विवाह करने का प्रेरक कारण जीवों के कर्म हैं। इस प्रकार परमात्मा जीव को अपने कर्म के अनुसार ही भिन्न २ योनियों में भेजता है। इसलिये पुनर्जन्म का कारण भी वैदिक सिद्धान्तानुसार जीव के कर्म ही हैं। इस सूक्त में जहां कर्म का माहात्म्य दिखाई देता है, वहां ब्रह्म और जाया का पृथक् पृथक् वर्णन करने से तथा कर्मों का माहात्म्य वर्णन करने से ब्रह्म, प्रकृति तथा कर्मकर्त्ता जीव की पृथक्ता का भी स्पष्ट निर्देश मिलता है। इस सूक्त के अतिरिक्त अन्य भी कई ऐसे मन्त्र हैं जिनमें अच्छे तथा बुरे कर्मों के अनुसार जीव को अच्छी या बुरी योनि मिलने का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन मिलता है।

यदि वेद के अनुसार मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त की गतियों का विभागीकरण किया जावे तो उन्हें हम तीन भागों में बांट सकते हैं। "वेद और पुनर्जन्म" के लेख[१] में अथर्व० ११। ८। ३३ मन्त्र की व्याख्या में हम यह दिखा चुके हैं कि मृत्यु के बाद कर्मों के अनुसार तीन गतियों में से मनुष्य की कोई एक गति होती है। वह मन्त्र इस प्रकार है:—

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् विगच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते॥

अर्थात् मुख्य मृत्यु के बाद मनुष्य तीन प्रकार की गतियों को प्राप्त होता है। एक से वहां (मोक्ष) जाता है। एक से वहां (नीचयोनि) जाता है। और एक से यहीं (मनुष्य योनि में) सुख दुःख आदि का उपभोग करता है।

इस मन्त्र में तीन प्रकार की गतियां बताई हैं। इन तीन गतियों में से एक गति में मनुष्य पुनः इसी मनुष्य योनि में आ जाता है और शेष दो गतियां इस मनुष्य योनि से भिन्न हैं।

मोक्ष की गति

जिस प्रकार इस मन्त्र में तीन प्रकार की गतियां बताई गई हैं और उनमें से एक गति-मनुष्य योनि का स्पष्ट निर्देश भी मिल जाता है, इसी प्रकार अथर्व० के कई अन्य मन्त्रों में भी तीन गतियों का वर्णन मिलता है और इनमें तृतीय गति को सब से उत्तम बताया है, जिसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता इस गति को ज्ञानी तथा धर्मात्मा लोग ही प्राप्त हो सकते हैं। आधुनिक दार्शनिक परिभाषा में इसी पद को मोक्ष पद कहा जाता है। इस बात का निदर्शक मन्त्र निम्न लिखित है। यथा:—

ऋतस्य पन्थामनुपश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति
तृतीयेलोकेधि विश्रयस्व॥ अथर्व० १८। ४। ३॥

अर्थः—सत्य के उस उत्तम मार्ग को भलीभांति देख, जिस मार्ग से पुण्यात्मा ज्ञानी लोग जाते हैं

१—वैदिक विज्ञान, अङ्क, ९ का 'वेद और पुनर्जन्म' लेख, पृ० ३६९।

और उन मार्गों से तू स्वर्ग को प्राप्त हो, जहां ज्ञानी पुरुष (आदित्य) मोक्ष सुख का उपभोग करते हैं उस तृतीय पद में तू प्राप्त हो।

इस मन्त्र में 'तृतीय नाक' का वर्णन किया है। इसमें किसी प्रकार का (न + अ + कं = सुखरहित का अभाव) दुःख नहीं होता। इस मन्त्र में बताया है कि मोक्ष में सुख होता है और वह सुख केवल दुःखाभावरूप नहीं, प्रत्युत भावस्वरूप (Positive Happiness) होता है। इस जगह ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'नाक' शब्द का व्यवहार 'तृतीय' शब्द के ही साथ पाया जाता है। क्योंकि इस 'तृतीय नाक' के अतिरिक्त शेष दो लोकों में दु ख का अत्यन्ताभाव नहीं। शेष दो लोकों में दुःख सम्पृक्त ही सुख मिलता है, केवल शुद्ध सुख नहीं। इसलिये यह लोक सब से उत्तम कहा गया है। और ज्ञानी तथा धर्मात्मा पुरुषों से ही गम्य बताया गया है:—

'तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तोऽभिनाकमुत्तमम् ॥

अथर्व० ४ । १४ । ६ ॥

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्' ॥

अथर्व० ७ । ५३ । ७ ॥

'येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभिनाकमुत्तमम् ॥

अथर्व० ७ । ५३ । ७ ॥

अर्थः—इसकारण सुख को प्राप्त करते हुए हम शुभ कर्म करने वालों के निवास स्थान, सर्वोत्कृष्ट लोक (मोक्ष) को प्राप्त हों ॥ १ ॥ हम सब अविद्या तथा अज्ञान के अन्धकार से उठकर सर्वोत्कृष्ट लोक (मोक्ष) को प्राप्त हों और वहां सब देवों के देव ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर की उत्तम ज्योति को प्राप्त हों ॥ २ ॥ विद्वान् लोग ज्योति द्वारा ब्रह्मरूपी ओदन का पाक करके शुभ कर्म करने वालों के निवासस्थान 'उत्तम नाक' (मोक्ष) को प्राप्त हों ॥ ३ ॥

उपरि लिखित तीन चार मन्त्रों में मोक्ष का स्वरूप, उसके अधिकारी तथा उनके भोग का वर्णन किया है। इन मन्त्रों में 'स्वर्ग' तथा 'उत्तमं नाकं' पदों से मोक्ष का स्वरूप बताया है। इनमें यह बताया है कि यह मोक्ष का सुख पहुँचाने वाला है। और वह सुख सब से अधिक उत्कृष्ट है। क्योंकि (नाकं) उसमें दुःख का लवलेशमात्र भी नहीं। वह सुख केवल दुःखभाव-रूप नहीं प्रत्युत भावस्वरूप सुख है। क्योंकि वहाँ सुख न हो ऐसा नहीं (न × अ × कं), अपितु सुख ही सुख है। मोक्ष का स्वरूप बताने के अतिरिक्त ऊपर के मन्त्रों में मोक्ष के अधिकारी बताये गये हैं। उपरिलिखित मन्त्रों में 'अङ्गिरसः' 'आदित्याः' तथा 'देवाः' शब्दों द्वारा मोक्ष के अधिकारी बताये हैं। अर्थात् उत्तम काम करने वाले तथा ज्ञानी लोग इस पद को प्राप्त होते हैं। न केवल ज्ञानी इस पद को प्राप्त कर सकते हैं, न केवल सुकर्मी, ज्ञान और कर्म इन दोनों के द्वारा ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। उस मोक्ष में जाकर वे क्या करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर निम्न शब्दों द्वारा दिया गया है— 'मधु भक्षयन्ति' तथा 'देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योति-रुत्तमम्' अर्थात् उस सुखमय लोक में पहुँच कर वे सुख उपभोग करते हैं और निष्कलुष होने से ज्योतिः-स्वरूप परमात्मा की उत्तम ज्योति को प्राप्त करते हैं। यही बात—यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योना-वध्यैरयन्त।' अथर्व० २ । १ । ५ । मन्त्र में लिखी है।

अर्थात् जिस सकल जगत् के कारण, परमात्मा में अमृत का उपभोग करते हुए देव लोग विचरते हैं।"

मोक्ष का ऐसा पवित्र तथा उच्च स्वरूप देखकर पाठकगण वेद में आई हुई निम्न प्रार्थनाओं को भली भाँति समझ सकते हैं। अथर्ववेद पञ्चौदन दैवत्य सूक्त (९ काण्ड ५ सूक्त) में स्थान २ पर 'अजो नाकं क्रमतां तृतीयम्'[1] 'तृतीये नाके अधिविश्रयैनम्' [2] इत्यादि प्रार्थनाएं की गई हैं। 'तृतीय नाक' एक स्पृहणीय लोक है जिसके लिये हरएक को इच्छा करनी चाहिये।

इस प्रकार जहां उपर्युक्त मन्त्रों से मोक्ष के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वहां साथ ही यह भी पता लग जाता है कि मोक्ष का द्वार प्रत्येक के लिये खुला नहीं। मोक्ष में प्रवेश करने का अधिकार विशेष विशेष व्यक्तियों को होता है। वेद के शब्दों में 'अंगिरस्', 'सुकृत्', 'आदित्य' तथा 'देवजन' इस मोक्ष के अधिकारी हैं। अर्थात् ज्ञानी तथा धार्मिक मनुष्य मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। अथवा ज्ञान प्राप्ति तथा सुकृत् कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्ति में दैव कारण नहीं, परन्तु पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जासकता है। इसी बात को निम्न मन्त्र भी स्पष्ट करते हैं:—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

अथर्व० ७। ५। १॥

'यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।'

यजु० ३२। १०॥

अर्थः—देवजन यज्ञ द्वारा यजनीय परमात्मा की पूजा करते हैं। यही वास्तव में मुख्य धर्म है। इसलिये देवजन महत्वशील होकर निश्चय से उस लोक को प्राप्त करते हैं जहाँ प्राचीन साध्य लोग तथा देवजन निवास करते हैं॥ १॥

जिस परमात्मा के आश्रय में रहते हुए देव लोग अमृत का उपभोग करते हुए तृतीय धाम (मोक्ष) में विचरते हैं॥ २॥

इन दो मन्त्रों में दो बातों का वर्णन किया गया है। १ म—मोक्ष को देवलोग तथा साध्यजन प्राप्त करते हैं। २ य—मन्त्र द्वारा ईश्वर पूजा आदि सत्कर्म करने से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार इन दो मन्त्रों से भी हमारे उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है। अर्थात् मोक्ष सत्कर्मों का परिणाम है। यह दैवीय नहीं, क्योंकि इस गति को उत्तम कर्म करने वाले देवलोग ही प्राप्त कर सकते हैं इसलिये इस मार्ग को 'देवयान' कहा गया है—

'ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः।'

अथर्व० १८। ४। १४॥

अर्थात् उत्तम कर्म करने वाले पुरुष के लिये सुख का देने वाला ज्योतिर्मय देवयानमार्ग (खुला हुआ है)

अतएव वैदिक साहित्य में 'देवयान' मार्ग को सर्वोत्तम मार्ग कहा गया है और 'अजो नाकं क्रमतां तृतीयम्' आदि शब्दों द्वारा उस तृतीय धाम के प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की गई है।

पितृयाण, देवयान

'देवयान' मार्ग के अतिरिक्त एक और मार्ग भी है

'१—'यह जीवात्मा तृतीय धाम को प्राप्त हो।' अथर्व ९। ५। १, ३॥

२—'(हे परमेश्वर!) इस जीवात्मा को तृतीय (मोक्ष) में निवास दो।' अथर्व० ९। ५। ४, ८॥

जिसे पितृयाण मार्ग कहा गया है [1] यह पितृयाण देव-यान से निचले दर्जे का है, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र से प्रतीत होता है। यथा:—

'देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्
अथर्व० ५ । १८ । १३ ॥

अर्थ—देवजनों की हिंसा करने वाला राजा विष पीकर अस्थि पञ्जरमात्र हुआ २ मनुष्यों में विचरता है। जो राजा देवों के प्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता है, वह पितृयाण को भी प्राप्त नहीं होता।

इस मन्त्र में 'न स पितृयाणमप्येति लोकम्' पद से हम दो परिणामों पर पहुँच, सकते हैं। १ म-पितृयाण से उच्च भी कोई और यान है। २ य-इसी प्रकार पितृयाण से निकृष्ट भी कोई और यान है। 'अपि' शब्द इन दोनों परिणामों को स्पष्ट कह रहा है। इस मन्त्र में देवजनों के हिंसक राजा की निन्दा की गई है। और इस बात पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है कि हिंसक राजा अगले जन्म में नीच योनि को प्राप्त होता है। इस मन्त्र में 'अपि' शब्द के प्रयोग से मालूम होता है कि वक्ता की दृष्टि में पितृयाण सर्वोत्कृष्ट मार्ग नहीं, उससे उच्च कोई और मार्ग भी है जिसको देवपीयु राजा किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उस मार्ग को क्या, वह तो उससे निचले दर्जे के पितृयाण को भी प्राप्त नहीं कर सकता और क्योंकि अथर्व ६। ११७। ३ इत्यादि मन्त्रों में दो ही यानों का वर्णन पाते हैं, इसलिये पितृयाण से उच्च यान यदि कोई है तो वह 'देवयान' होना चाहिये। इसके अतिरिक्त शेष वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि,—तथा गीता प्रभृति ग्रन्थों में यानों का वर्णन मिलता है और उनमें से देवयान को पितृयाण से उच्च तथा श्रेष्ठ बताया गया है। अतएव 'अपि' शब्द के आधार पर पितृयाण से भी अधिक उच्च किसी यान का अनुमान कर सकते हैं और वह देवयान होना चाहिये। इसी 'अपि' शब्द से हम दूसरा परिणाम यह भी निकाल सकते हैं कि इस मन्त्र में ब्राह्मण-हिंसक राजा की निन्दा की गई और भावी में उसके भयंकर परिणाम की सूचना दी गई है। परन्तु इस मन्त्र में इतना कहकर ही समाप्त कर दिया है कि वह देवपीयु राजा पितृयाण को भी प्राप्त नहीं होता। देवपीयु राजा यदि न देवयान मार्ग को प्राप्त हो और न पितृयाण मार्ग को तो इससे देवपीयु राजा को क्या कष्ट हुआ ?। इसलिये हमारी सम्मति में वक्ता का तात्पर्य किसी तृतीय योनि से है, जिस योनि में नाना प्रकार के कष्ट मिलते हैं और जो योनि देव-यान तथा पितृयाण दोनों से निकृष्ट है। यह योनि इतनी निकृष्ट है कि इसको किसी भाँति यान (= गन्तव्य मार्ग) कहा ही नहीं जा सकता, अतएव यानों में केवल दो ही यान गिनाये गये हैं। तीसरी योनि यान कहलाने लायक ही नहीं।

प्रसंगतः, कुछ दो एक मन्त्रों के आधार पर हम पितृयाण के स्वरूप पर प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

"आयात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधत प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥
अथर्व० १८ । ४ । ६२ ॥

इस मन्त्र का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। इस मन्त्र में पितृयाण से आने वाले पितरों से प्रजा तथा धनादि की पुष्टि की प्रार्थना की गई है। इससे यही प्रतीत

१—अथर्व० ६ । ११७ । ३ ॥ तथा १५ । १२ । ५,९

होता है कि पितृयाण से आने वाले प्राणी मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं। इस मन्त्र के अतिरिक्त दो और मन्त्र हैं जो इस विषय पर अधिक अच्छा प्रकाश डालते हैं।

'न देवेष्वावृश्चते हुतमस्य भवति। अथर्व० १५।१२।३।।

'पर्यस्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनाति सृष्टो जुहोति॥' अथर्व० १५।१२।७॥

'अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति।'

अथर्व० १५ । १२ । ८ ॥

'न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्।'

अथर्व० १५ । १२ । ९॥

'आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति॥'

अथर्व० १५ । १२ । १०॥

'नास्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥

अथर्व १५ । १२ ११ ॥

अर्थः—विद्वान् व्रती अतिथि के घर आजाने पर गृहस्थ पुरुष उससे आज्ञा पाकर यज्ञ करे। जो ऐसे अतिथि से आज्ञा पाकर यज्ञ करता है, वह पितृयाण और देवयान को जानता है। वह देवों में कटा हुआ प्रतीत नहीं होता। इस लोक में उस गृहस्थो का स्थान बचा रहता है, जो इस प्रकार अतिथि से आदिष्ट हुआ २ हवन करता है। परन्तु जो ऐसे व्रात्य से अनाज्ञप्त ही हवन करता है वह न देवयान मार्ग को। जानता है, न पितृयाणमार्ग को वह देवों में कटा हुआ प्रतीत होता है और उसका किया हुआ हवन अहुत के समान रहता है। जो ऐसे व्रात्य द्वारा अनाज्ञप्त हवन करता है उसका इस लोक में स्थान नहीं रहता॥ ६-११॥

इन मन्त्रों में यह बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थी के घर कोई व्रती विद्वान् अतिथि आजावे तो उससे आज्ञा पाकर हवन करे। क्योंकि यज्ञादि कर्म देवयान तथा पितृयाण में सहायक हैं। इसलिये जो व्रात्य अतिथि की आज्ञानुसार यज्ञ नहीं करता वह एक प्रकार से अपने को इन दोनों मार्गों से वञ्चित कर रहा होता है। उपर्युक्त मन्त्रों में देवयान तथा पितृयाण के जानने वा न जानने का तात्पर्य स्पष्ट किया गया है। इन मार्गों के जानने का तात्पर्य यह है कि वह पुरुष देवों से अपने को पृथक् नहीं करता और मनुष्य समाज में उसका उच्च स्थान होता है। इसी प्रकार न जानने का मतलब यह है कि वह पुरुष अपने को देवों से पृथक् कर लेता है अर्थात् देवयान को प्राप्त नहीं होता और मनुष्यसमाज में उसका स्थान नहीं रहता अर्थात् वह पितृयाण के योग्य नहीं रहता। यहां पर देवयान को जाननें तथा न जानने का तात्पर्य क्रमशः 'न देवेष्वावृश्चते हुतमस्य भवति' । ६ । तथा 'आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति' ।१०। बताया है। वहां पितृयाण के जानने का तात्पर्य क्रमशः 'पर्यस्यास्मिंल्लोक' आयतनं शिष्यते' तथा नास्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते' बताया है। इनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पितृयाण से इस लोक (मनुष्ययोनि) का तात्पर्य है। इसी पितृयाण को अथर्व० ११।८। ३३ मन्त्र में 'इहैकेन निषेवते' पद से बताया गया है।

देवयान तथा पितृयाण (मनुष्य) से अतिरिक्त योनि कीट पतंग आदि

इन दो यानों से अतिरिक्त एक और मार्ग भी है जिसके लिये वेद में हमें कोई नाम दिखाई नहीं देता इसका कारण यही प्रतीत होता है कि यह मार्ग इतना

निकृष्ट है कि इसे किसी दृष्टि से यान (गन्तव्य मार्ग) कहा ही नहीं जा सकता। देवयान तथा पितृयाण के अतिरिक्त कोई मार्ग या योनि है ही नहीं, हम नहीं कह सकते। क्योंकि अथर्व० ५। १८। ३ मन्त्र में तीसरी योनि का स्पष्टतया निर्देश मिलता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम निम्न तालिका बना सकते हैं।

जगत् का कर्त्ता है। उस का न तो विकार होता है और न वह किसी प्रकार का भोग करता है। दूसरी प्रकृति है, जो इस जगत् का आदि मूल उपादान कारण है। इससे ही सारा जगत् उत्पन्न होता है और इसी में लीन हो जाता है। जगत् की उत्पत्ति होते समय प्रकृति का विकार होता है जिससे यह पञ्च भौतिक जगत् बनता है। इसी प्रकार अनादिकाल से

संख्या	श्रेणी	नाम		प्राप्त्युपाय
		लोक	मार्ग	
१	उत्तम	तृतीय नाक	देववान	शुक्ल कर्म तथा ज्ञान
२	मध्यम	इह लोक	पितृयाण	शुक्ल कृष्ण कर्म
३	निकृष्ट	निकृष्ट योनि	....	कृष्ण कर्म

इस तरह हम देखते हैं कि भिन्न २ कर्मों के अनुसार ही भिन्न २ योनि मिलती है। पुनर्जन्म भी मनुष्य के अपने कर्म के अनुसार मिलता है, यह दैवीय कृपा या कोप का फल नहीं।

इसके साथ २ हम यह भी देखते हैं कि वेद में 'जन्म परिवर्तन' का सिद्धान्त माना गया है, 'जन्म-विकास का सिद्धान्त नहीं, क्योंकि देवपीयु राजा का मनुष्ययोनि (पितृयाण) से भी निकृष्ट योनि में जाना बताया गया है। इसी प्रकार अथर्व० ९। ५। १० का 'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतः' मन्त्र भाग भी इसी बात को पुष्टकर रहा है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि संसार में तीन पदार्थ—प्रकृति, जीव, परमात्मा—अनादि तथा अनन्त हैं। उन में से एक ईश्वर इस

यह संसार उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। सृष्टि प्रलय का यह चक्र प्रवाह से अनादि तथा अनन्त है। इस तरह प्रकृति तो होवी है, वह भोग नहीं करती; प्रत्युत वह स्वयं भोग्य वस्तु है। जीव इसका भोग करता है। वह जगत् का भोक्ता है। सृष्टि-प्रवाह के साथ वह भी भिन्न २ शरीर धारण करके संसार में प्रकट होता है और शरीर को त्यागता रहता है। अर्थात् जीव पुनर्जन्म लेता है। यह पुनर्जन्म उसे अपने कर्मों के अनुकूल मिलता है। यह कर्मफल उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट भेद से तीन प्रकार का है। यही वैदिक फिलासफी का कुल सार है। यही मनुष्य के जीवन का आधार है। यही वैदिक धमकी आन्तरिक जान (Inner soul) है। इसी फिलासफी पर सब नियम तथा व्यवस्थाएं आश्रित हैं।

क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं?

[ले० श्री० पं० यशपालजी सिद्धान्तालङ्कार वैदिकमिशनरी]

आर्य जाति के पूर्व विद्वानों, ऋषियों, मुनियों तथा जन साधारण का अनादिकाल से यह विश्वास चला आया है कि वेद ईश्वरप्रणीत होने से अपौरुषेय अतएव निर्भ्रान्त हैं। वेद, अनादि, अनन्त और नित्य है। वेद में शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य है। वैदिक धर्म का मुख्य सनातन सिद्धान्त यह है कि वेद सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व निर्मित हुए। सब ज्ञान और विद्याओं का मूल वेद में है। वेद से ही सब ज्ञान साक्षात् अथवा परम्परा से उत्पन्न हुआ और वैदिक तथा सत्य का ही समयान्तर में विकास हुआ। संसार के सर्व माननीय तथा प्रचलित धर्मों और धर्म ग्रन्थों में सत्य का जो अंश उपलब्ध होता है उसका सम्बन्ध परम्परारूप से वेदों के ही साथ है। ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त आर्यवर्त्त में जितने विद्वान् महात्मा ऋषि मुनि हुए है उनका सदा से ही यह विश्वास चला आया है कि वेद परमात्मा की वाणी है। सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों को धर्माधर्म, पापपुण्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देने के लिये परमात्मा ने वेद का ज्ञान दिया। यदि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा कोई ज्ञान न दे तो उस समय के मनुष्यों को धर्माधर्म का ज्ञान स्वतः नहीं हो सकता। मनुष्य की बुद्धि धर्माधर्म का ज्ञान करने में अपर्याप्त है। बड़े २ विद्वानों की बुद्धि भी इसके निर्णय करने में कई बार असमर्थ हो जाती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक अत्यन्त कठिन है।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में वेद का प्रमाण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥

यजुर्वेद ३१। ७॥

अर्थात् उस सर्वहुत (सर्व पूर्ण) पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद छंदसि (अथर्ववेद) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। उक्त मन्त्र में यज्ञ शब्द विष्णु का वाचक है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् विष्णु को यज्ञ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उस सर्व व्यापक परमेश्वर से चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई और मनुष्य की सहायता के लिये, जो इस सृष्टि के विषय में विचार करने को समर्थ है, वेद भी उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः।

अथर्व कां० १०। प्रपा० ३२, अनु० ४। मं० २०

जिस सर्व शक्तिमान् परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं वह देव कौन है। यह प्रश्न है। इसका उत्तर वेद के इसी मन्त्र में दिया है कि ऋग्वेदादि का पैदा करने वाला स्कम्भ अर्थात् सारे संसार का धारण करने वाला परमात्मा है।

२—एवं वा अरे ऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्

नोट—लेखक की अप्रकाशित पुस्तक "वैदिक धर्म" का एक अध्याय।

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः । शतपथब्राह्मण १४,५,४,१८ ॥

इसका भावार्थ यह है कि याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं "हे मैत्रेयि, उस महान् परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद श्वासोच्छ्वास के समान सहज ही प्रकट हुए"। जैसे मनुष्य का स्वभाव सहज ही भीतर से बाहिर निकलता है और फिर भीतर चला जाता है उसी तरह वेद सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर से सहज उत्पन्न होते हैं और सृष्टि के अन्त में (प्रलय के समय) उसी परमेश्वर में लीन हो जाते हैं। 'वेद सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न हुए' इससे यह भी नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा को मनुष्य जाति पर कितना अनुग्रह है। मनुष्य शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि 'मननात् मनुष्यः' अर्थात जो मनन कर सकता है उसे मनुष्य कहते हैं।

यद्यपि मनुष्य विचारवान् होने से तथा बुद्धियुक्त होने से विचार करने का सामर्थ्य रखता है और वह इस सृष्टि के घटनाचातुर्य और तन्नियामक शक्तियों का ज्ञाता है—तथापि यदि उसे किसी निर्जन वन में रख दिया जाय जहां मृत्युपर्यन्त उसका किसी भी मनुष्य से सम्बन्ध न हो तो वह केवल अपनी बुद्धि के आधार पर कभी भी उन्नति न कर सकेगा और सर्वथा ज्ञानशून्य रहेगा। यदि परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ में वेद का ज्ञान न देता तो अभी तक सब मनुष्य पशु के समान बने रहते। मनुष्य का ज्ञान केवल परावलम्बी है जैसे विना मन की सहायता के न तो आंखें कुछ देख सकती हैं और न कान कुछ सुन सकते हैं वैसे ही मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञानचतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति में विना वेद की सहायता के असमर्थ है।

'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शं अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्।'

यह बृहदारण्यक का वचन है। यदि मन स्थिर न हो या किसी उपाधि के कारण व्यापारविमुख हो जाय तो सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों के उपस्थित रहने पर भी कोई कार्य करने में भी इन्द्रियां सर्वथा असमर्थ हैं। सारांश यह है कि जैसे मन की सहायता के विना ज्ञानेन्द्रियां निरुपयोगी हो जाती हैं वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान के विना मन तथा बुद्धि विकसित नहीं हो सकती और मनुष्य चतुर्विध पुरुषार्थ के सम्पादन में असमर्थ हो जाता है।

वेद के ईश्वरीय तथा नित्य होने में ऋषियों की सम्मति

वैशेषिक सूत्रकार कणाद मुनि कहते हैं कि—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिक १।१।३॥

अर्थात् वेद ईश्वरोक्त हैं इनमें सत्यविद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है। इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका ज्ञान भी नित्य है।

इसी प्रकार से न्यायशास्त्र में गौतम मुनि कहते हैं कि—

"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्"
२।१।६७॥

अर्थात् वेदों को नित्य ही मानना चाहिये क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आजपर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। आप्तपुरुषों का कथन प्रामाणिक होता है क्योंकि

आप्त उन्हें कहते हैं जो धर्मात्मा कपट, छलादि दोषों से रहित सब विद्याओं से युक्त महायोगी और सत्यवक्ता हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात नहीं था उन्होंने वेदों को ईश्वरप्रणीत तथा प्रामाणिक माना है। जैसे आयुर्वेद के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन से रोग की निवृत्ति होती है और उसके एक देश में कथित बात के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है उसी प्रकार वेद के एक देश में कहे अर्थ की सत्यता सिद्ध होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं जिनका कि अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उनको भी प्रमाणिक मानना चाहिये।

योगशास्त्र में पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(पातञ्जल योगशास्त्र १। १२६।)

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इत्यादि ऋषियों से लेकर अद्यावधि जितने भी मनुष्य पैदा हुए हैं और भविष्य में होंगे उन सबका आदि गुरु परमेश्वर है क्योंकि वेद द्वारा सत्यार्थ का प्रकाश करने से परमात्मा गुरु है। यदि परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ में वेद का ज्ञान न देता तो मनुष्यों की अवस्था सर्वथा पशु तुल्य होती तथा धर्माधर्म विवेक और सद्सद् विचार में मनुष्य सर्वथा असमर्थ होता।

सांख्यशास्त्र में कपिल मुनि कहते हैं कि

(निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् १-५१)

परमेश्वर की स्वाभाविक विद्या तथा ज्ञान शक्ति से प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः प्रमाणत्व सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

वेदान्तशास्त्र में व्यास मुनि कहते हैं कि "शास्त्रयोनित्वात्"। १-१-३॥ अर्थात् ऋग्वेदादि चारों वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं और सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परमात्मा है। क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई सर्वज्ञगुणयुक्त वेदों का निर्माण नहीं कर सकता किन्तु वेद के आधार पर ही जीव अन्य शास्त्र के बनाने में समर्थ होसकता है जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक २ भाग का प्रकाश किया है। किन्तु सब विद्याओं से युक्त वेदों के बनाने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु परमेश्वर निर्मित वेदों के पढ़ने, विचारने से और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त होता है अन्यथा नहीं।

कई लोगों को यह शङ्का होती है कि निराकार ईश्वर से शब्दमय वेद कैसे उत्पन्न होसकते हैं। इसका उत्तर यह है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसके विषय में ऐसी शङ्का निरर्थक है क्योंकि मुख तथा प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख्य तथा प्राणादि के कार्य करने की सामर्थ्य विद्यमान है। यह दोष तो जीवों में आसकता है कि वे मुखादि के विना कार्य नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्य अल्प सामर्थ्य वाला है। साथ ही इस बात को इस तरह भी समझा जा सकता है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि उसमें प्रश्नोत्तर रूप से नाना शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता रहता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। तथा सर्वशक्तिमान् होने से परमात्मा किसी भी कार्य के कारण में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। इतने महान्

ब्रह्माण्ड तथा लोकलोकान्तरों को बिना किसी की सहायता के जैसे परमात्मा निर्माण कर सकता है वैसे ही मुखादि अवयव के बिना भी परमेश्वर वेद का ज्ञान दे सकता है। इस पर यह भी शङ्का होसकती है कि इतने महान् ब्रह्माण्ड के रचने का सामर्थ्य तो परमेश्वर के बिना अन्य किसी में होना सम्भव नहीं, परन्तु जैसे व्याकरणादि शास्त्र रचन में मनुष्यों का सामर्थ्य होसकता है वैसे ही वेदों की रचना भी मनुष्य कर सकता है। इसका उत्तर यह है कि वेदादि को पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी को होसकता है। उसके पढ़ने तथा ज्ञान के बिना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो-सकता। जैसे इस समय भी किसी शास्त्र को पढ़ के और किसी का उपदेश सुनकर ही तथा मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहारों को देखकर ही मनुष्यों को ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न तथा फल युक्ति से देवे, परन्तु उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी न करे और मृत्युपर्यन्त उससे किसी भी मनुष्य का सम्बन्ध न होने दे तो वह कभी भी विद्वान् नहीं होसकता और सभ्यता तथा ज्ञान की साधारण बातों से भी अनभिज्ञ रहेगा। असीरिया के महाराज असुरबाणिपाल तथा मुग़ल सम्राट् अकबर के परीक्षण इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से होने के कारण यह भी निर्विवाद है कि वेद नित्य अर्थात त्रिकालाबाधित हैं और उनके सिद्धान्त सर्वव्यापक हैं। क्योंकि ईश्वर का सामर्थ्य नित्य है। वेदों का कभी नाश नहीं होता, जिस पत्र पर वेद लिखे गये हैं उनका नाश होने पर भी वेदज्ञान का नाश नहीं होता, और पठन पाठन परम्परा का लोप होजाने पर भी वह ईश्वरीय ज्ञान नष्ट नहीं होता, इसका कारण यह है कि ईश्वर के पास वेदज्ञान सदा विद्यमान रहता है वह स्वयं वेदरूप अर्थात् ज्ञानरूप है, ईश्वरीय-ज्ञान नित्य और अव्यभि-चारी है इसलिये वेदों का शब्दार्थ सम्बन्ध जैसा वर्त्त-मान समय में देख पड़ता है वैसा ही वह पूर्व कल्पों में था और वैसा ही भविष्य में रहेगा, जैसा कि वेद में कहा है कि—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्"

अर्थात् पूर्वकल्पों में परमेश्वर ने सूर्य चन्द्रादि सब सृष्टि की जैसी रचना की थी वैसी ही उसने इस सृष्टि की भी की है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण है अर्थात् न उसका नाश होता है और न उसमें वृद्धि होती है। यद्यपि ईश्वरीय ज्ञान अनन्त है तथापि वेद द्वारा पर-मात्मा उतना ही ज्ञान देता है जितना कि मनुष्य के लिये आवश्यक है। जिसके द्वारा मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति कर सके। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि पुस्तक के नाश से वेद का नाश नहीं हो सकता क्योंकि वेद तो शब्दार्थ तथा सम्बन्ध स्वरूप हैं, मसी, काग़ज़, पत्र, पुस्तक और अक्षरों की बनावट रूप नहीं। यह जो लेखनादि सामग्री है यह मनुष्यनिर्मित है इससे यह अनित्य है परन्तु ईश्वर का ज्ञान नित्य रहने से वेद नित्य हैं। इससे यह पूर्णतया स्पष्ट है कि पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे बीजाङ्कुर न्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के न रहने से उनकी अप्रसिद्धि

होती है इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं। जैसे इस कल्प के आरम्भ में शब्दार्थ-सम्बन्ध वेदों में है इसी प्रकार से पूर्वकल्प में भी था और आगे भी होगा। ऋग्वेदादि चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है और इसमें शब्दार्थसम्बन्ध तथा क्रम जैसा अब है इसी प्रकार रहेगा क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने से उसमें वृद्धि-क्षय तथा विपरीतता नहीं हो सकती, भारतीय शास्त्रकारों ने शब्दों को भी नित्य माना। जितने भी अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाश रहित हैं। कान से जिनका ग्रहण होता है और वाणी से उच्चारण करने से जो प्रकाशित होते हैं और जिनका निवास स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं। शब्द आकाश की भांति सर्वत्र विद्यमान हैं परन्तु तब तक उच्चारण-क्रिया नहीं होती तबतक सुनने में नहीं आते। जब प्राण तथा वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब प्रसिद्ध होते हैं। जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जबतक उच्चारण क्रिया गकार में रहती है तबतक औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एक रस सर्वत्र भर रहे हैं परन्तु जबतक वायु तथा वाग्-इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तबतक शब्दों का उच्चारण तथा श्रवण भी नहीं होता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि शब्द आकाश की तरह नित्य हैं। शब्दों के नित्य होने से शब्दों का समुच्चय वेद भी नित्य है।

वेद का लक्षण

विद्यारण्य स्वामी ने वेदार्थ प्रकाश में वेदका लक्षण इस प्रकार से किया है कि "इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारयोरलौकिकं उपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः" अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु के त्याग करने का अलौकिक उपाय सिखलाता है उसको वेद कहते हैं। यहां 'अलौकिक' पद से प्रत्यक्ष और अनुमिति प्रमाणों की व्या वृत्ति की गई है। जैसे—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदना ॥

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भी मालूम नहीं होता, वह वेदों से जाना जाता है। इसलिये वेदों का वेदत्व सिद्ध होता है।

ऋषि दयानन्दजी वेद का लक्षण इस प्रकार से लिखते हैं कि छन्द, मन्त्र, वेद, निगम, मन्त्र तथा श्रुति ये सब नाम पर्याय वाचक हैं। अविद्यादि दुःखों के दूर करने तथा सुख देने से वेद का नाम 'छन्द' है। तथाच वेदाध्ययन से सब विद्याओं की प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न होता है इसलिये भी वेद का नाम 'छन्द' है। गुप्त पदार्थों की अभिव्यक्ति का साधन होने से 'मन्त्र' नाम वेद का है। तथा सब सत्य पदार्थों का परिज्ञापक होने से भी 'मन्त्र' नाम वेद का है। सब विद्यायें जिससे सुनी या जानी जाती हैं वह 'श्रुति' भी वेद का ही नाम है। ऋषि दयानन्द ने अपने शब्दों में—

अविद्यादि दुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनाच्छन्दोवेदः। (२) गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्तते स मन्त्रो वेदः। अथवा मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याःपदार्थाः येन यस्मिन्वा स मन्त्रोवेदः (३) श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च श्रुतयः। (४) तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्र गुच्छन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

सम्पादकीय टिप्पणी

१—अग्नि आदि नामों द्वारा परमात्मा की पूजा

वेदों में अग्नि आदि नामों द्वारा परमात्मा की पूजा पाई जाती है। लोग प्रायः अग्नि आदि नामों से भ्रम में पड़ जाते हैं। इन लोगों की दृष्टि में अग्नि आदि नाम प्राकृतिक पदार्थों के हैं। अतः ये लोग समझते हैं कि वेद में अग्नि आदि नामों द्वारा की गई पूजा इन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा है, वस्तुतः यह विचार भ्रम-मूलक है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में इस भ्रम का मूलोच्छेदन कर दिया है। उनके मत में अग्नि आदि नाम परमात्मा के भी

वाचक हैं। महर्षि लिखते हैं कि "अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है"......। अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इससे......सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है......जहां २ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहां २ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता" (सत्यार्थ प्रकाश पृ०.५,६)। वर्त्तमान काल का विचार भी महर्षि की इस उक्ति का पोषण करता है। बंगाल के विद्वान् द्विजदास दत्त एम० ए० ने हाल में एक पुस्तक प्रकाशित की है जिस का नाम है "Rigveda unveiled," इस पुस्तक के पृ० १०५ पर अग्नि आदि नामों द्वारा की गई परमात्मा की वैदिक पूजा के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि:—

"What is Agni, who" says Kakshivan, "is lighted for worship in every house, "गृहं गृहं उपतिष्ठते अग्निः"? Was the Vedic Rishi a fool that he should blindly pray to the dead visible fire or Agni, visible to all, that he had himself lighted by the friction of two sticks,—that he should pray to the fire that can neither hear nor see, saying, "पितेव सूनवेऽग्ने, सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥" ऋ० १–९॥ "be Thou readily accessible to us like a father to his son, be Thou always with us that we may always attain what is good for us." Was it not God that he prayed to, God identified with the dead visible Fire as the living spirit symbolised, is identified with its dead symbol, by the law of association of ideas."

इसका अभिप्राय यह है कि:—

अग्नि क्या है इसके सम्बन्ध में कक्षीवान् कहता है कि "अग्नि गृह २ में पूजा के निमित्त प्रदीप्त की जाती है" गृहं गृहं उपतिष्ठते अग्निः। वेद का ऋषि क्या बेवकूफ था कि वह निर्जीव-प्रत्यक्ष-अग्नि की स्तुति-प्रार्थना करता। अग्नि जो कि सब को प्रत्यक्ष है, जिसे कि उसने स्वयं दो अरणियों की रगड़ से उत्पन्न किया है, जोकि न सुन सकती है, न देख सकती है, उस की पूजा वह यह कह कर करता कि "हे अग्नि! तू हमें इस प्रकार प्राप्त हो जैसे कि पिता पुत्र को, और तू सदा हमारे साथ रह, ताकि हम सदा कल्याण को प्राप्त कर सकें"। क्या वह परमात्मा नहीं, जिसकी कि पूजा ऋषि ने इन शब्दों में की है?। ऋषि ने केवल परमात्मा को निर्जीव-प्रत्यक्ष-अग्नि में देखा है, इसमें उसका भान किया है, जैसे कि लोग प्रायः जीव का अनन्यभाव देह में देखते हैं। इस प्रकार का देखना विचार-साहचर्य का परिणाम हुआ करता है।

विद्वान् लेखक का भाव इन शब्दों में अत्यन्त स्पष्ट है। वह मानता प्रतीत होता है कि वेद में अग्नि आदि नामों द्वारा निर्जीव अग्नि आदि की पूजा नहीं है, अपितु इन नामों द्वारा उसी की पूजा की है जो कि इन निर्जीव अग्नि आदि की आत्मा है, सर्वात्मा है।

२—वेदों के नाम पद यौगिक हैं

निरुक्त के पढ़ने से प्रतीत होता है कि निरुक्तकार वेदों के नाम पदों को यौगिक मानते हैं। निरुक्त इस बात का भी साक्षी है कि यह यौगिक-सम्प्रदाय निरुक्तकार यास्क मुनि से अति प्राचीन काल से चला आया है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेदों के नाम पदों को यौगिक मानते थे इसमें ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान २ पर प्रमाण मिलते हैं। वैदिक नाम पदों को यौगिक न मानने पर क्या आपत्ति आती है इस सम्बन्ध में द्विजदासदत्त एम० ए० अपनी पुस्तकमें पृ० १३० पर लिखते हैं कि:-

"How a word may decieve a Vedic student, and may be the mother of all kinds of legends, myths, and superstitions, we will cite one example from the Rigveda. The word 'हस्ती' to-day we all know, means an elephant. And in that sense we meet with the word 'हस्ती' even in the Rigveda, "मृग इव हस्तिनः खादथा

बना" (1-64-7)—(Ye Maruts or God in storms) "Like wild elephants, Ye destroy the forests." Again we have in the Rigveda "अंशुं दुहन्ति हस्तिनः' (3-36-7) If you took "हस्तिनः" here in the sense of 'elephants,' and interpreted it, "the elephants cut up the soma-creeper into small pieces, and extracted the juice,' you might accuse the Rishis of the wildest superstitions and peurilities, such as believing elephants, like men, to have performed the Soma sacrifice! More formidable still,—the Universal Food-giver (Indra) or God Himself, is called in the Rigveda a 'great elephant' 'महाहस्ती', "आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं गृभं संगृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन" (ऋ० ८। ८१ १) If you interpreted "महाहस्ती" as a "Great Elephant"—"O Thou great Elephant, do thou take on thy powerful hand some thing most acceptable, most beautiful, something that would call forth high praises, for giving to us," You might accuse the Rishis of believing the Elephant also to be an incarnation of God, and swell the number of animal Avatars, by adding to the fish and the Tortoise, Elephant also! But go back to the root meaning of 'हस्ती' as one "having a hand", the elephant is a हस्ती, because of its hand like proboscis, the priest is as हस्ती, because of those human hand of his, and God is, "great-handed," because He is Almighty."

अर्थात "किस प्रकार एक शब्द वैदिक विद्यार्थी को धोखा दे सकता है और नाना कथा-कहानियों तथा भ्रमात्मक विचारों का कारण बन सकता है इसका एक उदाहरण ऋग्वेद से उपस्थित किया जाता है वर्तमान समय में 'हस्ती' का अर्थ हाथी है-यह सभी जानते हैं और इस अर्थ में 'हस्ती' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी हुआ है। यथा:—मृग इव हस्तिनः खादथा वना (ऋ० १।६४।७) इत्यादि। ऋग्वेद में यह भी कहा है कि हस्ती सोम ओषधि में से सोमरस निकालते हैं। यथा:—अंशुं दुहन्ति हस्तिनः (ऋ० ३।३६।७)। यहां हस्ती का अर्थ यदि हाथी लिया जाय तो मानना पड़ेगा कि इस मन्त्र का ऋषि इस भ्रम में था कि हाथी भी सोमयाग करते हैं। (हस्ती शब्द को यौगिक मानने पर हस्ती का अर्थ होगा "हाथ वाले" ऋत्विक् लोग, जो अर्थ कि सोमयाग के सम्बन्ध में बहुत उपपन्न दिखाई देता है)। और देखिये, वेद में इन्द्र को महाहस्ती कहा गया है। यथा:—'आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं गृभं संगृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन (ऋ० ८।८१।१) यहां यदि महाहस्तीका अर्थ बड़ा हाथी किया जाय तो महान् अनर्थ होगा क्योंकि इससे यह बात सिद्ध होगी कि इस मन्त्र का ऋषि बड़े हाथी को भी देव का रूप मानता था, इस प्रकार पशु-अवतार नाना मानने पड़ेंगे।

अब हस्ती शब्द के यौगिक अर्थ की ओर चलिये इसका यौगिक अर्थ है 'हाथ वाला'। हाथी हस्ती है चूंकि उसकी सूंड होती है जो कि उसे हाथ का काम देती है। ऋत्विक् हस्ती है चूंकि उसके हाथ होते हैं। इन्द्र अर्थात् देव या परमात्मा महाहस्ती है चूंकि वह सर्वशक्तिमान् है। द्विजदासदत्त आगे पृ० १३१ पर लिखते हैं कि:—

"It is on this "Paronomasia" or "श्लेषालंकार" in the Rigveda, thatSwami Dayanand lays the greatest stress, for it was a necessary condition of the Rishis very existence, and without realising it, you could not catch the Rishis true meaning."

अर्थात् "इसीलिये स्वामी दयानन्द ने वेदों में श्लेषालंकार की सत्ता पर अधिक बल दिया है। क्योंकि विना इस कथन का गौरव समझे ऋषि का वास्तविक अभिप्राय समझा नहीं जा सकता।"

श्रीमद्दयानन्द निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में—

"वैदिक-विज्ञान"

का

अगला अङ्क

श्रीमद्दयानन्द निर्वाणांक

होगा

जिसमें नये वर्ष के प्रथम व द्वितीय अङ्क सम्मिलित होंगे। इस अङ्क में भारतवर्ष के बड़े २ प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों की लेखिनी से लिखे, वेद व वेदज्ञों के आलोचना प्रत्यालोचना पूर्ण उत्तमोत्तम लेखों का संग्रह किया जायगा तथा उत्तम भावुक कवियों की कविताओं से सुसज्जित होगा। यह अङ्क निर्वाण अर्द्धशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित होगा।

इस विशेषांक का पृथक् मूल्य ॥) है

ग्राहकों से विशेष मूल्य न लेकर वार्षिक मूल्य में ही दिया जावेगा।

वेदभाष्य के स्थायी ग्राहकों को

"वैदिक विज्ञान"

पौने मूल्य में ही दिया जाता है

अतः इस अवसर को हाथ से जाने न दें

Registered No. N—502

छपना आरम्भ होगया।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्र बाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान न होते हुए भी इस कार्य को बिना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफ़र करना पड़ा और एक एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही हो गयी। इस हृदय विदारक समाचार को पाकर

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, जो देवेन्द्र बाबू के परम परिचितों में थे, ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी बरसों परिश्रम और बहुत सा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हज़ारों छोटे छोटे पुर्ज़े, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग १००० रायल आठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व तिरंगे चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हज़ार रुपया व्यय कूता गया है। इतना द्रव्य व्यय करने से एक पुस्तक पर लगभग ७, ८, रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान् ग्रन्थ आर्य-सभासद् तथा आर्यसमाजों के अतिरिक्त और कौन ले सकता है आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ,

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और **प्रथम संस्करण एक हज़ार छपना आरम्भ कर दिया है।**

हज़ारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हज़ार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परमकर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेना चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व वा अमूल्य होगा, इसका बार बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अतः आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाईरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस अजमेर में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।
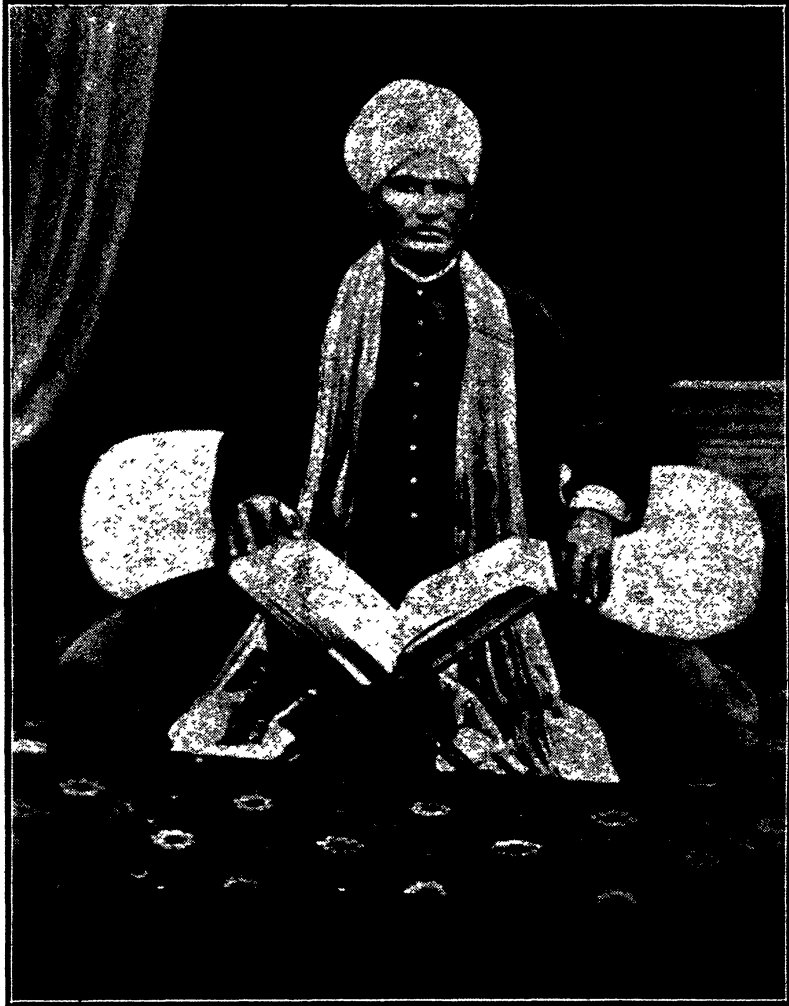
महर्षि दयानन्द सरस्वती—श्री प० भगवद्दत्तजी बी० ए०, रिसर्च स्कालर से प्राप्त चित्र ।

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २	कार्तिक, माघ संवत् १९९० वि०, अक्टूबर, नवम्बर सन् १९३३ ई०	सं० १,२

वेदोपदेश

सोमपान

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

अथर्व० १४ । १ । ३ ॥

"जब ओषधि को पीसते हैं तो समझते हैं कि हमने सोम-पान कर लिया, परन्तु वेद के विद्वान् जिसे सोम जानते हैं उसका पान पार्थिव-व्यक्ति नहीं कर सकता"।

इस मन्त्र में सोम-पान करने का उपदेश है। साथ ही इस मन्त्र में सोम-पान के स्वरूप का भी निर्देश किया है।

अथर्ववेद के इस मन्त्र में यह विशेषता है कि यहाँ मन्त्र ने स्वयं खण्डन पूर्वक सोम-पान के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि ओषधि का पान सोमपान नहीं और न पार्थिव-व्यक्ति असली सोम का पान कर ही सकता है।

अब यहां यह देखना चाहिये कि वास्तव में सोम-पान है क्या वस्तु ?

सोमपान के सम्बन्ध में इस सूक्त में निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं। यथाः—

(१) **ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥**

अथर्व० १४ । १ । १ ॥

अर्थात् नियमों के कारण आदित्य ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहते हैं जिनके कि मस्तिष्क में सोम आश्रय पाता है।

(२) सोमेनादित्या बलिनः ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥
अथर्व० १४ । १ । २ ॥

सोम के कारण आदित्य ब्रह्मचारी बली होते हैं और सोम शक्ति की सुरक्षा के कारण (गृहस्थ में) इनकी उपस्थेन्द्रिय में सोम उपस्थित होता है।

(३) सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादवात्।
अथर्व० १४ । १ । ९ ॥

सोम-शक्ति को वधू की इच्छा होती है तब सोम शक्ति वाले के माता-पिता कन्या का वरण करते हैं, उस कन्या का जो कि सूर्या अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारिणी है, जो कि पति की चाहना करती है, ऐसी कन्या को उसका उत्पादक पिता विचारपूर्वक आदित्य ब्रह्मचारी की भेंट करता है।

सोम के इन उपरोक्त वर्णनों में सोम पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

इनमें निम्न निर्देशों पर अधिक ध्यान देना चाहिये।

(क) आदित्य ब्रह्मचारियों का सोम उनके मस्तिष्क में रहता है।

(ख) सोम जो कि ब्रह्मचर्यकाल में मस्तिष्क की वृद्धि में लगा रहता है वह गृहस्थकाल में उपस्थेन्द्रिय में आ उपस्थित होता है।

(ग) सोम को वधू की इच्छा होती है।

इन निर्देशों के बल पर हम विना सन्देह के कह सकते हैं कि सोम वास्तव में वीर्य शक्ति है। क्योंकि वीर्य शक्ति में ही उपरोक्त सब वर्णन वास्तव में चरितार्थ होते हैं।

अब सोमपान के मन्त्र पर विचार कीजिये। मंत्र ओषधिरूप सोम को सोम नाम नहीं देना चाहता, ओषधिरूप सोम को घोट पीस कर इसके रस के पान को मन्त्र सोम-पान नहीं कहना चाहता। मन्त्र स्पष्ट कहता है कि वैदिक विद्वान् ओषधिरूप सोम को सोम नहीं मानते। वैदिक विद्वानों के सोम का का पान पार्थिव-व्यक्ति कर ही नहीं सकता। यह पार्थिव-व्यक्ति कौन है? वैदिक साहित्य में पृथिवी शब्द मातृशक्ति का सूचक होता है।

अथर्ववेद १४ । २ । ७१ में कहा गया है। यथाः—
'द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव प्रजया जनयावहै।'

अर्थात् हे पत्नि ! मैं तो द्यु हूं और तू पृथिवी है, हम दोनों इकट्ठे होते हैं और प्रजा को उत्पन्न करते हैं।

इसलिये वह व्यक्ति जो कि स्त्री शक्ति का दुरुपयोग करता है पार्थिव है। ऐसा व्यक्ति सोम-पान कर नहीं सकता। तथा वह व्यक्ति भी सोम-पान नहीं कर सकता जो कि पार्थिव-भोगों (Earthly enjoyments) में ही फंसा रहता है और इनसे उठकर आत्मिक सम्पत्ति की ओर पग नहीं उठाता। प्रत्येक व्यक्ति को यत्न करना चाहिये कि वह इस वैदिक सोमपान का रसास्वादन किया करे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती—चित्र शाहपुरा दरबार से प्राप्त।

संसार के धर्मों की पारस्परिक समानता

[ले०—श्री प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालंकार]

कुछ समय से हमें यह आदत पड़ गई है कि हम दो धर्मों को देखकर यह सोचने लगते हैं कि वे जरूर एक दूसरे के विरोधी होंगे। दो धर्मों के मानने वालों को एक दूसरे के नजदीक खड़ा देखकर हम सोचने लगते हैं कि अभी थोड़ी ही देर में वे एक दूसरे का सिर फोड़ेंगे और उन दोनों में घमासान युद्ध छिड़ जायगा। हम यह नहीं सोचते कि दो धर्म एक दूसरे के विरोधी होने के बजाय एक दूसरे के सहायक भी होसकते हैं, एक दूसरे के ऋणी भी हो सकते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द को जिस पामर ने गोली का निशाना बनाया उसके दिमाग़ में यह बात घर कर गई थी कि इस्लाम और हिन्दू धर्म में अगर कोई रिश्ता हो सकता है तो दुश्मनी का होसकता है, इन दोनों में किसी तरह की दोस्ती नहीं हो सकती। मुसलमान ईसाइयों को गुमराह समझते हैं और ईसाई मुसलमानों को गुमराह समझते हैं। बहुत देर से कुछ ऐसी लहरें चलती रही हैं जिनसे हम धर्म की वेदी पर से शान्ति का पैग़ाम सुनाने के बजाय अशान्ति और कभी २ गाली गलौज का नज़ारा देखने के आदी होगये हैं। असल में, धर्म के इसी रूप को देखकर लोग धर्म से उकताते जारहे हैं। लेकिन धर्म की यह तस्वीर उसकी सच्ची तसवीर नहीं है। धर्म का असली तत्व इन्सान को इन्सान से फाड़ने के बजाय इन्सान को इन्सान से जोड़ने का है, मनुष्य जाति को एक दूसरे से दूर करने के बजाय उसे एक दूसरे के नज़दीक लाने का है। इसीलिये संसार के भिन्न २ धर्मों का अध्ययन करने से साफ ज़ाहिर होता है कि वे एक दूसरे के ऋणी हैं। एक दूसरे के इतना ही नज़दीक हैं जितना आज हमने उसे दूर बना दिया है। दुनियाँ के सब धर्म एक दूसरे से लेन-देन करते रहे हैं, लेन देन के बग़ैर दुनियां का कोई काम चलता भी तो नहीं है। मुश्किल इतनी ही है अक्सर लोगों में कर्जा लेकर मुकर जाने की आदत होती है। मुकरने से ही तो मुकद्दमे बाज़ी शुरू होती है। आज तो भिन्न २ धर्मों में मुकद्दमे बाज़ी चल रही है, एक धर्म दूसरे का मुँह नहीं देख सकता, यह सब हट सकता है अगर भिन्न २ धर्मों के मानने वाले आपस के लेन-देन को कबूल करलें, आपस में एक दूसरे का ऋण स्वीकार करलें।

जिसने धर्मों के इतिहास का कुछ भी अध्ययन किया है वह इस बात को माने बगैर नहीं रह सकता कि संसार के सब धर्म एक दूसरे के साथ किसी एक बन्धन के साथ ऐसे बंधे हुए हैं जैसे माला के मनके सूत्र में पिरोये होते हैं। सब धर्मों के अन्दर दूसरे धर्म से कुछ न कुछ ले लेने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखलाई देती है। आप लोगों ने 'जावा' का नाम सुन रक्खा है। इस समय वहाँ की जनता प्रायः मुसलमानों की है। ये मुसलमान रामायण तथा महाभारत पढ़ते हैं और साथ ही कुरान को अपनी धर्म पुस्तक समझते हैं। जावा निवासी मुसलमान रामा-

यण तथा महाभारत को भी अपनी ही पुस्तकें समझते हैं, उन्हें यह मालूम ही नहीं कि असल में ये पुस्तकें हिन्दुओं की थीं और भारतवर्ष से कुछ परिवर्तित रूप में जावा पहुँचीं। जावा के मुसलमानों में कथानक प्रचलित है। वे कहते हैं कि महाभारत के युद्ध के बाद युधिष्ठिर जावा में एक पहाड़ के ऊपर चढ़कर बैठ गया। उसके पास जीवन के वृक्ष की जड़ थी। पहाड़ पर चढ़ चुकने के बाद यह जड़ एक पुस्तक बन गई और युधिष्ठिर इस पुस्तक को अपने सामने खोल कर सैंकड़ों साल बैठा रहा। इस किताब के कारण वह अमर होगया। सदियों बाद एक मुसलमान जिसका नाम शेख सीती जेनार था उसी पहाड़ी पर चढ़ा और उसने वहाँ युधिष्ठिर को बैठे देखा। दोनों आपस में बड़े प्रेम से मिले, शेख ने युधिष्ठिर से पूछा, तुम क्या पढ़ रहे हो ? युधिष्ठिर ने कहा, मेरे पास जीवन की पुस्तक है, इसके सबब से मैं अब तक जीता हूं, मरा नहीं शेख ने युधिष्ठिर से पुस्तक मांगी और देख कर चिल्ला पड़ा, अरे, यह तो 'कुरान' है, लाओ, यह पुस्तक मुझे देदो, मैं इसका जावा में प्रचार करूंगा। युधिष्ठिर ने वह पुस्तक देदी और मर गया, इधर शेख ने जावा में कुरान का प्रचार किया। यह किस्सा और कुछ नहीं तो इतना तो अवश्य हमारे सन्मुख स्पष्ट करता है कि किस प्रकार एक धर्म पर दूसरे धर्म की कलम चढ़ती है और किस प्रकार वह अपने रूपों को परिवर्तित करता रहता है। जावा में ही इसी प्रकार की एक और चीज पाई जाती है। वैसे तो हिन्दूधर्म की बौद्ध धर्म से लड़ाई समझी जाती रही है। कहते हैं हिन्दुधर्म ने बौद्ध धर्म को भारतवर्ष की सीमा से भी बाहर निकाल दिया था। परन्तु जावा में उसव नामक स्थान पर एक मन्दिर है जिसका नीचे का हिस्सा शैवों के लिये बनाया गया था और ऊपर के हिस्से पर ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की मूर्ति थी। यह मन्दिर जावा के राजा कृतनगर का बनवाया हुआ है। यह राजा मर कर 'शिव-बुद्ध' के नाम से विख्यात हुआ। यह दृष्टान्त भी हमारे सन्मुख इस बात को स्पष्ट कर देता है कि किस प्रकार धर्मों की आपस में एक-दूसरे पर कलम चढ़ती है और यह सम्भव है कि जिन धर्मों को हम एक दूसरे का शत्रु समझे बैठे हों वे वास्तव में एक दूसरे के मित्र हों, और हमने ही उन्हें एक दूसरे से लड़ाने का काम किया हो।

दूसरे धर्म की कलम लगाने में जावा अकेला नहीं है। यदि पारसी धर्म का आप अध्ययन करें तो वैदिक तथा इरानी धर्म की समानता और भी आश्चर्य में डाल देने वाली है। पारसियों की धर्म पुस्तक जिन्दावस्था में परमात्मा के नाम गिनाये गये हैं जिनमें दो नाम विशेष ध्यान देने योग्य हैं। परमात्मा कहता है कि मेरा नाम 'अह्मि' और 'अह्मि यदह्मि' है। 'अह्मि' संस्कृत के 'अस्मि' का अपभ्रंश है। पारसी भाषा में 'स' को 'ह' हो जाता है। इस समय भी पारसियों के सम्पर्क में रहने वाली गुजराती लोग 'स' को 'ह' बोल देते हैं। वे तुम्हारा साथी कहां है' को 'तुम्हारा हाथी कहां है' बोलते हैं। 'अह्मि' का अर्थ है 'मैं हूँ' और 'अह्मि यदह्मि' का अर्थ है 'मैं हूँ वह मैं हूँ'। लोग पूछ सकते हैं कि भला यह भी परमात्मा का नाम हो सकता है, परन्तु ऐसा है। जिन्दावस्था में ही नहीं, यहूदियों तथा ईसाइयों के मान्य धर्म ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेन्ट की 'एक्सोडस' पुस्तक में भी परमात्मा मूसा

को कहता है कि मेरा नाम 'I am that I am' और 'I am' है। यहूदियों ने परमात्मा के ये दोनों नाम पारसियों से लिये हैं। यजुर्वेद में एक स्थल पर 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' आता है 'सोऽहमस्मि' का अनुवाद 'That I am' है जो जिन्दावस्था तथा बायबल दोनों में पाया जाता है। वेद, जिन्दावस्था तथा बायबल तीनों में यह युक्ति परमात्मा की है। यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के २८ वें मन्त्र में 'इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि' यह आता है। इसका भी वही अर्थ है जो पारसियों के 'अह्मि यदह्मि' अथवा यहूदियों के 'I am that I am' का है। इसके अलावा यहूदियों में परमात्मा का नाम 'जिहोवा' है। बायबल में जगह २ 'जिहोवा' का नाम पाया जाता है। वेद में अग्नि को सम्बोधन करते हुए 'यह्व' शब्द से सम्बोधन किया गया है। ऋग्वेद १० मण्डल। ११० सूक्त का ३ रा मन्त्र इस प्रकार है:—

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानमसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥

लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'Vedic Chronology and Vedang Jyotish' में इस तथा अन्य मन्त्रों के आधार पर सिद्ध किया है कि यहूदियों का 'जिहोवा' वैदिक मन्त्रों का 'यह्व' ही है।

जिन्दावस्था के 'होम यष्ट' में लिखा है कि 'होम ने करेशानि राजा को इसलिये राज्यच्युत कर दिया क्योंकि उसने अपने राज्य में 'अपां अविष्टिश' का पाठ बन्द कर दिया था' डा० हॉग का कथन है कि 'अपां अविष्टिश' 'शन्नोदेवी रभिष्टये आपो भवन्तु पीतये' का ही सूचक है। इस मन्त्र में 'अभिष्टये आपः' आता है, उसी का उलट कर 'आपः अभिष्टये' बनता है। इस प्रकार अक्षरों या शब्दों का पलट जाना कोई नई बात नहीं है। संस्कृत के 'वक्र' शब्द के अक्षरों के पलट जाने से अंग्रेजी का 'कर्व' (Curve) शब्द बना है; 'भूगोल' के पलट जाने से 'गोल भू' बनता है और उससे आगे 'ग्लोब्' (Globe) बन जाता है। इसी प्रकार कई लोग 'चाकू' को 'काचू' कह देते हैं। किसी समय ईरानी राजा करेशानी के राज्य में 'शन्नो देवी' का प्रचार हो रहा था, उसने इसे रोका तो उसे सिंहासन च्युत कर दिया गया, यह स्वयं जिन्दावस्था की साक्षी है। 'शन्नोदेवी' से अभिप्राय अथर्ववेद से है क्योंकि महाभाष्य में पतंजलि महाराज ने जहां चारों वेदों को सूचित करने के लिये एक २ मन्त्र दिया है वहां अथर्ववेद को प्रकट करने के लिये 'शन्नो देवी' मन्त्र दिया है।

पारसियों के 'नामाह जरदुश्त' में लिखा है कि एक बड़ा भारी विद्वान् भारतवर्ष से आयेगा उसका नाम व्यास होगा। वह जरदुश्त के साथ विवाद करेगा। इसके आगे वे प्रश्न दिये गये हैं जो इन दोनों में आपस में होंगे। इससे भी स्पष्ट है कि पारसी तथा वैदिक धर्म का आपस में काफ़ी सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध इतना रहा है कि पारसियों में भी इन्द्र, वृत्र, अर्यमा, वरुण, नासत्यौ, भग, नाराशंस, वायु, वृत्रघ्न, आदि सब देवता पाये जाते हैं। इनकी देवमाला को देखने से यह भी ज्ञान होता है कि किसी समय ये दोनों आपस में लड़ पड़े थे क्योंकि 'इन्द्र' जहां वेद में बड़ा भारी देवता है वहाँ जिन्दावस्था में 'इन्द्र' सब से बड़ा राक्षस है। पारसियों में 'देव' शब्द का प्रयोग शैतान अर्थ में होता है। अंग्रेजी के Devil शब्द में भी 'देव' शब्द ही है। उसका यही अभिप्राय

है कि धर्मों में दोस्ती ही नहीं, नाराजगी भी हो जाती है। हम इस समय उस नाराज़गी की तरफ़ न देख कर दोस्ती की तरफ़ देख रहे हैं क्योंकि यह तो सब मानते ही हैं कि धर्मों में नाराज़गी रहती है। जिस बात की तरफ़ ध्यान नहीं दिया जाता वह यही है कि उनमें दोस्ती, मित्रता, सख्यभाव, एक दूसरे से लेना, एक दूसरे की सचाई को स्वीकार करना भी रहा है।

ग्रीक लोगों का परमात्मा zeus कहाता है। ग्रीक शब्द शास्त्र के अनुसार zeus की व्युत्पत्ति D.os से होती है। विद्वानों ने इसे वैदिक 'द्युः' शब्द से मिलाया है। संस्कृत में 'स्' के स्थान में विसर्ग हो जाता है अतः असल में 'द्युस्' शब्द है। 'द्युस्' भी 'दिउस्' से बनता है और 'दिउस्' से ही ग्रीक लोग कहते हैं कि उनका 'जीयस' बना है। रोमन लोगों के यहाँ परमात्मा का नाम 'जुपिटर' है और वेद में परमात्मा को 'द्यौष्पितर्' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि धर्मों का लेन-देन का सम्बन्ध ग्रीक तथा रोमन समय का है। प्राचीन धर्मों का इतिहास देखने से उनमें आपस में आश्चर्य जनक निकटता दिखाई देती है। यहां तक कि उन सब का स्मृतिकार (legislator) मनु ही रहा है। हमारी स्मृति तो मनु महाराज की लिखी हुई है ही परन्तु यहूदियों का स्मृतिकार भी Moses है। मनुः की विसर्गों को 'स्' कर दिया जाय तो 'मनुस्' बन जाता है। ईजिप्ट का स्मृतिकार Manes था, ग्रीक लोगों का नियम-प्रवर्त्तक Minos था। Manes, Minos, Moses तथा मनुः सब एक ही हैं। फ़िलो नाम का ऐतिहासिक ईजिप्ट में एक सम्प्रदाय का उल्लेख करता है जिन्हें थूरप्यूट (Therapents) कहते थे। ये थेरेप्यूट पैलेस्टा इनके ऐसेनीज (Essenes) नामक धर्म की एक शाखा थी। हजरत मसीह का गुरु जॉन बैप्टिस्ट ऐसेनीज सम्प्रदाय का था और ऐसेनीज तथा थैरेप्यूट एक ही धर्म था। थैरेप्यूट शब्द बौद्धों के थेरपुत्त (सं० में स्थविरपुत्र) का अपभ्रंश है। थेरपुत्त पाली भाषा का शब्द है और बौद्धों की एक प्रसिद्ध शाखा अपने को थेरपुत्त कहती थी। थेरपुत्त लोग ही ईजिप्ट में थेरेप्यूट कहलाये और उनकी पैलेस्टा इनकी शाखा वालों से जान दी बैप्टिस्ट ने दीक्षा लेकर ईसामसीह को दीक्षा दी। इसी लिये ईसाइयत तथा बौद्ध धर्म में इतनी समानता पायी जाती है।

मैंने प्राचीन धर्मों में शब्दों की समानता को इस लिये दिखाने का प्रयत्न किया है क्योंकि मोटी से मोटी बुद्धि वाला भी इस प्रकार की समानताओं को देख कर समझ सकता है कि इन धर्मों का आपस का लेन-देन बहुत काफ़ी रहा होगा, तभी तो उनमें परस्पर शब्द तक वही के वही पाये जाते हैं। प्राचीन धर्मों में शाब्दिक समानता ही इतनी अधिक पायी जाती है कि या तो यह मानना पड़ता है कि वे लोग एक ही धर्म को मानने वाले थे, एक ही स्थान पर रहते थे, और ज्यों २ दूर चलते गये त्यों २ उनके उच्चारणों आदि में थोड़ा बहुत परिवर्तन आता चला गया; या यह मानना पड़ता है कि वे एक-दूसरे से धर्म लेने और एक-दूसरे को धर्म देने के लिये हर समय तैय्यार रहते थे। वास्तव में दोनों बातें हुई हैं। संसार के धर्मों का अध्ययन करने से पता चलता है कि धर्म का स्रोत किसी एक ही चश्मे से बहा है, इसके साथ यह भी समझ आता है कि दूर २ जाकर भी धर्मों में एक दूसरे से विनिमय करने की प्रवृत्ति रही है। एक धर्म दूसरे धर्मों से बहुत कुछ लेता

भी रहा है, और उसे बहुत कुछ देता भी रहा है।

मैंने अभी तक शब्दों की समानता के द्वारा धर्मों की एक दूसरे के साथ समानता या सहयोग दिखाने का प्रयत्न किया है। परन्तु शब्दों की समानता तो चोले की समानता है, कपड़े की समानता है, बाहर की समानता है। धर्मों में चोले की ही समानता नहीं है, शरीर की ही समानता नहीं है, आत्मा की भी समानता है, अन्दर की भी समानता है। कई ऐसे धर्म हैं जिनमें शब्दों की समानता नहीं के बराबर पाई जाती है, वे दूसरी ही भाषा में हैं। उदाहरणार्थ–अरबी का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु शब्दों का सम्बन्ध तो बाहर का ही सम्बन्ध है। यदि भीतर का, आत्मा का, शब्दों को छोड़कर सिद्धान्तों का सम्बन्ध देखा जाय तो संसार भर के धर्म चाहे वे किसी भी भाषा में क्यों न हों—आपस में आश्चर्यजनक रूप में नजदीक दिखलाई देते हैं। धर्म वह प्रवृत्ति है जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है एक धर्म की दूसरे धर्म से लेन-देन बनाये रखने की प्रवृत्ति दूसरे धर्म पर अपनी कलम और अपने धर्म पर दूसरे की कलम लगाने की प्रवृत्ति, एक धर्म की दूसरे धर्म के साथ लड़ने-झगड़ने के बजाय उससे प्यार करने की प्रवृत्ति धर्मों की आपस में शाब्दिक समानता से तो प्रकट होती ही है। इसी का मैंने अभी तक वर्णन किया है। परन्तु भिन्न २ धर्मों के सिद्धान्तों की समानताओं को देखकर तो धर्म की इस प्रवृत्ति में और भी अधिक विश्वास हो जाता है। सिद्धान्तों की समानताओं को देखकर तो यही आश्चर्य होता है कि वे धर्म जो एक दूसरे के इतने निकट हैं क्यों आपस में लड़ते हैं। अब मैं भिन्न २ धर्मों की आपस में सिद्धान्तों की समानता पर कुछ लिखूंगा।

विद्वान् लोग संसार की भाषाओं को 'आर्य' तथा 'सेमेटिक' इन दो भागों में बांटते हैं। इसी प्रकार धर्म भी 'आर्य' तथा 'सेमेटिक' इन दो भागों में बांटे गये हैं। आर्य धर्म में भारतीय, ईरानी, रोमन, यूनानी आदि धर्म आ जाते हैं, सेमेटिक में यहूदी, ईसाई, तथा इस्लाम आदि धर्म आते हैं। अक्सर यह समझा जाता है कि आर्य तथा सेमेटिक का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु धर्म के क्षेत्र में यह बात नहीं है। आर्य तथा सेमेटिक धर्मों में –वैदिक, पारसी, यहूदी, ईसाई तथा इस्लामी धर्मों में भी कई ऐसी समानताएं पायी जाती हैं जो धर्म के विद्यार्थी को आश्चर्य में डाल देती हैं।

सेमेटिक धर्मों से सृष्टि की उत्पत्ति के साथ २ खुदा और शैतान दोनों का ज़िक्र पाया जाता है। शैतान का ज़िक्र यहूदी, ईसाई तथा मुहम्मदी तीनों धर्मों में है। बायबल में तो यह लिखा है कि खुदा ने अदन के बाग़ीचे में 'Tree of knowledge' को लगाकर आदम से कह दिया कि इसे मत खाना। शैतान ने जिसकी शक्ल सांप की थी आकर आदम से उस दरख़्त के फल को खाने को कहा। नतीजा यह हुआ कि खुदा में और सांप में तू-तू मैं-मैं हो गई और खुदा ने सांप को शाप दिया कि तू जमीन पर जा गिरेगा और वहां पेट के बल रेंगा करेगा। यह कहानी यहूदी धर्म में पायी जाती है और इसी धर्म से ईसाइयत और इस्लाम ने शैतान का विचार अपने २ धर्मों में लिया है यह लड़ाई 'Tree of Knowledge' के लिये हुई। खुदा यह चाहता था कि Tree of kno-

ledge उसी के पास रहे, शैतान ने या सांप ने उसे आदमी को भी दे दिया, इसी से सांप को जमीन पर पटक दिया गया। पुराणों में इन्द्र और वृत्र की लड़ाई का जिक्र पाया जाता है। इन्द्र लगातार असुरों से लड़ता रहता है और असुरों का मुखिया वृत्र है। वेद में 'वृत्र' के लिये 'अहि' नाम भी आता है। ऋग्वेद १म मण्डल, ३२ सूक्त में 'इन्द्र' और 'अहि' की लड़ाई का जिक्र पाया जाता है। वहां लिखा है:—

'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री'

—अर्थात इन्द्र के उन पराक्रमों का वर्णन करते हैं जो उसने प्रथम २ सृष्टि के शुरू में किये। उसके आगे पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा है:—

'वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवा अदत्त वज्रं अहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्'॥

अर्थात् 'इन्द्र' ने 'सोम' का पान किया और फिर उसने 'वज्र' लेकर 'प्रथम अहि' को मार डाला। 'अहि' जब मरा तो उसका जिक्र वेद मन्त्र ने इस प्रकार किया है:—'अहस्तपादः अपृतन्यदिन्द्रम्'—हाथ पैर तो इसके हैं नहीं और इन्द्र पर आक्रमण करने चला। इसका नतीजा यह हुआ कि 'अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः', अर्थात 'अहि' पृथिवी पर आ सोया, आ गिरा। सैमेटिक धर्मों में खुदा और सांप का 'Tree of Knowledge' के लिये झगड़ा होता है और सांप पृथिवी पर आ रेंगने लगता है, वैदिक धर्म में इन्द्र और अहि का सोम रस के लिये झगड़ा होता है और अहि पृथिवी पर आ सोता है। वेद से जो जरा भी जानकारी रखता है उसे मालूम है कि वेद में सोम का प्रयोग 'जल' तथा 'ज्ञान' इन दो अर्थों में आता है। बाइबल ने सोम के ज्ञान अर्थ को ले लिया है, अन्यथा बाइबल का Tree of knowledge वेद का 'सोम रस' ही है। इसके अलावा वैदिक भाषा से परिचय रखने वाले यह भी जानते हैं कि 'अहि' का अर्थ 'साँप' और 'बादल' ये दो हैं। मोटी संस्कृत में अहि का अर्थ सांप ही है। अहि की सोम रस के लिये इन्द्र से लड़ाई हुई इसका सैमेटिक धर्मों ने यह अनुवाद किया कि अहि की अर्थात् सांप की सोम रस के लिये अर्थात् Tree of Knowledge के लिये इन्द्र से अर्थात् खुदा से लड़ाई हुई। वेद में लिखा है, अहि के हाथ-पैर नहीं थे, सांप के हाथ-पैर होते ही नहीं। वेद में लिखा है, अहि जमीन पर आ पड़ा, बाइबल में लिखा है 'upon thy belly shalt thou go' इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि बायबल की सांप की कहानी वेद की अहि की कहानी से ली हुई है। जिन्दावस्था में भी शैतान का स्वरूप 'अहि' का है। उनकी भाषा में अहि को 'अज्हि' कहते हैं। शायद आप इस बात पर आश्चर्य करें कि वेद में शैतान की कहानी कहां से आ गई? वस्तुतः ऋग्वेद के इस सूक्त को पढ़ जांय तो साफ़ हो जाता है कि यहां सृष्टि के शुरू २ में जो वाष्प उठते थे, हर समय बादल मंडराते रहते थे, सूर्य के कभी २ ही दर्शन होते थे—उसका वर्णन है। तभी आगे चलकर लिखा है 'अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्'। अहि अर्थात् बादल जब पृथिवी पर आ पड़ा तो नदियां बहने लगीं। अहि अर्थात् बादल भी इन्द्र अर्थात् जल को अपने पास रखना चाहता है, बरसाना नहीं चाहता, परन्तु इन्द्र और सूर्य उसके टुकड़े २ करके उसे पृथिवी पर ला पटकता है। बादल अहस्तपाद होता है—उसके हाथ

पैर नहीं होते। जब वह नीचे आ बरसता है तो उस से नदियां बहने लगती हैं। वेद के इस वर्णन से सैमेटिक धर्मों में सांप की कहानी चली है और इसका कारण 'अहि' शब्द है। 'अहि' का अर्थ सांप भी है, बादल भी है। सांप के भी हाथ पैर नहीं होते, बादल के भी नहीं होते। इस ग़लत फ़हमी से वेदों का एक सुन्दर वर्णन सैमेटिक धर्मों में जाकर कुछ-का-कुछ बन गया है, परन्तु इससे यह बात अवश्य सिद्ध हो जाती है कि धर्मों का लेन-देन खूब होता रहा है, चाहे उसका आधार ग़लत फ़हमी ही रहा हो।

सृष्टियुत्पत्ति के बाद सैमेटिक धर्मों में नूह के तूफ़ान का वर्णन पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में 'मनुः' के तूफ़ान का वर्णन है, ज़िन्दावस्था में वैवस्वतयम के तूफ़ान का वर्णन है, इस तूफ़ान का ज़िक्र अकसर सब ने सुन रखा है, इसलिये इस पर अधिक कहने को जरूरत नहीं परन्तु इतना कहना काफ़ी है 'मनुः' का 'म' यदि उड़ा दिया जाय तो 'नुः' बन जाता है। 'नुः' को विसर्गों को 'ह' बोलें तो नूह का तूफ़ान या मनुः का तूफ़ान एक ही बात है क्योंकि सारा का सारा वर्णन ९० फ़ी सदी मिलता है।

इस्लाम से थोड़ा सा परिचय रखने वाले भी जानते हैं कि बकरीद से क्या मतलब है। बकरीद के दिन पुलिस का पहरा लग जाता है और हिन्दुओं तथा मुसल्मानों के सिर फूटने का ख़तरा पैदा हो जाता है। मुसल्मानों ने गाय का इस प्रकार मारना यहूदियों से लिया था। यहूदियों की धर्म पुस्तक डिट्र-नामी में लिखा है कि यदि कोई कत्ल हो जाय और उसका कातिल न मिले तो एक नया ताजा बछड़ा लेकर मारा जाय और उसके खून से कत्ल हुए आदमी के रिश्तेदार हाथ धोकर कहें कि हमने इसे नहीं मारा तो वे पाप से बच जायेंगे। यहूदियों में पाप से बचने के लिये गाय का मारा जाना पाया जाता है। मुसलमान भी गाय को मारने में धर्म समझते हैं। भारत वर्ष में भी बहुत देर तक 'गोमेध' यज्ञ होता रहा और इसके नाम पर यज्ञों में गोवध होता रहा। पारसियों में गोमेध के लिये गोमेज़ शब्द पाया जाता है, परन्तु उनके धर्म में गोमेध का अर्थ गोकुशी न करके खेती करना लिया जाता था। पारसी धर्म के विद्वान् डॉ० हाग पारसियों की गोमेज़ विधि पर लिखते हैं:—

"Geush urva means the universal Soul of the Earth, the Cause of all life and growth. The literal meaning of the word 'soul of the cow' implies a simile, for the Earth is compared to a cow. By its cutting and dividing ploughing is to be understood."

रोमन साम्राज्य के अधःपतन से २—३ सौ वर्ष पहिले सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में एक धर्म फैला हुआ था जिसका नाम 'मिथ्' धर्म था। इस धर्म का विस्तार इतना ही था जितना पीछे से ईसाइयत का हो गया। ईसाई धर्म ने इस धर्म की जड़ उखाड़ने में प्राणपन से चेष्टा की। ब्रिटिश म्यूज़ियम में इस धर्म का एक संगमरमर का बुत रखा हुआ है। यह बुत क्या है, गोमेध यज्ञ की तसवीर है। उसमें गाय की एक शक्ल बनी हुई है जिस पर मिथ् देवता बर्छा लेकर आक्रमण कर रहा है, परन्तु बर्छा खाकर गाय की बग़ल में से खून निकलने के बजाय गेहूं, जौ और इसी प्रकार के दूसरे अनाज पैदा हो रहे हैं। पारसी धर्म

गोमेज़ शब्द उस समय का है, जब गोमेज़ से मतलब सिर्फ़ खेती समझी जाती थी, इस के साथ गोकुशी का कोई ताल्लुक नहीं जुड़ा था; मिथ् धर्म का संगमरमर का बुत जिसमें गाय के पेट में बर्छा लगाकर धान पैदा हो रहे हैं उस काल का है जब लोग गोमेध से मतलब गोकुशी का समझने लगे थे लेकिन 'गोमेध का अर्थ खेती है' यह ख्याल अभी पूरा २ हटा नहीं था। इसके आगे यहूदी धर्म तथा इस्लाम में गोमेध का अर्थ खेती करना बिलकुल हट गया, और गोकुशी करना ही हो गया। संस्कृत में 'गौ' शब्द के दोनों अर्थ हैं—पृथिवी भी और गौ भी। जैसे 'अहि' का अर्थ बादल न करके सांप कर लिया गया और इससे सेमेटिक धर्मों में एक ग़लत कहानी पैदा हो गई वैसे ही 'गौ' का अर्थ पृथिवी न करके गौ कर लिया गया और इससे यहूदी और मुहम्मदी धर्मों में एक ऐसी भारी ग़लती पैदा हो गई जिसका फल आज हम सब भुगत रहे हैं। कुरान में भी ऐसे निर्देश हैं जिनसे ज़ाहिर होता है कि गोकुशी का ख्याल किसी-न-किसी ग़लत फ़हमी से ही पैदा हुआ है। 'सुर-तुल बकर' की ६३ से ६८ आयत में लिखा है:—

'और जब मूसा ने अपने लोगों को कहा कि खुदा ने गाय की कुर्बानी को कहा है, तो वे लोग कहने लगे, क्या हम से मज़ाक करते हो ? इसके बाद तीन बार उन लोगों ने मूसा पर विश्वास नहीं किया और उसे बार २ खुदा के पास भेजा और पूछा कि गाय की कुर्बानी से तुम्हारा क्या मतलब है ? जब हर बार मूसा ने गाय की कुर्बानी का ही जिक्र किया तब जाकर उन लोगों ने माना। इससे भी मालूम पड़ता है कि हज़रत मुहम्मद के दिल में यह भाव था कि गाय को मारने के ख्याल में कहीं न कहीं गलती है, लेकिन क्योंकि यहूदियों में गोकुशी चल पड़ी थी इस लिये मुहम्मद साहब ने इसे ले लिया। असल में प्राचीन धर्मों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि बकरीद 'गोमेध' ही था और 'गोमेध' कृषि था। 'गो' शब्द में ग़लती खाकर वैदिक धर्म का ऊंचा कृषि का विचार इस्लाम में पहुंचते २ कुछ और ही हो गया। परन्तु इससे भी यही सिद्ध होता है कि धर्मों में लेन-देन खूब हुआ है, चाहे उसका आधार ग़लत फ़हमी ही रहा हो।

योगदर्शन में ५ यमों तथा ५ नियमों का वर्णन है। 'शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः' और 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहः यमाः'। योगमार्ग का अवलम्बन करने के लिये इनके अनुसार जीवन बिताना आवश्यक था। बौद्धों में जब किसी को दीक्षा दी जाती थी तो उस दीक्षा को उपसम्पदा कहते थे। उपसम्पदा के समय 'बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि'। इसका तीन बार पाठ होता था और इसके बाद १० आदेश दिये जाते थे जो प्रायः वही थे जो योगदर्शन में दिये गये हैं। यहूदियों में भी कथानक प्रचलित है जिहोवा ने मूसा को माउन्ट सेनाई पर बुलाकर पत्थर की दो पट्टियों पर 'खुदाई फ़रमान' लिखा जिसमें दस आज्ञाएं यहूदियों को दी गई थीं। इन दस आज्ञाओं को 'Ten Commandments' कहा जाता है। वे Ten Commandments निम्न लिखित थीं:—

1. To have no other God but Jehovah. ईश्वर-प्रणिधान

2. To make no image for the purpose of worship.
3. Not to take jehovah's name in vain.
4. Not to work on Sabbath day. स्वाध्याय
5. To honour their parents.
6. Not to kill. अहिंसा
7. Not to commit adultery. ब्रह्मचर्य
8. Not to steal. अस्तेय
9. Not to bear false witness. सत्य
10. Not to covet. अपरिग्रह

हज़रत मसीह ने Sermon on the Mount में इन्हीं पांच यमों की विस्तृत व्याख्या की है। यहूदी लोग यमों की वह ऊंची व्याख्या नहीं कर सके थे जो समीह ने की। पांचों यमों को इस प्रकार एक जगह ही इकट्ठा कर देना और उनका वैदिक, बौद्ध, यहूदी तथा ईसाई धर्मों में इकट्ठा ही पाया जाना भी सिद्ध करता है कि इन विचारों में लेन-देन हुआ है और इन विचारों को इन धर्मों ने अपना आधार बताया है।

संसार के प्रायः सभी धर्मों में पुनर्जन्म का विचार भी पाया जाता है। अक्सर कहा जाता है कि सेमेटिक धर्मों में पुनर्जन्म का विचार नहीं है, परन्तु यह भूल है। यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान Resurrection या क़यामत को मानतेहैं। Resurrection में Re का अर्थ है again या पुनः और surgo लेटिन शब्द है जो संस्कृत में सर्ग है, जिसका अर्थ उत्पन्न होना है। इस प्रकार Resurrection का शब्दार्थ 'पुनजन्म' है। क़यामत भी इसी को कहते हैं इसका अर्थ है उठ खड़ा होना। भेद इतना ही है कि पुनर्जन्म मानने वाले तो मरने के बाद अनेक बार फल भोगने के लिये उत्पन्न होना मानते हैं। परन्तु सेमेटिक धर्मों ने फल भोगने के लिये केवल एक बार उत्पन्न होना माना है। Resurrection और क़यामत के भाव में प्रलय के साथ पुनर्जन्म के भाव को जोड़ दिया गया है, अन्यथा यह भाव शुद्ध वैदिक ही है। एक बात और आश्चर्य की है। मृत्यु के बाद तीन दिन तक आत्मा का भ्रान्त अवस्था में रहने का विचार भी प्रायः सब धर्मों में पाया जाता है। जब नचिकेता यम के यहां गया तब उपनिषद् कहती है कि तीन दिन तक वह द्वार में प्रविष्ट नहीं हुआ। ज़िन्दावस्था के १९ वें फरगार्ड के २८ वें हिस्से में लिखा है कि मरने के तीसरी रात के बाद आत्मा मिथ् के पास पहुँचती है। ईसाई लोग भी ईसा का मरने के तीसरे दिन बाद उठना मानते हैं। मुसलमानों में मरने के तीसरे दिन बाद कब्र पर जाते हैं। हिन्दुओं में तीसरे दिन के बाद फूल चुगने जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मर कर फिर से उठने का विचार अनेक धर्मों में समान पाया जाता है और उस विचार के साथ तीसरे दिन का विचार भी किसी-न-किसी तौर से जुड़ा हुआ है।

मुसलमानों तथा पारसियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार स्वर्ग में प्रविष्ट होने से पहिले एक पुल पर से गुज़रना पड़ता है। मुसलमान उसे 'अल-सिरात' कहते हैं, पारसी उसे 'पुल चिनवद' कहते हैं। उपनिषद् में 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'—अर्थात् वहां जाना छुरे की तेज़ धारा पर चल कर जाने के समान है, यह कहा है।

स्वर्ग में जाकर फिर क्या होता है ? मुसलमानों का कथन है कि 'अल-सिरात' नामक पुल पर से गुज़र कर मनुष्य बहिश्त में पहुँचता है। वहां बाग़, बगीचे, दूध और शहद की नदियां हैं और साथ ही वहां जाने पर ७० हूरें मिलते हैं। यहूदियों के स्वर्ग का भी यही हाल है। पारसी स्वर्ग को बहिश्त कहते हैं और स्वर्ग की अप्सराओं को हूरे-बहिश्त कहते हैं। 'हूर' शब्द 'अप्सरा' का अपभ्रंश है। 'अप्सरा' का 'अप्' उड़ गया है और 'सरा' का हरा हो गया है। शब्द शास्त्र में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें 'स' को 'ह' हो जाता। सिन्धु को हिन्दु हुआ है यह सब जानते हैं। 'हरा' से 'हूर' बनना आसान है। वेद में 'प्सर' शब्द रूप के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्सर के 'स' उड़ जाने से 'परी' और अंग्रेजी के Fairy शब्द बने हैं। स्वर्ग में हूरों, परियों के विचार से मिलता जुलता विचार कठोपनिषद् में पाया जाता है। नचिकेता को मृत्यु के पास पहुँचाया जाता है। मृत्यु नचिकेता के सामने बड़े २ प्रलोभन रखता है और कहता है 'इमाः रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिः मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानप्राक्षीः।' ये स्त्रियां हैं, इनसे आनन्द करो, लेकिन मृत्यु क्या है, यह मत पूछो। यहां पर मृत्यु एक आचार्य्य का नाम था, उसने नचिकेता को कहा कि संसार के ऐशो आराम में लगे रहो, इस विकट मार्ग की तरफ़ क्यों आते हो, अनेक प्रलोभन देने पर भी जब नचिकेता डटा रहा तब उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया गया। इस तत्व को न समझकर कुछ धर्मों ने इस वर्णन को स्वर्ग का वर्णन बना लिया और नचिकेता की तरह इसे छोड़ने के स्थान पर, क्योंकि नचिकेता ने तो इन प्रलोभनों को लात मार दी थी, इसे लेने की वस्तु समझा। अथर्ववेद में कुछ ऐसे मन्त्र पाये जाते हैं जिनका यदि लौकिक संस्कृत से ही अर्थ किया जाय तो वह बिल्कुल मुसलमानों के स्वर्ग का वर्णन मालूम पड़ता है। अथर्व० ४-३४ में लिखा है:—

'घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः'। इसके आगे लिखा है:—

'स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्'।

इन मन्त्रों में स्वर्ग में स्त्रियों का होना, घी, दूध, शहद की नदियों का होना सब कुछ लिखा है। इसी स्थल पर 'एष यज्ञानां विततो बहिष्ठः' मन्त्र में स्वर्ग के लिये 'बहिष्ठ' शब्द आया है जो पारसी तथा इस्लाम धर्मों में बहिश्त रूप में पाया जाता है। वैदिक धर्मानुयायियों का कथन है कि यह सारा वर्णन गृहस्थरूपी स्वर्ग लोक का वर्णन है। ऐसा गृहस्थ होना चाहिये जिसमें घी, दूध, शहद की नदियां बहती हों; जिसमें नाना प्रकार के रिश्तोंवाली स्त्रियां हों, कोई बहन, कोई भावज, कोई लड़की, कोई कुछ हो और कोई कुछ हो। इस प्रकार का वर्णन अस्वाभाविक नहीं है। बाइबल की 'नम्बर्स' नामक पुस्तक के १३ वें अध्याय की २७ वीं आयत में जब मूसा के पास लोग लौट कर आते हैं जिन्हें उसने कनान देखने के लिये भेजा है तो वे कहते हैं:—'We came into the land whither thou sentest us, and surly it floweth with milk and honey.' हमें जिस देश को देखने के लिये भेजा गया था हम वहां गये, निस्संदेह वहां दूध और शहद की नदियां बहती हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि स्वर्ग का विचार भी सेमेटिक धर्मों में वैदिक धर्म से ही लिया गया है। ग़लती यही हुई है कि स्वर्ग, जो विशेषण था, Adjective था, सुख की तरफ़ लेजाने वाला गृहस्थ आश्रम का सूचक था, उसे वैसा न समझकर वैसे स्वर्ग की कल्पना कर ली गई, जैसी पुराणों में, कुरान में तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों में पाया जाता है। इसका कारण यही है कि 'स्वर्ग' का अर्थ 'बहिश्त' और 'सुख देने वाला' ये दोनों हैं। वेद जहां सुख देने वाले गृहस्थ आश्रम का वर्णन कर रहा था वहां बहिश्त अर्थ समझ लिया गया, तो भी इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि किसी समय भिन्न २ धर्मों में परस्पर लेन-देन खूब अच्छी तरह हुआ है, चाहे उसका आधार ग़लत फ़हमी पर ही रहा हो।

कर्म का सिद्धान्त भी एक ऐसा सिद्धान्त है जो सब धर्मों में पाया जाता है। वैदिक धर्म का यह विश्वास है कि जो किया है उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। मुसलमानों का विश्वास है कि दो फ़रिश्ते हर-एक आदमी पर हर वक़्त तैनात रहते हैं और उसके हर काम को लिखते रहते हैं। इन्हें 'मुअक्बिात' कहते हैं। इन्हें 'कातिबीन या लेखक' भी कहा जाता है। सूरतु-बनी-इज़रायल में लिखा है कि 'प्रत्येक आदमी का भाग्य हमने उसकी गर्दन में बांधकर टांग दिया है। कयामत के दिन सब के सामने वह किताब ला रक्खी जायगी जिसमें उसके सब काम लिखे जाते रहे हैं। उन्हें कहेंगे, पढ़, तेरे खिलाफ़ तू ही गवाह है। इस किताब में जो कुछ लिखा है, तूने किया था या नहीं ?'। सूरतुल जाथिया में लिखा है:—'क़यामत के दिन जैसा तुमने किया है वैसा भोगोगे'। अक्सर समझा जाता है कि ईसाइयत में (Grace) का सिद्धांत कर्म के सिद्धान्त को दबा देता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। पादरी लोग ही शिक्षा दिया करते हैं कि हज़रत मसीह में विश्वास लाने से मुक्ति हो जाती है। मसीह का यह सिद्धान्त नहीं है। मैथ्यू के ७ अध्याय १५ से २० आयत में लिखा है कि अच्छे वृक्ष का बुरा फल नहीं हो सकता, बुरे वृक्ष का अच्छा फल नहीं हो सकता। इसके आगे लिखा है:—

"not every one that saith unto me Lord, Lord, shall enter into the kingdom of heaven; but he that doeth the will of my father which is in heaven."

'परमात्मा का नाम लेने से स्वर्ग नहीं मिलता। उसकी इच्छा को पूर्ण करने से ही स्वर्ग मिल सकता है'। कर्म का यह सिद्धान्त पारसियों में तो यहां तक पहुंचा था कि वे वैदिक धर्म की तरह कर्मयोनि तथा भोगयोनि के सिद्धान्त को भी मानते थे। पारसियों के मिहाबाद में लिखा है, गाय, घोड़े आदि को मत मारो क्योंकि परमात्मा उनके पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार उन्हें बोझ उठाने आदि का दण्ड स्वयं देरहा है। घोड़े पर चढ़ा जाता है, गधे पर भार लादा जाता है। शेर, चीते आदि हिंस्र पशु पिछले जन्म में बड़े बड़े ओहदों पर बैठने वाले वे लोग थे जिन्होंने अपनी हैसियत का बुरा इस्तेमाल किया। अब वे अपनी बुरी तरह से इस्तेमाल की हुई ताकत की सज़ा भुगत रहे हैं।

हमने यह देख लिया कि दुनिया के धर्म एक दूसरे के कर्ज़दार हैं। मज़ा तो यह है कि वे सब खुद भी कबूल करते हैं कि उन्होंने दूसरे से लिया है।

कुरान में सूरतुज्जखरूफ़ में लिखा है कि 'यह कुरान तो उस बड़ी किताब में से जो हमारे पास है, नक़ल की गई है। वह किताब बहुत ऊंची है, बुद्धिमत्ता से भरी हुई है'। सुरतुल वाकिया में लिखा है कि यह वही कुरान है जो खुदा के पास मौजूद किताब में से ली गई है। इसका सीधा, मोटा अर्थ यही है कि कुरान भी अपने को असली नहीं समझता। वह किसी अन्य ज्ञान के भण्डार, ईश्वरीय ज्ञान की तरफ़ संकेत करता है। जिसकी यह नकल है। यहूदी धर्म की पुस्तक Exodus के ३२ वें अध्याय की १९ आयत में लिखा है कि मूसा खुदा से लिखवाकर पत्थर की दो तख्तियां लाया था। परन्तु अपने अनुयायियों को मूर्तिपूजा करते देख उसने गुस्से में आकर उन्हें पटक दिया और वे टूट गईं। इसके आगे ३४ वें अध्याय में लिखा है:—

"And the Lord said unto Moses, How these two tables of stone like unto the first: and I will write upon these tables the words that were in the first tables, which thou brakest."

इस प्रकार यहूदी धर्म भी स्वीकार करता है कि पहले जो कुछ मिला था वह फिर दोहराना पड़ा। पहली पट्टियां टूट गईं तो दूसरी लिखनी पड़ीं। ईसा-मसीह ने तो इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

तलाक होना चाहिये या नहीं इस प्रश्न पर विचार करते हुए मसीह ने मैथ्यू (१९-८) में कहा है:—

"Moses because of the hardness of your hearts suffered you to put away your wives: but from the beginning it was not so."

"मूसा ने तुम्हारे हृदय की कठोरता के कारण तलाक़ की इजाज़त दी, परन्तु शुरू से ऐसा नहीं था। यहां पर 'शुरू से' का क्या मतलब है ? 'शुरू से' का वही मतलब है जो अभी कहा गया, जिसकी तरफ़ यहूदी धर्म ने संकेत किया, जिसकी तरफ़ कुरान ने इशारा किया और जिसकी तरफ़ सब धर्म उंगली उठाते हैं और उठाते रहे हैं।

जब संसार के धर्म खुद इस बात को स्वीकार करते हैं कि वे एक दूसरे के ऋणी हैं तब फिर अधिक लिखने की क्या आवश्यकता है ? मैंने प्रायः उन्हीं बातों में भिन्न २ धर्मों में समानता दिखाने की कोशिश की है जिनमें समानता नहीं समझी जाती। बाकी ऐसी बातें तो बहुत सी हैं ही जिनमें समानता है और एक अन्धे को भी नज़र आती है। इसके अतिरिक्त, धर्मों का प्राचीन इतिहास जिन समानताओं की तरफ़ संकेत करता है मैंने उन्हीं का वर्णन किया है। आज कल भी नई २ व्याख्याएं करके धर्मों को एक ही प्लेट-फ़ार्म पर लाने की पर्याप्त कोशिश हो रही है। ईसाई यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि बाइबिल की बातों की व्याख्या अलंकारों से करनी चाहिये, उनके शाब्दिक अर्थ करके नहीं। मुसल्मान भी कुरान की भिन्न २ व्याख्याएं कर रहे हैं। इन व्याख्याओं का नतीजा यह हो रहा है कि भिन्न २ धर्मों के मानने वाले शुरू २ में अपने २ धर्म ग्रन्थों के नाम पर जिन ऊटपटांग बातों को मानते थे और जिनके कारण वे आपस में लड़ पड़ते थे, उन्हें वे छोड़ते जा रहे हैं और एक दूसरे के अधिक नज़दीक आते चले जा

रहे हैं ईसाई कह रहे हैं कि Holy Ghost से मतलब Trinity का पृथक् कोई व्यक्ति नहीं परन्तु Holy Ghost तो सृष्टि के प्रारम्भ में ही परमात्मा के साथ जो सृष्टि में मातृशक्ति है उसका नाम है। इसी प्रकार मुसलमान कह रहे हैं कि जन्नत में जो विवाह होता है उसका मतलब शादी से नहीं लेकिन इस अन्म की बहिनों आदि से जुड़ जाने का है।

अब तक धर्म में रूढ़ि का राज्य था। पण्डित, मौलवी, मुल्ला और पादरी मक्खी पर मक्खी मारने में एक दूसरे से बाजी लगा रहे थे। इसी का नतीजा यह हुआ कि वेदों के 'अहि' के वर्णन से शैतान की कहानी पैदा होगई, गोमेध के वर्णन से गोकुशी चल पड़ी, गृहस्थरूपी स्वर्ग के वर्णन से बहिश्त और जन्नत के किस्से चल पड़े। मक्खी पर मक्खी मारने का सिलसिला वेदों में भी चल पड़ा था। सायण और महीधर ने वेदों के शब्दों के रूढ़ि अर्थ ही किये। अबतक पुराने धर्मों को यही रोग लगा हुआ था। इस रोग को इस युग में किसी ने दूर किया तो वह ऋषि दयानन्द था। ऋषि ने वेदों के रूढ़ि अर्थ करने की प्रवृत्ति को रोक दिया। उन्होंने वेदों के अर्थ यौगिक दृष्टि से किये उन्होंने बतलाया कि गौ का मतलब वेद में जानवर से नहीं, पृथिवी से है, अहि का मतलब सांप से नहीं बादल से है। यह ग़लती सदियों से चली आ रही थी, तभी वेदों के ऊंचे २ भावों से निकम्मे किस्से कहानी निकल आये थे। अगर यह ग़लती न हुई होती तो आज दुनियां में एक ही धर्म होता और वह वैदिक धर्म होता। ऋषि दयानन्द की इस बात को समझकर अब वेदों के ही नहीं बाइबिल और कुरान के भी रूढ़ि छोड़कर यौगिक भाष्य होने लगे हैं। वे लोगों को कहने लगे हैं, इसका यह मतलब नहीं था, यह था।

कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार धर्म अपने पुराने इतिहास में एक दूसरे के नजदीक आने की कोशिश करता रहा है, उसी प्रकार आज भी वह एक दूसरे के निकट होने का प्रयत्न कर रहा है। धर्मों में यह प्रवृत्ति बड़ी शुभ प्रवृत्ति है, क्योंकि इससे हम एक दूसरे का सिर फोड़ने के बजाय एक दूसरे के घाव को भरना सीखेंगे, एक दूसरे को दुःख पहुँचाने के बजाय एक दूसरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होना सीखेंगे, धर्म का यही तत्त्व है। धर्म का काम जोड़ना है, तोड़ना नहीं, हमारे दुर्भाग्य से बहुत दिनों से धर्म हमें तोड़ने का काम कर रहा है। परमात्मा हमें आशीर्वाद दें कि हम धर्म के ज़रिये एक दूसरे से टूटना सीखने के बजाय जुड़ना सीखें, एक दूसरे से दूर होने से बजाय एक दूसरे के नजदीक होना सीखें।
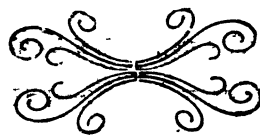
वैदिक संस्कारों का महत्व

[ले०—राजवरत्न श्री मास्टर आत्मारामजी]

यूरोप में Science of Eugenics ने इस समय जन्म ले लिया है। इसके द्वारा वह भविष्य में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रोग-विशेष दूर करने का निश्चय कर रहे हैं। सब जानते हैं कि अमरीका वाले इस समय वृक्षों के सुन्दर और उत्तम फल वाले उद्यान बना चुके हैं। मिश्र देश की रुई और रूस के गेहूँ के उत्तम होने के कारण यही हैं कि रुई और गेहूँ को उत्पन्न करने के लिये उनके संस्कार किये जाते हैं। घुड़दौड़ में जीतने वाले घोड़े उन घोड़ों के वंशज होते हैं जिनके माता पिता रूपी घोड़ी तथा घोड़े का संस्कार इनकी उत्पत्ति समय किया गया था। आज यूरोप आदि देशों में Nation Mania (स्वदेशी भयंकर प्रेम) और Machine Mania (यंत्रकला के भयङ्कर प्रचार) के कारण वहां निर्धनता और अशान्ति का पूर्ण राज्य हो रहा है। प्रत्येक सभ्य देश वहां दूसरे देश का नाश करने के लिये विज्ञान-बल का उपयोग करना पाप नहीं समझता। वहाँ के विज्ञानी जगत् का यह भयंकर चित्र है !!! धार्मिक जगत् में ईसाई गिरजों में रंग का भेद (Colour Mania) इतना प्रबल है कि Monotheism (एक-ईश्वर-वाद) के प्रचारक वर्तमान अमरीका तथा यूरोप के ईसाई पादरी हबशी को अपने गोरे गिरजे में नहीं जाने देते और भारत में भी उक्त रंग का भेद हम पाते हैं—कभी किसी गोरे पादरी ने किसी काले मदरासी new christian को अपनी बेटी विवाह में नहीं दी और White English Officers के गिरजों में भंगी से बने हुए काले ईसाई नहीं जा सकते। क्या यह भयंकर दृश्य धार्मिक जगत् का नहीं ? भारतीय मसजिदों में यद्यपि गोरे काले पुरुष बराबर जाते हैं किन्तु यवन मुल्ला अपनी माता तथा बहिनों तक को वा यह कहो कि मानवी नारी जाति को यवन पुरुष समान उनके साथ नवाज पढ़ने का अधिकार नहीं देते। मानो यवन मसजिद का द्वार नारी जाति के लिये बन्द है। यवन मोलवी भी एक ईश्वर वादी हैं—पर नारी जाति को मसजिद में समान अधिकार नहीं दे सके। धार्मिक अन्याय का यह एक भयंकर चित्र है। वैदिक काल में संस्कारों के प्रताप से भारतीय आर्य्य ऋषियों ने जो २ चमत्कार किये वे कहां तक लिखे जा सकते हैं। युरोप आदि देशों के ईसाई और यवन भाई धर्म के रूप में जो रंगभेद कर रहे है वा नारी-अपमान दर्शा रहे हैं—वह उन में न था—कारण कि सब अशान्ति के जनक—Nation Mania, Colour Mania को दूर करने का प्रथम तत्व उन्होंने यह निकाला था कि वह भूलोक के मनुष्य मात्र की एक जाति मानते थे। और जाति शब्द का लक्षण आज तक उनके ग्रन्थों में जो मिलता है वह हम नीचे देते हैं:—जिसमें Universal Brotherhood & Universal peace समा रही है।

समान प्रसवात्मिका जातिः

ऋषि दयानन्द और वेदों का महत्व

[ले०—चतुर्वेदभाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालङ्कार मीमांसातीर्थ]

वेद के महत्व की छाप ऋषि दयानन्द के पूर्व भी हिन्दू जनता के मस्तिष्क में बहुत गहरे रूप में जमी थी और ऐसी गहरी जमी हुई थी कि यदि ऋषि दयानन्द का जन्म न भी होता तो भी कई सौ सदियां भी, उस महत्वशील स्वाभाविक या वंशपरम्परागत छाप को मिटाने में समर्थ न होतीं, 'परन्तु ऋषि दयानन्द ने उस महत्व में क्या विशेषता उत्पन्न करदी यह एक बड़ी ही मनोरंजक' विचारने योग्य, चमत्कार-पूर्ण और रहस्य भरी बात है। वेदों के भाष्यकार तो अनादिकाल से विद्यमान रहे। जैसा कि महर्षि यास्क ने लिखा है:—

"ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने धर्मों का साक्षात्कार किया। जिन्होंने धर्म का साक्षात् नहीं किया था उनके प्रति पूर्वोक्त ऋषियों ने मन्त्रों का उपदेश किया। जो उपदेश को भी ठीक प्रकार से न समझ सके तो उन्होंने प्रकाश ग्रहण करने के लिये इस ग्रन्थ का अच्छी प्रकार अभ्यास व उपदेश किया, वेद और वेदाङ्गों का भी (निरु० । १ । ६ । ३)।

अर्थात् मन्त्रों को यथार्थ रूप से न समझने की समस्या पूर्व से ही शिष्यों को अनुभव होने लगी, और गुरु ऋषियों ने 'अवर' शिष्यों को मन्त्रों का यथार्थ तत्व प्रकाशित करने के लिये वेदाङ्गों का उपदेश किया। निरुक्त ग्रन्थ भी बनाया। फलतः वेदाङ्गों को ही यदि यथार्थ वेदों का भाष्य कहा जाय तो इसमें कुछ भी दोष नहीं है।

वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद् इन से भी आगे इतिहास-पुराण आदि सभी ग्रन्थों को आर्य-संस्कृति ने एक ही महावृक्ष का शरीर माना है। वेदों को मुख्य मूल और शेष सब को अंग प्रत्यङ्ग माना है। इसी भाव को वेदाङ्ग और उपाङ्ग शब्द बतला रहे हैं। वेद के स्वल्प अंश को विस्तार से कहने वाले ग्रन्थ उपवेद और ब्रह्म अर्थात् मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण, तथा अध्यात्म तत्वों के निदर्शक ब्राह्मण वा आरण्यक भाग उपनिषत् नाम से कहाये। इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी भी वेदोक्त तत्वों को अधिक विस्तार से कहने के साधन या प्रकारमात्र माने गये हैं। यह सब कुछ है, परन्तु कालचक्र की विचित्र गति देखिये कि जिन मूल वेदों के ये सब व्याख्यान-उपाख्यान हैं वे अपने मूल-भाग से इतने दूर जापड़े हैं कि जब कोई प्रश्न करे कि स्मृतियों, उपनिषदों, उपवेदों और इतिहास-पुराणादि के मूल वेद में कहां हैं तो बड़े २ विद्वान् चुप रह जाते हैं। यदि मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों, धर्मशास्त्रों या संस्कृत के कानूनी ग्रन्थों की प्रत्येक धारा का वेदों में से मूल पूछा जाय तो वर्त्तमान में इसका सफल उत्तर असम्भव सा जान पड़ता है। ऋषि दयानन्द के जीवन से प्रतीत होता है कि जब ऋषि दयानन्द जीवित थे उस समय भी काशी, कलकत्ता आदि नगरों के बड़े २ दिग्गज शास्त्रज्ञ विद्वान् भी अपने २ शाखा वेद का पाठ करते हुए भी बहुत ही गहरी अनभिज्ञता में विद्यमान थे।

वेद को स्वतःप्रमाण और शेष सब ग्रन्थों को वेदानुकूलतया परतःप्रमाण मानते हुए भी वे पण्डित अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों को वेद से प्रमाणित नहीं कर सके थे। दर्शनों में से वेदान्त की अधिक चर्चा चलने से अधिक विद्वानों का अनुशीलन केवल उपनिषदों तक सीमित रह गया था और उनमें भी वे वाक्य वा स्थल जो वार २ शंकर और माध्व आदि के दार्शनिक भाष्यों में चर्चित हैं उनको ही वे भी कण्ठ कर लेते थे। उनको ही शास्त्रार्थी विद्या की पराकाष्ठा समझ बैठे थे। इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थ और वेद भगवान् का अभ्यास तो शास्त्र-संसार से बहुत दूर चला गया था।

यदि कुछ थोड़ा बहुत सम्बन्ध वेद का रह भी गया था तो वह केवल मीमांसादर्शन के यत्किंचिद् अभ्यास के कारण। उसमें यत्रतत्र ब्राह्मण-ग्रन्थोक्त यज्ञ विषयक विधि विधान सम्बन्धी वचनों का उल्लेख होता था। उनके भी अध्येता और अध्यापकगण उद्धृत वाक्यांश मात्र का ही अभ्यास कर लेते थे, उनकी पूर्वापर संगति को विस्तृत रूप में ब्राह्मण ग्रंथों में देख कर समझने का प्रयास न कर वे अनवगत भागों में भी गुरूपदेशमात्र पर ही निर्भर रहते थे।

इस तार्किक शास्त्री-मण्डली से कुछ दूरी पर कर्मकाण्डी वैदिक आम्नायाभ्यासी दल की भी सत्ता थी, जिसमें अधिक या तो केवल वेद के मूलपाठी थे या केवल कर्मकाण्डी थे और कुछ मीमांसक भी थे। परन्तु मीमांसक कर्मकाण्डी यज्ञ में ही फंस जाने से, एवं मीमांसा के प्रति सेश्वर निरीश्वरादि का व्यर्थ वाद आ जाने से उसके अभ्यासी जन कुछ कम प्रतिष्ठा पाने लगें। शङ्कर के प्रयास से वेदान्त अधिक विस्तार पा गया। फल यह हुआ कि वैदिक साहित्य का परिचय शास्त्रज्ञों में भी उपनिषदों तक सीमित हो गया या अधिक कुछ परिचय हुआ तो दैनिक कर्मकाण्ड में पठित मन्त्रों तक ही वह भी सीमित रहा।

परन्तु दैनिक कर्मकाण्ड के मन्त्र उपासनापरक थे उनमें स्मृति या क़ानूनों के समान नैतिक व्यवहार पर प्रकाश डालने वाले मन्त्रों का समावेश न था। और नित्य कर्मगत मन्त्रों से यह भान भी होना कठिन था कि वेद मन्त्र लौकिक व्यवहार भी बतला सकते हैं।

वैदिक परिचय इतना अल्पक्षेत्र में सीमित हो जाने पर भी बड़े २ तार्किकों के चित्त में यह भाव ज्यों का त्यों बना रहा कि सब शास्त्र सूत्रग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ, पुराणोपपुराणादि समस्त साहित्य वेदाश्रय हैं, वे वेदानुकूल होने से प्रमाणयोग्य हैं। वे वेद के विरुद्ध होने से अप्रमाणित हो सकते हैं।

इस भाव ने समय २ पर उत्पन्न हुए अधिक अनुशीलक विद्वानों के चित्त में बराबर यह भी शंका उठाये ही रक्खी कि वे हरएक स्मृति आदि के प्रमाण में वेद के प्रमाण की अपेक्षा करें। परन्तु वेद से परिचय न होने से वे फिर यही समाधान देने के लिये बाधित हुए कि उपलब्ध स्मृति वेदमूलक हैं। स्मृतियों से श्रुतियों का अनुमान करके तदधीन स्मृतियों का प्रमाण मान लेंगे।

यदि वर्त्तमान उपलब्ध वेद ग्रन्थों में से कोई अंश उनको विशेष स्मृति का पोषक न सूझा तो उसे भी लुप्त वेदशाखा पर आश्रितमान कर आप्तोपदेश रूप शब्द-प्रामाण्य की क्षुधा को तृप्त किया गया।

फलतः कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों की यत्र

तत्र सत्ता रहने पर भी वेदों की यह दशा हो गयी थी कि वेद को सब का मूल एवं सर्वतः स्वतःप्रमाण भाषकर भी उनको बहुत ही उपेक्षित दृष्टि से देखा जाने लगा था। ऐसी स्थिति में महर्षि दयानन्द का आविर्भाव होना और व्यावहारिक क्षेत्र में धर्माधर्म के निर्णय के लिये केवल वेद-भाग के प्रमाणों की अपेक्षा करना और उनको ही स्वतःप्रमाण निर्धारित करके शेष सब ग्रन्थ समुदाय का परतःप्रमाण स्थिर करना यह महर्षि दयानन्द का अपूर्व साहस है और इससे वेदों को पुनः वही गौरव प्राप्त होने का सूर्योदय हो गया जो यास्क आदि से भी पूर्व, साक्षात् कृतधर्मा, मन्त्रोपदेष्टा ऋषियों के समय था और यह बड़े भारी महत्व का कार्य हुआ।

(२) जिस समय पौराणिक मत ने विद्या के शाब्दिक आडम्बरपूर्ण धार्मिक पाण्डित्य को भागवतादि ग्रन्थों में सीमित कर दिया था और बड़े २ विद्वानों के मस्तिष्कों में पुराणों के वेदमूलक होने का अन्धविश्वास जम चुका था तथा पुराण की प्रत्येक कथा के नायक देव को पौराणिक पण्डित वेद के देवतावाचक नामों के आधार पर वेदमूलक मानने लगे थे ऐसी दशा में स्वाभाविक यही था कि वेदों के अर्थों पर भी पौराणिक आभा आ जाती। पौराणिक बहु-देवतावाद की पूर्ण छाया वेद के देवताओं पर पड़ी। देवताओं की पृथक् अदृष्ट सत्ता और उन का भोग, उनका आहुति आदि लेना, प्रसन्न होना आदि अन्य नाना भाव भी सब वेद के भाष्यकारों की मति में घुस गये। ये भाव तात्कालिक पौराणिक वेद-भाष्यकार सायण, महीधर, उव्वट आदि के भाष्यों में स्थान २ पर पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन भाष्यकारों से, वेदमन्त्रों में अध्यात्मतत्व, दार्शनिक विचार, धर्मशास्त्री कानून और वैज्ञानिक रहस्यादि के खोज लेने की आशा करना नितरां असम्भव है। ऐसी दशा में महर्षि दयानन्द ने यह बड़ा भारी प्रयास किया कि पौराणिक मूर्त्तिपूजा के दृढ़ दुर्ग में सुरक्षित बहुदेवतावाद के वृत्रासुर का बध कर एकेश्वरवाद को पुष्ट किया। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ को कोरी पूजा, साथ ही और देवताओं को अदृष्टचारी कल्पित देवता न मानकर उन्हें व्यवहारोपयोगी भौतिक तत्व और नैतिक जीवन के जीते जागते व्यक्ति-(Character) आदर्शों को प्रमाणित कर वेदों को व्यावहारिक क्षेत्र में पुनः परम प्रमाणपद पर प्रतिष्ठित किया।

(३) वाममार्ग के अनर्गल, अश्लील प्रभाव ने वैदिक कर्मकाण्ड को स्थान २ में दूषित कर दिया था जैसा कि शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मणों के कतिपय कर्मकाण्ड के भागों के पढ़ने से प्रतीत होता है। उसी रंग में रंगे जाकर सायण, महीधर आदि ने अश्वमेध, सौत्रामणी आदि यज्ञों की बहुत दुर्दशा की और वाममार्गियों के भ्रष्ट कर्मकाण्ड ने भी अपने काल में वेदों को ऐसे हीन रूप में जनता के सामने रक्खा कि चार्वाक तथा बौद्ध आदि ने वेदों को भाण्ड, धूर्त्त और निशाचरों की माया बतलाया, यज्ञों को ठगी, कुसंगी, धनहरों की लीला और वैदिक मार्ग को हेय बतलाया। इसी प्रकार महीधर आदि के भाष्यों ने वेद के मुख पर ऐसी कालिमा पोती कि उनके अनुयायी लोग आक्षेप करने पर एक भी उत्तर उज्ज्वल मुख से नहीं दे सकते।

परन्तु ऋषि दयानन्द ने इसके विपरीत, उन सब

कुप्रभावों से पृथक् होकर स्वयं वेदों को भी उन कुप्रभावों से पृथक् देखा। उनमें परमेश्वरीय उसी शुभ ज्ञान-ज्योति का प्रकाश देखा जिसको हम आर्य कह सकते हैं। उनमें से भ्रष्ट कर्मकाण्ड का सम्बन्ध बिच्छिन्न कर दिया। और अन्य विनियोगों से हुई वेद की दुर्दशा से वेदों को बचा लिया। एक ऐसी लहर उत्पन्न करदी जिससे वेदों का स्वच्छ व्यावहारिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से अनुशीलन होना प्रारम्भ होगया। इससे वेदों पर चढ़े, विनियोगों और कर्मकाण्डों तथा भ्रष्टाचारी लोगों की मोहमयी लीलाओं के रंग विरंगे, काले नीले आवरण छिन्न भिन्न होगये।

(४) योरोपियन लोगों ने कौतुकवश भारतवर्ष से सम्बन्ध करके जिज्ञासापूर्वक यहाँ के विद्वानों से वेदादि धर्मग्रन्थों का अनुशीलन किया। फल यह हुआ कि निरुक्त, व्याकरण और वेद की प्राचीन भाषा ने उनकी आंख खोल दी, संस्कृत वाणी ने उनके भाषा के रहस्य स्पष्ट कर दिये। इससे उनके यहाँ 'फाइलालोजी' अर्थात् तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का शास्त्र आविष्कृत हुआ। योरोप भर में संस्कृत के प्रति अपूर्व उत्साह और प्रेम उमड़ा था, परन्तु उन पर सायण और पौराणिक देववाद का प्रभाव था। साथ ही अपने धर्मग्रन्थ बाइबल पर श्रद्धा अधिक होने से और अपने योरोप के अन्य प्रान्तों की पुराण-कथा-वादों का सम्पर्क अधिक होने से उनको वेद के देवता-वाद में भी उसी प्रकार की भावना जागृत होगयी। और वे अपने जमाने के प्रवाह में वेद में ऐतिहासिक दृष्टि का ही मुख्यरूप से प्रयोग करने लगे। निरुक्तकार यास्क के यौगिकार्थवाद को स्वीकार करके भी सहस्रों स्थानों पर रूढ़िवाद के आधार पर वेद के मन्त्रों को रूढ़ संस्कृत के अनुसार अर्थ करने पर तुल गये। फल यह हुआ कि वेद में सैकड़ों स्थलों पर असंगत अप्रतीत और ऊटपटांग अर्थों की सृष्टि होगयी। उनकी दृष्टि में वेदों का गौरव एक पुराण या कथा ग्रन्थ और बहुदेव-प्रार्थना-पुस्तक से अधिक कुछ न रहा। हां इस इतिहासान्वेषी युग में वेदों तथा ब्राह्मण आदि साहित्य को अति प्राचीन मानकर उन्होंने इसको अवश्य एक रक्षायोग्य वस्तु स्वीकार किया। परन्तु विज्ञानों, धर्मों, दर्शनों, वेदांगों तथा उपांगों आदि के मूल वेद हैं इस प्रकार की परम प्रामाणता का गौरव इस हरिवर्षीय दृष्टि पथ से चलने में कभी भी वेदों को प्राप्त नहीं हो सकता था।

परन्तु ऋषि दयानन्द ने देख लिया कि वेदों का सर्वोपरि प्रामाण्य पहले था। वह अब भी क्यों न रहे? सब दर्शन और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ उसको प्रमाण मानते हैं फिर आखिर वह प्रामाण्य पहले था कैसे? —इस विचार से ऋषि दयानन्द ने वेदों के शुद्ध मन्त्र भाग को सब से पृथक् कर उसके उसी गौरवान्वित अर्थ के प्रतिपादन की शैली को साक्षात् किया। ऋषि दयानन्द के प्रयास ने वेदों के इस महत्व को बहुत गुणा बढ़ा दिया। मीमांसा के सूत्रों की व्याख्या केवल ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकाण्ड में सीमित न रह कर महर्षि के प्रयत्न से वेद के मन्त्र भागों तक व्याप्त होगई। यह क्या कम गौरव की बात है?

(५) वेद तो लुप्तप्राय थे शिक्षित वर्गीय ब्राह्मणों में भी अधिक अभ्यास और पाठ पुराणों का था। यद्यपि वेद के कण्ठपाठी बहुत थे तो भी पुरोहिताई की दृष्टि से ही उनका चलन था। ऐसी दशा में यह
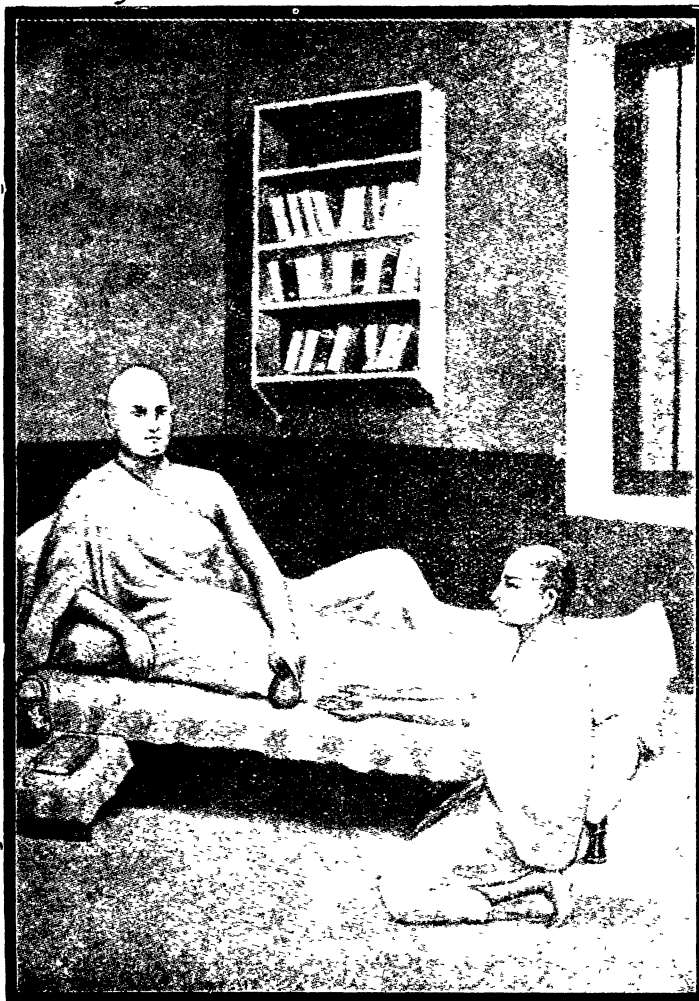
महर्षि की अद्भुत दयालुता—विषाक्तो को सहायता देकर विदा कर रहे हैं।

समष्टि धर्म की बात है। समाज शास्त्र, विश्वबंधुत्व की बात है। आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा है, सृष्टि विज्ञान की चर्चा है। जीव, ब्रह्म, उनका सम्बन्ध मूल प्रकृति, अष्ट विकृति, इनकी बात है—अर्थात् वेद ज्ञान-विज्ञान से भरा पड़ा है। वैसे वेद है एक ही पर विषय भेद से चार और ज्ञान भेद से "अनंता वै वेदाः" अनंत हैं। कोई मुझसे पूछे वेदों में क्या क्या है? मैं एक ही वाक्य में, एक ही प्रश्न में उत्तर दूंगा कि "यह बतलाओ वेदों में क्या नहीं है।" हम लोग ऐसे वेदों से लालित पालित पोषित होंगे तभी कुछकर सकेंगे। ऐसे वेदों के लिये तप तपेंगे, स्वाध्याय करेंगे, प्रमाद न करेंगे, प्राण तक देने के लिये तैयार रहेंगे तभी हमारा कल्याण होगा। अब दशा यह है कि हम वेदों को पढ़ रहे हैं पर हमारी समझ में नहीं आ रहे हैं, उलटे प्रतीत हो रहे हैं इसलिये कि श्रद्धा नहीं, तप नहीं, इसलिये वेदान्तर्गत श्रद्धासूक्त से श्रद्धादेवी का आवाहन कीजिये। हे श्रद्धे देवि! तू ही आ और वेदों में श्रद्धा करा। वेदों से ही संसार का कल्याण होगा। वेदों में ही शक्ति है कि वह संसार को सुख-शान्ति-समृद्धि का आगार बना सके। वेद ही आर्य जाति के प्राण रहे हैं, वेद ही आर्यसंस्कृति का स्रोत रहा। इसलिये—'विज्ञानं ब्रह्म'

विज्ञानब्रह्म की उपासना के लिये वेद की शरण लो क्योंकि—

"भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति"

वेदों के विषय में जितनी विप्रतिपत्तियें हैं वे सब स्थानभेद और बुद्धिभेद के कारण हैं, मैंने उदयपुर राज्य के पानीमहल में एक ऐसे कुशल चित्रकार का बनाया हुआ चित्र देखा जो कि दांये, बांये, सामने खड़े होने से तीन प्रकार का दिखलाई पड़ता था। एक ओर खड़े होकर देखो तो व्याघ्र, दूसरी ओर खड़े होकर देखो तो ऊंट, सामने खड़े होकर देखो तो सिंह दिखलाई पड़ता था। वेदों के कुशल कारीगर ने वेदों की रचना इस प्रकार की की प्रतीत होती है कि स्थानभेद के कारण वह देखने वालों को भिन्न-भिन्न रूप में दिखलाई दे रहा है—नहीं तो उसका स्वरूप एक ही है और तप व स्वाध्याय का आश्रय लेनेवालों को सर्वत्र एक ही रूप में दिखलाई देना चाहिये। शम्।

दयानन्द सुखकन्द

(ले०—शिवदत्तजी महाविद्यालय, ज्वालापुर)

वैदिक विद्या लुप्त थी, अरु अज्ञान अमन्द।
प्रगट हुए तम नाश को, दयानन्द सुखकन्द॥

(२)

निखिल लोक विमोहक मोह को,
प्रणय को जननी जनकादि के,
तज दिया ऋषि ने निज गेह भी।
धर लिया संन्यास समाजहित॥

३

अमित तेज विलोक मुखादि का
हृदय में जन थे यह सोचते।
विफल है रवि का अब क्या नहीं,
निकलना तम नाशन के लिये॥

(४)
सकल रक्षक ईश्वर, वेद को
मन, वचन अरु कर्म से मानते।
यदि विरुद्ध हुआ महाराज का
वचन भी तत्काल विसारते ॥

(५)
अति भयानक जंगल में फिरे
जहं सदा मृगराज दहाड़ते ।
छिप गये इन को लख वे तभी
रवि उगे शशि क्या छिपता नहीं ? ॥

(६)
लगन थी मन में शिव की उन्हें,
किस विधी इसको अब पासकूं ? ।
तृषित सावन में मृग होगया
विकलसा फिरता नित ही रहा ॥

(७)
जब गुरु रस-आगर पा गये
मिट गई मन की सब व्यग्रता ।
रवि-ऋषि कर बुद्धि प्रयोग से
सरस वारि-विवेक भरे बने ॥

(८)
प्रण किया गुरु से गुहता भरा
सुन तभी गुरु हर्षित हो गये ।
मति रहे नित धर्म सुकार्य में
वचन ये कुछ आशिष के कहे ॥

(९)
जगत में अबला विधवा कहीं,
फिर रहे असहाय अनाथ भी,
यवन धेनु सदा विकसा रहे
कर सुधी ऋषिनाथ कहा गये ॥

(१०)
जगत में ऋषि ने फिर क्या किया
विदित है यह तो सब भांति ही ।
जगत नींद सुगाढ़ में मस्त था
जग उठी उस में प्रतिभा-कला ॥

(११)
दयासिन्धु महाराज जय, जय आनन्द अगार ।
दयानन्द ऋषिराज तुम, कर गये जग-उद्धार ॥
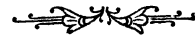
"ऋषि दयानन्द और यम-पितर"

[ले०—वैदिक विद्वान् श्री पं० प्रियरत्नजी आर्ष]

वेदों में यम और पितर का विषय पर्याप्त है, ऋषि दयानन्द से पूर्व के मध्यकालीन साम्प्रदायिक आचार्यों ने धर्म-अधर्म का फल भुगाने वाले पुरोणोक्त पितृपति को यम और मरे हुए बाप दादों अपितु सभी प्रेत पुरुषों को पितर नाम देकर वेदों के बहुधा मन्त्रों में उनकी कल्पना कर तदनुसार भाष्य और टीका टिप्पणियां रच, उक्त यम और पितरों का परोक्षवाद स्थापित किया। इसके अतिरिक्त पुराणानुसार उनके लिये श्राद्ध, तर्पण का विधान किया। परन्तु ऋषि दयानन्द का मन्तव्य इसके प्रतिकूल था। उनका कथन है कि पुराणोक्त यम और पितर की चर्चा वेद के विरुद्ध है, तथा न वेदों में मृत पितरों के
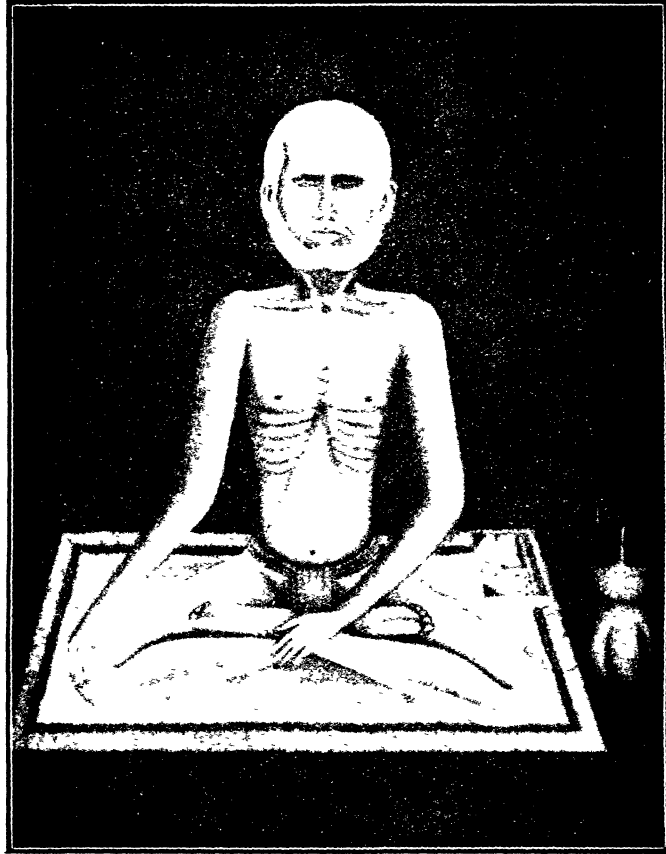
दण्डी विरजानन्दजी

प्रति श्राद्ध या तर्पण का विधान मिलता है। प्रत्युत जीवित माता पिता आदि सम्बन्धियों तथा विद्वानों का नाम पितर है, वे ही सब प्रकार से हमारी रक्षा करते हैं, उन्हीं की श्रद्धा पूर्वक अन्नादि से सेवा करना और उत्तमोत्तम भोजन से तृप्ति करना श्राद्ध या तर्पण है। स्वामी दयानन्द यम से सूर्य, वायु, ईश्वर आदि यमनशील पदार्थों और पितर से माता पिता आदि जीवित सम्बन्धी विद्वान् जन तथा ऋतु आदि लेते हैं। उनका यह मन्तव्य वैदिक है। इसी बात को हम दो चार मन्त्रों के द्वारा प्रस्तुत लेख में स्पष्ट करते हैं:—

"यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥"
(ऋ० १०। १३५। १)

अर्थ—(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस सुन्दर-पत्र वाले वृक्षतुल्य संसार में अथवा जिस पल पल में परिवर्तनशील क्षणभङ्गुर जीव निवास संसार में (यमः देवैः सम्पिबते) सर्वरक्षक सूर्य स्वकिरणों से प्रथम सङ्गत होता है (अत्र विश्पतिः पिता) पुनः उसी संसार में वह सूर्य (पुराणान् नः अनुवेनति) हमारे पुराने वयोहीन या रोग से शक्तिहीन वृद्धजनों को स्वायत्त करता है या स्वकिरणों से सूक्ष्म करके निःसत्व बनाता है अर्थात् मार देता है।

तात्पर्य—यह वृक्षतुल्य क्षणभङ्गुर संसार जीवों का आवासस्थान है और यहां सूर्य उनका पितृस्थानीय है, वह निजकिरणों से उत्पति और रक्षा के लिये सङ्गत होता है। पुनः वयोहीन जीवों के सत्व को खींचकर मार देता है। एवं संसार में उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति, नाश का कारण सूर्य है, अतएव वह उक्त परिस्थितियों का स्वकिरणों से नियमन करने वाला होने से यम है।

विशेष—इस मन्त्र की व्याख्या निरुक्तकार ने की है, तदनुसार ही हमारा यह उक्तार्थ है। उसने "यमो रश्मिभिरादित्यः" (निरुक्त० १२। २९) यम का अर्थ "आदित्य" किया है।

"अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥"
(ऋ० १०। १४। ५)

अर्थ—(यज्ञेभिर्वैरूपैरङ्गिरोभिः) यज्ञ के योग्य नानाविध सायं प्रातः अमावस्या पूर्णिमा आदि सन्धियों के मुहूर्त रूप कालावयवों के साथ (यम आगहि) हे काल-समय (Time) तू प्राप्त हो (इह मादयस्व) और इस यज्ञ में हमको लाभ से तृप्त कर (यस्ते पिता तं विवस्वन्तम्) और जो तेरा पिता सूर्य देव है, उस को भी (बर्हिष्यानिषद्य) मैं यजमान आसन पर बैठ कर (अस्मिन् यज्ञे हुवे) इस यज्ञ में आहुति प्रधान द्वारा प्रयोग करता हूँ।

तात्पर्य—भिन्न भिन्न पर्वदिवसा में जब कि सूर्य रश्मियां भी यज्ञ में संयुक्त हों ऐसे स्थान पर पार्वण-यज्ञ समय को अनुकूल बनाने के लिये करने चाहियें।

विशेष—इस मन्त्र में काल अर्थात् समय के लिये यम शब्द आया है क्योंकि साथ ही मन्त्र में यम को सूर्य पुत्र कहा है। सूर्य से सब से प्रथम भौतिक जगत् में काल उत्पन्न होता है, ज्योतिष-शास्त्र में सूर्य को काल का उत्पन्न करने वाला कहा भी है। "कालकृत्" (सूर्य० सिद्धान्त १२। १८) जैसे ही जगत् में काल सब से प्रथम उत्पन्न होता है, एवं उसका नाश

भी सब से प्रथम होता है, यह बात निम्न मन्त्र से विदित हो जाती है।

"यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥'

(अथ० १८ । ३ । १३)

अर्थ—('मर्त्यानां' प्रथमो यो ममार) मरण धर्मी वस्तुओं में प्रथम ही जो मरता है अर्थात् नष्ट होता है (प्रथमं यो मर्त्यानामेतं लोकं प्रेयाय) प्रथम ही जो मरण धर्मी वस्तुओं के इस लोक अर्थात् इस मर्त्यलोक-इस पृथिवी लोक को प्राप्त होता है, (जनानां सङ्गमनं वैवस्वतं यमं राजानम्) उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के सहयोगी सूर्य के पुत्र काल अर्थात् समय को जो सब वस्तुओं में विराजमान है (हविषा सपर्यत) होम के द्वारा उपयोगी बनाओ।

तात्पर्य—वस्तु नाश से प्रथम समय का अन्त होता है, अतएव वस्तु व्यक्ति से पूर्व समथ का प्रादुर्भाव होता है, एवं प्रथम समय की उत्पत्ति है, अतएव उसका नाश भी प्रथम होता है। समय आता है और जाता है वह अपने आने और जाने के चक्र में सदा वर्तमान रहता है। वस्तु की उत्पत्ति और नाश का कारण उसके समय का आना और जाना है। जबकि प्रत्येक चेतन और जड़ वस्तु कालचक्र के साथ आती और जाती है, तब उस काल को उत्तम खाने पीने और होम के द्वारा काम में लाना चाहिये।

विशेष—वेदों में "असौ लोकः, अमुं लोकम्" द्युलोक के लिये और "एष लोकः, एतं लोकम्" पृथिवी लोक के लिये व्यवहृत होते हैं अतः प्रस्तुत मन्त्र में आये हुए "एतं लोकम्" शब्द का अर्थ पृथिवी लोक है। बीच में पड़ा हुआ "मर्त्यानाम्" शब्द "यो ममार" और "एतं लोकम्" दोनों वाक्यों के साथ सम्बन्ध रखता है, तब "मर्त्यानामेतं लोकम्" और स्पष्टीकरण का चिन्ह है। "प्रेयाय" शब्द सामान्य-गति के अर्थ में है, जैसे केनोपनिषद् में "**उप-प्रेयाय सर्वजवेन तन्नशशाक दग्धुम्**"। काल अपने ऋतु आदि अवयवों द्वारा सभी जड़-चेतन वस्तुओं के परिणामों और अवस्थाओं का नियम करने वाला होने से यम है। परन्तु यह मरने वाला यम है। समय का मरना या उसका नष्ट होना लोक में भी माना जाता है। अस्तु। अब प्रश्न यह होता है कि काल या वक्त मर कर (नष्ट होकर) कहां चला जाता है? इसके उत्तर में यही कह सकते हैं कि—जहां दृश्य वस्तु की सत्ता या स्थिति न हो, क्योंकि दृश्य वस्तु अपने काल के साथ रहती है, जब उसके काल का अन्त हो जाता है तो वह दृश्य वस्तु अदृश्य बनकर अपने अन्त हुए काल के साथ दृश्य वस्तुओं से रहित—स्थान अर्थात् पोल-आकाश में विलीन हो जाती है। सर्व आकार प्रकार युक्त मिट्टी की ढेली दृश्यावस्था में अपनी स्थिति रखती है, किन्तु जब उसको अति सूक्ष्म करके फुङ्कार से उड़ा दिया जाता है तो वह अदृश्य बनकर पोल-आकाश में विलीन हो जाती है। अतः किन्हीं निज लक्षणों से विद्यमान वस्तु स्वकीय दृश्य-धर्मों से रहित होकर पोल—आकाश में चली जाती है। इसलिये यह स्थान सभी वस्तुओं का अन्तिम-आश्रय होने से 'यमालय' कहा जा सकता है। इस अवस्था में दृश्य-वस्तु के खण्डित सूक्ष्म-कण अदृश्य होकर वायु के आधार पर पोल आकाश में विद्यमान रहते हैं। ऋषि दयानन्द ने भी इस ही का नाम यमालय

दिया है, अन्य किसी पुराणोक्त कल्पित यम-नगरी का नहीं।

(प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ? (उत्तर) यमालय को। (प्रश्न) यमालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) वायवालय को। (प्रश्न) वायवालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) अन्तरिक्ष को जो यह पावे हैं। (संस्कारविधि)

सूक्ष्मकणों का यमन (अन्तर्यमन) करने तथा चेतन-जीवों का अविनाभावी आधार होने से वायु का नाम 'यम' है "अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते।" (श० १४। २। २। ११) अस्तु।

राजा को भी 'यम' कहते हैं अतः राजःमन्दिर या राजा के न्याय करने की जगह अर्थात् न्याय-मन्दिर के लिये भी वेद में 'यम-लोक' शब्द आता है यथाः—

"उग्रम्पश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेच्छमानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥

(अथ० ६। ११८। २)

अर्थ—(उग्रम्पश्ये राष्ट्रभृत्) हे उग्रदर्शक भय दिखाने वाली राष्ट्रपालक न्यायसभा ! (यन्नोदत्तम्) जो ऋण उत्तमर्ण ने हम को दिया है (अक्षवृत्तमनु किल्बिषाण्येतत्) वह ऐन्द्रियक पाप हो गया है अर्थात् न देने की भावना में परिवर्तित होगया है, (न ऋणमेच्छमानः) अऋण अर्थात् चुकती चाहने वाला उत्तमर्ण (यमस्य लोके) न्याय-मन्दिर High Court में (ऋणान्नः) ऋण के कारण हमारे लिये (अधिरज्जुरायत्) बन्धन को लक्ष्य करके प्राप्त हुआ है।

तात्पर्य्य—किसी के पास से ऋण लेकर उसको अवसर पर चुकाना उचित है। यदि ऋण को लेकर न देने की पापवृत्ति हो जावे तो न्याय सभा को चाहिये कि बन्धन द्वारा अधमर्ण (ऋणी) से न्याय मन्दिर में ऋण को दिलवा दे।

राष्ट्र तथा प्रजाजनों पर नियमन करने के कारण राजा का यम नाम है, एवं विश्व (संसार) तथा जीवों के पापपुण्यानुसार फल भुगताने का नियामक होने से ईश्वर का नाम यम है। स्यात्।

२—अब पितरों से विद्वान् आदि के ग्रहण में भी दो चार मन्त्र निम्न प्रदर्शित करते हैं:—

"कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥"

(ऋ० १०। ८८। १८)

अर्थ—(कवयः पितरो वः पृच्छामि) हे क्रान्तदर्शी विद्वानो ! मैं तुमको पूछता हूं (कत्यग्नयः कति सूर्य्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः) अग्नियां कितनी हैं, सूर्य्य कितने हैं, उषायें कितनी हैं और जल धाराऐं कितनी हैं (उपस्पिजं वो न वदामि) मैं कोई पीड़क वचन या उपारोहण अथवा परीक्षा की बात तुम्हारे प्रति नहीं कहता हूं (विद्मने कम्) अपितु ज्ञान प्राप्ति के लिये ही बोलता हूं।

तात्पर्य्य—पदार्थ-विद्या वेत्ता विद्वानों की सेवा में उपस्थित होकर उनसे अग्नि-विद्या, सूर्य्य-विज्ञान, उषादि सम्बन्धी खगोल परिचय और जल-विद्या सीखने के लिये बड़ी नम्रता के साथ प्रश्न करना चाहिये। आक्षेप या परीक्षा के तुल्य कदापि न पूछें किन्तु जिज्ञासा भाव से ही पूछना उचित है *।

---

* इस मन्त्र में अग्नि आदि पदार्थों के विशिष्ट विद्वानों के लिये 'पितर' शब्द है। अतएव 'अग्निष्वात्त' और 'अनग्निष्वात्त' पितरों का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ 'अग्निविद्या को जानने वाले' तथा 'अग्नि से भिन्न जलादि विद्या को जानने वाले' विद्वान् करना सुसङ्गत है।

सैनिक जनों के अर्थ में 'पितर' शब्द—

'स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥'
ऋ० ६। ७५। ९)

अर्थ—(स्वादु-षंसदः) सुन्दरता से व्यूह-नियम में स्थिर होने वाले अर्थात् ठीक ठीक क़वाइद में रहने वाले (वयोधाः) वयोधारक युवावस्था को प्राप्त (कृच्छ्रेश्रितः) कठिन नियम में सुदृढ़ (शक्तीवन्तः) शक्तिमान् (गभीराः) दूरदर्शी (चित्रसेनाः) अद्भुत सेना वाले (इषुबलाः) शस्त्रास्त्र बलवाले (अमृध्राः) अहिंसित (सतोवीराः) सत्व बलयुक्त (व्रातसाहाः) शत्रु समूह को संहारने वाले (उरवः) बहुत संख्या या बहुत प्रकार वाले (पितरः) सैनिक जन हमारे लिये हों।

तात्पर्य्य—सेना के अन्दर अथवा राष्ट्र के न्याय-प्रिय राजपुरुष पुष्ट शरीर वाले, कठिनाई में न घबराने वाले, शक्तिशाली, गम्भीर, भयप्रद, शस्त्रास्त्र बल वाले, विजयशील, स्थिर, शत्रुओं के आक्रमण का सहन और प्रतिकार करने वाले बहुत संख्या में होने चाहियें।

विशेष—संग्राम-सूक्त का मन्त्र है, इस सूक्त में वर्म्म, धनुः, ज्या, आर्त्नी, इषुधि सारथि, रश्मियाँ, अश्व, रथ और रथगोपयिता आदि देवता हैं। इस उपस्थित मन्त्र का देवता रथगोपयिता है अतः इस मन्त्र में आया पितर शब्द सेना नायक जनों का अर्थ रखता है।

ऋतुओं के लिये 'पितर' शब्द—

" नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरः जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वोः गृहान्न पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः॥" (यजु० २। ३२)

अर्थ—(पितरो वो रसाय नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे वसन्त के रस सम्पादन के लिये यज्ञ हो। (पितरो वः शोषाय नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे ग्रीष्म के शोषण व्यापारार्थ यज्ञ हो। (पितरो वो जीवाय नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे वर्षाकालसम्बन्धी जीवन प्रदान कर्म के लिये यज्ञ हो (पितरो वः स्वधायै नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे सर्दी के अन्न-सम्पादन कार्य्य के लिये यज्ञ हो। (पितरो वो घोराय नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे हेमन्त सम्बन्धी घोर कर्म के लिये यज्ञ हो (पितरो वो मन्यवे नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे शिशिरकाल के ताड़न व्यापार के लिये यज्ञ हो (पितरो वो नमः) ऋतुओ ! तुम्हारे लिये यज्ञ हो (पितरो वो नमः) हे पालन के हेतुओ तुम्हारे लिये यज्ञ हो (पितरो नो (गृहान् दत्त) ऋतुओ हमारे घरों को देशों को धारण करो (पितरो वः सतो देष्म) हे पालन के हेतुओ तुम्हारे लिये विद्यमान पदार्थों को देते या होमते हैं (पितरस्तद्वोवासः) ऋतुओ ! पालन के हेतुओ तुम्हारे लिये यहां वास है, स्थान है, क्षेत्र है, देश है, इसलिये यथाकाल अवश्य आया करो।

तात्पर्य्य—वसन्तादि ऋतुओं में अथवा उनके प्रारम्भ काल में तत्कालिक होम्य पदार्थों से ऋतु योग करना चाहिये।

विशेष—इस मन्त्र पर शतपथ ब्राह्मण में 'पितर' शब्द को षड्वा ऋतवः पितरः (श० ९। ३। ५। ८) ऋतुओं के अर्थ में निश्चित किया है। एवं यहाँ नमः शब्द का अर्थ यज्ञ है "यज्ञो वै नमः" (श० २। ४। २। २४)।

सूर्य्य रश्मियों के लिये 'पितर' शब्द—

'अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः॥
ऋ० ९। ८३। ३)

अर्थ—(पृश्निरग्रिय उषसोऽरुरुचत्) आदित्य सब लोक लोकान्तरों में मुख्य होकर दिन का प्रकाश करता है (उक्षा वाजयुर्भुवनानि विभर्ति) जल का सिञ्चन करने वाला प्राणिमात्र के लिये मानो अन्न को चाहता हुआ पृथ्वी आदि लोकों को धारण करता है (अस्य मायया मायाविनो नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुर्ममिरे) इस आदित्य की निर्माणशक्ति वाली जो प्राणिमात्र के दर्शन के हेतु सूर्य्य रश्मियाँ हैं वे उत्पत्ति योग्य गर्भ को धारण करती हैं और उस गर्भ को निर्माण करती हैं।

तात्पर्य्य—सूर्य्य का प्रकाश सब लोकों की स्थिति का कारण है और उसकी निर्माण शक्ति वाली रश्मियां संसार के गर्भ मात्र को धारण तथा उत्पन्न करती हैं।

विशेष—इस मन्त्र पर सायण ने भी अपने भाष्य में 'पितर' शब्द का अर्थ सूर्य्य रश्मियाँ किया है "पितरो जगद्रक्षका रश्मयः" (सायण)

"ध्रुवा एव वः पितरो युगेयुगे क्षेमकामासः सदसो न युंजते
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आद्यां रवेणा पृथिवीमशुश्रुवः
(ऋ० १०। ९४। १२)

अर्थ—(युगे युगे वः क्षेमकामासः पितरो सदसो न युञ्जते) हे मेघो! संसार के क्षेम की कामना जिनसे पूर्ण होती है ऐसी ये सूर्य्य रश्मियाँ इस प्रकार प्रति वर्षाकाल तुमको युक्त होती हैं, जैसे अपना स्थान समझ कर बैठने वाले बैठते हैं (अजुर्यासो हरिद्रवो हरिषाचो रवेणाद्यां पृथिवी मा शुश्रुवुः) और जो जीर्ण न होने वाली तथा सुवर्ण सदृश सूर्य्य को प्राप्त होने वाली रश्मियाँ मेघ की सङ्गति से घोष द्वारा द्यावा पृथ्वी को घोषित करती हैं (ध्रुवा एव) इस प्रकार वे सूर्य्य रश्मियाँ वर्षा के कार्य में ध्रुव रहें।

तात्पर्य्य—प्राणियों के कल्याणार्थ सूर्य की किरणें प्रति वर्षाकाल मेघों को प्राप्त होती हैं जो कि मेघों में प्रविष्ट हो भूमि और आकाश को बड़े नाद से गुञ्जायमान कर देती हैं और फिर वर्षा को प्रेरित करती हैं।

विशेष—पूर्व मन्त्र से 'अद्रयः = मेघ शब्द, सम्बोधन चला आता है। यहां मेघों और सूर्य्य किरणों का सम्बन्ध बतलाया है प्रति वर्ष सूर्य्य किरणें मेघों के साथ संगत होकर उनको नीचे गिराती हैं।

तथा—

"य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम्।"

अर्थ—(ये पितरः परिवत्सरे) जो सूर्य्य रश्मियां परिपूर्ण आदान काल अर्थात् उत्तरायण काल के अन्त में (ऋतेन) जल वृष्टि से (गोमयं बलम्) पृथ्वी के बल को (अभिन्दन्) भेदन करती हैं (वसूदाजन्) वही सूर्य्य रश्मियाँ तदनन्तर पार्थिव वसु अर्थात् जीवन रस के कारणरूप अन्नादि को उत्प्रेरित या उत्पन्न करती हैं।

तात्पर्य—वर्ष के परिपूर्ण उत्तरायण कालान्त में वृष्टि द्वारा सूर्य्य की रश्मियाँ पृथ्वी की कठोरता को नष्ट कर देती हैं, पुनः वर्षापात के अनन्तर जीवनवास के कारण रूप खाद्य शक्ति को उत्पन्न करती हैं।

विज्ञप्ति—जब उपर्युक्त मन्त्रों से वेद में 'पितर' शब्द का अर्थ सूर्य्य रश्मियाँ सिद्ध होगया तब 'शव-दहन से प्रेत पितरों को प्राप्त होता है' इस वाद का समाधान स्वयं होजाता है। क्योंकि प्रेत अर्थात् मृत शरीर का अग्नि में डालकर सूर्य्य रश्मियों को प्राप्त होजाना शव की एक वैज्ञानिक प्रति क्रिया है। जिस मन्त्र को पौराणिक वाद का आधार बनाया जाता है, उसके सम्यगर्थ से यह भलीभाँति विदित होजाता है कि मन्त्र में उसके (पौराणिक वाद का) लेश भी नहीं है। मन्त्र—

"मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात्पितृभ्यः ॥"
ऋ० १० । १६ । १ ॥)

अर्थ—(अग्न एनम्) अग्नि मृत देह को (मा विदहः) विदग्ध अर्थात् अधपका न करे (माभिशोचः) न शव से अलग ही इधर उधर जलकर अग्नि रह जावे, और (अस्य त्वचं मा चिक्षिपो मा शरीरम्) न इसके त्वचा या शरीर को फेंके। वास्तव में प्रेत को इस प्रकार जलावे कि (जातवेदोयदेमेनं शृतं कृणवोऽथ पितृभ्यः प्रहिणुतात्) अग्नि जब इस शरीर को पकादे तो फिर इस मृत शरीर को सूर्य्य रश्मियों के प्रति पहुंचा दे।

तात्पर्य—शवदहन के लिये इतना ईंधन होना चाहिये कि जिससे शव कच्चा न रह जावे और बहुत ईंधन होने पर भी अग्नि इधर उधर चारों तरफ जलकर ही न रह जावे, इसके लिये ठोस ईंधन का प्रयोग करना चाहिये तथा अङ्ग अङ्ग चटक कर इधर उधर न उड़ जावे या गिर जावे ऐसे न चटकने वाले ईंधन से शव को जलाना चाहिये जिससे अग्नि के द्वारा शव सूक्ष्म होकर सूर्य्य किरणों को प्राप्त हो सके।

विशेष—ऊपर बतलाया जा चुका है कि वैज्ञानिक प्रकरण में पितर शब्द के अर्थ सूर्य्य रश्मियां और ऋतुयें हैं, अतएव देहपात के अनन्तर जीव का सूर्य्य रश्मियों को प्राप्त होने और ऋतु क्रम से भिन्न भिन्न योनिप्रवेश का सिद्धान्त शास्त्रों में वर्णित है, "सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु। तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः।" (यजु० ३५। २) तथा "यो वै म्रियते ऋतवो ह तस्मै व्युह्यन्ते।" (श० ८। ७। १११)

अतः जीव मरकर पितरों को प्राप्त होता है इसमें किसी परोक्ष कल्पना का असर नहीं है। अस्तु।

उपर्युक्त यम पितृ विषयक कतिपय मन्त्रों द्वारा हमने यह दर्शा दिया है कि ऋषि दयानन्द का यम पितृविषयक सिद्धान्त वेदानुसारी है। इन बातों का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिये मेरे लिखे "यमपितृ-परिचय" ग्रन्थ को देखें ❀। इति॥

❀ "यमपितृपरिचय" पुस्तक आर्यसार्वदेशिक सभा देहली के कार्यालय से मिलती है।
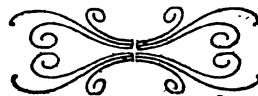
वेदों में इतिहासवाद

[ले०—श्री पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र, काव्यमध्यम एम० एस० सी० (गणित) बी० एस० सी० ऑनर्स (भौतिक)
प्राफ़ीसिएन्ट इन फ्रेञ्च, मेम्बर ऑफ़ दी ऐक्टुअरीज़ (लंडन)]

बोधन्तु सम्बोधनमत्र सम्यग् यद्यस्ति वेदे भवतां बुभुत्सा।
यस्माद्दते वैदिकभाष्यमध्ये मौर्ख्यं वितन्वन्ति कुभाष्यकाराः॥
सर्वेषां च लकाराणां लोटं स्वहृदि धारय।
अपवादं पाणिनीयेषु सूत्रेषु च रतिं कुरु ॥ २ ॥
ऐतिहासिकभाष्येषु यदि भवतां मतिर्दृढा।
ज्ञास्यन्ति नैगमार्थाश्च जन्मान्तरशतैरपि ॥ ३ ॥
विद्वत्त्वस्थापनार्थाय न मे एष परिश्रमः।
किन्तु नाना विवादानां शान्तये युक्तिपूर्वकम्॥ ४ ॥

इस लेख में वेद से हमारा वही मतलब है, जिस अर्थ में आर्य्यसमाज वेदों को लेता है, अथवा जिसको साधारणतया लोग 'निगम' कहते हैं, अर्थात् चारों संहिताएं।

निस्सन्देह वेदों में 'वसिष्ठ', 'अर्जुन', 'नहुष' इत्यादि शब्द मौजूद हैं, जो कानों को सुन पड़ने पर ही जान पड़ते हैं कि ये किन्हीं विशेष मनुष्यों के नाम हैं।

देखने में यह आता है कि ऐसे शब्दों को व्यक्ति-विशेष मानकर जो अर्थ किया जाता है वह कुछ अजब ऊटपटांग और असङ्गत सा होता है। उसी मन्त्र के और शब्दों का अर्थ किसी तरह ठूंस ठांस कर ऐतिहासिक पक्ष की ओर लाया जाता है और फिर भी ऊपर नीचे के मन्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता।

यद्यपि ऐतिहासिक अर्थ को अशुद्ध करने में ऊपर बतलाई हुई दोषापत्ति पर्याप्त है फिर भी स्वरापत्ति इससे भी अधिक दीख पड़ती है। यदि वास्तव में किन्हीं व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का वर्णन निगम में है और व्यक्तिवाचक शब्द भी हैं तो यह स्पष्ट है कि ऐसे शब्द अव्युत्पन्न पक्ष ही से प्रातिपदिक कहे जा सकते हैं। उनको यौगिक कहना अथवा उनमें प्रकृति प्रत्यय ढूंढना ऐतिहासिक पक्ष के विरुद्ध होगा। यह भी स्पष्ट है कि ऐसे शब्दों को योगरूढि कहना भी अनुचित होगा। इसलिये यदि वेदसंहिताओं में अभिमानी जीवधारी व्यक्तियों अथवा मनुष्य जातियों के नाम हैं तो वे नामवाचक शब्द सब के सब केवल रूढि होने चाहियें केवल रूढि होने से—

'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' ॥ १ ॥ २ ॥ ४३ ॥

इस पाणिनीय सूत्र ही से उनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो सकती है। जब प्रातिपदिक संज्ञा हो गई और प्रकृति प्रत्यय का विधान नहीं है। तब—

फिषोऽन्त उदात्तः ॥ फिट् सूत्र ॥ १ । १ ॥

इस सूत्र से उन्हें अन्तोदात्त ही होना चाहिये।

अब वैदिक शब्दों को लीजियेः—

१ 'कण्व' यदि मनुष्य विशेष का नाम है तो इसे अन्तोदात्त (कण्व) होना चाहिये परन्तु निघण्ट अ० ३ खं०१५ में आद्युदात्त (कण्वः) लिखा है और वेद मन्त्रों में भी आद्युदात्त (कण्वः)है।

यदि यौगिक मानें तो

अशूप्रुषिलटिकणिखटिभ्यः क्वन् ॥ १ ॥ १५१ ॥

इस उणादि सूत्र से 'कण' धातु से 'क्वन्' प्रत्यय मानें तो स्वरों में कोई आपत्ति नहीं है।

२. 'अत्रिः' यदि ऋषि विशेष का नाम हो तो इसे अन्तोदात्त होना चाहिये। परन्तु है आद्युदात्त। देखो ऋक् संहिता मण्डल ५ सू० ४० मन्त्र ८ ॥

३. 'नहुषः' यदि ये वही ऐतिहासिक 'नहुष' हैं जिन्होंने शची के पतिव्रत धर्म को नष्ट करने का निष्फल प्रयत्न किया था तो 'नहुष' को अन्तोदात्त होकर 'नहुषः' ऐसा स्वरसंस्थान होना चाहिये था। देखो निघण्टु अ० २ खं० ३।

४. 'सगरः' भी अन्तोदात्त नहीं है नि० अ० १ खं० ३।

५. 'अर्जुनम्' नि० अ० ३ खं० १ ॥ हमें विश्वास है कि ऐतिहासिक पक्ष वाले यह तो अवश्य कहेंगे कि चूंकि अर्जुन विराटपुर में साल भर नपुंसक वेष में रहे थे इसलिये वैदिक प्रयोगों में उन्हें नपुंसक लिङ्ग माना है परन्तु इस शब्द के आद्युदात्त के बारे में क्या हेतु दे सकते हैं।

इसी प्रकार और बहुत से उदाहरण हैं। स्थानाभाव से हम उन्हें नहीं लिखते। मेरा अनुभव बतलाता है कि प्रायः वे सभी शब्द, जिनको ऐतिहासिक पक्ष वाले अभिमानी जीवधारी व्यक्तियों की आख्या बतलाते हैं, अन्तोदात्त नहीं हैं।

शायद ऐतिहासिक लोग यह कहें कि यदि आप के उदाहृत शब्दों को 'वृषादिगण' में मानकर उनका आद्युदात्तत्व स्थापन करें तो आप को क्या आपत्ति है।

इसके उत्तर में निवेदन है कि निस्सन्देह—

'वृषादीनां च ६ ॥ १ ॥ २०३॥

इस पाणिनीय सूत्र में बतलाया हुआ वृषादिगण आकृतिगण अवश्य है परन्तु इस सूत्र के वृत्तिकारों ने बतलाया है कि "अविहितलक्षणमाद्युदात्तत्वं वृषादिषु द्रष्टव्यम्।

अर्थात् अविहित लक्षण आद्युदात्तत्व 'वृषादिओं में देखना चाहिये। बस जब आद्युदात्तत्व अथवा अन्तोदात्ताभाव का जब कोई दूसरा कारण प्रकृति प्रत्यय से न मिल सके तभी उस शब्द को वृषादिगण में डालना पड़ेगा।

यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'वृषादिगण' का जितना अंश पाणिनि ने दिया है उसमें केवल २६ शब्द हैं। वे सब के सब दो अक्षरों के हैं। उनमें से २१ अकारान्त हैं, १ इकारान्त है, और ४ आकारान्त हैं। इनमें से व्यक्तिवाचक कोई नहीं है। इस लिये यदि किसी दो अक्षरों से अधिक अक्षरों वाले शब्द अथवा व्यक्तिवाचक शब्द की 'वृषादि' गण में होने की सम्भावना निकालें तो प्रथम की ००००३५ आवेगी और द्वितीय की भी, ००००३५....... होगी यदि वह दो अक्षरों वाला हो, परन्तु यदि दो से अधिक अक्षरों वाला है तो और भी कम होगी ॥

सम्भावना के इतना कम होने पर ऐसे शब्दों को 'वृषादि' गण में मानना अतीव अवैज्ञानिक (Tremendously unscientific) है।

अतिरिक्त इसके 'अगस्त्य' आदि शब्दों को जो कि मध्योदात्त हैं आकृतिगण में डालने से भी काम न चलेगा ॥

इससे स्पष्ट है कि वेदों में ऐतिहासिक व्यक्तिवाची शब्दों का होना नितान्त असम्भावित है।

इतिहासवाद के पक्ष में यदि कोई समालोचक

हमारे प्रकट किये इन विचारों का शिष्टाचार युक्त समालोचन करेंगे तो उसे हम स्वागत करके यथोचित उत्तर देंगे । सम्पादकजी से भी प्रार्थना है कि ऐसे समालोचन को अवश्य पत्र में स्थान दें और शीघ्र से शीघ्र मेरे दृष्टिगोचर करें ।

कुछ लोगों का कहना है कि यदि हम वेदों में ऐतिहासिक पक्ष न मानें तो याज्ञिक पक्ष अवश्य मानना पड़ेगा । अर्थात् वेद मन्त्रों में देवताओं को आहूत किया गया है । देवता अधिकांश में जड़ हैं इसलिये यदि तुमने ऐतिहासिक पक्ष से पिण्ड छुड़ाया तो तब हूरमपरस्ती वेदों के सिर आ पड़ी । इससे तो ऐतिहासिक पक्ष कहीं अच्छा था । शेख़ ने मसजिद् बना मिसमार बुत्ख़ाना किया । पहिले तो सूरत भी थी अब साफ वीराना किया ।

इस पक्ष वालों का कहना है कि वेदों में 'वायवायाहि' इस प्रकार के वाक्य जहां तहां मौजूद हैं । यदि वायु, इन्द्र, अश्विन् इत्यादि को राजाओं के नाम न मानें तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन मन्त्रों में जड़ देवताओं को पुकारा गया है और उनको यज्ञ में बुलाया गया है इससे बढ़ कर और तब हूरमपरस्ती क्या हो सकती है ।

इसके उत्तर में निवेदन है कि कहीं कहीं पर तो ये सम्बोधन अलङ्कारमात्र हैं । जीन साहब ने अपनी **पुस्तक** (Universe Around us)में लिखा है:—

"The escaping molecule laughs at its neighbour"

अर्थात भागने वाले स्थूलाणु अपने पड़ौसी पर हंसता है, परन्तु इससे कोई भी विद्वान् यह निष्कर्ष नहींनिकलेगा कि डाक्टर जीन वाष्पीय का कणों को अभिमानी जीवधारी मानते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं ॥

साथ ही साथ प्रत्येक अवसर पर सम्बोधन को अलंकार ही कहना ठीक नहीं है । यहां पर सम्बोधन का अर्थ समझ लेना चाहिये । वेदालोचकों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि जो अर्थ हिन्दी के सम्बोधन-कारक का और अंग्रेज़ी के 'वाकेटिवकेस' का होता है वही अर्थ संस्कृत सम्बोधन का प्रत्येक अवसर पर नहीं होता । अर्थात् संस्कृत में सम्बोधन सदैव "हूत-ग्रहण" अर्थ ही में नहीं होता कभी कभी अन्य अर्थों में भी होता है ।

सम्बोधने च २ । ३ । ४७ ॥

इस पाणिनीय सूत्र पर वृत्तिकारों ने वृत्ति करते हुए कहा है 'आभिमुख्यकरणं सम्बोधनम्' अर्थात् मुख के सामने करने को सम्बोधन कहते हैं । इससे स्पष्ट है कि सम्बोधन से केवल "हूत ग्रहण" अनुचित है । हां 'हूत ग्रहण' भी सम्बोधन का एक अङ्ग है क्योंकि उसमें आभिमुख्यकरण अथवा साक्षात्कार का प्रयत्नहोता है ।

वैयाकरण लोग यह तो जानते ही हैं कि संस्कृत से सम्बोधन और सम्बन्ध इन दोनों ही की कारकों में गणना नहीं है, हिन्दी में भले ही हो और सम्बोधन कोई अष्टमी विभक्ति भी नहीं है केवल प्रथमा का विशिष्ट भेद है ।

दूराद्धूते च ८ । २ । ८४ ॥

इस पाणिनीय सूत्र पर वृत्तिकारों ने लिखा है 'हूत-**ग्रहणं सम्बोधनमात्रोपलक्षणार्थम् । तेन यत्राह्वानं नास्ति तत्रापि प्लुतिर्भवति** । अर्थात् 'हूत ग्रहण' सम्बोधन भर के उपलक्षण के लिये है । इसलिये जहाँ आह्वान (पुकारना) नहीं है, वहाँ भी लुप्त होजाता है ।

इससे प्रकट है कि यदि सम्बोधन से मतलब केवल 'हूत ग्रहण' होता तो 'सम्बोधन भर के उपलक्षण के लिये इतने शब्दों के कहने की आवश्यकता न होती। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत में 'हूतग्रहण' सम्बोधन का अङ्ग मात्र है सम्पूर्ण सम्बोधन नहीं।

यही कारण है कि

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ऋ०। मं० १। सू० ६४। मं० ३९ ॥

इस मन्त्र का अर्थ करने में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'व्योमन' पद का अर्थ 'हे परमेश्वर न करके 'परमेश्वर में' ऐसा किया है। कारण यह कि 'व्योमन के विशेषण 'अक्षरे' 'परमे' और 'यस्मिन्' सभी सप्तमी के एक वचन में हैं।

यहां पर सम्बोधन सप्तमी के अर्थ में है। शायद कोई यह कहे कि हम 'व्योमनि अस्मिन्' ऐसा पदच्छेद करते हैं इसमें क्या आपत्ति है? हां! इस दशा में या तो 'व्योमनि' अथवा 'व्योमनि' ऐसा स्वरसंस्थान मानना पड़ेगा परन्तु दोनों ही असम्भव हैं। क्योंकि 'व्योमन्' उणादि सूत्रों में 'मनिन्' प्रत्ययान्त निपातित है इसलिये उसे आदि में उदात्त होना आवश्यक है। यही आपत्ति 'सुब्लोप' मानने में भी है।

अतः 'व्योमन्' सम्बोधन ही है और सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कारण यह है कि

'सप्तम्यधिकरणे च' २। ३। ३६ ॥ और सम्बोधने च २। ३। ४७ ॥

इन सूत्रों द्वारा अधिकरण अर्थ होने में 'सप्तमी' तथा आभिमुख्य करण अधिकरण होने में 'सम्बोधन' प्राप्त है। परन्तु

विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥ ४ ॥ २ ॥

इस सूत्र से सप्तमी को बाधकर सम्बोधन प्राप्त होजाता है ॥

निःसन्देह महर्षि दयानन्द संस्कृत-सम्बोधन के रहस्य से नावाक़िफ़ न थे, केवल स्पष्ट शब्दों में उन्हें इस रहस्य को लिखने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। अथवा सम्भव है कि उन्होंने कहीं लिखा हो और मैं ने पढ़ा न हो या पढ़ने पर भी याद न हो।

अतः इन विवेचनाओं से यह सिद्ध है कि वेदों पर आक्षेप करने वालों ने सम्बोधन को जैसा समझ रक्खा है वैसा अधिकांश में नहीं है।

परन्तु बहुदेव-पूजावाद वालों का यह आक्षेप अवश्य शेष रहजाता है कि सम्बोधन का अर्थ भले ही कर्त्ता इत्यादि कारकों में करलो। आज्ञा-लकार लोट् का क्या करोगे जहां पर 'वायवायाहि' ऐसा पाठ है वहां पर हे वायु! आओ इस अर्थ के सिवा क्या करोगे?।

इस प्रकार के आक्षेप करने वालों से हम यह कह देना चाहते हैं कि उन्हें आक्षेप करने से पहिले लोट लकार के प्रयोगों को जान लेना चाहिये। इसलिये आरम्भ में लिखे हुए श्लोक को हम फिर दुहराते हैं।

सर्वेषां च लकाराणां लोटं स्वहृदि धारय।
अपवादं पाणिनीयेषु सूत्रेषु च रतिं कुरु ॥
क्रियासमभिहारे लेटलोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः ॥२॥
समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥ ३ ॥
यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ॥ ४ ॥
समुच्चये सामान्यवचनस्य ॥ ५ ॥

अष्टाध्यायी अ० ३ ॥ पा० ४

इन सूत्रों में यह बतलाया गया है कि लोट् लकार

के मध्यम पुरुष का एक वचन व बहुवचन सब लकारों के सभी पुरुषों के सभी वचनों में आसकता है।

यह भी ध्यान रहे कि यह नियम केवल वैदिक संस्कृत ही के लिये नहीं है किन्त लौकिक संस्कृत में भी विज्ञ कवियों ने बिना किसी निरंकुशता के इस लाइसेन्स का उपयोग किया है। इस समय मुझे एक ही स्थल याद है। कविकुल शिरोमणि माघ ने अपने महाकाव्य 'शिशुपाल वध' के प्रथम सर्ग के ५१वें श्लोक में लिखा है:—

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
निगृह्य चक्रे नमुचिद्विषाबली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः।

यह सब हज़रत रावण की करतूत वर्णन की गई है। इसमें लोट् लकार के सभी पदों का अर्थ लिट् लकार अर्थात् भूत काल में किया गया है। जिसको हमारी बात पर यकीन न हो वह मल्लिनाथ की घण्टा-पथ टीका को देख लेवे।

अब हम इस लेख के विवेचनों का क्रियात्मक प्रयोग दिखाने की चेष्टा करते हैं॥

आ याह्यद्रिभिः सुतं सोमं सोमपते पिब। वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम॥ १॥ ऋ० मं० ५ सू० ४०॥

इस मन्त्र में हे इन्द्र! आओ ऐसा अर्थ करने के लिये, 'आ' को 'याहि' के साथ मिलाना पड़ेगा और 'पिब' बिना उपसर्ग के रह जायगा। इस दशा में लोट् च॥ ८॥ १॥ ५२। इस पाणिनीय सूत्र से 'पिब' को निघात आदेश न हो सकेगा॥

यदि 'आ' को पिब के साथ जोड़ कर 'हे इन्द्र जाओ सोम रस पियो' ऐसा अर्थ किया जावे तो 'याहि' को निघात आदेश तो अवश्य हो जावेगा, परन्तु एक दूसरी आफ़त सिर पर आ पड़ती है। दूसरे अर्थ का मतलब यह है कि मन्त्र आह्वानात्मक होकर न विसर्जनात्मक है। विसर्जन यज्ञ के अन्त में यज्ञ में आये हुए, देवताओं के लिये करना होगा। इस दशा में ऐचोऽप्रगृह्यस्य दूराद्धूते पूर्वस्यार्द्धस्यादुत्तरस्येदुतौ ८। २।१०७

इस पाणिनीय सूत्र तथा इसी सूत्र पर 'प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम्' इस वार्त्तिक से तथा 'आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः' इस वार्त्तिक से भी 'सोमपते' को 'सोमपता३इ' ऐसा आदेश हो जाना चाहिये॥

इसलिये आह्वानात्मक और विसर्जनात्मक दोनों ही अर्थ अशुद्ध हैं। सच तो यह है कि वेद मन्त्रों में भाव-योग अर्थात् पोपलीला है ही नहीं। शुद्ध अर्थ यह है।

(इन्द्र) सूर्य्य (वृषन्) वर्षा करता है (वृत्र-हन्तम) मेघ को अधिक से अधिक आघात पहुंचाने वाला अर्थात् जल के भार से दबाने वाला है (सोम-पते) सोमों का मालिक है (याहि) अधिक चलता है (वृषभिः) दृढ़ (अद्रिभिः) पर्वतों द्वारा (सुतम्) पैदा हुए (सोमम्) सोमरस को (आपिब) अतिशय पालन करता अर्थात् बढ़ाता है अथवा पीता अर्थात् उत्तप्त करता है।

यह पूरा का पूरा सूक्त ज्योतिषीय भौतिक तथा ज्योतिषपरक है।

अन्त में यह कहना उचित है कि यदि कोई साध्य सत्य हो तो उससे यह निष्कर्ष आवश्यक नहीं है कि उसका विलोम भी सत्य हो। इसके उदाहरण ज्यामिति शास्त्र में अनेक विद्यमान हैं।

इसलिये यद्यपि इस लेख में यह उपपन्न किया गया है कि व्यक्तिवाचक संज्ञा सदा अन्तोदात्त होती है परन्तु यह कहना शुद्ध नहीं है कि अन्तोदात्त शब्द सदा व्यक्तिवाचक संज्ञा वाला हुआ करता है।

प्रभात-वन्दन

[ले०—ब्र० वेदव्रत १२ श० गुरुकुल कांगड़ी]

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,
प्रातर्मित्रा वरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं, पूषणं, ब्रह्मणस्पतिं,
प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १ ॥ ऋग्वेद ७।४१।१॥

कान्त ! सूर्य ! उषा की पहली
इस वसुधा की शान, सुनहली,
किरणों से, घर मेरा भर दो ।
नतशिर हूं, प्रिय, सुन्दर वर दो ।
अपने विविध शक्तियों वाले,
रूप एक ही साथ निराले,
इस प्रभात-सुन्दर वेला में
दिखलाओ, हे मायावाले !
तेजोमय ! वर्चस्वी हम हों,
प्रभु गौरवमय हों, सहृदय हों ।
न्याय-प्रेम की मूर्त्ति ! दिलों में—
बसे प्रेम, व्यवहार सदय हों ।
प्राण ! प्राणमय ही जीवन हों,
पूषा ! पुष्ट, हमारे मन हों ।
वेद ! सत्य विद्या का धन हो,
सोम ! शान्ति का व्रत-पालन हो ।
रुद्र ! पराक्रम हो, भुजबल हो ।
इन्द्र विभव-सम्मान अचल हो ।
आंख खोलते ही शय्या पर,
ध्यान तुम्हारा ही केवल हो ।

ओ३म् प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं, भगं भक्षीत्याह ॥
ऋ० ७।४१।२॥

मूर्त्त विजय ! पावन वैभवमय !
विश्व-तुलाधर ! रमा सारमय !
दुर्बल, निर्धन, सबल, अमीर,
राजा हो या रंक, अधीर,
सभी सिर झुका तेरे द्वारे,
खड़े हुए हैं, हाथ पसारे ।
अपने उस अनन्त वैभव की,
एक दिखाओ, हमको झांकी ।

ओ३म् भग प्रणेतर्भग सत्यराधो, भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वै र्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥
ऋ० ७।४१।३॥

उन्नायक, हे इन्द्र ! सत्य ही,
कार्य-सिद्धि का है आधार
तेरा ! बुद्धि हमें दो, होवें
क्रिया रूप सब भाव, विचार ।
देव तुम्हारी ही है इसको
यों ठुकराओ या परसाओ ।
सखे ! भाग्य, है प्रेम हृदय का
स्नान करें हम, तुम बरसाओ ।
घर में गौएं, दूध बहावें,
उन्नत अश्व सुसज्जित पावें ।
चहल पहल, कल कलरव सुन्दर,
सदा भरा हो हम सब का घर
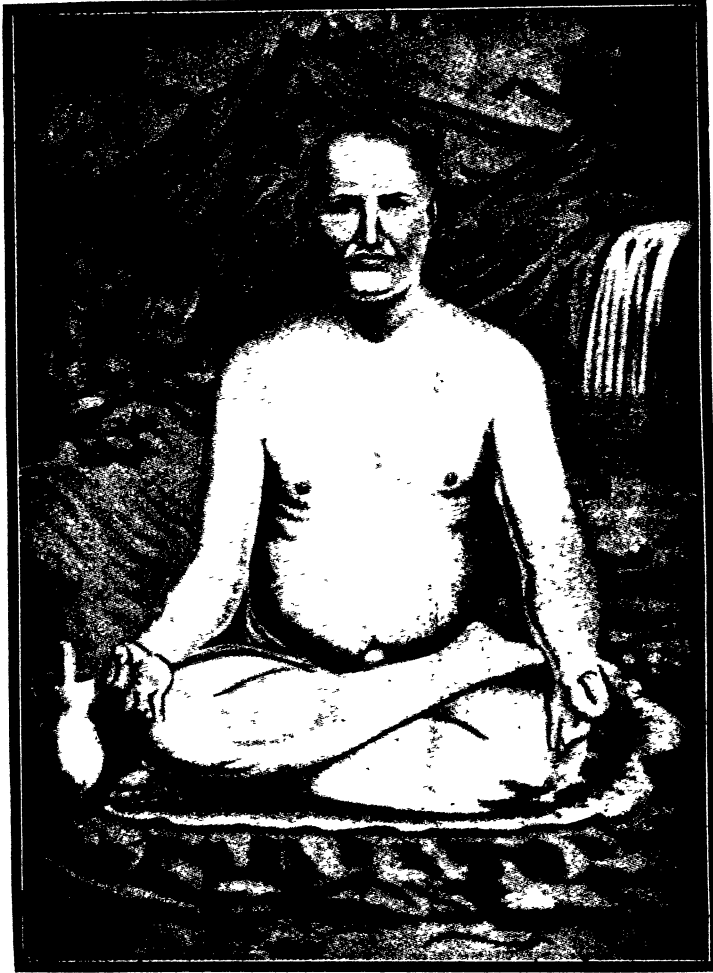
जन्म-संवत् १८८१ वि०] महर्षि दयानन्द सरस्वती मृत्यु-संवत् १९४० वि०

ओ३म् उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य, वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥
ऋ० ७ । ४१ । ४॥

दिव्य भावना रहे हृदय में,
सदा रात दिन आठों याम ।
अरुण-बाल-रवि के उगने पर,
दोपहरी, दिन ढलते, शाम ।

ओ३म् भग एव भगवाँ अस्तु, देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम,
तं त्वा भग ! सर्व इज्जोहवीति, स नो भग ! पुर एता भवेह ॥
ऋ० ७ । ४१ । ५ ॥

भगवन् ! वैभव वाले देव !
तुम भी दिव्य तम सुन्दर
महादेव भग से जाते हो,
भीख मांगने बालरूप धर
हम आये हैं तेरे पास,
छिपी हुई अपनी दिखला निधि,
खुले हाथ दे दान हमें, प्रिय !
हैं पुकारते सभी, तुझे विधि !
इस संसार-सरणि में, वैभव !
आगे चलना रूप धार नव ।
भूल न जाने पर, मृत्युञ्जय,
यों पूरा हो, जीवन-अभिनय ।

ओ३म् समध्वरायोषसो नमन्त, दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो, रथमिवाश्वा, वाजिन आवहन्तु ॥
ऋ० ७ : ४१ । ६ ॥

मेधा-शक्ति, सुकार्यकारिणी,
उषाकाल में, हृदयहारिणी—
हमें प्राप्त हो, बनें यज्ञमय—
जीवन, हिंसा हीन मिले जय ।
वेगवान ज्यों अश्व शान से,
ले जाते हैं रथ मकान से—
उसी तरह यह प्रातः काल,
पहुंचावे हम को तत्काल—
उस ईश्वर, ऐश्वर्यवान् के
सम्मुख, प्रभु-करुणानिधान के ।
हे वसुधापति ! भगवन् ! आओ !
आए द्वार, हमें अपनाओ ॥

ओ३म् अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो, वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ॥
घृतं दुहाना, विश्वतः प्रपीता ! यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥
ऋ० ७ । ४१ । ७ ॥

सभी गृही की आवश्यकता,
सुन्दरता से पूर्ण करो ।
अश्व, धेनु, सन्तान, आज्य से,
कलरवमय घर, खूब भरो,
विश्व-मुखी उन्नतियों वाली,
नव-प्रभात वेला, उजियाली !
चमको हे ! प्रकृति के माली !
बेल फूल , तरु तरु की डाली—
अपने प्यार भरे हाथों से,
दे संवार ! दे साकी ! प्याली—
मधु मदिरा से भरी, जिसे पी—
हो जावे दुनियां मतवाली ।
मिल कर सभी देव, शुभचिन्तक ,
रहे हमारे, जन्म जन्म तक ।
भक्ति विनय, सम्मान, प्रेम का ।
मेल अनोखा योग क्षेम का,
हृदय लिये, जोड़े अञ्जलियां,
भिगो अश्रुजल से देहलियां,
नतशिर खड़े हुए करते हैं
वन्दन ! इन्द्र ! तुम्हें, वरते हैं ॥

दाक्षायण हिरण्य

[श्री पं० वासुदेवजी शरण, एम० ए०, मथुरा]

वेदों में अनेक प्रकार से हिरण्य का वर्णन पाया जाता है। हिरण्य सतो गुण का वाचक है। चांदी रजो गुण और लोहा तमो गुण है। ये ही तीन पुर त्रिपुरासुर दैत्य ने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथिवी में बनाये थे।

ततो ऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे।
अयस्मयीमेवास्मिल्लोंके,
रजतामन्तरिक्षे,
हरिणीं दिवि। शतपथ ३। ४। ४। ३

अर्थात् असुरों ने इन लोकों में तीन पुर बनाये। अयस्मयी पुरी इस पृथिवी लोक में, रजतमयी पुरी अन्तरिक्ष में और हिरण्मयी पुरी द्युलोक में। वैदिक परिभाषा में त्रैगुण्य के ही ये तीन नाम हैं। इसके अनुसार हिरण्यमय लोक सर्वश्रेष्ठ तृतीय स्थान द्युलोक है। यह द्युलोक ही अध्यात्म शास्त्र में मानुषी मस्तिष्क है। मेरुदण्ड का भाग पृथिवी लोक है और इन दोनों के बीच में अन्तरिक्ष लोक है जिसमें 'मेरुकन्द' (spinal bulb) और मस्तिष्क (cerebellum) आदि भाग सम्मिलित हैं। सोम की स्थिति भी स्वर्ग में ही कही गई है। सोम कलश द्युलोक में प्रतिष्ठित है। वस्तुतः अध्यात्मपरिभाषा के अनुसार मस्तिष्क ही सोम से भरा हुआ कलश या पूर्ण कुम्भ है। सोम ही अमृत है। अमृत भी द्युलोक में रहता है जहां देवता उसकी रक्षा करते हैं। मस्तिष्क में भरा हुआ जो रस है वही सोम है। समाधियुक्त, विचार, सत्य संकल्प, पवित्र भाव, अमृत आशा, सतोमयी बुद्धि, ब्रह्मचारियों की मेधा—इन सब का स्रोत या मूल कारण मस्तिष्क का पवित्र सोम ही है अर्वाचीन शरीर विज्ञान के अनुसार भी मस्तिष्क का रस (cerebral fluid) ही सब प्रकार के स्वास्थ्य और पवित्रता का कारण है। उसी की शुद्धि से मनुष्य में शक्ति और प्राण प्रदीप्त रहते हैं। इस प्रकार के तत्व को ध्यान में रख कर ऋषियों ने मस्तिष्क को ही सोम का द्रोणकलश माना है। इस सोम को यज्ञ में सुवर्ण से मोल लिया जाता है। सुवर्ण क्या है और क्यों सोम-प्राप्ति के लिए सुवर्ण या हिरण्य देना पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है:—

शुक्रं ह्येतत् शुक्रेण क्रीणाति,
यत्सोमं हिरण्येन। श० ३। ३। ३। ६

अर्थात् हिरण्य के द्वारा जो सोम खरीदा जाता है उस का तात्पर्य यह है कि शुक्र के द्वारा शुक्र मोल लिया जाता है। सोम भी शुक्र है और हिरण्य भी शुक्र है। शुक्र, वीर्य, रेत ये पर्यायवाची हैं वस्तुतः सोम और हिरण्य भी वीर्य के नामान्तर हैं यथा:—

रेतः सोमः। श० ३। ३। ६। १
रेतः हिरण्यम्। तै० ३। ८। २। ४।

वीर्य की शक्ति से ही शरीर के भीतर के समस्त रसों का पोषण होता है, वीर्य ही प्राणों को शुद्ध और पुष्ट करने वाला है, वीर्य ही मस्तिष्क को और समस्त नाड़ी जाल को सींच कर हरा भरा और मज़बूत बनाता

है। इसलिए वीर्य को आहुति से सोम पुष्ट होता है। वीर्य को शरीर में ही भस्म करके, तेज में परिणत कर लेना वीर्य के द्वारा सोम को खरीदना है। इसीलिए स्थूल यज्ञ में सुवर्ण और सोम के विनिमय का विधान है। जिसके पास सुवर्ण की पूंजी नहीं है, वह सोमपान का आनन्द कैसे उठा सकता है ? हिरण्य से ही, प्राण, आयुष्य, तेज, ज्योति, ओज आदि की प्राप्ति होती है। हिरण्य या शुक्र ही सम्पूर्ण अध्यात्म जीवन वा नैतिक उन्नति का आधार है। हिरण्य की रक्षा ही महान् तप है। वैदिक कवि हिरण्य और सोम की महिमा का सहस्रमुख से वर्णन करते हैं। ऋग्वेद के पवमान सोम नामक नवम मंडल में इसी अध्यात्म सोम का वर्णन है जिसका हमने ऊपर संकेत किया है।

शरीरस्थ प्राणाग्नि वीर्य या हिरण्य को पचा कर, उसकी भस्म बनाकर उसे आकाशसंचारी बनाती है। यह परिणत वीर्य ही केन्द्रीय नाड़ी संस्थान अर्थात् सुषुम्णा के मार्ग से ऊपर उठता हुआ और उत्तरोत्तर तप से शुद्ध होता हुआ मस्तिष्क में पहुंचता है। वहां यह दिविस्थ सोम कहलाता है। वहां यह मस्तिष्क के सूक्ष्मातिसूक्ष्म यन्त्र से पवित्र किया जाता है। पुनः वह सुषुम्णा की ओर बहता है। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों से जल आकाशगामी होकर पुनः पृथ्वी पर आता है, उसी तरह शरीरस्थ रसों के प्रवाह का चक्र भी पूर्ण होता है। मस्तिष्क में चार वापी (ventricles) हैं। उनमें यह सोम रस शुद्ध किया जाता है। इन चारों का ऋग्वेद के नवम मण्डल में वर्णन आता है। कहीं पहली और दूसरी वापी को मिला देने से तीन चमुओं का भी वर्णन है। इन चारों के संधिस्थान त्रिकद्रुक हैं जहां बैठकर देवों ने सोमपान किया। इन वर्णनों का रहस्य अध्यात्मपरक ही समझना उचित है, अन्यथा इनकी संगति लगनी कठिन है।

सोम के सम्बन्ध में जो विशद वर्णन पाया जाता है उसका विचार फिर कभी किया जायगा। यहां हम यह बताना चाहते हैं कि सोम और हिरण्य का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है। हिरण्य से सोम और सोम से हिरण्य पुष्ट होता है। दोनों ही शुक्र की संज्ञाएं हैं। इस भाव को समझ कर अब हमें दाक्षायण हिरण्य पर विचार करना चाहिए। अथर्ववेद के प्रथम कांड के ३५ वें सूक्त में इस हिरण्य का प्रतिपादन है।

टीकाकारों ने हिरण्य का अर्थ सोना मानकर कई कल्पनाएं की हैं। कुछ के अनुसार इस सूक्त में सोने के आभूषण पहनने का उपदेश है क्योंकि उससे आयु की वृद्धि होती है। किसी का मत है कि सुवर्णपर्पटी अथवा सुवर्णभस्म के रूप में खाना चाहिए, इससे भी आयु प्राप्त होती है। हमारी समझ में ये अर्थ स्थूल हैं और केवल एक अंश में ही सत्य हो सकते हैं। सूक्त का विशद अर्थ अध्यात्मपरक ही है। वीर्य रूप हिरण्य की रक्षा का ही यहां उपदेश है। सब देवों की सुमनस्यमान (harmonised) स्थिति से ही वीर्य की रक्षा हो सकती है। जब इन्द्रियां और प्राण एकचित्त होकर प्रयत्न करते हैं तभी सब ओर से पवित्र विचारों का दृढ़ दुर्ग तैयार होता है।

आयु की सौ वर्ष की वैदिक मर्यादा की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम की निर्विकार स्थिति आवश्यक है। प्रथम आश्रम में जिसने अपने हिरण्य का संचय किया है, वही आयु की पूरी मर्यादा का भोग करता है। यह सुवर्ण देवों का सर्वश्रेष्ठ या 'प्रथमज ओज' है।

यह सब इन्द्रिय-तेजों में श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। इसके सामने पाप नहीं ठहर सकते। इस पावक में पापरूपी तिनके तुरन्त भस्म हो जाते हैं।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते
देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ॥१।३५।२॥

आयु, वर्चस् और बल की प्राप्ति के लिए हिरण्य की रक्षा की जाती है, यह दाक्षायण है। दक्ष का तात्पर्य वीर्य अर्थात् शक्ति है। सब प्रकार की शक्तियों का अयन दाक्षायण है। रेत ही सब वीर्यों का अधिष्ठान है। प्रत्येक पुरुष शतानीक है। प्राण शतानीक है, वह विश्वतोमुख है अथवा वह सब सेनाओं का सेनानी है। सेनानी को भी अनीक कहते हैं। प्राण रूप शतानीक के लिए दाक्षायणों ने हिरण्य को कल्पित किया। दक्ष वरुण की संज्ञा है। क्रतु मित्र को कहते हैं :—

क्रतूदक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ।
मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षः ॥श० ४।१।४।१॥

क्रतुदक्ष, प्राणापान, मित्रावरुण ये द्वन्द्व हैं। अपान की शक्तियों ने प्राण के लिए हिरण्य का कुम्भक किया अपान से प्राण की ओर लेजाने वाली वायु स्वास्थ्यकी सूचक है। दक्षिण से उत्तर को चलने वाली प्राणवायु मातरिश्वा कहलाती है। विना इस वायु के कोई ऊर्ध्वरेत हो ही नहीं सकता। स्वाधिष्ठान स्थान दक्षिण है, मस्तिष्क उदीची दिशा है। स्वाधिष्ठान ही वीर्य का क्षेत्र है। वहां से प्राण जब मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होता है तभी पुरुष ऊर्ध्वरेता होता है।

स्वाधिष्ठान प्रदेश में जलतत्व प्रधान है। वीर्य या रेत भी जल का ही रूप है। ऐतरेय उपनिषद् में लिखा है:—

आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

अर्थात् जल रेत रूप में स्वाधिष्ठान चक्र में रहते हैं। यहीं से ये शरीर में व्याप्त होकर उसे पुष्ट करते हैं। जिस हिरण्य को हम बांधना चाहते हैं उसे ऋषि ने जलों का तेज, ज्योति, ओज और बल कहा है। जल ही रस हैं। रसों में अग्रणी रस रेत ही है। सब वनस्पतियों के वीर्य भी हिरण्य रूप ही हैं। स्थूल अन्न से ही रस उत्पन्न होता है। पुनः उसीके क्रमशः परिपाक होने से रेत बनता है।

प्रत्येक मास, ऋतु, अयन और संवत्सर से पिंड और ब्रह्माण्ड के अन्दर से प्राण रूपी रस का नये नये प्रकार से क्षरण होता है। शरीर के भीतर बाल्य, यौवन और जरा में विचित्र विचित्र रस अपने समय से उत्पन्न होते हैं। उनको विधिपूर्वक शरीर में ही पूर्ण कर लेने से आयुष्य की वृद्धि होती है। इसी प्रकार वसन्त, ग्रीष्म और शरद में, तथा कृष्ण और शुक्ल पक्षों के ह्रास-वृद्धि क्रम में ओषधि वनस्पतियों में अनेक रसों का प्रादुर्भाव होता है। उनसे वनस्पति पुष्ट होती हैं। वे रस हमारे लिए तभी अनुकूल हो सकते हैं जब हम हिरण्य की रक्षा करते हैं। इन्द्र और अग्नि सात्विक प्राणापान के नाम हैं। वे हमारे लिये हिरण्य-रक्षा की अनुमति देवें॥

वेदार्थ-क्रान्तिकर्त्ता ऋषि दयानन्द

[ले०—वैदिक जिज्ञासु]
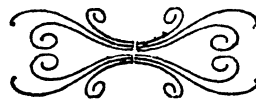
वेद प्रभु की पवित्र वाणी है जो आदि सृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भांति उन के कर्मों की यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ, तदनुसार आचरण करने के लिये परम पवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई। भावी कल्प कल्पान्तरों में भी यही 'वाणी' इसी प्रकार सदा प्रादुर्भूत होगी। यह किसी व्यक्तिविशेष या व्यक्ति विशेषों की कृति नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है इस में किसी प्रकार न्यूनाधिकता नहीं हो सकती।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥

'धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥ ऋ० म० १०। सू० १९०। १,२

समग्र संसार तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान यह सब विधाता की यथापूर्व कृति है।

यह सार और निचोड़ मानव जाति के प्राण वेद के सम्बन्ध में आजतक के समस्त ऋषिमुनियों की धारणा का, जिस से उन्होंने वेदाङ्गों और उपाङ्गों में एक मत होकर दर्शाया।

सत्य के देवता आप्त: अर्थात् यथार्थवक्ता ऋषि दयानन्द ने भी समस्त ऋषि मुनिसम्मत इस धारणा को अपने जीवनकाल में उपदेश द्वारा तत्पश्चात् अपने ग्रन्थों की एक २ पंक्ति द्वारा दर्शाया, यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से वैदिक धर्मियों ने इस धारणा को स्वीकार किया और इस के पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेदार्थ का यह स्वरूप सम्प्रदायवाद तथा तत् समय के रुढ़िवादों के आवर्त्त (भँवर) यद्वा काली घटाओं में शताब्दियों तक छिपा रहा। किसी भी निष्पक्षपात जिज्ञासु को वेदार्थ का शुद्ध स्वरूप जानना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव तक होरहा था। जिस प्रकार वर्त्तमान में भगवदगीता के भाष्य और टीकायें सम्प्रदायवाद की छाया में लगभग सौ प्रकार की और वे भी परस्पर-विरुद्ध मिल रही हैं। किसी सत्यान्वेषी जिज्ञासु को सम्प्रदायवाद के इस भंवर में सत्य का शुद्ध स्वरूप भला कभी भी प्रतीत हो सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार वेद का शुद्ध स्वरूप भी सर्वथा लुप्त था।

ऐसी भयङ्कर परिस्थिति में वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक परिश्रम करना पड़ा और वह भी इस अवस्था में जब वेद का पठन-पाठन लुप्तप्राय: ही हो रहा था। इसको प्रत्येक तत्त्वदर्शी पक्षपातरहित अनुभव कर सकता है। मैं तो उस भयङ्कर तूफ़ान का ध्यान करके स्तब्ध हो जाता हूं जब ऋषि दयानन्द को शास्त्र सम्बन्धी इन विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, सब शास्त्रकारों के नाम पर परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविध वादों मतमतान्तरों का तो कहना ही क्या है इस सब तूफ़ान में चट्टान के समान अविचलित पाता हूं। वे अपने को केवल सम्भाले रहे इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्पर विरुद्ध रुढ़ियों और वादों के विरुद्ध घोषणा करदी कि वेद "प्रभु की वाणी"

'नित्य' और "स्वतः प्रमाण" है इस में किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास नहीं। ऋषि दयानन्द की इस धारणा को मानने से वैदिक विद्वान् कहलाने वाले महानुभाव अबतक हिचकिचाते (ननु नच करते) हैं। योरोपियन स्कालर स्वामीजी के वेदार्थ को 'Interpretation of his own imagine.' मनमानी कल्पना कहते रहे। ऐसे लोगों के सामने अबतक केवल सायणाचार्य का ही वेदार्थ था जैसा कि ऋषि मुनियों के अनुगामी कहलाने वाले पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि भारतीय विद्वानों ने तथा मोनियर विलियम आदि स्कालरों ने स्वामीजी के वेदार्थ और वेदसम्बन्धी धारणा पर खिल्ली उड़ाने का यत्न किया। उन्होंने लिखा :—कि "अग्निमीडे पुरोहितम्" इसके भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है जब कि प्रसिद्ध अर्थ आग के अतिरिक्त दूसरा कोई अर्थ नहीं होसकता तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इस विषय में साक्षी वर्त्तमान है। स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि का प्रमाण मानते हैं। परन्तु क्या यह भाष्यादि अग्नि शब्द के परमेश्वर के अर्थों को पुष्टि कर सकते हैं अर्थात् कभी नहीं क्योंकि जो २ शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं उन में अग्नि शब्द का नाम भी नहीं। (देखो भ्रान्ति निवारण पृ० ६) खैर कुछ भी हो परन्तु अग्नि शब्द से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता (पृ० २०)

इसी प्रकार मोनियर विलियम (Monior William) आदि ने सायण के आधार पर लिखा है कि अग्नि, सूर्य्य, इन्द्र आदि शब्द भौतिक पदार्थों के ही वाचक हैं ईश्वर के वाचक ये शब्द कभी नहीं होसकते इत्यादि२

श्री स्वामीजी महाराज ने न केवल "अग्निमीडे पुरोहितम्" में आये अग्नि शब्द का ही अर्थ परमेश्वर किया किन्तु युक्ति-प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण वेद में आये अग्नि इन्द्र सूर्य्य शब्दों का परमेश्वर अर्थ किया है।

वेद मन्त्रों का अर्थ जहां अधियाज्ञिक होता है वहां आध्यात्मिक, आधिदैविक (नैरुक्त) प्रक्रिया के आधार पर भी अर्थ करना होता। है अर्थात् 'अग्निमीडे से परमात्मा तथा विद्वान् का भी ग्रहण करना होगा।

सायणाचार्य से प्राचीन वेद-भाष्यकार

अब जब कि सायणाचार्य से प्राचीन अनेक वेद भाष्यकारों का पता लग गया है और लगभग २०-२२ वेदभाष्य तो मिल रहे हैं यथा स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वेङ्कट माधव, आत्मानन्द, देव स्वामी, मुद्गल, हरिस्वामी, आनन्द बोध, देव याज्ञिक, देवपाल, भवस्वामी, भट्टभास्कर, भरतस्वामी इत्यादि सायण से प्राचीन इन आचार्यों के वेद भाष्य हस्तलेख Manuscript रूप में मिल रहे हैं तथा हस्तामलकादि लगभग १०० वेद भाष्यकारों का पता लग रहा है ऐसी अवस्था में सायण को ही वेद का प्रामाणिक भाष्यकार मानना नितान्त भूल है।

हम विस्तार भय से केवल एक ही वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी जो कि सायण से लगभग ९०० वर्ष प्राचीन है उसका मत विज्ञ पाठकों के सम्मुख अति संक्षेप से रखते हैं:—

सायणाचार्य ने यज्ञप्रक्रिया से पराहत होकर मन्त्रों के केवल तात्कालिक याज्ञिक अर्थ ही दर्शाया है। आचार्य दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका (पृ० ३६३) प्रतिज्ञा विषय में—

"अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्व-

चोरर्थयोः श्लेषाद्भूतावीनां सप्रमाणं सम्भवोऽस्ति तस्य द्वौ द्व्यर्थौ विधास्येते परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे ऽत्यन्तं त्यागो भवति" ॥

अर्थात्—मन्त्रों के आध्यात्मिक आधिदैविक आधियाज्ञिक अर्थ होते हैं, परन्तु साथ ही परमेश्वर का त्याग किसी मन्त्र में भी नहीं हो सकता।

वेदार्थ में क्रान्ति

आचार्य्य दयानन्द की वेदार्थ में इस क्रान्ति को लोग मनमाना बतलाते रहे। अनार्ष ग्रन्थों से पराहत लोगों को आर्ष ज्योति का प्रकाश हो ही कैसे सकता है। महापुरुषों की बातों पर संसार सदा से हँसी उड़ाता चला आया है। यह कोई नई बात नहीं। महात्मा बुद्ध, जगद्-गुरु शङ्कराचार्य्य भट्ट कुमारिल तथा गुरु नानकदेवादि महापुरुष सभी अपने काल में संसार के उपहासभाजन बनते रहे। वर्तमान में भी वीतराग तपस्वी महात्मा गान्धी के सिद्धान्तों पर उपहास करने वालों की भारत में कमी नहीं।

तदनुसार आचार्य्य दयानन्द ने भी सत्य के सामने संसार की कुछ भी परवाह नहीं की। आत्मा में जैसा कुछ भान हुआ सर्वलोक हितार्थ संसार के संमुख रख दिया।

अब आचार्य्य दयानन्द के उपर्युक्त सिद्धान्त तथा लेख की पुष्टि में हम सायण से लगभग सहस्र वर्ष प्राचीन आचार्य्य स्कन्द स्वामी का लेख पक्षपात रहित विज्ञविद्वानों की सेवा में उपस्थित करते हैं देखो निरुक्तभाष्य स्कन्दस्वामी (यह ग्रन्थ पञ्जाब यूनिवर्सिटी की ओर से छप रहा है। ले०)

"नहि देवतायाः संख्यादि शिष्टस्तुतिमन्त्रावधारणे किञ्चित्प्रमाणमस्ति, ऋते मन्त्रार्थवादलिङ्गात्। दर्शनभेदः परस्परोपरोध्यध्यात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकानाम्। अनेक जन्मान्तराभ्यासवासनापरिपाकवशात् प्रतिभानव्यवस्था द्रष्टव्या।

तत्राध्यात्मविदस्तावत् जन्मान्तरनिबद्धबुद्धयः, शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो, भिन्नविषयमवसंक्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिरसमाधयो, निरस्तसमस्ताधयो, निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरणवृत्तयो, निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमनना..........आत्मैकत्वेन नान्यं पश्यन्ति न शृण्वन्ति..........।

नैरुक्ता अपि—अग्न्यादिभ्यस्तेभ्योऽन्यं न पश्यन्ति....।

याज्ञिका अपि—तेन तेन फलेन....शब्द व्यतिरिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति.......।

शुद्धयाज्ञिका अपि—शब्दव्यतिरिक्तमितिहासपुराणप्रसिद्धां "तुविग्रीवा" (ऋ० ४-२-१२) इत्यादिमन्त्रप्रत्यायितरूपां जानते स्तुवते ध्यायन्ति वेति....।

सर्वदर्शनेषु च सर्वेमन्त्रा योजनीयाः। कुतः। भाष्यकारेण (यास्केन) सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य दर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" (निरू० १-२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात् ॥

पाठकों के लाभार्थ हम उपर्युक्त लेख का भाव भाषा में दिये देते हैं।

"दर्शन भेद (अध्यात्मादि भिन्न २ दृष्टियों से वेद मन्त्रों का अर्थ करना) परस्पर विरोधी आध्यात्मिक नैरुक्त-याज्ञिक प्रक्रियाओं के मानने वाले विद्वानों के जन्म-जन्मान्तरों के अभ्यास तथा वासना के परिपाक के कारण होता है। इसी से मन्त्रों के भिन्न २ अर्थों का प्रतिभान होता है।

इन (भिन्न २ प्रक्रियावालों) में अध्यात्म प्रक्रिया वाले आचार्य्य निम्न गुणों से युक्त होते हैं—वे संसार के समस्त पदार्थों के वेत्ता, जिनकी कर्मग्रन्थियां

शिथिल हो चुकी हों। जिनकी बुद्धियां अभ्यास और वैराग्य द्वारा विविध विषयरूपी संसार चक्रों से मुक्त हों, जिनकी समस्त आशायें तथा एषणायें नष्ट हो चुकी हों। जिन्होंने अपनी अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों को निरुद्ध कर लिया हो...इत्यादि २। ऐसे लोग वेद के मन्त्रों में एक आत्मा (परमात्मा) से अतिरिक्त अर्थ नहीं देखते न सुनते हैं।

नैरुक्त लोग भी अग्न्यादि से अतिरिक्त न किसी को देखते हैं न सुनते हैं।

याज्ञिक भी —उस फल से युक्त शब्द से भिन्न देवता को न देखते हैं और न सुनते हैं॥

शुद्ध याज्ञिक भी................।

वेद के प्रत्येक मन्त्र का सब प्रक्रियाओं में अर्थ

"वेद के सब मंत्रों की दर्शन (सब प्रक्रियाओं-अध्यात्मादि) में योजना करलेनी चाहिये। क्योंकि स्वयं महर्षि यास्क ने 'अर्थं वाचः पुष्प फलमाह' (निरुक्त १-२०) से यज्ञादि को पुष्प फलरूप से बताते हुए यह दर्शाया है कि सब मंत्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है"

इस लेख, का अभिप्राय यही है कि अध्यात्म नैरुक्त, याज्ञिक, शुद्ध याज्ञिकादि दर्शनों (पक्षों) के अनुसार प्रत्येक वेद मन्त्र का अर्थ करना चाहिये। यह सिद्धान्त भाष्यकार—(निरुक्तकार) यास्क मुनि का है।

स्कन्द का यह लेख यास्क की साक्षी देता हुआ वैदिक संसार में एक अपूर्व क्रान्ति का द्योतक है। यह बात विज्ञ वैदिक विद्वान् निष्पक्षपात भाव से विचारें और देखें कि बीसवीं शताब्दी में **स्वामी दयानन्द वेदार्थ-क्रान्तिकर्त्ता हैं या नहीं।**

इस से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि यास्क और आचार्य्यस्कन्द स्वामी शतपथादि ब्राह्मणों में तत् २ वेद के किये गये अर्थों की संगति एकांशिक (अर्थात् केवल याज्ञिक ही मानते हैं) इसीलिये आचार्य्य दयानन्द ने भी शतपथादि में किये गये अर्थों को याज्ञिकप्रक्रिया परक ही बतलाया है (देखो ऋ० भा० भू० पृ० ३६२॥)

सार यह निकला कि सायणादि का सम्पूर्ण वेदार्थ यास्क की प्रक्रिया से विपरीत होने से अमाननीय है। यद्वा याज्ञिक प्रक्रिया में भी केवल जितना ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुकूल है वह वेदानुकूल होने से ठीक है, शेष नहीं॥

सूर्य के प्रकाश की भाँति यह बात स्पष्ट है कि सायणाचार्य्यादि को वेद का यर्थाथ अर्थ का प्रतिभान नहीं हुआ।

तथा आचार्य्य दयानन्द तथा तदनुगामी विद्वानों का वेद के मन्त्रों का ब्रह्मपरक अर्थ करना अथवा करने का यत्न करना महर्षि यास्क के मत से ठीक है जिसको कि सायण से हजार वर्ष प्राचीन वेद भाष्यकारने दिखाया न कि किसी आर्य विद्वान् ने॥

मैं समझता हूं कि इस सचाई को समस्त भारतीय विद्वानों तथा योरोपियन स्कालरों को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लेना चाहिये। विचार भेद संसार में कोई बुरी बात नहीं परन्तु पता लगने पर सत्य का ग्रहण ही परमधर्म है क्योंकि "नहि सत्यात् परो धर्मः"॥

वरुण ! हमें सुन्दर वर दो

(ब्र० वेदव्रत त्रयोदश श्रेणी, गुरुकुल कांगड़ी)

१. मो षु वरुण ! मृण्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ १ ॥

सुन्दर धन हे वरुण ! छुड़ाओ,
यह मिट्टी का बन्धन है ।
अपने भग का भाग मुझे दो,
तुमको मेरा वन्दन है ।

२. यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ २ ॥

मैं मदमाता, ऐंठ दिखाता,
झूठा मान मिटा देना ।
सत्यसार ! हे शक्तिमूर्त्ति ! तुम,
अपने अङ्क उठा लेना ।

३. क्रत्वा समह दीनता, प्रतीपं जगमा शुचे ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ३ ॥

ब्रह्म ! पूज्य ! हे तेज ! वीर ! प्रिय !
बनूं नहीं मैं दीन कभी ।
तेरा अमृतकर सिर पर हो,
मैं फिर कैसे हीन कभी ?

४. अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ४ ॥

यह असार सुख भोग दीखते,
इस विशाल जगती तल में ।
हूँ अथाह जल बीच खड़ा, पर
तृषित प्यास से व्याकुल मैं ।
यह खारा जल है, है मुझको—
नहीं जरा भी इसकी चाह ।
तेरे अमृत का प्यासा हूँ—
कण्ठ सूखता है अब, आह !

हे मंगलघन ! आओ, करते,
अपने अमृत जल का सेक ।
मेरी तृषा मिटाओ हरलो—
छाया तम, दो ज्योति-विवेक ।

५. यत्किंचेदं वरुण ! दैव्ये जने
ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम,
मा नस्तस्मादेनसो देव ! रीरिषः ॥ ५ ॥

प्रियतम ! हमसे होजाती हैं,
कभी कभी, कुछ भारी भूल ।
तेरे सुन्दर नियम टूटते,
मानव है भूलों का मूल ।

सज्जन देवगणों से होता
है, व्यवहार कभी प्रतिकूल ।
हाथ जोड़ सम्मुख आये हैं
भूल हमारी जाओ भूल ।

प्रेम भरी आँखों के शीतल—
आँसू पाद्य बनें अनमोल ।
अक्षत, पुष्प-दीप, से बढ़कर
अर्घ्य हृदय है देखो खोल ।

यह स्वीकार करो मम अर्चन,
सखे ! वरुण ! शिव ! शंकर ! भगवन् !
मधुर-विश्व-वीणा की तारों,
का कुछ ऐसा करदो स्पन्दन ।

गूँजे हास्य, मिटे सब क्रन्दन,
टूटें सब, दुःखों के बन्धन ।
सुन्दर वर दो वरुण ! हमारा
तुमको है नतशिर-शतवन्दन ।

(१) ऋग्वेद ७वें मण्डल का ८९वां सूक्त वरुण सूक्त है । इसी सूक्त पर यह कविता है ।

दिग्विजयी दयानन्द

[ले०—श्री आचार्य रामदेवजी]

महर्षि स्वामी दयानन्द उन महापुरुषों में से हैं जिनका जन्म इस भारत-भूमि में समय २ पर हुआ है। अद्वितीय विद्वान् श्री शंकराचार्य की मृत्यु के अनन्तर ऐसा प्रतीत होता था कि यह—पुण्यभूमि महान् पुरुषों के उत्पन्न करने की क्षमता से रहित हो चुकी है, परन्तु ऋषि दयानन्द ने आकर इस भ्रान्ति को निर्मूल प्रमाणित किया। निःसन्देह यह वीरप्रसविनी भारतमाता आजतक अपने गर्भ से विश्व के पथ-प्रदर्शक-अग्रणी नेताओं को उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखती है।

भारतीय साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी को यह अच्छी तरह विदित है कि इस देश में महापुरुषों का जन्म एक विशेष सामाजिक नियम से नियमित है। इस नियम का अन्वेषण हम भारतवर्ष के इतिहास में स्थान २ पर कर सकते हैं।

जब आर्यावर्त्त में कोरे कर्मकाण्ड की घृणित प्रथाओं ने धार्मिक जीवन को हीनावस्था में पहुंचा दिया, जब यह देश निस्सार विधिवाद में पड़कर केवल बाह्यआचार के परिपालन में अपनी इति कर्त्तव्यता मानने लगा जब उपनिषद्, रामायण भगवद्गीता के महान् पवित्र उपदेशों का स्थान, जघन्य, स्वार्थ परायण तथा कुत्सित प्रणालियों तथा पद्धतियों ने ले लिया जब ब्राह्मण अपने उच्च वेदविहित कर्त्तव्यों को ताक में रख कर वैदिक आदर्शों पर कुल्हाड़ा चला कर वेद के नाम पर ही संसार को पथभ्रष्ट करने में अग्रसर हो गये और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" कह कर यज्ञों में निर्दोष, निरीह पशुओं का निर्दयता से वध करवाने लगे तब प्राचीन विलुप्त भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवन करने के लिये इस भारत-भूमि में महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ।

महात्मा बुद्ध अनीश्वरवादी अथवा वेदनिन्दक न थे। जैसा कि कई पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश अपना सिद्धान्त बना लिया है। वास्तव में जैसा कि आर्थर-लिली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "बुद्धिज़म इन क्रिस्टन्डम" के पृष्ठ ५७ पर उल्लेख किया है, बौद्धधर्म अन्य कोई नवीन धर्म न था अपितु केवल उत्कृष्ट ब्राह्मणों का निकृष्ट ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोहमात्र था। महात्मा बुद्ध ने स्वयं "सुत्त निपात" में इसी तथ्य का कथन किया है कि प्राचीन सत्य धर्म का पुनरुत्थान, पुनरुद्धार करना ही उनके प्रचार का उद्देश्य था। उनका ब्राह्मणों के सम्बन्ध में यह आदर-पूर्ण वचन "कि वे तपस्या से अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा संयमपूर्वक सदाचार का पालन करते थे एवं यज्ञों में पशुओं की बलि कदापि न देते। तथा प्राणिमात्र का उपकार करने वाले थे" इसी सत्य को प्रमाणित करता है महात्मा बुद्धदेव केवल विलुप्त धर्ममर्यादा को पुनः स्थापित करने के लिये इस संसार में उत्पन्न हुए थे। उनका अभिप्राय किसी नवीन मत या सम्प्रदाय को चलाने का कभी न था।

'युग्गसूत्त' में भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मोपासना का वर्णन किया है और अपने शिष्य वशिष्ठ को कहा है कि–मैं ब्रह्म को जानता हूं, उसके बनाये संसार को जानता हूं

महर्षि दयानन्द सरस्वती—पाखण्ड पताका उद्घाटन ।

तथा उस मार्ग को भी जानता हूँ जिस से उस ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।"

निस्सन्देह महात्मा बुद्ध ब्रह्मदर्शी थे, परन्तु साधारण जनता अज्ञान के अन्धकार में गहरी नींद सो रही थी। उन्हें अपने धर्म का लेशमात्र भी परिचय न था। सदाचार के सच्चे मार्ग से गिर कर सूखे तर्क तथा वितण्डावाद में सब कोई अपना समय नष्ट कर रहा था।

साधना के बिना धर्म का वास्तविक परिज्ञान उन से कोसों दूर था। वे दार्शनिक गम्भीर तत्त्वों पर गम्भीर विवाद करते थे। सूक्ष्म अध्यात्मवाद के गहन तथ्यों पर गवेषणा पूर्ण विचार करते थे। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों पर लम्बे २ व्याख्यान करते थे, परन्तु तत्कालीन पण्डितम्मन्य व्याख्याता परमात्म तत्व से उतने ही दूर थे जितने सांसारिक विलास-प्रिय मूर्ख लोग। महात्मा बुद्ध इन अविद्याग्रस्त मूढ़ पण्डितों पर दया-दृष्टि से देखते, और मन ही मन सोचते कि इन पथभ्रष्ट-अभिमानी कर्महीन नर एवं नारियों का कल्याण किस तरह हो सकेगा। अपने धर्म प्रचार के प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध ने प्राचीन ऋषियों की शैली का अनुसरण किया। उपनिषद्-काल में गुरु केवल योग्य जिज्ञासु शिष्य को ही ब्रह्म विद्या तथा योग-ज्ञान का उपदेश देते थे। बुद्ध ने भी सर्व प्रथम उन्हीं विशेष व्यक्तियों को अपने धर्म में दीक्षित किया जो सचमुच उस दीक्षा के अधिकारी हो सकते थे। वसिष्ठ सूत्र तथा मनुस्मृति में विद्या-दान उसी शिष्य के लिये उचित बतलाया गया है जो शुचि, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचारी तथा गुरु का सत्कार करने वाला हो। अभिप्राय यह है कि—भगवान् बुद्ध प्राचीन आचार्यों की शिक्षा-प्रणाली का सम्मान करते थे। और उसी को अपने धर्म-प्रचार में श्रेयस्कर मार्ग स्वीकार करते थे।

महात्मा बुद्ध ने अपने व्याख्यानों में दार्शनिक सूक्ष्मताओं को दूर रक्खा और केवल सदाचार मार्ग पर बल दिया। वे इस बात को अच्छी तरह अनुभव करते थे कि भारतवासी पापाचरण में लिप्त होने के कारण अधोगति के अन्धकारमय गर्त्त में गिरते जा रहे थे और उन्हें बचाने का केवल उपाय यही था कि धर्म के आचारसम्बन्धी स्वरूप को अच्छी तरह समझें तथा उसका पालन करें।

परन्तु महात्मा बुद्ध की दार्शनिक सूक्ष्मताओं को दूर रखने के कई दुष्परिणाम भी हुए। सब से बड़ा बुरा परिणाम यह हुआ कि लोगों ने दार्शनिक विषयों पर अपने मन-घड़न्त मन्तव्य निश्चित कर लिये और उन्हें महात्मा बुद्ध के नाम मढ़ दिया। जो कोई उठा उसने आत्मा, परमात्मा आदि अदृश्य तत्त्वों के सम्बन्ध में अपने वैयक्तिक विचार प्रकाशित किये और उन्हें बौद्धधर्म के सिद्धान्त के तौर पर प्रसिद्ध कर दिया। यहां केवल एकही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। महात्मा बुद्ध ने अपने सब लेखों तथा व्याख्यानों में कहीं भी आत्मा की सत्ता से इन्कार नहीं किया, परन्तु उसके अनुयायियों ने पीछे चलकर इस सिद्धान्त को बुद्ध का सिद्धान्त कह कर मशहूर कर दिया। श्रीमती राईस डेविड-जो बुद्ध-धर्म पर प्रामाणिक लेखिका हैं—ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि दार्शनिक क्षेत्र में महात्मा बुद्ध के मौन ने पीछे कई अनर्थ उत्पन्न किये हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने बीस वर्ष पूर्व ही इस सचाई पर अपने लेखों में प्रकाश डाला था।

इसमें अब तनिक भी सन्देह नहीं कि वर्त्तमान बौद्धधर्म वह असली बौद्धधर्म नहीं, जिसका प्रारम्भ महात्मा बुद्ध ने किया था। वर्त्तमान बौद्धधर्म तो भिक्षुओं तथा भिक्षु-सभाओं से परिवर्त्तित तथा परिवर्द्धित धर्म है। जिस प्रकार ईसाईधर्म अपने शुद्ध-स्वभाव से कलुषित होकर आज केवल गिरजाधर्म रह गया है, इसी प्रकार बौद्धधर्म भी अपने मौलिक स्वरूप को छोड़कर केवल भिक्षुधर्म में परिणत हो गया है।

शनैः २ इस कलुषित धर्म में नास्तिकता, संशयवाद, निराशावाद तथा शून्यवाद आदि प्रवृत्तियों ने प्रवेश किया। इनसे साधारण जनता में केवल व्यामोह मात्र उत्पन्न हो गया। वे सत्य-मार्ग का परित्याग कर के अन्धकार में भटकने लगे। कोई मूर्त्तियों की पूजा करने लगा, कोई अनात्म-वाद के चक्र में पड़कर परोपकार आदि सत्कर्मों को ढकोसलामात्र बतलाने लगा, कोई परलोक को केवल मिथ्याकल्पना कहने लगा — अभिप्राय यह है कि जिसको जो सूझा, उसी को बौद्ध धर्म का मन्तव्य कह कर अपने को तथा अन्य अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट करने लगा।

बौद्ध-धर्म की इन बढ़ती हुई प्रवृत्तियों ने देश की राजनैतिक उन्नति में अनेक बाधाएं उपस्थित कीं। मिथ्या भाग्यवाद और वैराग्यवाद ने भारतवासियों को अकर्मण्य बना दिया। वे अपने सब कार्यों में किस्मत वा दैव का हाथ देखते थे और स्वयं अध्यवसाय अथवा परिश्रम से कोई कार्य न करना चाहते थे। यही कारण है कि भारत का विशाल साम्राज्य जिसकी स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने की और जिसका संगठन सम्राट् अशोक ने किया, बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ २ ह्रास को प्राप्त हो गया। इस सम्राज्य का पुनरुत्थान तभी हो सका जब पुनः वैदिक-धर्म ने समुद्रगुप्त के समय में अपना सिर ऊंचा किया। बौद्ध धर्म तो प्रायः राजनैनिक अवनति का पर्य्याय शब्द प्रतीत होता है। जापान तथा चीन में शुद्ध बौद्ध धर्म का न होना ही उनकी राजनैतिक उन्नति का कारण है। तिब्बत इस सत्यता का दृष्टान्त है कि इस सुव्यवस्थित छोटे से देश ने प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुकूल होने पर भी केवल बौद्धधर्म की अकर्मण्यता के कारण राजनीति-मय जगत् में कोई प्रतिष्ठायोग्य स्थान प्राप्त नहीं किया है।

बौद्धधर्म की इन अकर्मण्य प्रवृत्तियों का प्रतिवाद शंकराचार्य ने आकर किया। इस अद्वितीय विद्वान् ने अपनी प्रचण्ड विद्वत्ता तथा तर्क से बौद्धधर्म को भारतवर्ष से इस तरह बाहर निकाल दिया कि आज उसका नामतक भी इस देशमें उपलब्ध नहीं होता परन्तु शंकराचार्य ने एक बड़ी भारी भूल की—उसने अपने प्रचार का आधार केवल शुष्क तर्क तथा आदर्शवाद रखा। धर्म के प्राण-स्वरूप अंग सदाचार पर अपने व्याख्यानों में कहीं निर्देश तक न किया। फलतः भारतवर्ष फिर दार्शनिक मीमांसाओं में व्यस्त हो गया। तथा धर्म के सच्चे तत्त्व से सर्वथा पराङ्मुख हो गया।

यदि संसार में सचमुच सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म हो तो संसार की दुष्प्रवृत्तियां तथा दुष्कर्म भी ब्रह्म ही होजांय। वे भी इसी तरह ब्रह्म का भाग हों जिस तरह संसार की सत्प्रवृत्तियां तथा सत्कर्म। इस तर्क के अनुसार कोई भी दुष्कर्म तथा पाप परिहेय नहीं समझा जा सकता क्योंकि वे भी ब्रह्म ही हैं। परिणाम स्वरूप मनुष्य का शुभ कर्मों के लिये प्रयास करना सर्वथा

निष्फल हो जाता है और संसार में सदाचरण का कोई भी मूल्य नहीं रहता।

शंकर के वेदान्त ने एक अन्य दुष्परिणाम उत्पन्न किया। बौद्धधर्म की तरह ब्रह्मवाद ने भी लोगों में अकर्मण्यता के भाव पैदा कर दिये। वे प्रयत्नशीलता से विमुख हो गये और आत्म-सन्तोष से अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इस दारिद्र्य ने देश को पुनः अवनति के गर्त्त में पहुंचा दिया। ब्रह्म-विजेता इस भारतभूमि पर आये और इन्हें अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित करने में तनिक भी कठिनाई न हुई, क्यों कि यहीं के निवासी राजनैतिक स्वतन्त्रता वा परतन्त्रता में विवेक करना ही भूल चुके थे।

भारतवर्ष की इन अन्धकारमय शताब्दियों में नानक, कबीर, रामदेव तथा चैतन्य सदृश सन्त महात्माओं ने जन्म लिया और समय २ पर भाग्यवाद में पतित भारतवासियों को पुनः वैदिक आदर्शों की तरफ़ लाने का प्रयत्न किया। यदि इन महान् व्यक्तियों का आविर्भाव ऐसे कठिन समय में न होता तो निश्चय ही भारतवर्ष इस्लाम के प्रचण्ड झंझावात से सर्वथा अस्तव्यस्त हो जाता और आर्य संस्कृति का नाम तक इस देश में उपलब्ध न होता।

परन्तु इन सन्तों की दिव्य वाणियों में भी एक कमी रह गई। इन वाणियों ने भूले भटकतों को सन्मार्ग दिखाया और हिन्दुधर्म को लुप्त होने से बचा लिया। साधारण जनता अपने धर्म का पुनः आदर करने लगी और दृढ़ता से अपने पूर्वजों की मर्यादा की पालना करने लगी। केवल कमी थी तो इतनी कि उन्हें इन वाणियों से अपने धर्म की दार्शनिकता का बोध न हुआ।

अब शनैः २ पाश्चात्य-सभ्यता का आक्रमण इस देश पर होने लगा। ईसाई पादरियों ने आकर इस देश में शिक्षणालय खोले और उनके द्वारा देश के नव युवकों पर ईसाईधर्म का प्रभाव डालना शुरु किया। पादरियों ने हिन्दुधर्म के नग्न स्वरूप को कोमलहृदय बालकों के सामने उपस्थित किया और बतलाया कि इस धर्म में कितनी कुरीतियां, दुराचार तथा असम्भव कल्पनाएं प्रवेश कर चुकी हैं। पुराणों की अविश्वसनीय कथाओं का उल्लेख करके उन्होंने हिन्दुधर्म को एक असम्भव धर्म प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। अबोध बालकों ने पादरियों की इन चेष्टाओं का मर्म न समझा। उनके सामने बाईबिल के "सर्मन ओन दी मौंट" के सुन्दर उपदेश रक्खे गये और ईसाईधर्म का उत्कृष्ट स्वरूप प्रदर्शित किया गया। अशिक्षित तथा शिक्षित नवयुवक धड़ाधड़ अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर के ईसाई धर्म में प्रविष्ट होने लगे। उन्हें स्वदेश की उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता जैसी पुस्तकों से घृणा होने लगी और "न्यू टेस्टेमेंट", की आयतों में अपना ध्यान लगाने लगे यदि इन अबोध नवयुवकों के सन्मुख ईसाई धर्म का पुराण अर्थात् 'ओल्ड टेस्टामेंट' रखा जाता तो निस्सन्देह इन्हें ईसाई धर्म से भी ग्लानि होती और अपने धर्मको छोड़ने का कोई विशेष कारण प्रतीत न होता, परन्तु ऐसा किस तरह होता। यह युग तो भ्रान्तियों और व्यामोह का युग था। लोग पथभ्रष्ट होकर अन्धकार में हाथ पैर मार रहे थे। कोई ज्योति मार्ग दिखाने वाली न थी। देश में सनातनधर्म का ह्रास दिनोंदिन होता जारहा था और इस ह्रास को रोकने वाला कोई प्रतीत न होता था।

परन्तु अन्धकार-मय रात्रि के बाद प्रकाशमय दिन का आना अनिवार्य होता है। शनैः २ शिक्षित समाज ईसाई धर्म के मर्म को समझा। ओल्ड टेस्टमेन्ट का परिचय भी क्रमशः बढ़ने लगा। ईसाई धर्म की पौराणिक कल्पनाएं हिन्दुधर्म की पौराणिक कल्पनाओं तथा गाथाओं से कहीं असम्भव तथा अविश्वसनीय थीं। अब लोगों को पता लगा कि नवीन धर्म की कहां तक स्वधर्म से उत्कृष्टता है। वे अपने किये पर पछताने लगे और शनैः २ पुनः अपनी सनातन मर्यादा से अनुराग दिखाने लगे। इस समय ब्रह्मसमाज ने जन्म लिया और भूले भटके नवयुवकों को फिर सन्मार्ग पर लाने का इसने आरम्भ में प्रशस्त प्रयत्न किया। परन्तु पीछे प्रवर्तक राजा राममोहनराय की आकांक्षाओं के विरुद्ध इस समाज ने अपनी प्रचार प्रणाली को परिवर्तित कर दिया और फलतः संशयवादिता तथा नास्तिकता ने ब्राह्मसमाज से दीक्षित नवयुवकों में प्रवेश कर लिया। पश्चिमीय प्रभाव में बहकर इस नवीन समाज ने प्राचीन आर्यसंस्कृति की रक्षा करना, अपना कर्तव्य न समझा और भारतीय आदर्शों को पुनः जीवित न किया। परिणामस्वरूप भारतवर्ष में इस धार्मिक संस्था का विशेष प्रचार न होसका।

इसी अस्तव्यस्तता में ब्राह्मण लोग अपनी मनमानी सिद्धि करने में तत्पर रहे। वे हिन्दुसमाज की रूढ़ियों की शृंखलाओं में जकड़ते जा रहे थे। पक्षपात के जटिल बन्धनों में उन्होंने सामाजिक शरीर को ऐसा बांध दिया था कि उसका आन्तरिक विकास सर्वथा रुक गया था। आंगल सभ्यता में शिक्षित नवयुवक भी इन्हीं ब्राह्मणों को अपना पुरोहित कहकर इनका अनुकरण कर रहे थे। वे मूर्त्ति-पूजन तथा प्रतिमाराधन में कोई विशेष आपत्ति न मानते और चुपचाप चलती रीतियों पर चलना ही अपना कर्तव्य मानते थे।

परन्तु समाज का अन्तरात्मा वास्तव में अत्यन्त पीड़ित था। उसमें अनन्त कोलाहल था। वह उन विचारधाराओं से तरङ्गित होरहा था, जिन का ज्ञान केवल अन्तर्मुख तत्ववेत्ताओं को था वा इस स्वरूप में सर्वथा शान्ति या निस्तब्धता ही थी, परन्तु यह नीरवता आने वाले तूफान की व्यञ्जकमात्र थी। प्रसिद्ध ऐतिहासिक जेम्सलयाल ने दूर दृष्टि से इस आने वाले तूफान को पहिचाना और आश्चर्य प्रकट किया कि जिस वैदिक धर्म को यूनानी तथा इस्लामी आक्रमण नष्ट न कर सके, उसकी इस युग में ऐसी हीनावस्था क्यों कर होसकती है। उसने भविष्य वाणी की, कि अवश्य कोई न कोई महापुरुष इस देश में जन्म लेने वाला है जो इस बढ़ती हुई धर्मग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान का प्रतिकार करेगा। जेम्सलयाल की यह भविष्य वाणी सत्य निकली इस देश में एक ऐसे दिव्य व्यक्ति ने जन्म लिया कि जिसने सोती हुई भारत जाति में हलचल मचादी, जिसके कारण उसे अपनी शताब्दियों की निद्रा से उठना ही पड़ा और भूले हुए सत्य सनातनधर्म का पुनः आश्रय लेना ही पड़ा।

एक उच्च ब्राह्मण कुल में बालक मूलशंकर का जन्म हुआ। वह संसार के मिथ्या सुखों से खिन्न होकर सच्चे आनन्द की गवेषणा में घर से बाहर निकल पड़ा। वह जंगलों में भटकता फिरा। उसे भूख, प्यास आदि अकथनीय व्यथाओं का सामना करना पड़ा, परन्तु वह वीर आगे ही बढ़ता चला

गया। "कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्।" की अविचल धारणा से वह अपनी लक्ष्यसाधना में निरन्तर एकदम भी पीछे वापिस न हटा। उसने गहन गुफाओं में जाकर सिद्ध महात्माओं के दर्शन किये उनसे शिक्षा ग्रहण की, परन्तु उसके वेदनाग्रस्त हृदय को शान्ति प्राप्त न हुई। सारा हिमालय छान डाला–एक भी सच्चा गुरु उसे प्राप्त न हुआ, जो उसके संशयापन्न चित्त को सन्तुष्ट कर सके। अन्त में दयामय प्रभु ने उस सच्चे अन्वेषक शिष्य को एक सच्चे गुरु से मिला ही दिया।

यह वृद्ध गुरु नेत्रहीन था। परन्तु वास्तव में प्रज्ञाचक्षु था। वह अपने एकान्त स्थान से सारे विश्व को देखता था—उसका हृदय भी सन्तप्त था। संसार के दुःख से दुःखी था। वह एक सच्चे शिष्य की तलाश में था, सच्चा शिष्य मिल गया। गुरु ने दिल खोल कर विद्यादान दिया। प्राचीन शास्त्रों के सब मर्म योग्य विद्यार्थी ने ग्रहण किये। उसे यथार्थ ज्ञान हुआ। हृदय के सब संशय, चित्त की सब शंकाएं निवृत्त हुईं। उसे अब पता चला कि ईश्वर का शुद्ध स्वरूप निराकार है। उसका प्रतिमाओं में आराधना करना सरासर मूर्खता है। उसकी सन्दिग्ध आत्मा को शान्ति प्राप्त हुई और अन्तःकरण में अनन्त आनन्द लहरें मारने लगा।

गुरु विरजानन्द अपने योग्य शिष्य से अनेक आशाएं कर रहे थे। वे अपने विद्याभण्डार का एक २ रत्न अपने प्रिय विद्यार्थी को अर्पण करते जाते थे। वे चाहते थे कि दयानन्द सच्ची विद्या का प्रचार करें और अन्धकार में भटकते हुए संसार को सन्मार्ग पर लायें। उस समय आर्यजाति पाश्चात्य जड़वाद तथा नास्तिकवाद में बहती चली जा रही थी। पश्चिम में धर्म का नाम निशान न बचा था। धन पूजा के पीछे पड़कर सब अपने आध्यात्मिक ध्येय से दूर हटते जा रहे थे। समाज में अव्यवस्था का राज्य था। धन के विषम विभाग के कारण देश में निर्धनता बढ़ती जा रही थी। पूंजीपतियों तथा श्रमियों के अन्तःकलह पाश्चात्य सभ्यता को संसार की आंखों में पतित तथा हीन कर रहे थे। तात्पर्य यह कि पूर्व तथा पश्चिम में सर्वत्र अधार्मिकता, पाप और अन्धकार का राज्य था। आवश्यकता थी कि ऐसे घोर समय में सन्तप्त आत्माओं को शान्त कर सन्देश पहुँचाया जाय। यह शान्ति का अमर उपदेश और कहां उपलब्ध हो सकता था? वैदिक पवित्र धर्म ही ऐसा था जहां संसार के सच्चे सुख का मार्ग प्रदर्शित किया गया था। परिव्राजक विरजानन्द इस बात को अच्छी तरह समझते थे और अपने दीक्षित शिष्य से यही आशा करते थे कि वह सत्यधर्म-प्रकाशन का पुण्य व्रत ग्रहण करें और जगत् के एक २ कोने में जाकर प्राचीन विलुप्त आर्यधर्म का सन्देश पहुँचाएं। शिक्षा काल समाप्त हुआ। समावर्तन संस्कार प्रारम्भ हुआ गुरुने अपने शिष्यों से दक्षिणा मांगी। तीन शिष्य और भी थे। केवल दयानन्द गुरु की मनोवाञ्छित दक्षिणा देने के लिये उद्यत हुआ। शेष तीनों ने अपनी असमर्थता प्रकाशित की। गुरु की इच्छा थी कि उसका एक २ शिष्य एक २ वेद लेकर एक एक दिशा में चल पड़ेगा और वैदिक धर्म की पवित्र गूंज संसार के कोने २ में पहुँचा देगा, परन्तु गुरु की इच्छा पूर्ण न हुई। तब दयानन्द ने अकेले खड़े होकर चतुर्दिक् में आजीवन वेद प्रचार का अविचल व्रत

धारण किया और आचार्य के चरणों पर स्पर्श करके जगत् के अन्धकार में प्रवेश किया।

दयानन्द अकेला था चारों तरफ धर्मान्धता की भी भीषण सेनायें शस्त्रों से सुसज्जित खड़ी थीं। आग के गोले बरस रहे थे। पाप और अन्धविश्वास, रूढ़ियों भ्रान्तियों तथा कुप्रथाओं की फौज के साथ अधर्म-गढ़ की रक्षा कर रहे थे कि कोई विद्रोही उसमें प्रवेश न कर जाए। धन का सारा प्रताप दयानन्द के विरुद्ध था शारीरिक शक्ति का प्रयोग स्वयं दयानन्द उचित न मानता था। धर्मप्रचार में बलात्कार उसे सर्वथा अभीष्ट न था। वह आत्मिक प्रचण्डता से कट्टरता का अधःपतन करना चाहता था। दयानन्द को अपने ध्येय में आशातीत सफलता हुई। वह युद्ध में विजयी रहा। जहां गया वहां कठोर सांमुख्य किया। धर्मान्धता के गढ़ में पहुंच कर आह्वान किया। वह अकेला था अनन्त सेना में केवल ईश्वर सहायक था। बड़े २ दिग्गज पण्डितों ने शास्त्रार्थ किये परन्तु दयानन्द की प्रचण्ड विद्वत्ता के सामने उन्हें अपना सिर नीचा करना पड़ा। उसकी धुरन्धरता की धाक सारे आर्यावर्त्त में बैठ गई। उसकी शास्त्र-कुशलता का लोहा सारा भारत वर्ष मानने लगा। वैदिक धर्म का प्रचार बढ़ता चला गया। आर्यसमाज एक जीवित संस्था स्थापित होगई। देश में इस संस्था ने अपनी प्रबल सत्ता कायम करली। स्थान २ पर इसकी धूम मच गई तथा इस का प्रवर्तक महर्षि दयानन्द संसार के कोने २ में विख्यात हो गया। केवल १९ वर्ष के छोटे से काल में आर्यसमाज को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि तत्कालीन प्रमुख दैनिक पत्र "पायोनिअर" को ऋषि की मृत्यु के समय में लिखना पड़ा कि संसार के धार्मिक इतिहास में आर्य समाज ने बहुत ही पूर्व सर्व स्वीकृत स्थान प्राप्त कर लिया था।

इतनी सफलता महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन काल में ही प्राप्त करली थी। समस्त विश्व के लिये वह एक अमर सन्देश लेकर आया था। यद्यपि महापुरुष भौतिक दृष्टि से हम लोगों से अलग हो गया तथापि उसकी आत्मा आजतक जगत् में जीवित है और अबतक संसार निवासियों के कल्याण पथ का प्रदर्शन कर रही है। पण्डित विशननारायण पर जो १९१२ में राष्ट्रीय महासभाके सभापति निर्वाचित हुए, के निम्न ऐतिहासिक वचन इस विषय में विशेष उल्लेख योग्य है।

"बंगाल ने राजाराम मोहनराय जैसा अन्य कोई पुरुष पैदा नहीं किया। यद्यपि केशवचन्द्र सेन पीछे उत्पन्न हुए जिनकी धार्मिक ज्योति से सैंकड़ों नरनारियों ने आत्मिक लाभ प्राप्त किया तथापि पूर्व महापुरुष अपने में अद्वितीय था, परन्तु उत्तरीय भारत के एक अन्य अप्रतिम व्यक्ति का जन्म हुआ, जिसका यदि असामयिक अन्त न होता तो निश्चय मृतप्रायः हिन्दु धर्म में एक लम्बे काल के लिये पुनः नवीन जीवन का संचार हो जाता। भिन्न २ विचारक उसके दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद रखते हैं, परन्तु इस विषय में सब एकमत हैं कि उसके धार्मिक उपदेशों तथा क्रियात्मक जीवन ने हिन्दु सभ्यता पर गहरा प्रभाव डाला है। वेदों की जातीयता को पुनर्जीवित करके इस महापुरुष ने हिन्दुसमाज में नवीन रक्त का संचार कर दिया है। आर्यसमाज एक अंश में ब्राह्मसमाज से अधिक सफल तथा महान् समाज है। इसके आदर्श जातीय हैं। इसके सुधारों का उद्देश्य

साधारण जनता का उपकार करना है। अतः स्वामी दयानन्द इस युग के अद्वितीय मालिक सुधारक हैं—जिन्होंने पाश्चात्य प्रभावों से कुछ भी ग्रहण नहीं किया। प्रत्युत प्राच्य आदर्शों को ही पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है। उत्तरीय भारतवर्ष में विशेषतः पंजाब और राजपूताना में यदि हिन्दु आंगलभाषा का एक शब्द भी न जानते हुए मूर्ति-पूजन का विरोध करते हैं तथा जन्मानुसार वर्णव्यवस्था पर विश्वास नहीं करते तो यह महर्षि दयानन्द का ही एकमात्र प्रभाव है। यदि इन प्रान्तों के निवासी, आज अपनी प्राचीन संस्कृति का गौरव करते हैं अर्वाचीन कुरीतियों तथा कुप्रथाओं में श्रद्धा नहीं रखते, यदि वे विधवा-विवाह, स्त्रीशिक्षा, समुद्रयात्रा आदि विषयों पर उदारता से अधिक विचार सकते हैं, यदि उनमें आगे से अधिक संगठन शक्ति है। यदि उनमें जातीयता के भाव कूट २ कर भरे हुए हैं, यदि वे राजनैतिक जागृति में अग्रसर होकर जारहे हैं तो इन सब का श्रेय केवल अप्रतिम नायक महर्षि दयानन्द को ही है। संसार के अन्य महापुरुषों की तरह इस महापुरुष को भी अपने विचारों की नूतनता के लिये अकथनीय संकट उठाने पड़े। देश की कट्टरता ने इसका स्थान २ पर विरोध किया, परन्तु यह महान् सुधारक आगे ही बढ़ता गया। और उसने निन्दा वा स्तुति अपमान वा सन्मान की तनिक भी पर्वाह न की। यही कारण है कि महर्षि का कार्य इस देश में सम्पन्न हुआ—उसका ध्येय सम्पूर्ण हुआ। निःसन्देह सत्य की विजय होती है और भारत वर्ष में दयानन्द का सत्यधर्म सदा विजयी हो रहा।

हां, दयानन्द का सत्य-धर्म विजयी रहा। दयानन्द अर्वाचीन भारत का निर्माता है, वह आधुनिक नवीन युग का प्रवर्त्तक है। उसकी महान् आत्मा वर्तमान राष्ट्रनायकों तथा सुधारकों से वे कार्य करा रही है जो वह स्वयं भौतिक शरीर के साथ ५० वर्ष पूर्व करती थी।

दयानन्द सर्व प्रथम था, जिसने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली अथवा शिक्षा में आश्रमपद्धति का समर्थन किया है। आज संस्था के समस्त शिक्षाविज्ञ इसी आश्रमपद्धति को आदर्श शिक्षा प्रणाली बताते हैं। ऋषि दयानन्द ने २५ वर्ष तक विद्यार्थियों के लिये ब्रह्मचर्यपालन का उपदेश किया। आज बड़ौदा, मैसूर आदि उन्नतिशील रियासतों तथा बृटिश भारतवर्ष में भी बाल्यविवाह के विरुद्ध कानून पास किये गये हैं।

महर्षि ने अपने जीवन से शुद्ध स्वदेशी व्रत का प्रचार किया और समकालीन राजाओं महाराजाओं को देश भक्ति के भावों का उपदेश किया। आज राष्ट्रीय महासभा सचमुच उसी दूरद्रष्टा ऋषि के पदचिन्हों पर चल रही है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सत्यार्थप्रकाश" में स्वामी दयानन्द ने निःशुल्क बाधित शिक्षा का समर्थन किया। इस आशय को स्वनामधन्य देशसेवक गोखले ने अपनाया और आज उनके आन्दोलन द्वारा निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा, भारतीय सरकार की स्वीकृत नीति बन चुकी है।

ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य प्रणाली भी निस्सन्देह क्रान्तिकारी थी। पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रणाली को पहिले तो अप्राकृतिक, असम्भव तथा बेहूदा बतलाया, परन्तु उन्होंने पीछे जाकर, उसकी वैज्ञानिकता तथा सतर्कता को स्वीकार किया। स्वामी

दयानन्द सर्वप्रथम भाष्यकार थे, जिन्होंने वेदों को सब सत्य विद्याओं का आदि स्रोत घोषित किया और उनमें आधुनिक विज्ञान के बीजों को प्रदर्शित किया। यह स्थापना सचमुच नवीन थी और पूर्व तथा पश्चिम के सब विचारकों ने इसे सर्वथा निराधार कहकर टाल दिया। परन्तु शनैः २ इस स्थापना ने अपना स्थान प्राप्त किया और आज अनेक विद्वान् ऐसे हैं जो एकमत महर्षि के साथ हैं कि वेदों में वैज्ञानिक तत्वों का होना सम्भव ही नहीं आवश्यक भी है। लेखक अनेक विद्वानों की सम्ममियों में से केवल चार सम्मतियां नीचे उद्धृत करता हैं।

विद्वान् लेखक श्री परमशिव एयर का अपनी पुस्तक 'ऋक्' में कथन है। वैदिक तथा ब्राह्मणसाहित्य की पूर्ण तथा निश्चित मीमांसा के लिये आवश्यक है कि मीमांसक, तीव्रबुद्धि, वैज्ञानिक विवेचना, एवं भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, कृषि विज्ञान, ज्योतिष तथा अन्य पर्वतविद्या आदि के क्रियात्मक तथा सैद्धान्तिक विशेष ज्ञान से सर्वथा परिचित हो। इन विज्ञानों की सहायता के बिना उक्त साहित्य का समझना संभव नहीं।

श्रीयुत मोजी एम० ए० अपनी कृति Vedic Father of Geology."—में लिखते हैं।

"मैं स्वीकार करता हूं कि भूगर्भविज्ञान के सम्बन्ध में कोई विशेष पुस्तक ऐसी उपलब्ध नहीं होती जिससे हमें यह पता लग सके कि प्राचीन समय में इस विज्ञान का पर्याप्त परिचय था। परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी, ऐसी साक्षियां तथा संकेत पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं, जो भारतीय साहित्य में विशेषतया वेदों में यत्र तत्र बिखरे हुए पड़े हैं, जिनसे यह स्पष्टतया विदित होता है कि प्राचीनकाल के वैदिक ऋषि भूगर्भ विद्या का गम्भीर ज्ञान रखते थे।"

श्रीयुत अरबिन्द घोष प्रसिद्ध पत्रिका "आर्य" में निम्न विचार प्रकट करते है:—"प्राचीन भारतीय संस्कृति में कितने ही वैज्ञानिक तत्व अन्तर्हित थे। उन में से कुछ तत्वों को आधुनिक विज्ञान द्वारा, पुनराविर्भाव तथा विस्तार किया गया है परन्तु ऐसे कई मर्म अब तक अन्धकार में अन्तर्लीन हैं जिनको प्रकाश में नहीं लाया जा सका। अतः महर्षि दयानन्द की इस स्थापना में कोई विचित्रता नहीं कि वेदों में सब वैज्ञानिक सत्य अन्तर्निहित हैं। मेरा अपना भी निश्चित विश्वास है कि वेदों के गर्भ में ऐसे कितने ही वैज्ञानिक रहस्य छिपे हुए हैं, जिनका ज्ञान अर्वाचीन जगत्को बिलकुल नहीं। मेरी सम्मति में दयानन्द ने अत्युक्ति ही नहीं कि प्रत्युत न्यूनोक्ति की है कि वेदों में सब सत्य विद्याओं के बीज विद्यमान है।" अन्तिम उद्धरण प्रो० भीमचन्द्र चटर्जी का है। उनका कथन अपनी पुस्तक "Economic Botany of India" में इस तरह से है कि—प्राचीन वैदिक ऋषियों को Photo syn theris का ज्ञान था और वे जानते थे कि प्रकाश किरणों का वनस्पति जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है।

प्रसिद्ध विद्वान् विनयकुमार सरकार का भी यही मन्तव्य है कि प्राचीन वैदिक ऋषि, इस वैज्ञानिक तत्व को अच्छी तरह समझते थे कि सूर्य समस्त शक्तियों का केन्द्र है और उसी प्रकाश स्रोत से वनस्पति जगत् में अग्नि का प्रसुप्त समावेश होता है, जिसका प्रादुर्भाव ज्वालारूप में कभी २ हो जाता है।

यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों का

प्रचार समस्त शिक्षित संसार में होता चला जारहा है। मनुष्य जाति का इतिहास १९ वीं शताब्दी के इस महान् विचारक के विचारों से स्पष्टतया प्रभावित हो रहा है। दयानन्द वह अप्रतिमशक्ति था जिसका प्रबल प्रवाह जगत् की सब मलीनताओं को दूर कररहा है। आर्य समाज सफल हो या न हो परन्तु वैदिक धर्म अवश्य सफल होकर रहेगा। दयानन्द को प्राचीन वैदिकआदर्शों का पुनर्जीवन अभीष्ट था। आज, सारा सभ्य संसार उन्हीं आदर्शों का अनुकरण कर रहा है। इसी में दयानन्द की विजय है-इसी से वैदिक धर्म की विजय है। संस्थाएं उत्पन्न होंगी और मिट जाएँगी-परन्तु दयानन्द का वैदिक सन्देश अमर रहेगा और उसके साथ दयानन्द का नाम भी सृष्टि के इतिहास में सदा के लिये अमर रहेगा।

भिखारी

[ले० —ब्र० सोमदेवजी एकादश श्रेणी गुरुकुल कांगड़ी]

करुण कलाविद ए! भिक्षुक,
तुम किसे रिझाने के उपचार।
किये हुए बैठे हो थल पर
निर्धन अपने हाथ पसार॥ १॥

वस्त्र हैं खण्डित धू में मण्डित
नए नए सज साज।
कहां रह गई, क्या अतीत में-
वसुधा सुखदा आज॥ २॥

पुत्र कलत्र सुहृदबन्धु का
तज कर सब आनन्द।
आस लगाए किसकी बैठे
करते हो आक्रन्द॥ ३॥

क्या न तुम्हें है ज्ञात कि
इतना निष्ठुर है संसार।
भेंट रूप में तुमको देने
अश्रु-विन्दु दो चार॥ ४॥

हाय न देखा जाना मुझसे
अब तेरा यह सकरुण वेष।
कुछ देने की अभिलाषा है,
लूट लिया पर स्नेह अशेष॥ ५॥

अब भी खड़े हुए हो बनकर
पत्थर से तुम मेरे द्वार।
मूक हुए मानो कहते हो
[illegible] हीन है यह संसार॥ ६॥

प्राकृतिक उन्नति और वेद

[ले०—श्री परमानन्दजी B. A. महोपदेशक]

आजकल नवयुवकों में धर्म्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो रही है। प्रायः समझा यह जाता है कि धर्म्म ऐहिक उन्नति में बाधक है। यह विचार सर्वथा निमूर्ल हो, सो बात नहीं है। भारतवर्ष में इस समय धर्म्म साम्प्रदायिकता का दूसरा नाम है। यह साम्प्रदायिकता राष्ट्रनिर्माण अथवा देशोन्नति में भारी बाधा है यह कौन नहीं मानेगा इसी प्रकार आज हिन्दु मुसलमानों के आपसी आए दिन के कलह भी नवयुवकों को अधीर कर देते हैं। दूसरी ओर ऐसे भी मतमतान्तर हैं जिनमें ऐहिकोन्नति को कोई स्थान नहीं। कई धर्मों (?) ने निर्धनता को पुण्य मानकर धन-सम्पत्तिमत्ता की निंदा की है। एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो संसार को ही मिथ्या बताता है जब संसार मिथ्या है तो ऐहिकोन्नति आदि सब स्वप्न हैं और अनावश्यक हैं। बस ऐसे विकृत अधूरे वादों के कारण धर्म से युवकों को अश्रद्धा हुई। यह मान लिया गया कि प्राकृतिकोन्नति और धर्म में नैसर्गिक विरोध है आज प्रायः लोग यह कहते सुने जाते हैं कि यह प्रकृतिपूजा का युग है। इसमें धर्म का क्या काम? परन्तु वह भूल जाते हैं कि धर्म ने ही प्रकृति का सच्चा उपभोग करना सिखाया है। धर्म अभ्युदय (ऐहिक प्राकृतिकोन्नति) का मार्ग खोलता है और धर्म पारलौकिक सुख (निःश्रेयस) की ओर लेजाता है। कम से कम वैदिक धर्म तो ऐसा ही उदार धर्म है। वेद में हाथी, घोड़े, रथ विमान, सोना, चाँदी, जवाहरात आदि से लेकर स्वराज्य और चक्रवर्ती राज्य तक के लिये प्रार्थनाएं आती हैं।

आजकल विमानों की होड़ चल रही है। यूरोप और अमरीका के सब देश एक दूसरे से वायु-गमन में बाजी लेजाना चाहते हैं। हवाई जहाजों के बेड़े तक तैयार होगए हैं, जो रेलगाड़ियों की तरह परस्पर जुड़ कर चलते हैं और सैकड़ों मनुष्यों को एक साथ दूर से दूर लेजाते हैं। अब तो यहां तक सम्भव माना जा रहा है कि मनुष्य दोपहर का भोजन लंदन में करे और रात्रि का न्यूयार्क में, अफीमची और निरुद्यमी भारत में भी वायुयान हमारे आकाश में घूं २ करते हुए आए दिन निकलते हैं। अब डाक और पुरुष स्त्रियां तक हवाईमार्ग से अपने यहां जाने आने लग पड़े हैं। ऐसी दशा में हम जहां के तहां खड़े नहीं रह सकते, या तो हमें आगे बढ़ना होगा अन्यथा संसार हमें पीछे धकेल देगा। हर्ष की बात है कि हमारे धर्मग्रन्थ हमें प्रगति करना सिखाते हैं और उसकी दिशा तक बताते हैं। इस सम्बन्ध में वेद का निम्न मंत्र बड़ा उत्साहपूर्ण है।

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥ ऋ० १।८८।१॥

इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' है। जिसका निर्वचन यास्काचार्य्य ने यों किया है:—मितराविणो वा मितरोचिनोवा, महद् द्रवन्तीति वा अर्थात् जो शोर कम करते हैं, जो मितव्ययता की रुचि रखते हैं और

जो दूर २ बहुत पर्य्यटन करते हैं। इन तीनों निर्वचनों को इकट्ठा रख कर विचार करें तो 'मरुतः' का अर्थ व्यापार बुद्धि वाले वैश्य लोग निकलता है।

अब मन्त्र को लीजिये! देशवासी व्यापारी लोगों से प्रार्थना करते हैं कि तुम (विद्युन्मद्भिः) बिजली के द्वारा चलने वाले (स्वर्कैः) बहुत दूर तक हल्की चाल से चलने वाले सजे सुन्दर और प्रकाश-प्रबन्ध युक्त (रथेभिः) यानों के द्वारा (ऋष्टिमद्भिः) जिन में पानों की दुरुस्ती आदि का सामान साथ हो (अश्वपर्णैः) और जो बहुत तेज चलने वाले हों (आयात) गमनागमन करो। फिर (वर्षिष्ठया) पुष्कल (इषा) अन्न और धन के साथ (न आपप्तत) हमारे पास उड़कर (वयो न) पक्षियों की तरह आओ (सुमायाः) व्यापार अथवा उड़ने तुम में उत्तम चतुराई वाले सिद्ध होओ।

इस मन्त्र की सारा झुकाव वायुयानों की ओर है। विशेष करके 'आपप्तत' शब्द और पक्षियों के उदाहरण ने इस बात को निर्विवाद कर दिया है। इस ऋचा से कम से कम व्यापारिक विमानों के अस्तित्व की आवश्यकता जरूर प्रकट होती है। फिर (स्वर्कैः) और (अश्वपर्णैः) शब्दों से (non-stop flight) और (speed record) की ध्वनि भी निकलती है। इस मन्त्र को पढ़ने वाला कोई मनुष्य ऋचा के आशय को develop करके ऐसा हवाई जहाज़ तैय्यार कर सकता है जो उपर्य्युक्त दो गुणों से युक्त हो और फिर इसका संचालन बिजली द्वारा बतलाना यह वेद की एक (advanced suggestion) है। यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे वायु यान बन नहीं सकते। यह चीज़ संभावना के क्षेत्र से बाहर तो है नहीं। यदि बम्बई की ओर (suburban electric trains (बिजली की रेलगाड़ियां) और ट्रामगाड़ियां चल सकती हैं तो बिजली द्वारा विमानों का संचलन होना कोई अनहोनी बात नहीं। अलबत्ता वर्तमान संसार की वायुयानों सम्बन्धी प्रगति पर यह उसी प्रकार एक advance) है जैसे ऋषि दयानन्द के समय में चलने वाले बैलूनों (गुब्बारों) के ऊपर उनकी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में बताए ऐसे हवाई जहाज जो ३ दिन में संसार भर की परिक्रमा कर सके थे।

फिर व्यापारी समाज के आगे आदर्श कैसा सुन्दर रक्खा गया है। उन्हें देश-भक्त बनने का उपदेश है। मंत्र कहता है कि जिस प्रकार पक्षी दिन भर परिश्रम करके सायं समय अपने और अपने बाल बच्चों के लिये दाना चुग लाते हैं उसी प्रकार तुम अपनी देश की सम्पत्ति बढ़ाने के उद्देश्य से देश देशान्तरों में भ्रमण करो और फिर अपने देश वासियों के पास उन्हीं शीघ्र गामी वायुयानों द्वारा लौट आओ। अर्थात् अपने अभ्युदय के साथ २ स्वदेश और स्वदेश-वासियों का भी तुम खयाल रक्खो। अन्तिम शब्द और भी अधिक ध्यान देने योग्य है। इस के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि तुम व्यापार और धन संचय में उत्तम नीति और चतुराई को धारण करो अर्थात् उत्तम व्यापार बुद्धि के साथ २ ईमानदारी का सिक्का और साख संसार में बिठाओ। अथवा यह कि 'उड्डोयन विद्या' में तुम अपनी कमाल की चतुराई बताओ और दूसरे लोगों के रिकार्ड को मात करदो। दोनों प्रकार यह शब्द और दोनों प्रकार यह शब्द और इसके कारण यह मंत्र बड़ा भावपूर्ण बन जाता है।

इस ऋचा में राष्ट्र सेवा, व्यापार द्वारा धनोपार्जन

और वैज्ञानिक उन्नति को कैसी सुन्दरता से दिखाया गया है और यदि 'समायाः' के अर्थों में हम ईमानदारी को ग्रहण करलें तब तो सोने में सुगन्ध आजाती है। प्राकृतिक महती उन्नति के साथ आध्यात्मिकता का सम्मिश्रण होजाता है। धर्म और विज्ञान का-प्रकृति और पुरुष-का सामंजस्य और सुसंगठन होजाता है, अब पाठक बताइये धर्म और प्राकृतोन्नति का, धर्म और विज्ञापन का, धर्म और राष्ट्रियता का विरोध कहां रहा ? वास्तव में वेद के अध्ययन और उसके अधूरे व विकृत अर्थों व सायण महीधरादि के एक देशी व घृणास्पद भाष्यों के कारण ही संसार की दृष्टि से धर्म और विज्ञान का मौलिक अवरोध तिरोहित रहा। अब ऋषि दयानन्द की कृपा से वैदिक भानु उदय होचुका है। अतः अब हे सत्य के जिज्ञासुओ ! आओ इस वैदिक भानु के प्रकाश में दोनों पदार्थों को देखो, यह तो एक दूसरे के पूरक-सहायक हैं, इन दोनों को अपने हृदयों में यथायोग्य स्थान दो और इस वैज्ञानिक वैदिक धर्म को पताका फहरा दो।

वैदिक राष्ट-गीत

(अथर्ववेदीय पृथ्वी सूक्त)

[अनु०--काव्यमनीषी श्री पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम० ए० एल० टी०]

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

(रुचिरा छन्दः)

सत्य सनातन ज्ञान बृहत् तप,
क्षात्र तेज व्रत बलधारी।
पृथ्वी को धारण करते हैं,
कर्म वीर वर नर नारी ॥
भूत भविष्यत् वर्तमान में,
भू पालन करने हारी।
बने विश्व में मही हमारी,
विमल कीर्ति भरने हारी ॥ १ ॥

असं बाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु। नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

जिस पृथ्वी के पुत्र पूर्णतः,
प्रेम परस्पर करते हैं।
उन्नति पथ में असम्बाध हो,
आगे ही नित बढ़ते हैं ॥
जो पृथ्वी बल वीर्य शालिनी
ओषधि वर धरने हारी।
वही मही हो पूज्य हमारी,
विमल कीर्ति करने हारी ॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवु। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

जिसमें सागर सिन्धु नदी नद,
　　विमल जलाशय लहराते ।
अन्न फूल फल जहां कृषीबल,
　　सदा अधिकता से पाते ॥
जिसमें सारे प्राणी चलते,
　　फिरते रहते जीते हैं ।
वही मही दे सब पदार्थ जो,
　　कुछ हम खाते पीते हैं ॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्यां यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवु । या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सानो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

जिस पृथ्वी में शिल्प चातुरी,
　　निपुण कृषक बहु रूप हुए ।
जिसकी चारों दिशि विदिशा में,
　　अतिशय अन्न अनूप हुए ॥
जो धरती सब प्राणिवर्ग को,
　　बहु प्रकार से धरती है ।
करे अन्न उत्पन्न वही भू जो,
　　नित ही हित करती है ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् । गवामश्वनां वयसश्चविष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

पूर्व समय में पितर हमारे,
　　जहँ स्वच्छन्द विचरते थे ।
आर्य वीर जहँ असुर जनों को,
　　सब प्रकार संहरते थे ॥
अश्व गऊ पशु पक्षी को जो,
　　अतिशय सुख देने हारी ।
वही मही दे हमें तेज यश,
　　गुण गरिमा गौरव कारी ॥

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्य वक्षा जगतो निवेशनी । वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्नि मिन्द्रवृषभा द्रविणे नोदधातु ॥ ६ ॥

विश्व विधात्री वसुधा बन जो,
　　बहुधन को धरने हारी ।
जंगम जग का आश्रय होकर,
　　पद प्रदान करने हारी ॥
जन समूह परिपूर्ण राष्ट्र का,
　　जो भूमी नित भार धरे ।
वह नेता ज्ञानी हमको कर,
　　धनदे अरि संहार करे ॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्य स्वप्ना विश्वदानीं देवाभूमिं पृथिवीमप्रमादम् । सानो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

निरालस्य हो विबुध वीर जन,
　　जिसकी रक्षा करते हैं ।
सुधी सर्वदा भूमि सर्गदात्री का,
　　हित चित धरते हैं ॥
मंगलमय मुद मधु प्रियदात्री,
　　मातृभूमि अति सुखकारी ।
तेज राशि गुण गरिमा देवे,
　　हमें ज्ञान गौरव भारी ॥

याऽर्णवेऽधि सलिल मग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः । यस्यां हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः । सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

जो पृथ्वी पय पूर्ण रूप में,
　　वारिधि बीच विचरती थी ।

सत्य सिद्ध प्रभु सत्ता से जो,
हृदय अमृतवत् धरती थी।
व्योम बीच में मान्य मनीषी,
जिसे नीति सेवित करते।
उसी भूमि में श्रेष्ठ राष्ट्र बल,
तेज रहें हम भी भरते ॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

जिसमें संन्यासी परिव्राजक,
चारों ओर विचरते हैं।
रात्रि दिवस समदृष्टि सलिलवत्,
पर प्रमाद परि हरते हैं॥
बहु विधि से पय पेय आदि की,
जो माता देने हारी।
वही मातृ भू बल प्रताप दे,
हमें ज्ञान गौरव कारी ॥ ९ ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः। सा नो भूमिर्विसृजतां *माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ७*

जिस भू का भर्ता ज्ञानी जन,
मान सदा करते आये।
जिसमें विक्रम विविध विष्णु ने
समय २ पर दिखलाये॥
इन्द्र वेद पति वीर रहे,
जिसके नित ही आज्ञा कारी।
वही मातृ भू हम पुत्रों को,
पय दे प्रिय प्रमोद भारी ॥ १० ॥

महर्षि दयानन्द और वेदों में विज्ञान

[ले०—श्री पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति]

ऋषि दयानन्द ने वेद मन्त्रों से विज्ञान को प्रकट करके वर्तमान काल में मनुष्यों की दृष्टि में वेदों का बड़ा महत्व और उनके प्रति आदरणीय बुद्धि उत्पन्न करदी है, वेदों के प्रति आदरणीय बुद्धि ऋषि दयानन्द के पहिले भी थी किन्तु वह इतनी ही थी कि लोग वेदों को हाथ जोड़ लेते थे, उन को बस्ते में बांधकर सुरक्षित रख लेते थे, और उनकी सवारी रख लेते थे। वेदों के प्रति इस प्रकार की आदर बुद्धि बेशक आदर बुद्धि है, परन्तु इस आदर बुद्धि के साथ वेदों का जीवन में कुछ भी लाभ वा उपयोग नहीं रहता—जीवन के साथ वेदों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। एक ऐसी चीज जिसका सम्बन्ध मनुष्य अपने जीवन के साथ अनुभव नहीं करता देर तक उसको अपनी जीवन रेखा पर घसीट नहीं सकता। वेदों के अनन्य भक्त ऋषि दयानन्द ने वेदों पर हिन्दु जाति की वास्तविक आस्था को हटते देखकर वेद का जीवन के साथ सम्बन्ध वा वेद की जीवन के लिये उपयोगिता को स्पष्ट रूप से घोषित किया। ऋषि दयानन्द ने सम्पूर्ण वेदभक्त मनुष्यों के लिये नियम बनाया कि "वेद पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"। मनुष्यों को वेदों में से उनके जीवन के लिये उपयोगी सामग्री मिल सके इस

लक्ष्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने वैज्ञानिक बुद्धि से वेदों की व्याख्या की, ऋषि दयानन्द के भाष्य को पढ़ने से जीवनोपयोगी अनेक वैज्ञानिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद को ज्ञानकाण्ड और यजुर्वेद को विज्ञानकाण्ड बतलाया है। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि "ईश्वर ने ऋग्वेद में गुण और गुणी के विज्ञान के प्रकाश द्वारा सब पदार्थ प्रसिद्ध किए हैं। उन मनुष्यों को पदार्थों से जिस जिस प्रकार यथायोग्य उपकार लेने के लिए क्रिया करनी चाहिए तथा उस क्रिया के जो जो अंग वा साधन हैं सो सो यजुर्वेद में प्रकाशित किए हैं"। विज्ञान किस लिये ग्रहण करना चाहिए इस विषय में ऋषि दयानन्द कहते हैं कि "विज्ञान होने के ये हेतु हैं कि जो क्रिया प्रकाश अविद्या की निवृत्ति अधर्म में अप्रवृत्ति तथा धर्म और पुरुषार्थ का संयोग करना है। जो कर्मकाण्ड है सो विज्ञान का निमित्त और जो विज्ञानकाण्ड है सो क्रिया से फल देने वाला होता है"।

ऋग्वेद के मन्त्रों से सब पदार्थों के गुण गुणी का ज्ञान करना है और यजुर्वेद के मन्त्रों से शिल्पक्रिया सहित विद्याओं की सिद्धि करनी है। सृष्टि में विद्यमान पदार्थों का संयोग और वियोग से नाना प्रकार के स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश होरहा है। जिन ईश्वरीय नियमों से सृष्टि में पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश होरहा है उन नियमों को मनुष्य यजुर्वेद के मन्त्रों से और निरीक्षण परीक्षण से जान सकता है। उन नियमों को जानकर नानाविध पदार्थों का शिल्प अर्थात् निर्माण करता है और उन्हें उपयोग में लाता है। इस प्रकार यजुर्वेद के अनेक स्थलों से हमने देखना है कि सृष्टि में प्रकृतिजन्य पदार्थ शिल्प में अर्थात् विज्ञान में किस प्रकार उपयोग में आते हैं।

इसके साथ ही इतना और ध्यान देने का विषय है कि ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के भाष्य में यज्ञ शब्द का अर्थ उसकी धातु के आधार पर तीन प्रकार का किया है। उन अर्थों में दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि "अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध से शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना।" गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान का अभिप्राय हमारी सम्मति में गुणों के साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान है इसलिये यजुः और यज्ञ शब्दों में यज् धातु का अर्थ समान रूप से रहने से पदार्थों के गुणों के साधर्म्य और वैधर्म्य के अनुसार विविध शिल्प का अर्थात् वैज्ञानिक पदार्थों के निर्माण का प्रकार यजुर्वेद में विद्यमान है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। यहां पर हम क्रमशः ऋषि दयानन्द के भाष्य से वैज्ञानिक पदार्थों का किञ्चित् प्रतिपादन करेंगे। ऋषि दयानन्द यजुर्वेद १म अध्याय ४र्थ मन्त्र में "सोम" शब्द का अर्थ "शिल्प विद्यया सम्पादितेन रसेना नन्देन वा" ऐसा करते हैं अर्थात् A kind of liquid substance manufactured in laboorataries or Bliss एक प्रकार का द्रव पदार्थ जो विज्ञानशाला में तैयार किया गया है अथवा सोम का अर्थ है आनन्द। "सोमेन आतनच्मि" मंत्र में ऐसा पाठ है। इसका अर्थ है कि सोम से संकुचित करता हूं वा दृढ़ करता हूँ। किसी वायव्य (gasious पदार्थ को ठण्डा करके (liquid) द्रव करना और फिर घन (solid) करना अथवा किसी द्रव पदार्थ को घन करना यह काम सोम का है। आजकल शोरा

(Amoniumnitrate) मद्य (sprit) कर्बन द्विगन्धिद् (carbon bisulphide) आदि अनेक पदार्थ विज्ञान शिलाओं में बनाए जाते हैं जो वायम या तरल पदार्थ को संकोचन करने, दृढ़ करने अथवा घन करने का काम करते हैं। ऋषि दयानन्द के अनुसार ऐसे पदार्थों के लिए जातिवाचक नाम सोम होसकता है अथवा इनमें से किसी पदार्थ विशेष का नाम सोम हो सकता है।

२ ऋषि दयानन्द यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र ८ के शब्दों से भौतिक अग्नि के गुणों का निर्देशकरते हैं और उन गुणों से युक्त अग्नि को लाभ उठाने के लिये प्रयोग में लाने को प्रेरणां करते हैं। मन्त्र में अग्नि को कहा "धूरसि" कि तू धूः है अर्थात् हिंसक है। पदार्थों के अन्दर घुसकर उनके स्वरूप को तोड़ डालने से अग्नि को हिंसक कहा है। (exessiveheat) उत्तम ताप से प्रत्येक पदार्थ का विश्लेषण होजाता है उसका स्वरूप टूट जाता है। इसी मन्त्र में अग्नि को "देवाना मसि वन्हितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्।' है। यानों में प्रयुक्त होकर अग्नि देवों को अर्थात् विद्वानों को एक स्थान से दूसरे स्थान में उठा कर ले जाता है।

Motion is the modification of Heat, and Heat is the modification of Motion. Motion and Heat are correlated. They are interchangeable. यही भाव अग्नि को 'वह्नितमम्' कहने से निकलता है। दूसरा विशेषण शब्द अग्नि के लिये 'वह्नितमम्' आया है। सस्नितमम् का अर्थ है बहुत अधिक शुद्धि करने वाला। अग्नि के जलाने से वायु की शुद्धि होती है और सील (आर्द्रता) के कारण जो वस्त्र, वायु आदि में दुर्गन्ध पैदा हो जाती है उसे अग्नि दूर कर देता है। जहां अग्नि जलता है वहां वायु में परिवाहन क्रिया आरम्भ हो जाती है गरम वायु हल का होकर ऊपर जाता है और उसके स्थान में नीचे से चारों ओर से ठण्डा वायु अग्नि के साथ मिलता है। इस प्रकार वायु में परिवाहन क्रिया उत्पन्न करके अग्नि शुद्धि का काम करता है। जल वा किसी तरल को वाष्प करके अग्नि शुद्ध करता है। और पार्थिव ठोस पदार्थ के अवयवों को शिथिल करके उस पदार्थ को अग्नि शुद्ध करता है। तीसरा विशेषण अग्नि के लिये पप्रितमम् दिया है। पप्रितमम् का अर्थ है किसी पदार्थ में वा स्थान में बहुत अधिक फैलने वाला वा उसको अपनी आग्नि से भर देने वाला। ठोस, तरल और वायव्य कैसा भी पदार्थ हो अग्नि उस पदार्थ को प्रसरण, वाहन अथवा परिवाहन क्रिया से भर देता है अर्थात् उस सब में फैल जाता है। शिल्पी लोग अग्नि के गुणों से परिचित होते हैं अतः नाना प्रकार से उसे अपने काम में लाते हैं, इसीलिये अग्नि का विशेषण 'जुष्टतमम्' दिया है। अग्नि के प्रयोग से आग्नेय अस्त्र (machine guns) आदि के द्वारा विद्वान् शिल्पी लोग अपने शत्रुओं के साथ संघर्ष करते हैं—भिड़ते हैं लड़ाई करते हैं। इस प्रकार अग्नि का नाना प्रकारसे प्रयोग करने का उपदेश मन्त्र में दिया है।

३ यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र ९ में ऋषि दयानन्द बतलाते हैं कि अग्नि में द्रव्य का हवन करें कि उस ८र डालने के प्रकार के अनुसार पांच प्रकार के कर्म हो सके। उत्क्षेपण वा अर्ध्व पातन कर्म से अग्नि पर चढ़ाये द्रव्य को ऊपर ग्रहण करना होता है। अवक्षे-

पण वा अधःपातन कर्म से अग्नि में हुत द्रव्य का नीचे ग्रहण करना होता है। भिन्न २ वस्तुएं जैसे लोहा और गन्धक अथवा ताम्बा और गन्धक को मिलाकर अग्नि पर चढ़ाने से आकुञ्चन कर्म से क्रमशः हरातूतिया (कसीस) और नीलातूतिया प्राप्त होते हैं। अग्नि पर जल आदि तरल पदार्थों को चढ़ाते हैं तो वे प्रसारण कर्म से सर्वत्र फैल जाते हैं। इसी प्रकार अग्नि में जलाये गये सुगन्धित पदार्थ सूक्ष्म होकर प्रसारण कर्म से सर्वत्र फैल जाते हैं और अपनी सुगन्ध से सबको तृप्त करते हैं। अग्नि पर द्रव्य चढ़ाने से उसमें गति होती है। इसी गमन कर्म के हेतु अग्नि और जल के संयोग के द्वारा एञ्जिन में गति उत्पन्न की जाती है और बड़ी २ फैक्ट्रीज़ तथा रेलगाड़ियां चलती हैं। मन्त्र के "यच्छन्तां पञ्च" के पञ्च शब्द से उत्क्षेपणादि पांच कर्मों का ग्रहण ऋषि दयानन्द ने किया है और इन पांच कर्मों के द्वारा अग्नि से संस्कृत द्रव्यों का ग्रहण करने का आदेश किया है।

इसी मन्त्र में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "यद् द्रव्यं विष्णुः व्यापनशीलः सूर्यः अपहन्तं रक्षो यथा स्यात्तथा उरु नाशाय क्रमयति चालयति।" इसका अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य से द्रव्य का प्रसरण (Radiation) होता है वह द्रव्य वायु में फैलता है और उस द्रव्य से, वायु में मिले हुए पार्थिव दुर्गन्धित और विषैले पदार्थों का नाश होता है। इस प्रकार वायु की शुद्धि होती रहती है। यह शुद्धि का प्रकार जैसे सृष्टि में सूर्य कर रहा है वैसे ही मनुष्य अग्नि के द्वारा सम्पादन करें।

(४)—यजुर्वेद द्वितीयाध्याय १६ मन्त्र में "चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि।" यह वाक्य आया है। ऋषि दयानन्द 'चक्षुष्पाः' का अर्थ करते हैं "चक्षुः दर्शनं रक्षतीति सः" अर्थात् जो दर्शन रखता है—दिखलाता है। दिखलाने का सामर्थ्य रखने वाला अग्नि मेरे चक्षुः की देखने के साधन की रक्षा करे। अग्नि ताप वा (Heat) 'प्रकाश' (light) के रूप में बदल जाता है। उस समय वह तप्त वस्तु दर्शन का साधक होती है। इसी मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द कहते हैं कि 'अग्निः सूर्यरूपो भूत्वा सर्वं प्रकाशयति अतो दृष्टिव्यवहारस्य पालनं जायते'। इस का अर्थ है कि ताप प्रकाश के रूप में होकर सब को प्रकाशित करता है इससे पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। मन्त्र के इस टुकड़े से ताप का प्रकाश के रूप में बदलने का सिद्धान्त स्पष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार वेद से सिद्ध होता है कि गति ताप में और ताप प्रकाश में बदल जाता है।

(५)—यजुर्वेद अध्याय २ मन्त्र २२ में ऋषि दयानन्द ने जो बतलाया है उस से स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक चिकित्सक अपने रोगी के रोग को दूर करने के लिये शुद्ध और प्रभावशाली द्रव्यों के तत्वों को शुद्ध जलमें घोल कर देता है उसी प्रकार एक हवन चिकित्सक जो अग्नि में विविध रोगनाशक द्रव्यों का हवन करता है अग्नि के द्वारा उन द्रव्यों को सूक्ष्म करके और उसी अग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष में व्याप्त कर के तथा अन्तिरिक्षस्थ वायु और जल के सूक्ष्म कणों के साथ उस द्रव्य के साथ उस द्रव्य के सूक्ष्म कणों को संयोग कर के अर्थात् जल में उस द्रव्य को घोल कर वृष्टिके द्वारा वनस्पति और वनस्पति जन्य पदार्थों को नीरोग करता है तथा श्वास के लिये औषधयुक्त जल वायु को तैय्यार करके प्राणियों को रोग मुक्त और उनके स्वास्थ्य की

रक्षा करता है। औषध जितना सूक्ष्म होकर हमारे शरीर में प्रवेश करता है।उतना अधिक प्रभावशाली होता है। औषध को सूक्ष्मतम रूप में लाने का उपाय अग्नि में जलाना है। सूक्ष्म हुआ २ औषध जल और वायु के द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश कर के बहुत ही शीघ्र हमारे शारीरिक धातुओं पर प्रभाव करता है। इस प्रकार वैज्ञानिक आधार पर हवन करने का लाभ और हवन करने का आदेश इस मन्त्र में दिया गया है।

बर्हिरङ्क्तां हविषा घृतेन" अन्तरिक्ष को घृतसहित हवि से युक्त करदो—भरदो।" इसी प्रकार "समिन्द्रो विश्वदेवेभिरक्ताम्, दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा।" अपनी किरणों से अन्तरिक्ष को युक्त करदे कि सुखदायक आहुति क्रिया से अन्तरिक्षस्थ जल किरणों के प्रकाश से युक्त होकर दिव्य हो जावे।

पदार्थों के अन्दर विटामिन नामका प्राण तत्व पदार्थों में सूर्य्य के विविध प्रकार के प्रकाश किरणों के विभिन्न मात्रा में इकट्ठा होने से उत्पन्न होता है। अन्तरिक्षस्थ जल रोगादिनाशक औषध कणों से युक्त होकर और सूर्य की किरणों के साथ सम्बद्ध होकर अन्तरिक्षस्थ जल कण दिव्य होजाते हैं और वृष्टि के द्वारा बनस्पति को तथा प्राणियों को सुखी करते हैं।

(६)—यजुर्वेद अध्याय १० मन्त्र १९ में ऐसी नावों का परिचय मिलता है जो (वृषभ) वर्षा करने वाले पर्वत (मेघ) के ऊपर पृष्ठ पर से चलती हैं। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि यहां विमान का वर्णन है। क्योंकि इस मन्त्र में विद्यमान पर्वत शब्द का अर्थ निघण्टु के प्रमाण से मेघ है। वृषभ शब्द का अर्थ वर्षा करने वाला है। पृष्ठ शब्द का अर्थ पीठ अर्थात् उपरिभाग है। इस प्रकार 'प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नाव श्चरन्ति' इसका अर्थ होता है कि वर्षा करने वाले मेघ के ऊपर से चलने वाली नौकाएं (airoplane) हैं। ये नावें "स्वसिचः इयानाः" नावों में बैठे हुए लोगों के द्वारा डाले गए जल (patrol) आदि (liquid) पदार्थ से गतिशील रहती हैं। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि "याः स्वैः जनैः जलेन सिच्यन्ते ताः" जिनको अपने लोग अर्थात् नौका में बैठे लोग (drivers) जल से सींचते हैं अर्थात् उसमें गति देने के लिए जल डालते हैं। सिञ्चन शब्द से ऋषि दयानन्द ने जल की कल्पना की है। आजकल जल के समान तरल पदार्थ (patrol) डाला जाता है। शायद ऋषि दयानन्द को (Patrol) का पता न हो इसलिए जल लिख दिया हो। ये विमान मेघ के नीचे से ऊपर जाते और मेघ के पीछे २ चलते हैं।

(७)—यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र १ में ऋषि दयानन्द ने अग्नि शब्द का अर्थ पृथिवी आदि में रहने वाली विद्युत् किया है। इस प्रकार 'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्' का अर्थ है कि (अग्नि के) पृथिवी, अन्तरिक्ष और सूर्य की किरणों से उत्पन्न विद्युत के (ज्योति को) प्रकाश को (निचाय्य) निः अर्थात् इकट्ठा करके पृथिवी के ऊपर रक्खे इस मन्त्र से बिजली के (power house) बनाने का स्पष्ट विधान है।

(११)—यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र ११ में तेजोमय अर्थात् चमकीले खोदने के साधन अग्नि को हाथ में रखकर, ऐश्वर्य पैदा करने वाला शिल्पी, अग्नि अर्थात् विद्युत आदि के ज्योति वा तेज को इकट्ठा करके

पृथिवी पर रखता है। इस प्रकार तेज के इकट्ठे करने से बड़ा तीव्र प्रकाश उत्पन्न होता है जैसा बिजली के लैम्पों से आजकल होता है। इस मन्त्र में 'हिरण्ययीम्' का अर्थ ऋषि दयानन्द ने 'तेजोमयीम्' किया है। विद्युत् आदि के सम्बन्ध से यह धातु शलाका बहुत चमकती है। इस तेजोमयी शलाका को किसी दुर्वाहक साधन विशेष से अपने हाथ में धारण कर सकता है।

(१२)—यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र १९ में ऋषि दयानन्द कहते हैं कि प्रशस्त ज्ञानयुक्त विद्वान् को सम्बोधन करके कहा है कि रुचि अर्थात् प्रीति वा लगन के द्वारा शत्रुओं को अर्थात् विघ्नों को दूर करके पृथिवी को आक्रमण करके अर्थात् खोदकर उसके बीच में जाकर अग्निविद्या का उपदेश करे और दूसरे शिष्य लोग पूछें कि हमें भूगर्भ विद्या का उपदेश कीजिए कि हम कहां २ से पृथिवी को खोदें।

भूगर्भ विद्या का उपदेश क्रियात्मकरूप से खानों में जा जाकर दिया जाता है। कहां खोदना, कैसे खोदना और क्या २ संरक्षण उपाय Precautions रखने होते हैं यह सब कुछ बतलाया जाता है। इन उपायों के न होने से कई वार खानों में उत्पन्न हुई गैसों से बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

(१३)—यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र २१ में (अग्निं खनन्तः) अग्नि को खोदते हुए ऐसा आया है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि का साधन पत्थर का कोयला जो खोदकर निकाला जाता है उसका यहां अग्नि शब्द से ग्रहण है।

(१४) यजुर्वेद अध्याय १५ मन्त्र ४ में बताया है कि सूर्य की दुहिता के समान उषा अपने सनातन गुणों के द्वारा विस्तृत प्रकाश से निचोड़े हुए औषध के रस को पवित्र करती है। उषा काल में औषधि-रस विशेष गुणकारी होता है। इसलिये ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि "जो मनुष्य सूर्योदय से पूर्व शौचकर्म करके यथानुकूल औषधि का सेवन करते हैं वे रोगरहित होकर सुखी होते हैं।

(१५)—यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र २ में बतलाया है कि औषधि को पानी में भिगो २ कर उसका सब रस पानी में निकाल लेना चाहिये। ऋषि दयानन्द इस मन्त्र का भावार्थ लिखते हैं कि "मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम औषधियों को जल में डाल मन्थन कर सार रस को निकाल इससे यथायोग्य जठराग्नि को सेवन करके बल और आरोग्यता को बढ़ाया करें॥

(१६)—यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र ७३ में ऋषि दयानन्द अग्नि शब्द का अर्थ विद्युत् करते हैं। विद्युत् का इस प्रकार से प्रयोग करने को कहते हैं कि जिससे शत्रु आक्रमण न कर सके। मन्त्र कहता है (दिवि) द्युलोक में (पृथिव्यां) पृथिवी लोक में और अन्तरिक्ष लोक में (पृष्टः) जानने के लिये इष्ट (अग्निः) विद्युत् (वैश्वानरः) विश्व में प्रकाशमान अर्थात् जिसमें तीनों लोकों के नेता अग्नि विद्यमान हैं वह (सहसा) बल से अपनी सामर्थ्य से (विश्वाः ओषधीः) सब औषधियों में (आविवेश) प्रविष्ट हो रहा है; (सः) वह (दिवा) दिन में (नक्तम) रात में (रिषः) हिंसक से (पातु) रक्षा करे॥

ऋषि दयानन्द इसका भावार्थ लिखते हैं:—जो मनुष्य आकाशस्थ सूर्य और पृथिवी में प्रकाशमान सब पदार्थों में व्यापक विद्युद्रूप अग्नि को विद्वानों से निश्चय कर कार्यों में संयुक्त करते हैं वे शत्रुओं से निर्भय होते हैं।

(१७)—यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र ४६ में स्पष्ट कहा है कि सूर्य में दीप्तियां (विविध प्रकार के प्रकाश) अग्नि की हैं। वे दीप्तियां अपनी रश्मियों के द्वारा प्रकाश को चारों ओर फैला रहीं हैं।

(१८)—यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र ४० में बतलाया कि चन्द्रमा परतः प्रकाशमान है स्वतः प्रकाशमान नहीं। ऋषि दयानन्द 'गन्धर्वः' पद को चन्द्रमा का विशेषण रख कर अर्थ करते हैं। गन्धर्व का अर्थ किया है सूर्य किरणों को धारण करने वाला।

(१९)—यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २९ में सूर्य का विशेषण गन्धर्व आया है। ऋषि दयानन्द गन्धर्व शब्द का अर्थ "पृथिवी को धारण करने वाला" करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सूर्य अपनी किरणों के द्वारा पृथिवी को संभाल रहा है।

(२०)—यजुर्वेद अध्याय१८ मन्त्र ३७ में "सरस्वत्यै वाचो यन्तु र्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि।" इसका अर्थ दयानन्द करते हैं कि विज्ञान वाली वाणी के नियमन करने वाले, विद्युत् आदि अग्नि की कारीगरी से उत्पन्न किए हुए, यन्त्र द्वारा सब भूमि के राजपन से अभिषेक करता हूं।

सार्वभौम राज्य का अधिकार देने के लिए वेद में एक विचित्र प्रकार ज्ञात होता है। जिसको सार्वभौम राज्य का अधिकार देते हैं उसके पास एक विद्युत् का यन्त्र रहता है जिस यन्त्र में विज्ञान के द्वारा वाणी पकड़ी जाती है। उस यन्त्र के द्वारा वह सम्राट् पदाधिकारी उन वाणियों को सुनता है जो उसे सम्राट् बनाती हैं। उनको सुनकर वह सम्राट् पद पर आरूढ़ होता है। मालूम होता है कि जो राजा लोग किसी व्यक्ति को अपना सम्राट् बनावें वे विद्युत् यन्त्र द्वारा अपनी २ अनुमति देवें। सबकी अनुमति सुनचुकने पर वह व्यक्ति सम्राट् बने। दूर देशों में आने जाने के व्यर्थ प्रयास को और धन तथा समय के व्यय को बचाने के लिए सार्वभौम राजपरिषद् का काम राजा लोगों को अपने २ देश में रहते हुए ही यन्त्र के द्वारा कर लेना चाहिए ऐसा वेद का आदेश प्रतीत होता है।

(२१)—यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ६० में बतलाया है कि सूर्य अन्य लोकों को बन्धन में रखने के निमित्त उनका आकर्षण और धारण करता है।

(२२)—यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ५९ में बतलाया है कि "विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।" प्रकाश के बीच में सूर्य विमान के समान स्थित है, , पृथिवी और द्यू अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से भर रहा है।

सूर्य तेजोमय होने से मान रहित वस्तु के समान है। इस मन्त्र में जहां सूर्य के विशेषण के रूप में विमान शब्द आया है वहां वह स्वतन्त्र रूप से विमान के अर्थ का भी द्योतन करता है।

(२३)—ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ६६ मन्त्र ७ में एक विचित्र प्रकार की सवारी का वर्णन मिलता है। इस का नाम याम है। जाने का साधन होने से सवारी को याम कहते हैं। इस सवारी में किसी प्रकार का पाप नहीं हैं। इस सवारी में घोड़ा नहीं लगता। इस का चलाने वाला रथी नहीं बनता अर्थात् सवार नहीं होता। विना सवार हुए इस याम को चलाता है। इसमें किसी प्रकार के ऐसे अन्न की आवश्यकता नहीं पड़ती जो चलाने का साधन हो। इसमें किसी प्रकार की रश्मि वा डोर खैंचने के लिये नहीं होती। इसके चलने से जलों की वृद्धि होती है। द्युलोक और

पृथिवी लोक के बीच में उत्तम गतियां करता हुआ विशेषता से जाता है।

(२४) यजुर्वेद अध्याय १५ मन्त्र १५ में 'सूर्य रश्मिः' का विशेषण 'हरिकेशः' आया है। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि सूर्य की किरण हरित होती हैं उसके साथ रक्त पीत आदि किरण होती हैं।

(२५) यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २४, २५ में यज्ञ शब्द का अर्थ योग और वियोग अर्थात् जोड़ना घटाना लेकर गणित विज्ञान का आधार प्रकाशित किया है। इसी जोड़ने घटाने की विविध क्रियाओं के आधार पर वे गुणा और भाग को भी बतला गये हैं। पश्चात् मन्त्र में आई हुई संख्याओं के क्रम को देखकर वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भाग जाति प्रभाग जाति अर्थात् अपूर्णाङ्क राशियों की गणित का वर्णन किया है।

इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने वेद के द्वारा अनेक वैज्ञानिक विषयों को दिग्दर्शन कराया है जो उनके भाष्य को अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में ऋषि दयानन्द ने वेदों के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न करके मनुष्यों का महान् उपकार किया है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर अब विद्वान् मनुष्य कुछ २ समझने लगे हैं कि वेद व्यावहारिक जीवन के लिये भी उपयोगी हैं।
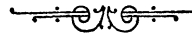
बोधोत्सव

[कविवर श्री पं० सत्यनारायणजी विद्यालंकार, अमेठी राज्य]

था शिवरात्रि पर्व या कोई
वह प्रधान उत्सव था ?
जग जागा, सब ओर दीखती
जागृति थी—कलरव था ॥

बढ़ बढ़ कर उत्सुक मन से चमकीले कपड़े पहने,
कर छीना झपटा मां के हाथों से लेकर गहने,
सजा रहे बालक अपने को थे नाना विधियों से।
भूषा का सामान जुटा माताओं की निधियों से ॥
नीचे गली गली में 'शिव शिव' बोल अनेक पुजारी,
मां का बच्चों को रख सकना कर देते थे भारी ॥
बीच २ में शिव-मन्दिर के घण्टे बज उठते थे।
घृत दीपों से सजे हाथ तब दुगुने सज उठते थे ॥
शिव का राज्य नगर भर में कुछ सचमुच ऐसा छाया।
सबके हृदय में श्रद्धा का, भय का भाव समाया ॥
रवि की किरण २ उस दिन कुछ ऐसी जगा रही थी।
खोद खोद कर तमोभाव को मन से भगा रही थी ॥
ज्यों ज्यों साध्य रश्मियां क्रम से नभ पर थीं छितरातीं।
त्यों त्यों सजग वृत्तियां साधक लोगों की हो जातीं ॥
रात हुई पर नई ज्योति कुछ जागी सबके मन में।
और बल उठीं धूप बत्तियां मन्दिर के आंगन में ॥
मन्दिर में आने वाले आ पत्र-प्रसून चढ़ाते।
बदले में श्रद्धा का तत्क्षण थे अमृत फल पाते ॥

था सङ्कल्प सभी के मन में, सब में भाव नया था।
भक्ति नई उल्लास नया था, जय जय रव करते थे।
मानो पुण्य वृत्तियां मन में गिन गिन कर भरते थे॥
दिये अङ्गुली पुत्रों के कर वहां पिता ने छोड़े।
केवल जहां मूर्ति के आगे गद्गद हो, कर जोड़े॥
अनायास प्रतिमा शिव की मन सब का हर लेती थी।
लिये त्रिशूल हाथ में मानो अभय दान देती थी॥
किन्तु राजसिक भाव अकेला कब तक टिक सकता है?
भङ्ग बालु के बने भवन का कबतक रुक सकता है?
निस्संशय थी भक्ति, भक्ति का नशा नहीं पर कम था।
उद्यम था पर 'सत्व' नहीं, था वहां मूल में तम था॥
था प्रकाश पर नहीं ज्ञान का स्निग्ध अखण्ड उजाला।
बिजली की थी चकाचौंध, क्षणभर का गड़बड़झाला॥
जब उतार पर नशा आगया, लपटें भभक चुकीं जब।
सकल साधकों की थीं पलमें पलकें झपक चुकी तब॥
व्रत, उपवास, साधना, तप को एक साथ सब भूले।
ऊंघ ऊंघ कर लगे झूलने निद्रा के वे झूले॥
दमभर में सब ओर छा गया सन्नाटा सहसा ही।
एक न सोया बालक कोई वहां परम उत्साही॥
रग रग में अनुराग भरा था उस के कोमल मन में।
प्रवहित था विश्वास-स्रोत शुचि नस नस के स्पन्दन में॥
शिव की सुभग मूर्ति पर उसने देखी शोभा जागी।
और हो उठा पुलकित उस से बड़भागी अनुरागी॥
प्राण प्राण से दिव्य प्रेरणा मिली उसे सत्वरही।
जहां भक्ति भगवती वहीं है, चाहे हो पत्थर ही॥
पत्थर तो पत्थर है लघुकण एक २ भूपर का।
है सजीव प्रतिबिम्ब जगत् में लीलामय ईश्वर का॥
विश्व-नियन्ता के इङ्गित पर फूल वहां खिलता है।
बिना लिये आदेश नहीं पत्ता तक भी हिलता है॥

फिर फूलों, पत्तों, पत्थर को, एक २ लघु कण को।
जड़ कह कर केवल बहलाया जा सकता कब मन को॥
जबतक हृदय-तत्त्व में गति है, कम्पन है, स्पन्दन है।
नहीं तर्क से जा सकता जग से प्रतिमा-पूजन है॥
है बच्चों का खेल युक्तियों का बुनना ताना बाना।
खेल २ में रुक सकता पर प्राणों का आना-जाना॥
किन्तु जगत में रोक-थाम की भी आवश्यकता है।
बिना बाढ़-बाधा के पौधा कहीं पनप सकता है॥
नहीं तनिक सन्देह बाढ़ यह बाहर की मिथ्या है।
और वास्तविक चीज वृक्ष ही उसके भीतर का है॥
फिर भी जीवन के विकास में मिथ्या ही साधन है।
* माना चरण साध्य विद्या का अविनश्वर वह धन है॥
† है अभीष्ट जीवन में दोनों का अपना कुछ क्रम हो।
किन्तु 'अविद्या' में 'विद्या' का नहीं लेश भी भ्रम हो॥
रोगों से निर्बल शरीर हो, हो प्रतिपल गिरने का भय।
नहीं दोष चलने में कुछ तब लाठी का लेकर आश्रय॥
किन्तु जागता रहे भाव यह साधन है सम्बल है।
लाठी है लाठी लकड़ी की, नहीं वास्तविक बल है॥
इसी भाव को सदा जगाये रखने के साधन में।
बीत गये युग ज्ञान कर्म के दुष्कर प्रतिपादन में॥
आर्य धर्म है वही हमारा शुद्ध, अखण्ड, सनातन।
‡ जहां 'अभ्युदय' 'निःश्रेयस' में दोनों का हो साधन॥
दोनों में जब किसी एक का होता पलड़ा भारी।
हो जाती अनिवार्य तभी है किसी क्रान्ति की बारी॥
जहां बुद्ध का भ्रान्ति बाद भ्रम था न समय का क्रम था।
शङ्कर का आना जग में समता लाने का श्रम था॥

---

* अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ईश।
† विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय सह। ईश।
‡ यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

किन्तु इष्ट-साधन में प्राणी जब उद्यत होता है।
कुछ अनिष्ट का अंश साथ में भी सङ्गत होता है ॥
काट गिराता घास फूंस को है जड़ से जब माली।
शाखाएं क्या रह सकती हैं बिलकुल उससे खाली ?
कटने से व्रण के आ जाती जहां शान्ति है मन में।
वहां साथ ही एक शिथिलता आ जाती है तब में ॥
वही शिथिलता शङ्कर के उस 'ब्रह्मवाद' से आई।
त्याग भावना का पट औ अकर्मण्यता छाई ॥
पत्थर की पूजा लोगों को पत्थर बना रही थी।
भक्ति नहीं वह नशा मात्र था, सच्ची शक्ति नहीं थी ॥
'ब्रह्म' 'ब्रह्म' का राग बेसुरा लोग अलाप रहे थे।
अन्धकार में पड़े त्याग वे कर्म कलाप रहे थे ॥
आवश्यक था प्राण प्रतिष्ठा आकर कोई कर दे।
मन्त्र फूंक दे जीवन का लोगों में बिजली भर दे ॥
कर्म मार्ग का, द्वार दिखादे, करदे ऐसी हलचल।
शंख बजादे गीता का मन सबका कर दे चञ्चल ॥
कार्य-क्षेत्र में कमर कसे सब ऐसे कुछ डट जायें।
एक २ कर सब कुरीतियां पल भर में हट जायें ॥
किसे पता था वह इस युग का अलख जगाने वाला।
ढूंढ ढूंढ पाखण्ड-पाप को दूर भगाने वाला।
भीषण कोलाहल में अपनी ध्वजा उड़ाने वाला।
सिंह गर्जना से रिपु-गण का गर्व गिराने वाला।
एक अकिञ्चन मूषक से यों प्रबल प्रेरणा लेगा ?
यही आज का बालक जग में हलचल कल कर देगा ?
उस बालक ने स्तब्ध-भाव से देखी घटना सारी।
उठा एक तूफान हृदय में शङ्काओं का भारी ॥
सच मुच ही क्या रुद्र रूप ये प्रलयङ्कर शङ्कर हैं,
शक्ति चक्र में घूम रहे जिनके चर और अचर हैं ?
चूहे तक भी उछल कूद यों मचा अगर सकते हैं।
मिट्टी के माधो ये बैठे क्या फिर कर सकते हैं ?
इस भाँति के सब विचार तब उसके अन्तस्तर में।
चित्र चित्रपट के से आये और गये क्षण भर में ॥
और साथ ही गई रात वह आया सुखद सवेरा।
उठे बाल रवि क्षितिज-देश से, दीखा नया उजेरा ॥

था शिवरात्रि पर्व या कोई
वह प्रभात—उत्सव था ?
जग जागा, सब ओर दीखती
जागृति थी—कल-रव था ॥

महर्षि दयानन्द और ब्रह्मचर्य का महत्व

[ले०—श्री स्वामी व्रतानन्दजी महाराज आचार्य गुरुकुल चित्तौड़गढ़]

संसार में आजतक जितने महापुरुष हुए हैं उनमें से सबसे अधिक ब्रह्मचर्य्य के नियमों का परिपालन किसने किया ? ब्रह्मचर्य्य के द्वारा शरीर, चित्त, मन, अहङ्कार, बुद्धि और आत्मा की शक्तियों को विकसित करके उनका संसारोपकार के लिये उत्तम प्रयोग किसने किया ? ब्रह्मचर्य्य के बल से अत्यन्त कठिन कार्यों को भी बड़ी सुगमता पूर्वक किसने कर दिखाया ? इन प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि आदर्श-बाल-ब्रह्मचारी श्री महर्षि दयानन्दजी महाराज ने।

आदर्श ब्रह्मचारी का शारीरिक बल

जालन्धर के सरदार विक्रमसिंहजी ने श्री महर्षि

दयानन्दजी से पूछा कि क्या यह बात सच है कि ब्रह्मचारी के शरीर में बहुत अधिक बल होता है ? श्री बाल ब्रह्मचारीजी ने उत्तर दिया कि हाँ शास्त्रों में भी लिखा है और अनुभव से भी देखा गया है कि यह बात बिलकुल ठीक है। सरदार ने कहा कि महाराज ! जबतक आप उस बल का प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं दिखलायेंगे तबतक मेरा व मेरे जैसे अन्य लोगों का दृढ़ विश्वास नहीं होगा। महर्षिजी उस समय तो चुप रहे परन्तु सायङ्काल जब सरदारजी बग्घी पर चढ़े तो साईस ने घोड़ों को चलाने के लिये बहुत कोशिश की और चारों घोड़ों ने भी अपना पूरा ज़ोर लगाया पर घोड़े एक क़दम भी आगे न बढ़ सके। पीछे देखने पर पता लगा कि श्री बाल-ब्रह्मचारीजी ने पकड़ा हुआ है। सरदारजी एकदम गाड़ी से उतर कर उनके चरणों में गिर पड़े, और उनके ब्रह्मचर्य्य बल की बहुत प्रशंसा करने लगे।

आदर्श ब्रह्मचारी का चित्त सम्बन्धी ज्ञान

जब ब्रह्मचारीजी की आयु २२ वर्ष की थी उस समय उनके माता पिता ने उनके विवाह के लिये खूब तय्यारियां कीं। माता पिता आदि सब सम्बन्धी और परिचित नर नारी बड़े प्रसन्न हो रहे थे, परन्तु ब्रह्मचर्य्य से अत्यन्त प्रेम करने वाले दयानन्दजी के चित्त में यह भाव उत्पन्न हो रहा था कि यदि मैं विवाह करूँगा, तो मेरे विद्योपार्जन और उन्नति का मार्ग बंद हो जायगा, मेरा ब्रह्मचर्य्यव्रत खण्डित होने से मेरा भविष्य बिगड़ जायगा। अतएव उन्होंने प्रतिज्ञा की कि "मैं सर्वदा के लिये अपने घर का परित्याग कर दूँगा, ताकि मैं विवाह के बन्धन से छुटकारा पा सकूं और मृत्यु महारोग की महौषधि का अनुसन्धान करके अपने जीवन को सफल कर सकूं।" यह प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही उन्होंने तीव्र वैराग्य और पूर्ण ब्रह्मचर्य्य की भावना से प्रेरित होकर घर का त्याग कर दिया।

इस विषय में श्री पण्डित हरिशङ्करजी कविरत्न की "शिव सङ्कल्प" नामक पुस्तक का निम्न लिखित पद्य स्मरण रखने योग्य है:—

पूरे-प्रलोभन और अस्थिर भोग सुख साधन सभी,
क्या ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा तोड़ सकते थे कभी।
बस एक दिन अवसर मिला तो छोड़ पुर परिवार को,
घर से सिधारा मूलशङ्कर देश के उद्धार को॥

आदर्श ब्रह्मचारी का मानसिक बल

महर्षिजी के मन में ब्रह्मचर्य्य का बल होने के कारण वे अत्यन्त निर्भय थे। बड़ी भारी विपत्ति आने पर भी वे कभी भयभीत न होते थे।

एक दिन रावकर्णसिंह अपने शस्त्रधारी साथियों को लेकर स्वामीजी से मिलने आयाथा। आतेही उसने कहा हमने सुना है कि तुम गङ्गाजी की निन्दा करते हो स्मरण रक्खो यदि मेरे सन्मुख निन्दा की तो मैं बुरा वर्त्ताव करूँगा इस के उत्तर में उसको श्री महर्षि जी ने समझाया कि मैं गङ्गा की निन्दा नहीं करता हूं किन्तु गङ्गा जैसी और जितनी हैं उसे वैसी और उतनी ही वर्णन करता हूँ और मैं सत्य के कथन करने में सर्वथा निर्भय हूँ। इस पर राव कर्णसिंह बोला गङ्गा गङ्गेति० इत्यदि श्लोकों में नाम कीर्त्तन, दर्शन स्पर्शन से पाप का नाश कहा है। इसके विषय में स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ये श्लोक साधारण लोगों के कपोल कल्पित हैं। माहात्म्य सब गप्प है। वस्तुतः पापका नाश और मुक्ति की प्राप्ति वेदानुकूल आचरण

से होगी अन्यथा नहीं । श्री स्वामीजी ने पूछा राव महाशय ! आपके माथे पर रेखा सी क्या है, राव महाशय ने उत्तर में कहा यह श्री है जो इस श्री को धारण नहीं करता वह चाण्डाल है । महर्षि—आप कब से वैष्णव हुए थे ? राव—कुछ वर्षों से । क्या आपके पूज्य पिता भी वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे ? नहीं वे नहीं हुए । तब तो आपके ही कथनानुसार आपके पिताजी आज से कुछ वर्ष पूर्व चाण्डाल सिद्ध हो गये ।

इस पर राव कर्णसिंह को क्रोध आगया और वह तलवार पर हाथ रख कर बोला, मुँह सम्भाल कर बोलो । ये शब्द सुनकर स्वामीजी के भक्त टीकारामजी भयभीत हो गये परन्तु श्री महर्षिजी ने उनको समझाया डरते क्यों हो, डर की कुछ भी बात नहीं, मैं ने जो कुछ कहा है सत्य कहा है । राव कर्णसिंह को बहुत गुस्सा आया और वह महाराज पर तलवार का वार करने के लिये आगे बढ़ा—वह तलवार चलाना ही चाहता था कि महाराज ने झपट कर तलवार उसके हाथ से छीन ली और भूमि के साथ टेककर दबाव देकर उसके दो टुकड़े कर डाले और उसका हाथ पकड़ कर कहा क्या तुम यह चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूं ? राव कर्णसिंह का मुख पीला पड़ गया और वह मूर्छित सा हो गया । उस समय श्री स्वामीजी ने यह कह कर कि मैं सन्यासी हूं तुम्हारे किसी भी अत्याचार से दुःखित होकर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करूंगा । जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे और तलवार के दोनों खण्ड दूर फैंक कर राव कर्णसिंह को विदा कर दिया ।

आदर्श ब्रह्मचारी का अहङ्कार सम्बन्धी बल

जिन मनुष्यों का अहङ्कार अन्तःकरण ब्रह्मचर्य्य के कारण बहुत बलवान् हो जाता है उनका घोर अपमान होने पर भी वे कभी दुःखित नहीं होते और बहुत अधिक सम्मान पाकर भी वे प्रसन्न नहीं होते । पूना में जब महर्षिजी के व्याख्यान हो चुके तो श्री महादेव गोविन्द राणाडे आदि सज्जनों ने उनका श्रद्धापूर्वक सम्मान किया । एक पालकी में वेद रखे गये और श्री स्वामीजी के गले में पुष्पमाला पहिना कर उनको हाथी पर आरूढ़ किया गया । बड़े भारी समारोह के साथ नगरकीर्त्तन की यात्रा निकाली । उसी समय उपद्रव करने वाले लोगों ने उनको अपमानित करने के लिये "गर्दभानन्द आचार्य" यह अपवित्र नाम धर के सवारी निकाली । कुछ पानी पड़ जाने के कारण मार्ग में कीचड़ हो रहा था, उपद्रवियों ने श्री स्वामीजी पर कीचड़ फेंका । साथ ही ईंट पत्थर बरसाये । परन्तु श्री महर्षिजी मान के कारण कुछ भी प्रसन्न नहीं हुए और अपमान के कारण कुछ भी दुःखित नहीं हुए ।

आदर्श ब्रह्मचारी का बौद्धिक बल

ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से जिन मनुष्यों की बुद्धि विशेष बलवती हो जाती है वे अपने विपक्षी को शास्त्रार्थ में पराजित ही नहीं करते प्रत्युत उनको अपने पक्ष का समर्थक और आज्ञापालक भी बना लेते हैं । इस आदर्श गुण से भी आदर्श ब्रह्मचारी दयानन्दजी शोभायमान थे । वेदों के सर्वोत्तम भाष्यकार महर्षिजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये अनूपशहर के एक एक वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित हीरावल्लभजी कर्णवास में आये । पण्डितजी ने सभा मण्डप में आते ही एक छोटे से सुन्दर सिंहासन पर गोमती-चक्र

बालमुकुन्द, शालिग्राम आदि की मूर्तियां स्थापित करके ऊँचे स्वर से गर्ज कर यह प्रतिज्ञा की कि "अब मैं यहां से तब उँठू जब श्री स्वामीजी से इन्हें भोग लगवा लूंगा। छः दिन तक लगातार शास्त्रार्थ का संग्राम जारी रहा। हीरावल्लभजी को उनके बहुत से साथी पर्याप्त सहायता देते थे परन्तु वे दिन प्रतिदिन अधिकाधिक ही निराश होकर लौटा करते थे। छः दिनों के पश्चात् उन्होंने सभा के सन्मुख यह स्वीकार किया कि श्री स्वामीजी महाराज जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य है, प्रामाणिक है उनकी विद्या अगाध है, युक्ति अकाट्य है और बुद्धि तीव्र है। पण्डितजी ने उसी समय मूर्तियों को सिंहासन पर से उठा कर गङ्गा में फैंक दिया श्री महर्षिजी ने हीरावल्लभजी के सत्यप्रेमी होने की बहुत प्रशंसा की। इतने बड़े विद्वान् के पराजित होने से सैकड़ों सज्जनों ने मूर्तिपूजा का परित्याग करने की प्रतिज्ञा की और पंडितजी का अनुकरण करते हुए उसी समय मूर्त्तियों को गङ्गा के प्रवाह में प्रवाहित कर दिया।

आदर्श ब्रह्मचारी का आत्मिक बल

जिन महात्माओं को ब्रह्मचर्य का पालन करते २ ब्रह्मचर्य्य की सिद्धि प्राप्त हो जाती है उनके आत्मा का बल इतना अधिक बढ़ जाता है कि हज़ारों मनुष्यों के द्वारा पहुंचाये गये लाखों कष्टों को भी वे पूर्णरूप से प्रमुदित रहकर सहन कर लेते हैं, और उनके आत्मा में एक बिन्दु भर भी अशान्ति कदापि प्रविष्ट नहीं होती। इतने अधिक आत्मिक बल के धनी भी श्री महात्मा दयानन्दजी ही थे।

पण्डित ईश्वरसिंह नाम के एक बहुत अच्छे आत्मबलनिरीक्षक काशी में निवास करते थे, उन्होंने एक दिन आनन्दोद्यान से लौटता हुआ एकजन समुदाय देखा, उसमें पण्डित विद्यार्थी और साधारण लोग श्री महर्षिजी को नाना प्रकार के कुवचन बोलते हुए जा रहे थे। ईश्वरसिंहजी ने वहां यह भी सुना कि श्री बालब्रह्मचारी ने पचास हज़ार मनुष्यों की सभा में काशी के दिग्गज पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको परास्त किया है परन्तु पक्षपाती लोगों ने उसमें अन्याय, अत्याचार और धोखे बाजी करके महात्माजी को बहुत अपमानित किया है, उन पर ईंट पत्थर गोबर और जूते फेंके हैं और उन्हें सैकड़ों गालियाँ दी हैं। यह सुनकर ईश्वरसिंहजी के मन में यह सङ्कल्प उत्पन्न हुआ कि चलो इसी समय चलकर श्री दयानन्दजी की दशा देखें, यदि इस घोर निरादर से अत्यन्त अपमान से, निष्ठुर अन्याय से उनके आत्मा में किञ्चिन्मात्र भी अशान्ति उत्पन्न नहीं हुई तो मैं समझूंगा कि वे एक सच्चे ब्रह्मज्ञानी और उच्चकोटि पर पहुँचे हुए महात्मा हैं।

जिस समय ईश्वरसिंहजी आनन्दोद्यान में पहुँचे तो महाराज चाँद की चाँदनी में टहल रहे थे। ईश्वरसिंहजी को आते देखकर श्री महर्षिजी ने मुस्कराते हुए बड़े आदर से उनका स्वागत किया। दोनों मिलकर बड़ी रात तक आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी विषयों पर वार्त्तालाप करते रहे। इतनी लम्बी बातचीत में ईश्वरसिंहजी को महात्माजी के मुख मण्डल पर उदासीनता का एक भी धब्बा दिखाई नहीं दिया और उन्होंने शास्त्रार्थ सम्बन्धी अत्याचार की कुछ भी चर्चा नहीं चलाई। यह देखकर ईश्वरसिंहजी ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक श्री महर्षि जी के चरणों में शिर झुका कर प्रणाम किया और कहा कि महाराज!
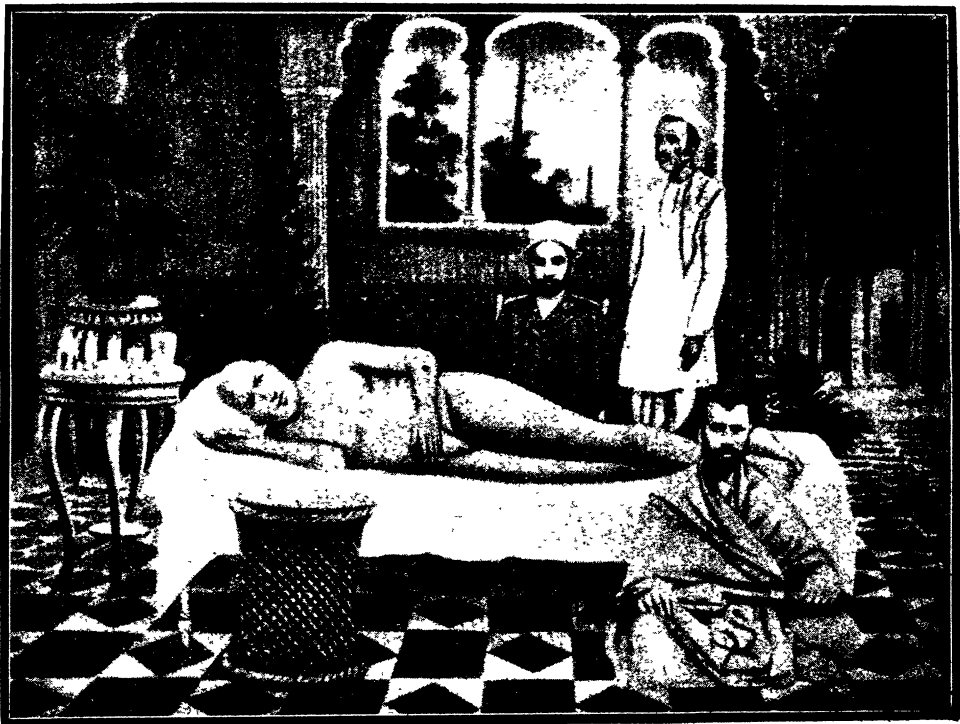
महर्षि दयानन्द सरस्वती—मृत्यु दृश्य।

आज तक मैं आपको वेद शास्त्र का ज्ञाता एक पण्डित मात्र समझता रहा हूँ परन्तु आज पण्डितों के घृणित उपद्रव से और अन्यायपूर्ण अपमान से आपके हृदयसागर में राग द्वेष की एक लहर न उठते देख मुझे पूर्ण विश्वास होगया कि आप वीतराग महात्मा और सिद्धपुरुष हैं।

क्योंकि श्री महर्षिजी ने ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करके अपने शरीर, चित्त, मन, बुद्धि और आत्मा को अत्यन्त बलवान् बना लिया था और ब्रह्मचर्य्य पूर्ण जीवन बनाकर वे वास्तव में आदर्श ब्रह्मचारी कहलाने के अधिकारी बन गये थे। इसलिये उनकी मृत्यु की घटना भी अत्यन्त प्रभावशाली हुई। वे शरीर पर निकले छालों के कारण चिन्तित नहीं थे किन्तु ब्रह्मचर्य्य के बल से वे ब्रह्म को पाकर अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे। इस मृत्यु के दिव्य-दृश्य ने कट्टर नास्तिक पण्डित गुरुदत्तजी को बहुत पक्का आस्तिक बना दिया कि उन्होंने अपने शेष सम्पूर्ण जीवन को श्री महर्षि दयानन्दजी के अनुकूल बनाने का प्रण कर लिया और उस प्रण को पूर्णरूप से निभाया। हमें भी श्री पं० गुरुदत्तजी के समान श्री बाल ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्दजी के पूर्ण अनुकूल अपना जीवन बनाने के लिए विशेष पुरुषार्थ करना चाहिये और दिन रात ब्रह्मचर्य्य के नियमों के पालन में ही लगातार लगा रहना चाहिये।
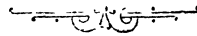
सम्पादकीय टिप्पणी

विवाहों के आठ प्रकार

(क) स्मृति ग्रन्थों तथा धर्म सूत्रों में विवाह के ८ प्रकार कहे गये हैं। यथा:—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गन्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच (बौधायन धर्मसूत्र, प्रश्न १, अध्याय ११)।

विद्या तथा सदाचार से सम्पन्न ब्रह्मचारी के लिये कन्यादान करना ब्राह्म-विवाह है।

कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित कर तथा यह कह कर इसका दान करना कि "यह कन्या है इसके साथ गृहस्थ धर्म का पालन करो" प्राजापत्य-विवाह है।

लाजाहुति के मध्य में कन्या के सम्बन्धी से एक गौ और एक बैल देकर कन्या का ग्रहण करना आर्ष-विवाह है।

ऋत्विक् जब दक्षिणा ले रहा हो तो, उसी समय, दक्षिणा का देने वाला यजमान जब अपनी कन्या का भी दान कर दे तो वह दैव-विवाह है।

परस्पर कामना वालों का परस्पर मेल हो जाना गान्धर्व विवाह है।

धन द्वारा कन्या के सम्बन्धियों को संतुष्ट कर विवाह करना आसुर-विवाह है।

जबरदस्ती कन्या को ले जाना राक्षस-विवाह है।

सोई हुई, शराब से मस्त या बेहोश कन्या के साथ सम्बन्ध कर लेना पैशाच-विवाह है।

इन विवाहों के सम्बन्ध में कइयों का विचार है कि ये सभी विवाह किसी एक ही जाति में प्रचलित न थे। अपितु स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों के काल में भिन्न २ जातियों में जो २ विवाह प्रचलित थे उन विवाहों को स्मृतिकारों तथा धर्म सूत्रकारों ने आठ विभागों में बांट दिया था। इसलिये उपरोक्त आठ प्रकार के विवाह किसी एक ही जाति में प्रचलित न थे। किसी जाति में कोई विवाह प्रचलित था और किसी में कोई। गान्धर्व-विवाह सम्भवतः गन्धर्व जाति के लोगों में प्रचलित रहा हो। आसुर-विवाह (जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है) सम्भवतः असुर नाम वाली जाति में प्रचलित रहा हो। राक्षस-विवाह सम्भवतः राक्षस नाम वाली किसी जाति (लंकावासी) में प्रचलित रहा हो। इसी प्रकार पैशाच विवाह सम्भवत पिशाच नाम वाली जाति में प्रचलित रहा हो। पिशाच नाम वाली उत्तर भारत में कश्मीर प्रदेश के समीप अब भी रहती है। भाषा-विज्ञों ने इस जाति की भाषा को पैशाची-भाषा कहा है। यह नाम प्राचीन समय से इस भाषा का चला आया है।

परन्तु विवाहों के सम्बन्ध में उपरोक्त धारणा प्राचीन साहित्य के लेखों से प्रमाणित नहीं होती। बोधायन धर्मसूत्रों के आधार पर इस पर थोड़ा प्रकाश डाला जाता है।

बोधायन धर्मसूत्रों (प्रश्न १, अध्याय ११) में लिखा है कि "इन विवाहों में से पहले चार ब्राह्मण के लिये हैं, और इनमें भी पूर्व २ का विवाह ब्राह्मणों के लिये श्रेष्ठ है" ॥ सूत्र १० ॥

"अगले चार विवाहों में अगला २ अधिकाधिक पाप से सम्पन्न है" ॥ सूत्र ११ ॥

"छठा (आसुर) तथा सातवां (राक्षस) बल धर्म वालों अर्थात् क्षत्रियों के अनुकूल है" ॥सूत्र १२॥

"पांचवां (गान्धर्व) तथा आठवां (पैशाच) क्रम से वैश्यों और शूद्रों के लिये है" ॥ सूत्र १३ ॥

"क्योंकि वैश्यों और शूद्रों की स्त्रियों के सम्बन्ध में नियन्त्रण का अधिक महत्त्व नहीं ॥ सूत्र १४ ॥

बोधायन मुनि के इन सूत्रों से ज्ञात होता है कि बोधायन इन आठ विवाहों का सम्बन्ध किन्हीं भिन्न भिन्न जातियों के साथ न मानते थे। क्योंकि बोधायन मुनि इन आठों विवाहों का सम्बन्ध केवल आर्य जाति के साथ ही दर्शाते हैं। इन आठों में से पहले चार का सम्बन्ध ब्राह्मणों के साथ दर्शाया गया है, पांचवें का वैश्यों के साथ, छठे और सातवें का क्षत्रियों के साथ तथा आठवें का शूद्रों के साथ दर्शाया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह वर्ण-विभाग आर्यों का ही है। इससे प्रतीत होता है कि आठप्रकार के ये विवाह भी सम्भवतः आर्य जाति में ही प्रचलित रहे होंगे। इनमें से कतिपय विवाह आर्य जाति के हैं और कतिपय अनार्य जाति के—यह कल्पना, बोधायन मुनि को सम्मत प्रतीत नहीं होती।

(ख) उपरोक्त लेख द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि "गन्धर्व, असुर, राक्षस और पिशाच"—ये नाम सम्भवतः बोधायन मुनि के मतानुसार अनार्य जाति की उपजातियों के नहीं, अपितु ये नाम भी आर्य जाति की ही भिन्न २ गुणों का सम्बन्ध बोधायन ने चारों वर्णों के साथ ही माना है। अतः प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों में ही

जो लोग सकाम होकर विवाह करते थे उनके विवाह को "गान्धर्व विवाह कह दिया जाता था, जो धन देकर कन्या के सम्बन्धियों को प्रसन्न कर विवाह कर लेते थे उनके विवाह को "आसुर—विवाह कह दिया जाता था (असु = वसु—धन) + र (वाला) = धनी, जो विवाह में जबरदस्ती से काम लेते थे अब विवाह को राक्षस-विवाह कह दिया जाता था, और जो सोई या बेहोश पड़ी या पागल स्त्री के साथ उसके बिना जाने सम्भोग कर लेने पर पश्चात् विवाह कर लेते थे उनके विवाह को पैशाच-विवाह कह दिया जाता था।

(ग) बोधायन धर्मसूत्रों में इस पक्ष का पोषक एक और सूत्र भी है। यथाः—"कई आचार्य सभी वर्णों के लिये गन्धर्व-विवाह ही की प्रशंसा करते हैं क्योंकि विवाहों की इस विधि में स्नेह का सम्बन्ध दिखाई देता है"। प्र० १, अध्याय ११, सूत्र १२॥

गन्धर्व-विवाह में चूँकि वर-वधू की परस्पर इच्छा के पूर्ण विश्वास का मौका मिलता है इसलिये ही गान्धर्व-विवाह को इस सूत्र में श्रेष्ठ तथा सभी वर्णों के लिये उपयुक्त समझा गया है।

आर्य्य समाज का सदाचार सम्बन्धी उपनियम

३ मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली से "आर्य समाज का सदाचार सम्बधी उपनियम"—जो कि संशोधित किया गया है—निम्न लिखित प्राप्त हुआ है।

सदाचार सम्बन्धी आर्य्यसमाज का पुराना उपनियमः—

"४—(क) जिनका नाम आर्य्यसमाज में सदाचार से एक वर्ष रहा हो और वे अपने आय का शतांश वा अधिक, मासिक वा वार्षिक आर्य्य समाज को दें आर्य सभासद् हो सकते हैं।"

सदाचार सम्बन्धी आर्य्य समाज का संशोधित उपनियमः—

"४—(क) जिनका नाम किसी भी आर्य्य समाज में सदाचार से एक वर्ष अङ्कित रहा हो और वे अपनी आय का शतांश या २५०) वार्षिक वा अधिक धन समाज को देते रहे हों और साप्ताहिक सत्संगों में उनकी उपस्थित कम से कम २५ प्रतिशतक रही हो तो वे आर्य सभासद् हो सकते हैं।

(ख) उपधारा (क) में प्रयुक्त सदाचार की परिभाषा इस प्रकार हैः—

जो सृष्टि आदि से लेकर आजपर्य्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है जिसकी मूल कसौटी सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग है, सदाचार है।

नोट—सन्ध्या आदि नित्यकर्म, शुद्धवृत्ति वैदिक संस्कार, पति तथा पत्नीव्रत, सत्याचरण है। व्यभिचार, मद्यादि मादक द्रव्यों और मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन, जुआ, चोरी, छलकपट, रिश्वत आदि से धन पैदा करना असत्याचरण हैं।"

श्रीमानों से प्रार्थना है कि वे उपर्युक्त धारा में वर्णित सदाचार की व्याख्या के सम्बन्ध में अपनी सम्मति इस सभा के कार्य्यालय में शीघ्र से शीघ्र भेजें।

मन्त्री

सार्वदेशिक सभा

इस पर हमारा निम्नलिखित विचार है। संशोधित उपनियम नं० ४ (क) में साप्ताहिक सत्संगों में २५ प्रतिशतक की उपस्थिति की शर्त हमारी दृष्टि में

उचित नहीं। आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग कोई स्कूल मदरसा या कालेज नहीं हैं जहां कि परीक्षा देनी होती है और उसके लिये विद्यार्थियों को व्याख्यानों की एक नियत संख्या से उपस्थित होना लाजमी होता है। क्या साप्तहिक सत्संगों में प्रधान या मन्त्री मास्टर बनकर हाजरी बोला करेंगे। आर्य सभासदी का साल भर में उपयोग चुनाव के समय में हुआ करता है। २५ प्रतिशतक हाजरी का संशोधन शायद इसी समय के लिये किया गया प्रतीत होता है। शायद है कि एक आर्य सभासद् जो कि जीवन की दृष्टि में महान् हो या उत्तम हो और साथ ही वह नियमित चन्दा भी देता रहा परन्तु किसी भयंकर बिमारी के कारण किसी वर्ष उसकी २५ प्रतिशतक उपस्थिति न हो सकी हो तो क्या वह उस वर्ष आर्य सभासद् न गिना जायगा। हमें तो यह विचार कोई अधिक क्रियात्मक प्रतीत नहीं होता। साथ ही हमारा यह देर का अनुभव है कि लोग प्रायः आर्यसमाज की सभासदी के लिये अधिक लालायित नहीं रहते। उन्हें नाना ढंगों से आर्यसमाज का सभासद् बनाया जाता है, ताकि आर्यसमाज का चन्दा अधिक मात्रा में हो सके और स्थानिक आर्यसमाज की संस्थाएं तथा अन्य काम चल सकें। आर्यसमाज में जो अधिकारों के भूखे हैं वे तो शायद इस संशोधन में होते हुए अधिक से अधिक यत्न करेंगे कि उनकी साप्ताहिक सत्संगों में उपस्थिति २५ प्रतिशतक से भी अधिक हो जाय। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग तो धर्म के जीते जागते स्रोत होने चाहिये। इनमें जिसकी लालसा हो आकर स्नान करे और शान्त हो। इस स्रोत में अवश्य ही इतनी वार स्नान करना पड़ेगा—यह नियम हमारी दृष्टि में अनुपयुक्त है। सम्भव है कि यह संशोधन इसलिये किया गया हो कि चुनाव के ठीक समय में कोई व्यक्ति ११ मास का इकट्ठा चन्दा देकर कहीं आर्यसमाज का सभासद् बनकर चुनाव में गड़बड़ न डाल दे। ऐसी कुप्रवृत्तियों के रोकने के अन्य उपाय भी हो सकते हैं,—यथा चन्दे का प्रतिमास नियम पूर्वक लेना और इकट्ठा ११ मास का चन्दा स्वीकार करना, अतः ऐसी २ कुप्रवृत्तियों के रोकने के लिये उपनियम धारा के विशुद्ध धार्मिक स्वरूप को सदा के लिये कलुषित न कर देना चाहिये।

इसी प्रकार सदाचार के लक्षण पर जो नोट दिया गया है वह व्याख्या की शक्ल में यदि गिना जाय और दुराचार की लिस्ट यदि और लम्बी कर दी जाय तब तो कोई विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती। सदाचार का लक्षण तो यही ठीक है जो कि "मूल-कसौटी" के रूप में ऊपर दिया हुआ है। आर्य समाज इतने वर्षों के बाद अब रूढ़ अवस्था तक पहुंच चुका है। आर्यसमाज का बच्चा २ जानता है कि आर्यसमाज के मुख्य मन्तव्य और सदाचार क्या हैं। विधर्मियों से शास्त्रार्थ करते २ अब वे लोग भी—जो कि आर्यसमाजी नहीं हैं—यह जान गये हुए हैं कि आर्यसमाजी यह मानते हैं और यह नहीं मानते। ऐसी अवस्था में क्या आर्यसमाज ही नहीं जानता कि आर्यसमाज का रूढ़ बना हुआ सदाचार क्या है और क्या नहीं है। सदाचार के लक्षण पर नोट लिखने का मुख्य अभिप्राय हमें यह प्रतीत होता है कि "मास के प्रचारकों" को सदाचारियों की गणना में न गिना जाय। सिद्धान्त की दृष्टि से यह
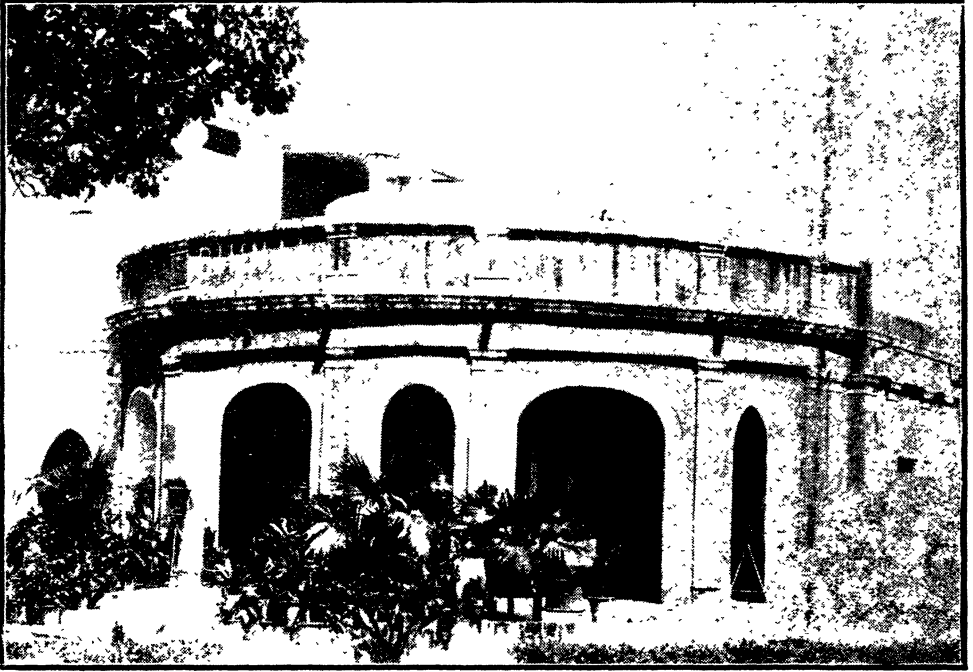
भिनाय की कोठी—जिसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती का देहावसान हुआ।

भाव उत्तम है और पंजाब में महात्मा-दल के आर्य मांस के खाने वालों तथा इसके प्रचारकों को अच्छी दृष्टि से देखते भी नहीं रहे। यू० पी० वाले आर्यसमाजी तो मांस के प्रायः विरुद्ध रहे हैं। इस समय "सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली में इन्हीं दोनों दलों का ज़ोर है। ऐसी अवस्था में इन्हें कोई भय न होना चाहिये था कि कभी मांस प्रचारक ज़ोर पकड़ सकते हैं। ऋषि दयानन्द के लेख सदा मांस प्रचार के विरुद्ध रहे हैं। ऋषि के लेखों के होते हुए भी जो दल मांस प्रचार में लज्जा अनुभव नहीं करता और अपने आपको आर्यसमाजी कहता चला जाता है वह भला एकदल की प्रधानता में स्वीकृत हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली के नोट पर कब ध्यान देने लगा। हमारी यह निश्चित सम्मति है कि उस दल ने, जिसने कि आर्य संसार में मांस के प्रश्न को ढीला बल्कि न के बराबर कर दिया है, वेदों के एक व्यापी तथा पवित्र सिद्धान्त पर कुठाराघात किया है। परन्तु नोट लिखने का ढंग इस वाममार्गी प्रवृत्ति को हटाने में कभी समर्थ नहीं हो सकता, जबकि इस नोट की तह में दलों की पारस्परिक कश्मकश काम कर रही हो। महात्मा दल में भी आर्य समाज के कई सभासद् तथा कई अधिकारी मांसाहारी हैं परन्तु वे मांसाहार के प्रश्न पर लजाते अवश्य हैं। हमारी सम्मति यह है कि निर्वाण अर्द्धशताब्दी के समय इस प्रश्न पर विचार करने के लिये दोनों दलों को एकत्र होना चाहिये। यदि दोनों दलों के मुखियों में समझौता होजाय तब अपनी २ प्रतिनिधि सभाओं में मांस के प्रश्न पर निश्चित प्रस्ताव पास कर उसे आर्य सभासदी की शर्तों में शामिल कर लेना चाहिये। वरना सार्वदेशिक सभा का प्रस्ताव उपरोक्त क्रियात्मक दृष्टि से हमें प्रभावोत्पादक प्रतीत नहीं होता। साथ ही इस नोट में, कई ऐसे दुराचार भी हैं, जिनका कि समावेश नहीं हुआ। क्या आर्य सभासद के लिये उनकी अधिक आवश्यक्ता नहीं समझी गई? उन दुराचारों का समावेश "आदि" शब्द में ही मानकर वह छोड़ दिया प्रतीत होता है। हमारा विचार है कि या तो नोट देना चाहिये ही यदि नहीं देना भी हो तो इस नोट में अन्य दुराचारों का भी समावेश कर नोट की सूची को और लम्बा चौड़ा बना देना चाहिये।

—सम्पादक

नया वर्ष

१—वैदिक विज्ञान के जीवन में अब नया वर्ष प्रारम्भ होता है। पिछले १२ अंकों में वैदिक विज्ञान ने वैदिक धर्म की जो सेवा की है उसे वैदिक विज्ञान के पाठक स्वयं जानते हैं जो वैदिक विज्ञान के लेखों के सम्बन्ध में प्रसंशा पत्र जो कि समय २ पर आते रहे हैं उन्हें यहाँ प्रकाशित कर स्थान को व्यर्थ में भरना नहीं चाहता। उनपत्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्यजगत् वैदिक विज्ञान का हृदय से स्वागत करना चाहता है। आज हाल में ही श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज का पत्र आया है जिसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है:—

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप वैदिक विज्ञान का विशेषांक निकाल रहे हैं। वैदिक विज्ञान अपने उत्तम लेखों से वैदिक साहित्य की बड़ी सेवा कर रहा है १—मैं हृदय से इसकी सफलता चाहता हूं (१३। ९।३३ अजमेर)।

२ - परन्तु आर्य जगत् ने वैदिक विज्ञान का जितना स्वागत हृदय की शुभ भावनाओं द्वारा किया है उतना धन द्वारा नहीं। इस मासिक पत्र का वार्षिक मूल्य केवल ४) है प्रतिमास लगभग सवा पांच आने हैं। वैदिक धर्म के प्रेमी मासिक सवा पांच आने के व्यय को भी क्या अधिक व्यय समझते हैं। यदि आर्य जगत में २००० के लगभग भी ग्राहक वैदिक विज्ञान के होजांय तो वैदिक विज्ञान वेदों के रहस्य द्वारा वैदिक धर्म की और भी अधिक सेवा कर सकेगा वैदिक विज्ञान के प्रेमियों तथा हितैषियों से निवेदन है कि वे वैदिक धर्म के एक मात्र उद्धारकर्त्ता महर्षि दयानन्द की निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में वैदिक धर्म के स्वाध्याय के प्रति अपनी २ भावना को और दृढ़ करें और प्रत्येक ग्राहक कम से कम दो और ग्राहक बनाने का प्रयत्न कर श्रेयभागी बने।

३—पत्र में मैं अपने दयालु तथा योग्य लेखकों को विना धन्यवाद दिये नहीं रह सकता जिन्हों ने कि एक मात्र वैदिक धर्म की सेवा से प्रेरित होकर समय २ पर वैदिक विज्ञान की वाटिका को अपने गवेषणा-पूर्ण लेखों द्वारा भरा तथा पुष्पित फलित किया है। यहाँ किसी लेखक का नाम लेकर, मैं धन्यवाद देना नहीं चाहता हूं जिस जिस के लेख समय २ पर वैदिक विज्ञान में प्रकाशित होते रहे हैं। मैं आशा करता हूं कि वैदिक विज्ञान के पूर्व लेखक तो वैदिक विज्ञान को अपनी कृपा का पात्र बनाते ही रहेंगे साथ ही नये लेखक भी अपने लेखों द्वारा वैदिक विज्ञान की सहायता कर यश के भागी बनेंगे।

साहित्य जगत्

जीवन-पथ

१६ पेजी, पृष्ठ १०४, कागज़ बढ़िया तथा छपाई उत्तम है। मूल्य ।–) है। प्रकाशक आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर है। लेखक श्री पं० प्रियरत्नजी आर्ष।

यह पुस्तक श्रीमद्दयानन्द निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष्य में प्रकाशित की गई है। व्यक्ति जीवन सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन, विश्वहित, धर्मचर्य, तथा वैज्ञानिक घटनाएं इन विषयों पर लेखक ने बहुत सरल परन्तु भाव पूर्ण भाषा में उस पुस्तक में प्रकाश डाला है। पुस्तक का महत्व और भी बढ़ जाता है जब कि हक देखते हैं कि लेखक ने इउरोक्त विषयों पर जो कुछ लिखा है वह सब प्रायः वेदमन्त्रों के आधार पर है।

यह पुस्तक बालक और बालिकाओं को वैदिक धर्म में दीक्षित करने का बहुत उत्तम तथा सरल उपाय है। हम आशा करते हैं कि आर्य जगत् की पाठशालाओं के लिये चाहे ये पाठ शालाएँ बालकों के लिये हो या बालिकाओं के लिये यह पुस्तक बहुत महत्त्व की साबित होगी। पाठशालाओं में इनाम बांटने के लिये भी यह पुस्तक एक अद्वितीय रत्न है। —सम्पादक

Registered No. N—502

छपना आरम्भ होगया।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्र बाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान् न होते हुए भी इस कार्य को विना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफ़र करना पड़ा और एक एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यकसामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवनचरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही हो गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, जो देवेन्द्र बाबू के परम परिचितों में थे, ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी बरसों परिश्रम और बहुत सा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हज़ारों छोटे छोटे पुर्ज़े, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग १००० रायल आठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व तिरंगे चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हज़ार रुपया व्यय कूता गया है। इतना द्रव्य व्यय करने एक पुस्तक पर लगभग ७, ८, रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान् ग्रन्थ आर्य-सभासद् तथा आर्यसमाज के अतिरिक्त और कौन ले सकता है आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ,

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और प्रथम संस्करण एक हज़ार छापना आरम्भकर दिया है।

हज़ारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हज़ार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परम कर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेनी चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व वा अमूल्य होगा, इसका बार बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अतः आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाइरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस अजमेर में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ

पौष सं० १९९० वि० | दिसम्बर सन् १९३३ ई०

वर्ष २] [अङ्क ३

महर्षि दयानन्द का पत्र ला० रामचरण कालीचरण के नाम

ओ३म्

लाला रामचरण कालीचरणजी [illegible] आर्यसमाज फुर्कखाबाद
आनन्दित रहो.
आप परोपकारप्रिय धार्मिक जनोंको सब जगत्के उपका-
रार्थ गाय बैल और भैंसकी हत्याके निवारणार्थ दो पत्र
एक तो सही करनेका और दूसरा जिसके अनुसार सही करनी
चाहिये हैं. दोनों पत्र भेजता हूं. इसको आप प्रीति और उत्साह
पूर्वक स्वीकार कीजिये। जिससे आप महाशय लोगोंकी कीर्ति
इस संसारमें सदा विराजमान रहै. इस कामको सिद्ध करने
का विचार इस प्रकार किया गया है कि २००००००० दो करो-
डसे अधिक राजे महाराजे और प्रधान आदि महाशय पुरुषों-
की सही कराके आर्यावर्त्तीय श्रीमान् गवरनरजनरल साहब
बहादुरसे इस विषयकी अर्जी करके उपरिलिखित गाय आ-
दि पशुओंकी हत्याको छुड़वा देना. मुझको दृढ़ निश्चय है कि
प्रसन्नतापूर्वक आप लोग इस महोपकारक कामको शीघ्र करेंगे।
अधिक प्रती भेजनेका प्रयोजन यह है कि जहां २ उचित सम
झें वहां २ भेजकर सही करा लीजिये. पुनः नीचे लिखित
स्थानमें रजिष्टरी कराके भेज दीजिये. (लाला
रामशरणदास रईस मन्त्री आर्यसमाज मेरठ महल्ला
कानून गोयान) अलमति विस्तरेण धर्मिवर । शिवमाशिषु.

चैत्र शुक्ला ८ सोम० सम्वत् १९३८

हस्ताक्षर

दयानन्द सरस्वती

अवैतनिक सम्पादक—श्री प्रो० विश्वनाथजी विद्यालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० | प्रति अङ्क ।=)

॥ ओ३म् ॥
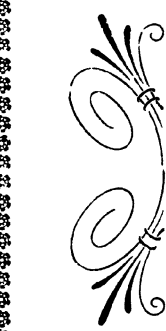
वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २ | पौष संवत् १९९० वि०, दिसम्बर सन् १९३३ ई० | सं० ३

वेदोपदेश

मधुर और सत्य भाषण

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ अथर्व० १२।१।५८॥

"मैं जो बोलता हूं वह मीठा बोलता हूं और वह बोलता हूं जो कुछ कि देखता हूं—इस प्रकार ही मुझे उपदेश देते हैं। मैं कान्ति वाला हूँ, उद्यमी हूं, हिंसकों को मैं मार गिराता हूं।"

उपरोक्त मन्त्र क्रियात्मक जीवन का रस रूप है। व्यक्ति को समाज में रहते अपने व्यवहार किस प्रकार रखने चाहियें इसका व्यक्त वर्णन यह मन्त्र कर रहा है। आजकल का लोकाचार इस मन्त्र के भाव से कोसों दूर है। गृहस्थ जीवन में, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में, सामाजिक-मिलनों तथा सभा—सोसाइटियों में हम इस मन्त्र के भाव की कितनी अवहेलना कर रहे हैं इसे प्रत्येक समझदार व्यक्ति अनुभव कर सकता है। आजकल गृहस्थ जीवन की बरबादी में मुख्य कारण यह भी है कि पति और पत्नी अपनी २ जबान

को अपने काबू में नहीं रख पाते। कटु भाषण का प्रचार गृहस्थ जीवन में इतना बढ़ गया है कि प्रत्येक गृहस्थी अपने गृहस्थ जीवन से ऊब-सा रहा है।

गुरु-शिष्य के पवित्र सम्बन्ध में भी इस कटु भाषण ने प्रवेश किया हुआ है। गुरुओं की शिष्यों के प्रति कड़ी डाँट तथा शिष्यों का प्रत्युत्तर में गुरुओं के प्रति मन-मुटाव कटु भाषणों के सीधे परिणाम हैं। प्रेम और मुहब्बत से गुरु जो काम शिष्यों से करा सकते हैं उसे वे कटु भाषण से कदापि नहीं करा सकते, इसी प्रकार शिष्य अपने विनयभाव से गुरुओं के मनों को जितना अपनी ओर झुका सकते हैं उतना मनमुटाव तथा द्वेषभाव के प्रदर्शन से नहीं।

आजकल के सामाजिक मिलन तथा सभा-सोसाइटियां तो लड़ाई झगड़े के अखाड़े बने हुए हैं। पार्टी-बन्दी में आजकल मूल कारण परस्पर का कलह और कटु भाषण ही है।

वेद इस फटाव तथा दुःख का इलाज उपरोक्त मन्त्र में बतला रहा है। वैदिक जीवन में ढला हुआ व्यक्ति इसकी औषध यह कहता है कि—

१—"यद् वदामि मधुमत"—"मैं जो बोलता हूं वह मीठा बोलता हूं"।

वाणी का मिठास मित्र को शत्रु नहीं बनने देता, बल्कि शत्रु को भी मित्र बना लेता है। शस्त्र का काटा मिल जाय परन्तु वाणी का कटा मिल नहीं सकता। वेद इसीलिये शिक्षा देता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना निरीक्षण करे और निरीक्षण करने के बाद कहे (यदि यह कथन सत्य हो तो) कि "मैं जो बोलता हूं वह मीठा बोलता हूं"।

२—परन्तु यह उपदेश, मीठा बोलने का उपदेश भ्रम में भी डाल सकता है। दूसरों के जीवन में खराबी और बुराई को देखकर भी यदि मनुष्य उसके प्रति मीठा ही बना रहने की कोशिश करता रहेगा तो सामाजिक-जीवन गन्दा हो जायगा, सड़-गल जायगा। ऐसी खराबियों को जड़ से उखेड़ देने का भी यत्न करना चाहिये, नहीं तो मनुष्य के अन्दर पाप के प्रति सहिष्णुता के बढ़ जाने की सम्भावना है। इस सम्भावना को दृष्टि में रखते हुए वेद पुनः उपदेश रूप में व्यक्ति के मुख से यह शब्द निकलवाता है कि—

"तद् वदामि यदीक्षे"—"और वह बोलता हूं जो कुछ कि देखता हूं"।

व्यक्ति या समाज की खराबी को देखकर मैं उस खराबी के विरोध में बोलता हूं, अपनी आवाज बुलन्द करता हूं। इस अवस्था में इन दोनों उपदेशों में परस्पर विरोध की सम्भावना हो उठती है। जब दूसरों की खराबी के विरोध में बोलता है तब मीठा बोलना कैसे सम्भव हो सकता है ?। यहां वेद यही उपदेश देता है कि खराबियों के विरोध में बोलो, जो सत्य तुम ने देखा है उसे छिपाओ नहीं, परन्तु सत्य अपने स्वरूप में चाहे कटु लगे, तो भी तुम अवश्य कोशिश करो कि उस कटु-सत्य को भी मीठा रूप मिल सके। परस्पर सहानुभूति से प्रेरित होकर यदि इस प्रकार के कटु सत्य भी कहे जायंगे तो उन्हें मीठा रूप दिया जा सकता है। इसीलिये मनु महाराज ने भी कहा है कि:—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः॥"

अर्थात् "सत्य बोलो परन्तु प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य न बोलो, परन्तु प्रिय असत्य भी न बोलो"।

अन्धे को "ओ अन्धे !" कह कर भी पुकारा जा सकता है तथा "श्री प्रज्ञाचक्षुजी महाराज" कह कर भी। प्रथम प्रकार की पुकार सत्य अवश्य है परन्तु कटुमिश्रित है। दूसरे प्रकार की पुकार सत्य भी है और मीठी भी। इस प्रकार व्यक्तियों और समाजों के जीवनों में यदि माधुर्य और सत्य का मिश्रण हो जाय तो इस दृष्टि से जीवन अवश्य आनन्दमय हो सकते हैं।

लोग प्रायः अनाप-शनाप बका करते हैं। कहीं से किसी की कोई बात सुनी, उसे कई गुना करके फैला देते हैं। इसके पता लगाने की वे कोशिश नहीं करते कि सुनी बात ठीक भी है या नहीं, इस आदत के कारण भी सामाजिक जीवन बिगड़ जाते हैं। इस लिये वेद उपदेश देता है कि "तुम उस बात को ही कहो जिसे कि तुमने देखा है जिसकी सचाई को तुमने जान लिया है"। बिना सचाई का पूरा पता लगाये कह देने से सदा नुक्सान हुआ करता है।

३—"तद् वदन्ति मा"। "इस प्रकार का ही उपदेश देना चाहिये, इससे उल्टा नहीं"। अर्थात् (क) मधुर बोलो (ख) जो सचाई तुम देखते हो उसे बोलो परन्तु मीठा करके बोलो (ग) तथा जो बोलो उसकी सचाई परख कर बोलो, सचाई के बिना जाने उसे बोलो नहीं।

४—"त्विषीमान् आदि"। इन उपदेशों पर चलने से मनुष्य के जीवन में एक विशेष कान्ति आती है, दीप्ति तथा तेज आता है, ऐसा मनुष्य लोकोपकार के लिये सदा उद्यम करता रहता है और अपने हिंसक दुर्भावों के मार गिराने में सदा तत्पर रहता है। क्योंकि बिना अपने हिंसक भावों को मारे मनुष्य सचाई की ओर तथा मिठास की ओर ठीक पग नहीं बढ़ा सकता।

वेद और विकासवाद

[ले०—श्री पं० यशपालजी सिद्धान्तालङ्कार वैदिक मिशनरी]

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। बिना प्रारम्भिक ज्ञान के मानव जाति कभी भी उन्नति नहीं कर सकती बिना दियासलाई के बारूद में आग नहीं लग सकती और बिना रगड़ के दियासलाई भी नहीं जल सकती। इसी प्रकार मनुष्य को स्वाभाविक बुद्धि भी बिना ज्ञान के विकसित नहीं हो सकती। संसार की असभ्य जातियों का इतिहास तथा वर्तमान अवस्था इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैसे बिना सिखाये मनुष्य का बालक केवल बुद्धि के आधार पर साधारण व्यावहारिक बात मानने में भी असमर्थ है उसी प्रकार से असभ्य जातियाँ भी बिना सभ्य जाति के संसर्ग के कभी विकसित तथा उन्नत नहीं हो सकती। इस बीसवीं सदी में भी—जिसे कि सभ्यता का सब से उन्नत काल कहा जाता है। ऐसी बीसियों जातियाँ विद्यमान हैं जिनके लोग १० तक गिनना तथा भोजन बनाने की कला भी नहीं जानते। कच्चा मांस खाकर तथा निपट नङ्गे रहकर भी वे अपने जीवन के दिन काट रहे हैं। ज्ञान गुरु-परम्परा के आधीन है। बिना गुरु के

कोई भी मनुष्य ज्ञानवान् नहीं होसकता यहाँ तक कि मनुष्य का बच्चा विना सिखाये केवल अपनी बुद्धि के आधार पर तैरना भी नहीं जान सकता जब कि पशु का बच्चा पैदा होने के साथ ही तैरने लग जाता है पशु को प्रभु ने स्वाभाविक बुद्धि (Instinct) दी है जिसके आधार पर पशु जीवनोपयोगी सब व्यवहार सिद्ध कर लेता है परन्तु मनुष्य के बालक को साधारण-सी बात भी बिना सिखाये नहीं आ सकती। इसलिये हमारे लिये यह मानना अनिवार्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ में भी बिना परमात्मज्ञान के मनुष्य जाति उन्नत नहीं हो सकती। जिस प्रभु ने मानव जाति के कल्याण के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, वनस्पतियां, जलादि आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति की उसी परमकारुणिक भगवान ने मनुष्य बुद्धि के विकास के लिये, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य, सदसद् विवेक के लिये वेद का ज्ञान दिया। जैसे कोई भी गवर्नमेन्ट अपने शासन को सुचारु रूपेण चलाने के लिये नियमों का निर्माण करती है उसी प्रकार से प्रभु ने ऋत तथा सत्य के ज्ञान के लिये वेद का ज्ञान दिया। जैसे सूर्यादि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ उसी प्रकार परमात्मज्ञान भी अखण्ड तथा सदा एक रस है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने जो ज्ञान दिया वही ज्ञान सदा चला आता है। उसमें परिवर्त्तन की कोई आवश्यकता नहीं।

विकासवाद की समीक्षा

आजकल यूरोप में विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त का बड़ा प्रचार है इसके मानने वालों का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य वानर की औलाद है और पशु से विकसित होकर ही मनुष्य इस अवस्था तक पहुंचा है। साथ ही इनका यह भी मन्तव्य है कि मनुष्य प्रारम्भ में जंगली था और धीरे २ विकास हुआ और मनुष्य इस अवस्था तक पहुंचा। इसलिये किसी भी ईश्वरीयज्ञान के मानने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य अपनी बुद्धि के आधार पर संसार में सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। विकासवाद के सिद्धान्त ने योरोप में ईसाई मत की नींव हिलादी और ईसाई मत का भवन इस सिद्धान्त के सामने डगमगा गया। आज Physical Evolution के विषय में हम विशेष नहीं लिखना चाहते क्योंकि उसका हमारे विषय के साथ बहुत सम्बन्ध नहीं है तथापि इस विषय में प्रसङ्गागत कुछ विद्वानों के आधार पर इतना लिख देना आवश्यक है कि विज्ञान की उन्नति ने इस सिद्धान्त का भी प्रतिवाद करा दिया है और इस मत का जोर अब योरोप में भी कम हो रहा है। बृटिश म्यूज़ियम के डाक्टर एथरिज (Ethridge) लिखते हैं कि—

In all this great museam there is not a particle of evidence of transmutation of species. Nine tenths of the talk of evolution is sheer nonsense not founded on observation and wholly unsupported by facts.

अर्थात् सारी बृटिश म्यूजियम में जाति परिवर्त्तन का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। विकासवाद के सिद्धान्त के लिये कोई प्रमाण नहीं। यह निरा बकवास है। प्रोफेसर अविन का कथन है कि—

"No instance of the change of species into another has ever been recorded by man."

अर्थात् जाति परिवर्त्तन का मनुष्य के पास कोई

भी प्रमाण नहीं है। प्रोफेसर जे० ए० थाम्पसन लिखते हैं कि—

"We do not know whence he emerged ....nor do we know how man arose.... for it must be admitted that the factors of evolution of man partake largely of the nature of may-be's, which has no permanent position in science."

अर्थात् हम नहीं बतला सकते कि मनुष्य का प्रादुर्भाव कहां से तथा कैसे हुआ। परन्तु इतना हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि विकासवाद के सिद्धान्त की वैज्ञानिक दृष्टि से कोई स्थिर स्थिति नहीं हैं। जे० डबल्यू डौसन का कथन है कि:—

"No remains of intermediate forms are yet known to science. The earliest known remains of man are still human and tell us nothing as to the previous stages of development."

अर्थात् जाति परिवर्त्तन का विज्ञान के पास कोई प्रमाण नहीं है। अबतक यही साबित हुआ है कि मनुष्य प्रारम्भ से इसी रूप में है। सिडनी, कालेट, अपनी 'स्क्रिपूचर आफ़ ट्रूथ' पुस्तक में लिखते हैं कि:—

Science is equally explicit in its testimony, that instead of man having slowly improved from the lower to the higher, the tendency is exactly in the opposite direction."

अर्थात् विज्ञान के पास इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मनुष्य नीचे से ऊपर की तरफ नहीं बढ़ा परन्तु सत्य इससे उलटी बात है इस प्रकार से कई चोटी के विद्वानों की सम्मति के आधार पर हमने यह दिखलाया है कि दैतिक विकास के लिये भी विद्वानों के पास पर्याप्त प्रमाण नहीं है। बौद्धिक विकास के लिये भी उसी प्रकार से विकासवादियों के पास कोई प्रमाण नहीं। हम इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने का यत्न करेंगे कि जहां संसार ने कई बातों में उन्नति की है वहाँ बहुत सी बातों में संसार ने अवनति भी की है। यदि विकासवाद का सिद्धान्त ठीक मान लिया जाय तो मनुष्य जाति का इतिहास उन्नति का ही इतिहास होता। परन्तु हम देखते हैं कि नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से तो संसार में अन्यन्त पतन हुआ है जिसका वर्णन भी लेखनी से करना असम्भव है। शारीरिक बल में भी मनुष्य जाति दिनों दिन ह्रास को प्राप्त हो रही है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक क्षेत्र में भी पूर्व समय में आजकल के समान ही उन्नति थी। प्राकृतिक सभ्यता के कई क्षेत्रों में पूर्व काल में आजकल से भी अधिक उन्नति थी जैसा कि आगे चलकर हम सिद्ध करेंगे। मानव जाति का इतिहास परिवर्त्तन का इतिहास है। जातियों का उत्थान तथा पतन स्वाभाविक है। भारतवर्ष जगद् गुरु है। किसी समय इसकी सभ्यता तथा संस्कृति का सूर्य भूमण्डल की चारों दिशाओं को आलोकित कर रहा था परन्तु वही भारत आज अवनति के गढ़े में गिरा हुआ है। किसी समय में रोम, असीरिया, बेबिलोनिया, ग्रीस-इत्यादि देश उन्नति की चरम सीमातक पहुंच गये थे। परन्तु आज इनकी सभ्यता प्रायः मलियामेट हो चुकी है। इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि विकास का सिद्धान्त ऐतिहासिक कसौटी पर कसे जाने पर सत्य सिद्ध नहीं होता। भारत तथा ग्रीसने किसी समय में सभ्यता तथा विद्या के हरएक क्षेत्र में अपूर्व तथा अद्भुत उन्नति की थी और आज योरोप अपनी

सारी शक्ति के साथ भी उस उन्नति तक नहीं पहुंच सका उदाहरणार्थ कुछ बातों पर हम यहां प्रकाश डालना चाहते हैं।

ज्योतिष शास्त्र

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥

ऋग्वेद १०। ६५। ६॥

(या) जो (गौः) पृथिवी (व्रतनीः) अपने नियम का पालन करती हुई (दाशुषे वरुणाय) दानी और श्रेष्ठ जनों के लिये (अवारतः) चहुं ओर धारा प्रवाह से (निष्कृतं) निरन्तर (पयो दुहाना) अन्न रस फलादि भोग्य पदार्थों को उत्पन्न करती हुई (दाशत्) अनेक प्रकार की सुख सामग्रियों को पैदा करती है (सा) वह गौ (प्र ब्रुवाणा) परमात्मा की महिमा का उपदेश करती हुई (वर्तनिं) अपनी कक्षा में (विवस्वते) सूर्य के चारों तरफ (पर्येति) घूमती है।

(२) आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

यह गौ (पृथिवी मातरं) जननी स्वरूप जल को (असदन्) प्राप्त होती हुई अर्थात् उसे अपने साथ लेती हुई (च) तथा (पितरं स्वः) निःशेष प्राणियों को पितृवत् उत्पन्न तथा पालन करने वाले सूर्यलोक के (पुरः) चारों तरफ (प्रयन्) चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष में (आ अक्रमीत्) भ्रमण करती है।

(३) अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम्।
शुष्णं परि प्रदक्षिणिद् विश्वायवे नि शिश्नथः॥

ऋग्वेद १०। २२। १४॥

(क्षाः) यह पृथिवी (यद्) यद्यपि। (अहस्ता) हस्तरहित (अपदी) तथा पैर से भी शून्य है तथापि (शुष्णं परि) सूर्य के चारों तरफ (प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिणा करती हुई (वेद्यानाम्) जानने योग्य भी परमाणु या पञ्चमूलतत्वों की (शचीभिः) क्रियाओं से प्रेरित होकर (वर्धत) अपनी कक्षा में आगे बढ़ रही है (विश्वायवे) विश्व के उपकारार्थ (नि शिश्नथः) हे ईश्वर तूने ऐसा प्रबन्ध किया है।

(४) भपंजरः स्थिरोभूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदैवसिकौ।
उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम्॥ आर्यभट्ट॥

अर्थात् आकाश स्थिर है। पृथिवी ही बार २ घूम कर प्रतिदिन ग्रहादि के उदयास्त का सम्पादन करती है।

आकाश क्यों घूमता दिखाई देता है इसका उत्तर ज्योतिषी आर्यभट्ट ने इस प्रकार से दिया है।

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानीमानि तद्वल्लङ्कायां समपश्चिमगानि॥

अर्थात् जैसे नौका में बैठकर तटस्थ वस्तुएं प्रतिकूल दिशा में जाती हुई दीखती हैं वैसे ही भूलोक वासियों को सूर्यादि स्थिर नक्षत्रादि लङ्का से ठीक पश्चिम को जाते हुए दीखते हैं।

उपरोक्त वचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ विज्ञान ने पृथिवी के घूमने का सिद्धान्त अर्वाचीन काल में मालूम किया है वहां वेद अनादि काल से इस सत्य की घोषणा कर रहे हैं।

आयुर्वेद

आजकल मैडिकल साइन्स ने बहुत उन्नति की है परन्तु भारत का प्राचीन इतिहास पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय भी इस विषय में चरम सीमा तक पहुंचे हुए थे।

"In surgery, too, the Indians seem to have attained a special proficiency and in this department, European surgeons might, perhaps, even at the present day still learn something from them, as indeed they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty."

अर्थात् शल्यतन्त्र में भी प्राचीन भारतीयों ने अपूर्व योग्यता प्राप्त की थी। आजकल के योरोपियन सर्जन अब भी उनसे कई बातें सीख सकते हैं। उन्हें बनावटी नाक लगाने की कला भी मालूम थी।

"The surgical instruments of the Hindus are sufficiently sharp, indeed, as to be capable of dividing a hair longitudinally"-Ancient and Modern India. Vol. 11 P 346

अर्थात् प्राचीन आर्यों के चिकित्सा सम्बन्धी शस्त्र भी इतने तेज थे कि वे एक बाल के बीच में से लम्बाई के रुख दोटुकड़े कर सकते थे।

The surgery of the ancient Indian physicians, was bold and skilful. They conducted amputations, arresting the bleeding by pressure, a cup-sphaped bondage and boiling oil, practised litholomy, performed operations in the abdomen and uterus, cured hernia, fistula, piles, set broken bone and dislocation and were dextrous in the extractions of foreign substances from the body. A special branch of surgery was devoted to rhinoplasty or operation for improving reformed ears and noses and forming new ones, a useful operation which European surgeons have now borrowed. The ancient Indian surgeons mention a cure for neuralgia, analogous to the modern cutting of fifth nerve above the eye-brow............. They were expert in midwifery, not shrinking from the most critical operation and in the diseases of women and children. Indian Gazettier, "India." Page 220.

अर्थात् प्राचीन भारतीय चिकित्सक शिल्पविद्या में अत्यन्त कुशल थे। वे पथरी 'हर्निया' बवासीर इत्यादि बीमारियों का इलाज बड़ी कुशलता तथा सफलता से कर सकते थे। टूटी हुई तथा स्थानच्युत हड्डियों का इलाज भी कर सकते थे। स्त्रियों तथा बच्चों की बीमारियों के भी पूर्ण चिकित्सक थे।

भोजप्रबन्ध में लिखा है कि राजा भीम के शिर में बहुत दर्द होता था। बहुत चिकित्सा करने पर भी उसे आराम न हुआ। एक दिन उसके दर्बार में दो वैद्य आये जिन्होंने कहा कि दिमाग़ का आपरेशन करना पड़ेगा। उन्होंने उसे संमोहनी देकर उसके दिमाग़ का आपरेशन किया और फिर संजीवनी से उसकी मूर्छा को दूर करा दिया।

इसी प्रकार जीवक महात्मा बुद्ध का निजू वैद्य था उसने भी एक बार बड़ी कुशलता से उनकी खोपड़ी का आपरेशन (Cronical surgery) किया था। (History of Human medical science by Thakore sahib of Gondal.)

गृह-निर्माण विद्या

सर जोहन मार्शल जो कि (Director general Archeology in India) हैं, वो लिखते हैं कि सिन्ध

में खोज करने पर पुराने मकानों के भी खण्डरात मिलते हैं उनको देखने से यह स्पष्ट होजाता है कि गृह-निर्माण विद्या में भी प्राचीन आर्य कमाल कर चुके थे।

"The drainage system in particular is exstraordinary well-developed. Every street and alley way and passage seems to have had its own course-conducts of finally chiselled brick, laid with precision which cured hardly be improved upon...........Most of the buildings are divided into good sized rooms, floored over with brick and provided with covered drains, connected with larger drains in the side streets. The existence of these roomy and well-built houses and relatively high degree of luxury seem to be taken a social condition of the people much in advance of what was than prevailing in Mesopotamia or Fgypt.

सिन्ध में जमीन के अन्दर एक शहर खण्डरात रूप में मिला है। उसका वर्णन करते हुए सर मार्शल कहते हैं कि मकानों में गन्दे पानी को बाहर करने की नालियों का ढंग इतना पूर्ण है कि उस विषय में और सुधार करने की गुंजाइश ही नहीं, मकानों में स्नानगृह कूप इत्यादि अलग २ हैं। घरों के अन्दर की नालियों का सम्बन्ध बाहर की नालियों के साथ है। और वे नालियाँ ऊपर से ढकी हुई हैं। इन मकानों में आराम का सब प्रकार का सामान पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक अवस्था इजिप्ट तथा मैसोपोटामिया से बहुत उन्नत थी।

"The gold ornaments are so well-furnished and so highly polished that they might have come out of a Bond street jeweller's of today than from a pre-historic house of 5000 years ago."

अर्थात् जो सोने के आभूषण प्राप्त हुए हैं वे इतने सुन्दर हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे ५००० साल पूर्व के नहीं हैं परन्तु इस युग में लण्डन के सबसे बढ़िया जौहरी की दुकान के बने हुए हैं।

"The ancient Indian erected buildings the solidarity of which has not been overcome by the evolution of thousands of years"—"British History of India."

प्राचीन भारतीयों ने जो मकान बनाये थे वे मकान हजारों सालों के व्यतीत होजाने पर भी अपनी सुन्दरता को कायम रक्खे हुए हैं। अजन्ताकी गुफाओं का हाल पढ़ने से मनुष्य हैरान होजाता है कि किस प्रकार से पहाड़ों में गुफाएं बनाकर बौद्धकाल में उन पर इतनी सुन्दर चित्रकारी बनाई गई है जो कि सैकड़ों वर्षों के बीत जाने पर भी उसी प्रकार से कायम है। यह गुफाएं औरङ्गाबाद से ५० मील की दूरी पर हैं। ३० सितम्बर १९३० के ट्रिब्यून में "इंगलिश मैन" से निम्न उद्धरण लिया गया है—

"अर्थात् अजन्ता की गुफाओं की कारीगरी तथा रङ्गसाजी अपूर्व है। यह निश्चित तौर से नहीं कहा जासकता कि ये गुफाएं कब खोदी गईं। परन्तु बहुत खोज करने पर और मूर्तियों तथा दूसरे चिन्हों के देखने से यह पता लगता है कि इनका निर्माण बौद्ध काल में हुआ होगा, यह भी पता लगता है कि इनका

निर्माण दो हजार वर्ष पूर्व हुआ होगा और इनके बनाने में लाखों आदमी लगे होंगे।"*

निर्माण की विधि

प्राचीन भारत में विमानों का भी प्रचार था तथा उन्हें नाना प्रकार के विमान बनाने का तरीका भी आता था। रामायण कालीन पुष्पक विमान के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत स्थलों पर विमानों का वर्णन आता है।

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य ।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्यचाग्निचूर्णम् ॥
तत्रारूढः पुरुषस्तस्यपक्ष द्वन्द्वोच्चाल प्रोज्झितेनानलेन ।
सुप्तस्यान्त· पारदस्यास्य शक्त्या, चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम्

अर्थात् हलकी लकड़ी का बड़ासा पक्षी बनाकर और उसके शरीर के जोड़ों को मजबूती से बन्द करके उसके पेट में पारे का यन्त्र लगा दें और उसके नीचे अग्नि का पात्र रक्खें। इस पक्षी पर बैठा हुआ मनुष्य पक्षी के परों के हिलने से तेज हुई आँच की गर्मी द्वारा उड़ने वाले पारे की शक्ति से आकाश में दूर तक जासकता है।

इत्थमेवसुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघुदारुविमानम् ।
आदधीत विधिना चतुरोन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
अयः कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥
समराङ्गणसूत्रधार यन्त्रविधानाध्याय ३०। श्लो० ९७, ९८ तक

अर्थात् इसी प्रकार से लकड़ी का देवमन्दिर के आकार का बड़ा विमान भी आकाश में उड़ सकता है। चतुर रचियता को चाहिये कि वह उसके भीतर पारे से भरे मजबूत घड़ों को नियमानुसार रख के नीचे लगाये गये लोहे के कूंडों में आग से उनको धीरे २ गर्म करे।

इस पर यह प्रश्न होता है कि पारा जल से १३·६ गुणा भारी है। और उसके भाफ बनने में जलीय वाष्प से अधिक ताप की आवश्यकता होती है तिस पर जल के स्थान में पारे का उपयोग ही क्यों किया। इसका उत्तर देते हैं कि "तत्रहेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैतेफ लप्रदाः। कथितानि अत्रवीजानि" अर्थात् इनकी विधि सर्वसाधारण के जान लेने से इनका महत्व कम होजाता है। "यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्"—इनकी विधि इसलिये नहीं बतलाई कि उसे गुप्त रखना चाहते हैं।

आजकल Talkies टाकी का बड़ा शोर है परन्तु प्राचीनकाल में भी इस प्रकार की विद्या अज्ञात न थी

यन्त्रेण कल्पितो हस्ती नदद्गच्छन्-प्रतीयते ।
शुकाद्याः पक्षिणः क्लृप्तास्तालस्यानुगमान्मुहुः ॥
जनस्य विस्मयकृतो नृत्यन्ति च पठन्ति च ।

* "No ancient remains in India display such a remarkable combination of sculpture painting as the Ajenta caves."........"When these caves were excavated is not definitely known but their ornaments, emblems and divinities are uniformally the token of a Budhist origin.........This leads one to conclude that they must have been excaveted more than two thousands years ago, at a time when India was the cradle of the arts and industries. Millions of the people must have been employed on this. [३० सितम्बर १९३० के ट्रिब्यून में 'इंग्लिश मैन" से उद्धृत]

पुत्रिका वा गजेन्द्री वा तुरगो मर्कटोऽपि वा ॥
वल्गैर्वर्तनैर्नृत्यंस्तालेन हरते मनः ॥ ६२—६४

अर्थात् यन्त्र लगाकर बनाया गया हाथी चिंघाड़ता चलता मालूम होता है। तोते आदि पत्ती ताल पर नाचकर और बोलकर देखने वालों को हैरान कर देते हैं। पुतली, हाथी घोड़े इत्यादि अपने अङ्गों को संचालन करके मन को हर लेते हैं।

दारुजमिभस्वरूपं यत्सलिलं पात्रस्थितं पिबति।
तन्माहात्म्यं निगदितमेतस्योच्छ्रायतुल्यस्य । ११५ ।

अर्थात् लकड़ी का बना हाथी वर्तन का पानी पी सकता है। यहां पर उछ्राय यन्त्र से cyphon यन्त्र भी अभिप्रेत होसकता है।

उपरोक्त उद्धरणों की सत्यता तथा प्रामाणिकता निर्विवाद है। इनके उपस्थित रहते हुए Intellectual Euolution का सिद्धान्त पूर्णतया खण्डित होजाता है और हम यह मानने पर बाधित होजाते हैं कि संसार का इतिहास जातियों के उत्थान तथा पतन का इतिहास है। एकान्त रूप से यह मान लेना कि प्राचीन लोग जंगली थे और धीरे २ उन्नति करते २ इस अवस्था तक पहुँचे हैं, नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। अधोलिखित उद्धरण से हमारी बात की और भी पुष्टि होती है।

"Of the history of mankind is upward evolution why should the chinese have known of gun-powder and the mariner's compass before the christian era and lost them again?. Why should we see to-day only the pitiful traces of the splendors of the Moghal Empire in the palaces and tombs of India. Why should the Hindu race have gone backward for 400 years. ? Why should the very art of manufacture of the enamelled tiles of the empress' summer palace in Peking and the method of working the colour into the walls of the Alimanbra at Granada be best arts which perished with animal moors. ?

Why should the Egyptians be ignorant of the arts of astronomy and mathematics which enabled them to erect the great pyramid of cheops upon the principle of squaring the circle and at the point where it should absorb its shadow at noon-time at the vernal equinox ? By what methods in the absence of hydraulic machinery were the gigantic stones lifted into their palaces at Karnak and Palnyra.? What caused the loss of the artistic knowledge which produced sum of the marvellous gold and leather work of the Azlex and lost the very knowledge of the location of the wonderful ruined cities of central America? *Surely any one who is a masonic seeker after truth must recognise* that the progress of mankind is really only in certain direction interlaced with retrogressions and decadence in others."

Mr. Gones Bousin—New age for November 1921.

अर्थात् यदि मनुष्य जाति का इतिहास केवल उन्नति का इतिहास है तो क्यों चीनियों को ईसा से बहुत पूर्व बारूद तथा ध्रुवदर्शक यन्त्र का ज्ञान था

और वे उसे क्यों भूल गये हैं। मुगल साम्राज्य के समय में इतनी सुन्दर इमारतें तथा कबरें बनाने की कारीगरी का उन्हें कैसे ज्ञान था। मिश्र के लोगों को इतने आलिशान पिरामिड बनाने का तरीका कैसे मालूम था। किन यन्त्रों के द्वारा वे पत्थरों को इतने उंचे लेजाते थे। हिन्दू जाति अब इतनी क्यों गिर गई है। यदि खोज की जाय तो हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य जाति ने कई बातों में उन्नति भी की है। परन्तु बहुत सी बातों में अवनत हुई है।"

उपरोक्त उद्धरण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विकास का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है और इतिहास भी इस बात की पुष्टि नहीं करता। इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम इस बात पर भी प्रकाश डाल देना चाहते हैं कि प्राचीनकाल की सभ्यता में सदाचार का बहुत ऊँचा स्थान था। इसी कारण से प्राचीन समय में लोगों को जो सुख और शान्ति प्राप्त थी वह आजकल सभ्यता के इस युग में किसी भी देश को प्राप्त नहीं है। स्वार्थ ने संसार में एक प्रकार का कलह तथा अशान्ति पैदा करदी है। अधोलिखित उद्धरणों के पढ़ने से हम पूर्णतया इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि वर्त्तमान समय में किसी भी दृष्टि से संसार को पूर्वापेक्षया उन्नत नहीं कहा जा सकता। रामायण में अयोध्या का वर्णन इस प्रकार से लिखा है:—

तास्मिन्पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टाधनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥
नाल्पसन्निचयः कश्चिदासीत्तस्मिन्पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान्॥
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः॥
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥
नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्॥
नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न च निर्वृत्तसंकरः॥

उपरोक्त वर्णन से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि रामायण काल में भौतिक तथा नैतिक उन्नति समकक्ष थी और प्रजा में अपूर्व शान्ति का साम्राज्य था। कई लोग शायद यह कहने का साहस करेंगे कि यह वर्णन काल्पनिक है। उन्हें आँख खोलकर विदेशीय यात्रियों द्वारा लिखित भारतीय अवस्था का अध्ययन करना चाहिये। रामायण की बात तो दूर रही, मगध साम्राज्य के समय भी हमारे देश की नैतिक अवस्था अत्यन्त उन्नत तथा विकसित थी। मैगस्थनीज़ लिखता है:—

"The inhabitants having abundent means of subsistence, excel in consequence the ordinary stature and are distinguished by their proud bearing. They are also found to be well-skilled in arts, as might be expected of men who inhale pure air and drink the very finest water. All the Indians are free and not one of them is a slave,........They have no suits about pledges or deposits, nor do they require either seal or witness, but make their deposits and cerfide each other........Truth and virtue they hold alike in esteem............

अर्थात् भारतीय डीलडौल में बड़े शानदार हैं। नाना प्रकार की कलाओं में प्रवीण हैं। मुकदमों का रिवाज़ नहीं। एक दूसरे के विश्वास पर ही लेन देन का कार्य चलता है। सत्य तथा धर्म उनके जीवन का सिद्धान्त है।

कई विद्वानों का कथन है कि आत्मा मनुष्य के लिये धर्माधर्म विवेक का साधन बन सकती है परन्तु साधारण मनुष्यों की बात तो दूर रही, बड़े २ विद्वानों की आत्मा भी कई दफा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकती। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बड़े २ गम्भीर, विद्वान् नेताओं ने कई दफा बड़ी २ भयानक भूलें की हैं जिनका परिणाम जातियों के किये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। मनुष्य की आत्मा पर परिस्थितियों का गहरा असर पड़ता है। एक निरामिषभोजी के गृह में पैदा हुए बच्चे को मांस से स्वाभाविक घृणा होती है और वह मांस खाना पाप समझता है, परन्तु एक मांसाहारी का बालक मांस खाने में पाप नहीं समझता। इसी प्रकार हिंसक, चोर, डाकू इत्यादि की आत्माएं इतनी कलुषित तथा मलिन हो जाती हैं कि उनको जघन्य से जघन्य पाप करने में भी संकोच नहीं होता। इसलिये यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मा धर्माधर्म के निर्णय के लिये अन्तिम निर्णायक नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य की आत्मा पर परिस्थितियों का गहरा प्रभाव होता है। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता काण्ट ने एक स्थान पर लिखा है कि—

Feelings which naturally differ in degree, can not permit a uniform standard of good and evil, nor has any one a right to form judgments for others by his own feelings."

अर्थात् दूसरे के अनुभव के आधार पर धर्माधर्म का निर्णय नहीं किया जा सकता।

वेद का काल

वेद के काल के विषय में योरोपीय विद्वानों ने बहुत पक्षपात से काम लिया है और यहां उन्होंने वैदिक सभ्यता को बच्चों का खेल बताया है और वेदों को गडरियों का गीत लिखा है वहां वेद को जंगली लोगों का काव्य लिखा है। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि अब पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों की वेद की तरफ रुचि हो रही है और वर्तमान खोज वैदिक काल को बहुत पीछे ले गयी है। हमें निश्चय है कि ज्यों २ वेद के स्वाध्याय का प्रचार होगा, विद्वान् ऋषि दयानन्द के मत के सामने नतमस्तक होंगे। ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त सब ऋषियों का यह सिद्धान्त है कि वेद की उत्पत्ति को एक वृन्द छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छहत्तर वर्ष होगये हैं। ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में लिखते हैं कि " (प्र०) वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये ? (उ०) १९६०८५२९७६। इससे जो अध्यापक विलसन और मैक्समूलर आदि योरोप खण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं, किन्तु श्रुति नहीं है उनकी यह बात ठीक नहीं और दूसरी यह है कि कोई कहता है कि २४०० वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई २९००, कोई ३००० और कोई कहता है कि ३१०० वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प पठन

विधि को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उनको न होता इससे यह मानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों की तथा जगत् की उत्पत्ति में भी होचुके हैं।

क्या वेद में प्रक्षेप हुआ है ?

प्रो० मेक्समूलर कहते हैं कि—As far as we are able to judge at present we can hardly speak of various readings in the Vedic hymns in the usual sense of that word. Various readings to be gathered from a collection of different manuscripts now accessible to us there are none (Rig Veda Vol 1 page XXV11)

अर्थात् वेदों की जितनी भी हस्त लिखित प्रतियां मिलती हैं उनके आधार पर यह स्पष्ट है कि वेदों में प्रक्षेप नहीं हुआ प्रो० मैकडानल्ड कहते हैं कि

"Extraordinary precautions soon began to be taken to guard the canonical text thus fixed against the possibility of any change or loss. The result has been its preservation with a faithfulness unique in literary history. (A history of Sanskrit literature P. 50.)

अर्थात प्राचीन आर्यों ने वैदिक संहिता की रक्षा अत्यन्त सावधानी से की, इसीलिये वेद के मंत्रों में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। साहित्य के इतिहास में यह बात अपूर्व है।

वेद के विषय में पाश्चात्य विदानों की सम्मति

A. Wallace अपनी पुस्तक "Social Environment and Moral Progress में लिखते हैं कि:—

"If we make allowance for the very limited knowledge at this early period, we must admit that the mind which concerned and expressed in appropriate language such ideas as are every where aparent in the vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our religious teachers and poets.

अर्थात् वेद के मन्त्रों में उच्च ज्ञान निहित है वह हमारे समय के ऊंचे दर्जे के विद्वानों तथा कवियों के ज्ञान से किसी भी अवस्था में कम नहीं है। एडवर्ड कारपेन्टर 'Art of Creation में लिखते हैं कि:—

A new philosophy we can hardly expect or wish for, since indeed the same germinal thoughts of the Vedic authors came all the way down history even to Schopenhour and Witman, inspiring philosophy after philosophy and religion after religion and it is only to-day that science with its huge conquests in the material plains is able to provide for these new old principles....somewhat of a new form and so wonderful a garment of illustrations and expression as it does."

अर्थात् संसार में कोई नया ज्ञान नहीं पैदा होता वैदिक ऋषियों के विचार ही संसार में विकसित हो रहे हैं और वर्त्तमान काल में भी इन्हीं विचारों का रूपान्तर होरहा है, न कि कोई नवीन ज्ञान

M, Louis Jocollict अपनी Bible in India, Ed. 1870 P. 10—12 साहब लिखते हैं कि:—

The Veda is the word of eternal wisdom, the principles of principles as revealed to our fathers—the pure primeval doctrine, the sublime instructions."

अर्थात् वेद परमात्मा का ज्ञान है और इसमें सब विद्याओं के बीज विद्यमान हैं।

पादरी फिलिप अपनी पुस्तक Teaching of the veda के २३ पृष्ठ पर लिखते हैं कि:—

"The conclusion, therefore is inevitable that the development of religious thought in India, has been uniformally downward and not upward, deterioration and not evolution. We are justified, therefore in conducting (until contrary is proved) that the higher and lower conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive divine revelation.

अर्थात् हम अनिवार्य रूपेण इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारत में धार्मिक विचारों की उन्नति नहीं होरही परन्तु अवनति होरही है। हम निस्सन्देह इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का ही परिणाम है।

Religion and Modern India की भूमिका में सर चन्दावर कर लिखते हैं कि:—

"Of India is to avoid the pitfalls of modern civilization and to save her growth in politics from its degradation, it must hit on itself to the cordinal principles of the spiritual life evolved from the Vedas."

अर्थात् यदि भारत अपने आपको वर्त्तमान सभ्यता की बुराइयों से बचाना चाहता है तो उसे वेद के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिये।

प्रोफेसर मेक्समूलर The Rigveda Samhita Vol I. Ed. 1869 preface P. X में लिखता है कि "The veda, I feel convinced, will occupy scholars for centuries to come and will take and maintain its position for ever, as the most ancient of books in the library of mankind."

अर्थात् मैं इस बात को निश्चय से कह सकता हूँ कि वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे पुरानी पुस्तक है।

अग्नि तत्त्व

[ले० —वेदाचार्य श्री डा० संगतरामजी, प्राणाचार्य, आयुर्वेद-विद्यालय, ऋषिकेश]

वेद सृष्टि के अद्भुतालय में प्राचीनतम पुस्तक कही जाती है। और वेदों में भी ऋग्वेद, ऋग्वेद में पहिला मण्डल, पहिले मण्डल में भी पहिला मन्त्र और पहिले मन्त्र में भी पहिला शब्द। इसलिये अग्नि के सम्बन्ध में जो मुझ को ईश्वरप्रदत्त अनुभव है, उसको प्रकट करता हूं।

गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः॥ ऋ० १।१०।१॥

इस वेद मन्त्र और इस पर के निरुक्त के वचना-

नुसार श्रुतियों में कर्त्ता-कर्म और क्रिया में नैरुक्तिक साम्य होता है। इसी को संहिता कहते हैं। जैसे इसी श्रुति में अर्चन्ति, अर्किणः और अर्कम् इन तीनों में नैरुक्तिक संहिता है। अर्चन्ति का अर्थ है—स्तुति करते हैं, अर्किणः का अर्थ—स्तुति करने वाले और अर्क का अर्थ है—स्तुति करने के योग्य। वेदमन्त्रों में कभी कर्त्ता लुप्त हो जाया करता है, कभी कर्म लुप्त हो जाया करता है और कभी क्रिया लुप्त हो जाया करती है। जैसे इसी 'गायन्ति त्वा गायत्रिणः' अर्थात् 'गायन्ति गायत्रिणः गायत्रीम्' में 'गायत्रीम्' यह कर्म लुप्त हो गया। इस मन्त्र के अनुसार संहिता का अर्थ स्पष्ट हुआ कि श्रुति के कर्त्ता-कर्म-और-क्रिया में नैरुक्तिक साम्य होता है।

अब 'अग्निमीले पुरोहितम्' का विचार करते हैं। उपर्युक्त विधि से 'अग्निमीले पुरोहितम्' की प्रतीक संज्ञा 'अग्निम्, ईले और पुरोहितम्' में साम्य है।

१—अग्निमीले—यहां 'ईले' शब्द ईड धातु से बनता है जिसका अर्थ है—स्तुति करना। अतः अग्नि का अर्थ—स्तुति करने योग्य - हुआ। स्वामी दयानन्दजी ने अग्नि शब्द इस प्रकार सिद्ध किया है:—

"अञ्चु गतिपूजनयोः; अग, अगि, इण गत्यर्थक धातु हैं इनसे अग्नि शब्द सिद्ध होता है।" गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति, पूजनं नाम सत्कारः", 'योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोऽयमग्निः" जो ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम अग्नि है।"

२—यदि 'ईडे' को प्रधान मान लेवें तब यह पद बनेगा—ईडे ईडम्। 'ईड' शब्द का अर्थ होगा—पूजने के योग्य जो कि अग्नि शब्द का पर्याय ही है। अरबी और इब्रानी भाषा में परमेश्वर का नाम 'इला' है जो 'ईड' से ही बना प्रतीत होता है।

३—अग्निं पुरोहितम् - 'पुरोहितम्' का अर्थ है पुरस् + हितम्। पुरस् का अर्थ है—अग्रे और हितम् का अर्थ है—निहितम्। ब्राह्मण कहता है कि "यदग्रे निहितं तदग्निः, अग्निरग्रणीर्भवति कस्मादग्रे नीयते सर्वेषु यज्ञेषु"।

४—'अग्ने त्वमेतत्सत्यमंगिरः'। अग्नि! तुम्हारा रूप अंगिरा है। अग्नि शब्द "अगि" धातु से बना है। 'अंगे र्न लोपश्च' इस पाणिनी सूत्र से "न" का लोप और "नि" का आदेश होकर 'अग्नि' सिद्ध होता है। अंगिरा का अर्थ अंगनेता है।

५—'अग्निर्होता कवि क्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः'। अग्नि बुलाती है और क्रान्ति करती है कि ये सत्य चित्र मार्ग हैं। अग्नि बतलाती है कि ये मार्ग सत्य हैं। अतः—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

इस मन्त्र की व्याख्या ही 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र का अर्थ है।

अतः वेद का एक अनुयायी अग्नि की व्युत्पत्ति इस प्रकार करता है:—अ ग नि = अ निषेधे, ग कौटिल्ये, नि नयति अर्थात् कौटिल्ये कदापि न नयति। जो अग्नि पदार्थ है वह सीधा रास्ता बतलाता है, कुटिल मार्ग पर कभी नहीं ले जाता। चाहे वह प्रकाश करने वाली भौतिक अग्नि हो और चाहे परमात्मा हो।

'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे'।

अग्नि से अश्नवत् बनता है। अग धातु का पर्याय

वाची अश् धातु है। हृदय में रायस्पोष धर्म देखा जाता है।

'यशसं वीरवत्तमम्'।

उणादि सूत्र के अनुसार अश् धातु के पहिले य आने से यश बन जाता है।

'वीरवत्तमम्'—'अजेर्व्यघञपोः।'

पाणिनि सूत्र से अज् को वी का आदेश होकर 'वीर' बन जाता है। पुराणों में अग्नि को अज की मूर्त्ति बतलाया गया है, उसका यही आशय है। लोक में अज बकरे का नाम है। यह निर्देश किया गया है कि अग्नि रायस्पोष धर्म हृदय में देखा जाता है। इसी कारण से इस मन्त्र का देवता अश्विनी है। अश् और अश्विनी का हृदय से सम्बन्ध है। वेद में जितने मन्त्र अश्विनी के हैं वे सब हृदय सम्बन्धी हैं।

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥
ऋ० १०। १०६। ६॥

सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ अपने शब्दों में किया है और सूक्त के अन्त में लिखा है कि:—

"अत्राश्विने सूक्ते सर्वाण्यपि पदानि दुर्ब्युत्पाद्यानि"॥

अर्थात् 'इस सूक्त का अर्थ समझ में नहीं आता' यह वह मन्त्र है कि जिस पर बौद्ध, जैन, बार्हस्पत्य आदि सब दिल्लगी करते हैं और कहते हैं कि वेद का क्या निरर्थक मन्त्र है।

यूरोप की भिन्न २ पांच भाषाओं में अग्नि के भिन्न २ पांच नाम हैं:—अग्निस् (Agnis) इग्निस् (Ignis), एग्निस् (Egnis), उग्निस् (Ugnis), और ओग्निस् (Ognis)।

'अग्निदेवाः' को 'एगनीयस डीयस' और एजनीयस थीयस' कहते हैं। बाइबल में 'लैम्ब गौड' कहते हैं। यह अर्थ सम्भवतः पुराणों से ही लिया गया प्रतीत होता है जहां कि अग्नि का अर्थ अज (बकरा) बन गया है।

एक और अनेक रुद्रों का रहस्य

[ले०—श्री गणेशदत्तजी शर्मा गौड़ "इन्द्र" आगर]

रुद्र-देवता के सम्बन्ध में निरुक्तकार उपनिषद्कार और पुराणकर्त्ता अपने अपने विचार भिन्न २ रूप से प्रकट करते हैं। निरुक्त में रुद्र को मध्यस्थानी-देवता माना है:—

"अथातो मध्यस्थाना देवताः। तासां वायुः प्रथमगामी भवति। वायुः × × × × वरुणः × × × × रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा, यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्॥"

अर्थात्—अब मध्य स्थानीय (अन्तरिक्ष) स्थान के देवताओं पर विचार करना चाहिये। १ वायु, २ वरुण और इनके बाद रुद्र देवता है। 'रु' का अर्थ है शब्द करना या शब्द करते हुए पिघलना। रोने के

कारण इसे रुद्र कहा है। यह काठक और हरिद्रावक शाखावालों का मत है। निरुक्त ने अग्नि को भी रुद्र माना है—

"अग्निरपि रुद्र उच्यते"।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—

"एकोह रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे।"

रुद्र एक है, दो नहीं। वह युद्ध में शत्रुओं को परास्त करने वाला। विश्व का उत्पादक पालक और मारक है। ऐसा ही अथर्वशिरस् उपनिषद् का मत है।

पुराणों में जिस रुद्र का वर्णन है, वह वेद से भिन्न है। यजुर्वेद में लिखा है:—

"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा।
एष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशु।" ३। ५७॥

अर्थ—हे रुद्र! अपनी बहिन अम्बिका के साथ अपने भाग को ग्रहण कर। यह भाग तेरा है और चूहा तेरा पशु है। इसमें रुद्र की बहिन अम्बिका और पशु मूषक कहा है—पुराणों में अम्बिका रुद्र की स्त्री है और चूहा रुद्र के पुत्र गणेश का पशु है। निरुक्त, उपनिषद् और पुराणों के रुद्र विषयक वर्णन की कड़ियाँ सुलझाने के गूढ़-विचार में न पड़कर केवल 'वेद' में माने हुए रुद्र देवता के सम्बन्ध में ही कुछ लिखने का विचार है। अथर्ववेद में लिखा है—

"यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये॥"
७। ७२। १॥

जो रुद्र देव अग्नि, जल, वनस्पति, अन्नादि ओषधियों में व्याप्त है, और जो सब विश्व का निर्माण कर सकता है उस तेजस्वी रुद्र देव के लिये प्रणाम है।

अर्थात्—रुद्र सर्व व्यापक है। यहाँ मन्त्र में रुद्र शब्द एकवचन है अतएव वह एक है, दो नहीं, तीन नहीं, यह स्पष्ट हो रहा है। यहाँ रुद्र शब्द ईश्वरवाचक है। जो जो ईश्वर के गुण हैं वे सब रुद्र में हैं; देखिए।

स धाता स विधर्ता स उ वायु र्नभ उच्छ्रितम्॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदे केएव॥
एते अस्मि देवा एकवृतो भवन्ति॥ (अथर्व)

अर्थ—वही धाता, विधाता, वायु, अर्यमा, वरुण, रुद्र और महादेव है। उसी से यह आकाश ऊपर स्थिर है—यह महान शक्ति उस ही में है। वह सर्वत्र व्यापक और एक ही है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि एक सर्वव्यापक परमात्मतत्व का नाम रुद्र है। और भी:—

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमो वाके वषट् कारोऽनु संहितः॥
तस्ये मे सर्वे यातव उप प्रशिष मासते॥
तस्याऽमू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमा सह॥ (अथर्व)

वही प्रलयङ्कर, वही अमृत देने वाला, अत्यंत शक्तियुक्त सब का रक्षक है। वही रुद्र है। उसी के लिये वषट्कार सार्थक है। सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि उसी के वशवर्त्ती हो आज्ञा मानते हैं। इन मन्त्रों से रुद्र 'एक अद्वितीय परमात्मा' है यह सिद्ध हो सकता है।

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभि रुद्रं दिवं वर्द्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः॥
(ऋग्वेद)

इस मन्त्र में रुद्र देव को 'भुवनस्य पितरं' माना है। अर्थात् वह इस जगत् का पिता है। जगत्पिता, उस सर्वशक्तिमान्, अजर, अमर, नित्य, परमात्मा के

अतिरिक्त और किसे माना जा सकता है। और देखिये—
भुवनस्य पिता रुद्रः ॥ भुवनस्य ईशानः रुद्रः॥ (ऋग्वेद)

इन वेद वचनों से अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है कि उस परमात्मा का ही नाम रुद्र है।

वेदों ने एक रुद्र के अतिरिक्त अनेक रुद्रों का होना भी माना है। जैसे—

रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे।
शंनो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः ।
रुद्रं रुद्रेभि रावहा बृहन्तम्।
रुद्रो रुद्रेभि र्देवो मृळयाति नः।
असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ॥"

यहां जबतक रुद्र शब्द के अर्थों को स्पष्ट न कर दिया जाय तबतक यह विषय सुलझ नहीं सकता। ऋग्वेदभाष्य करते हुए श्री सायणाचार्य रुद्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

"रुद्रस्य कालात्मकस्य परमेश्वरस्य ॥ रुद्रं रुत स्तुतिः तथा गन्तव्यं। स्तुत्यं इत्यर्थः ॥ रुद्राय क्रूराय अग्नये ॥ रुत् स्तुतिः तया द्रवणीयौ ॥ रुद्रियं रुद्र संबन्धि भेषजं। रुद्रियं सुखं॥ रुत् दुःखं तद्धेतु भूतं पापं वा, तस्य द्रावयितारौ रुद्रौ। संग्रामे भयंकरं शब्दयन्तौ वा ॥ रुद्राणां ×××× प्राणरूपेण वर्त्तमानानां मरुतां। यद्वा। रोदयितॄणां प्राणानां। प्राणा हि शरीरान्निर्गताः सन्तो बन्धुजनान् रोदयन्ति ॥ रुद्रेषु स्तोत्रकारिषु ॥ हे रुद्र! ज्वरादि रोगस्य प्रेक्षणेन संहर्तर्देव! ॥ रुद्रौ संग्रामे रुदन्तौ ॥ रोदयन्ति शत्रूनिति रुद्राः ॥ रोरूयमाणौ द्रवन्तौ ॥ रुद्राणां रोदनकारिणां शूरभटानां वर्त्तनिः मार्गधारी रूपोययो स्तौ रुद्रवर्त्तनी। रुद्रवर्त्तमी रोदनशीलमार्गौ स्तूयमानमार्गौ वा ॥ रोदयति सर्वं अंतकाले इति रुद्रः संहर्ता देवः ॥ रौति शब्दायते तारकं ब्रह्म उपदिशतीति रुद्रः ॥ तस्मै जगत्स्रष्ट्रे सर्वं जगदनुप्रविष्टाय रुद्राय। रुद्रः पशूनां अभिमन्ता पीड़ाकरो देवता ॥ रुद्राः रोदयितारः अंतरिक्षस्थानीया देवाः ॥ रुद्रा रोदकाः ॥ रुत् दुःखं दुःखहेतु र्वा तस्य द्रावको देवो रुद्रः परमेश्वरः ॥ महानुभावं रुद्रं ॥ रुद्रः रोदयिति शूलाभिमानी देवः ॥ रुद्रस्य हिंसकस्य देवस्य ॥ रोदयति उपतापेन अश्रूणि मोचयति इति रुद्रो ज्वराभिमानी देवः ॥ रुद्रः रोदयिता शूलाभिमानी देवः ॥ रुद्रस्य हिंसकस्य देवस्य। इत्यादि—

अर्थात्—काल रूपी रुद्र। प्रलयंकर ईश्वर। रुत् का अर्थ स्तुति है। स्तुत्य रुद्र कहलाता है। रुद्र का अर्थ क्रूराग्नि है। पाप अथवा दुःख को रुत् कहते हैं। पाप और दुःख का नाशक रुद्र कहाता है। युद्ध में भयंकर गर्जन करने वाला रुद्र होता है। प्राण वायु रुद्र कहाता है। प्राण के शरीर से निकलने पर उसके प्रेमी रोते हैं इसलिये प्राण रुद्र है। शूरवीर शत्रुओं को रुलाते हैं इसलिये वे रुद्र हैं। गर्जकर पिघलने वाला भी रुद्र है। जो शत्रुओं को रुलावे वह रुद्र होता है। युद्ध में रोने वाले रुद्र होते हैं। कवि स्तुति करने वाला और उपासक भी रुद्र संज्ञा में आते हैं। ज्वरादि द्वारा प्राणियों के नाश करने वाले को रुद्र कहते हैं। सुखदाता रुद्र होता है। वैद्य को भी रुद्र कहते हैं। सब को अंत में रुलाने के कारण ईश्वर को रुद्र कहते हैं। उपदेशक रुद्र है। इस विश्व का निर्माता और उसमें व्यापक ब्रह्म रुद्र है। दुःख और उसके कारणों को दूर करने वाला होने के कारण ईश्वर रुद्र है। यह देख कर कि लोग मेरी पूजा नहीं करते जो देव रोता है वह रुद्र है। उपासकों के दुःख दूर करने वाले को रुद्र कहते हैं। महाशय रुद्र है। सब का नाशक रुद्र है। ज्वर भेजने वाला रुद्र है। शूल (दर्द) के कारण को रुद्र कहते हैं। बुखार के कारण रुलाने

वाला भी रुद्र है। पशुओं का अभिमानी देव जो पीड़ा पहुंचाता है वह रुद्र है। इसी प्रकार के अर्थ रुद्र शब्द के महीधरजी और उव्वटजीने भी किये हैं। श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने लिखा है:—

"रुद्राय परमेश्वराय जीवाय वा। रुद्रशब्देन त्रयोऽर्था गृह्यन्ते। परमेश्वरो जीवो वायुश्चेति। तत्र परमेश्वरः सर्वज्ञ। तया येन यादृशं पापकर्म कृतं तत्फलदानेन रोदयितास्ति। जीवः खलु यदामरणसमये शरीरं जहाति पापफलं च भुंक्ते तदा स्वयं रोदिति। वायुश्च शूलादिपीड़ाकर्मणा कर्मनिमित्तः सन् रोदयितास्ति। अत एते रुद्रा विज्ञेयाः।

अर्थात्—रुद्र शब्द के ३ अर्थ हैं। ईश्वर जीव और वायु। परमेश्वर पापियों को उनके कर्मानुसार दण्ड देता है और वे रोते हैं, इसलिये ईश्वर रुद्र है। जीव जब जब शरीर छोड़ने लगता है तब वह पाप फल भोगने के कारण रोता है इसलिये जीव रुद्र है। वायु शरीर में दर्द पीड़ा उत्पन्न करता है इसलिये वायु रुद्र है। इस प्रकार अन्य अर्थ भी किए हैं। लेख-वृद्धि भय से हम उनका उल्लेख नहीं करते। रुद्र के सम्बन्ध में प्रायः सभी भाष्यकर्त्ता आचार्य एक मत हैं। थोड़ा बहुत ही कहीं अन्तर मिलता है। सारांश यह है कि रुद्र शब्द अनेकार्थवाची है। इस शब्द के हजारों अर्थ हैं।

शिव, शिवतर, शंकर, शंभु, मयोभु, मयस्कर, सोम, सहस्राक्ष, शिपिविष्ट, त्वीषीमत्, सुमंगल, भगवन्, पापकाशिन्, सत्वनांपति, जगतांपति, दिशांपति, पुष्टानांपति, पशुपति, भव, रुद्र, उग्र, भीम, शर्व, बभ्रुश, बाग्लुश, मीढुष्टम, प्रथम, अधिवक्ता, दैव्यः भिषक्, मन्यु भुवन्ति, विकिरिद्र, भवस्यहेति, गिरिश, सहमान आदि नाम रुद्र के ईश्वरार्थ बोधक हैं।

तैजसबोधक नामों में रुद्र को विद्युत, रोहित, शितिकण्ठ, नीलग्रीव, शिपिविष्ट आदि कहा है। वायु सूचक नामों से उसे, वात, मरुतः, रुद्राः, रुद्रासः आदि कहा है। वनस्पति सूचक नाम भी रुद्र के हैं। यथाः—सोम, हरिकेश, वृक्ष इत्यादि। प्राज्ञ के लिये भी रुद्र शब्द प्रयुक्त है:—अधिवक्ता, गृत्स, श्रुत, रुद्र, पुलस्ति, गृत्सपति, उद्गुरमाण, मंत्रिन्, देवानां, हृदय भिषक्, औषधीनां पतिः, सभा, सभापति, श्रव!, प्रति-श्रवः, श्लोक्यादि।

वीरत्व सूचक रुद्र के नाम इस प्रकार हैं। रुद्र क्षेत्रणांपति, वनानांपति कक्षाणांपति, अरण्यानां पति, पत्तीनांपति, स्थपति, व्याधिनीनां पति, निकृन्तानां पति, कुलुञ्चानां पति, गणपति, व्रातपति, शूर, विचिन्वत्क, रथी, अरथ, आशुरथ, उगणा, आशुसेन, श्रुतसेन, सेनानी, दुंदुभ्य असिमत, इषुमान्, सृकायिन्, निषंगिन् धन्वायिन्, शतधन्वन्, तीक्ष्णेषु, स्वायुध, सुधन्वत, आयुधिन्आर्मिन, कवचिन्, बिल्मिन्, वरूथिन्, कृत्स्नायतया,धावन् निव्याधिन्, जिघांसत्, आहन्त्य, विध्यत्, अवयेदिन्, हन्तृ, हनीयस, विक्षीणक, आनिर्हत् अभिघ्नत्, अग्रेवध, दूरेवध, आहनन्य, धृष्णु, सहमान, आतन्वान्, प्रतिदधान, आयच्छत्, अस्यत, विसृजत, प्रभृश, आखिदत्, प्रखिदत्। आव्याधिनी, विविध्यन्ती, सृहंती, अश्वपति, मृगयु, श्वपति, धनुष्कृत, पथीनांपति अवसान्य। इत्यादि।

वाणिज्यार्थी शब्द रुद्र के लिए निम्न हैं। वाणिज, संगृहीतृ, अंधसस्पति, अन्नानांपति, वृक्षाणांपति, पशूनांपति, पशूपति इत्यादि। शिल्पकार—सूचक निम्न शब्द रुद्र के लिए प्रयुक्त हैं—सूत, क्षत्, तक्षन् रथकार कर्मार, कुलाल, निषाद, गिरिचर, उत्तरण, परिचर,

निचेरु, जघन्य इत्यादि। रुद्र के लिये आततायी सूचक शब्द भी हैं—"स्तेनानांपति, तस्कराणांपति मुष्णतांपति स्तायूनांपति, वंचत्, परिवंचत, प्रतरण, लोप्य, नक्तंचरत्, प्रभृति—

जन्तु सूचक शब्द रुद्र के लिये हैः—अश्व, श्वन्, गोष्ठ्य, शीभ्य, गेह्य, किरिक, तल्प्य, रेष्म्य, गह्वर, इरण्य, सिकत्य, शिल, पांसव्य, रजस्य, अर्व्य, सूर्व्य, उर्वर्य, खल्य, शुष्क्य, अवर्ष्य, हरित्य, आवटय, उलप्य, पर्ण, पर्णशद्य, पथ्य, प्रपथ्य, नीप्य, आतप्य, वात्य, वीध्य, मेघ्य, काटथ्य, कूप्य, कुल्य, सरस्य, नादेय, वैशन्त, तीर्थ्य, ऊर्म्य, प्रवाह्य, पार्य, आवार्य, फेन्य, द्वीप्य, निवेष्ट्य, वर्षीयस, दाणय, हृदय्य, वास्तुप, वास्तव्य आदि। रुद्र शब्द के साधारण अर्थ भी हैं— उपवीतिन्, उष्णीषिन्, हिरण्यबाहु, कपर्दिन्, व्युप्तकेश, सोभ्य, याम्य, क्षेम्य, आशु, शीघ्र्य, अजिर, महान्, संवृद्ध, पूर्वज, ज्येष्ठ, अग्रय, प्रथम, वृहत्, वृद्ध, अर्भक, ह्रस्व, वामन, मध्यम, अपरज, कनिष्ठ, अवसाम्य, बुध्न्य, अपगल्भ, ताभ्र, आक्रंदयन्, स्वपत, जाग्रत्, शयान, आसीन, तिष्ठन्, धावत, प्रभृति।

इन नामों से यह कदापि नहीं मानना चाहिये कि ये सब एक ही हैं। ये सब रुद्र देवता (ईश्वर) सूचक कदापि नहीं होसकते। जैसे विश्वरूप = ईश्वर विद्युत् = बिजली, वायु = हवा, वृक्ष = पेड़, गृत्स = विद्वान्, मंत्रिन् = सलाहकार, भिषक् = वैद्य, सभा = सभ्य-समूह सभापति = सभा का स्वामी, स्थपति = राजा, सेनानि = सेनापति, सेना = फौज, इषुकृत् = शस्त्रनिर्माता, रथी = योद्धा, वणिज = व्यापारी, किरिक = कृषक, तक्षन् = बढ़ई, परिचर = सेवक, स्तेन = चोर, प्रतरण = धोकेबाज, श्वन् = कुत्ता, तल्प्य = खटमल। कुत्ता चोर डाकू, खटमल इत्यादि सभी रुद्र नाम से संबोधित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सर्वव्यापक ईश्वर चोर अथवा खटमल है। परन्तु वेद ने इन्हें रुद्र माना है। 'रोदयति इति रुद्रः" जो दूसरों को रुलाता है वह रुद्र है इस नियम के अनुसार, चोर दूसरों को रुलाता है, खटमल सोने वालों को कष्ट देता है, कुत्ता आगन्तुक चोर आदि को रुलाता है, चोर धनी लोगों को रुलाता है इसलिए ये रुद्रों में माने गए हैं। इसी प्रकार दूसरे शब्दों का अर्थ समझिए।

उक्त विवेचन में यह तो स्पष्ट होगया कि—वेद ने अनेक रुद्र माने हैं। परमात्मा तो सर्वोपरि रुद्र है ही किन्तु वेद इस प्रकार अनेक रुद्र मानता है। रुद्र का एक ही अर्थ "रुलाने वाला" नहीं है। बल्कि और भी हैं। जिन्हें हम पीछे लिख आये हैं यथास्थान रुद्र के साथ उनकी संगति लगाने से अनेक रुद्रों का रहस्य प्रकट हो जावेगा। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि वेद ने इन इतर रुद्रों को भी नमन किया है यथाः—

तस्कराणां पतये नमः ॥

वंचते नमः ॥

लोप्याय नमः ॥

नक्तंचरद्भ्यो नमः ॥

श्वभ्यो नमः ॥

तल्प्याय नमः ॥

क्रूराय नमः ॥

चोर, धोकेबाज, नियम तोड़ने वाले, रात में घूमने वाले (राक्षस) कुत्ते, खटमल और क्रोधी के लिये भी नमन किया है। यह क्यों? इसका उत्तर 'नमः" शब्द का अर्थ समझ लेने से मिल जायगा।

यह "नमः" नम् धातु से बना है। नम का अर्थ है। नमस्कार करना अधीन होना, वश में आना, हुक्म मानना, अधीन करना, बाँधना, नियंत्रण करना, झुकना, गाड़ना, डूबना, दबाना, कम होना, बोलना, ध्वनि करना, रोकना, मना करना, बचाना रक्षा करना हटाना, रोकना, हिफाजत करना, अलग करना, निकाल देना, शांति करना, चुप रहना। नमः का अर्थ होता है—नमन, भक्ति, पूजा, बिजली, वज्र, भयानक, धमकी, दोष, दण्ड, सजा, डाँट दान, पुरस्कार, भेंट, स्वार्थत्याग, सर्वस्व अर्पण, त्याग, दान, निछावर, सम्मान, दया, कृपा, अनुग्रह। निघण्टु में नमः का अर्थ, अन्न, दण्ड, शस्त्र, पूजा, सत्कार, सेवा, सहायता लिखा है अब देखिए कैसा अच्छा अर्थ होता है:—

तस्कराणां पतये नमः

चोरों के स्वामी को अथवा अव्वल नम्बर के चोर को दण्ड।

वंचते नमः ॥

धोका देने वाले को दण्ड।

लोप्याय नमः

नियमों को तोड़ने वाले को बन्धन।

नक्तंचरद्भ्यो नमः।

रात्रि को घूमने वाले दुष्टों की रोक।

श्वभ्यो नम ।

कुत्तों के लिए अन्न।

तल्प्याय नमः।

खटमलों को अलग।

क्रूराय नमः।

क्रोधी के लिये डांट फटकार

इस प्रकार अर्थ करने से देखिए कोई दोष नहीं दिखाई पड़ता और एक रुद्र के अतिरिक्त जिन अनेक रुद्रों का वर्णन है वह माफ होजाता है। यदि 'नमः' शब्द का अर्थ केवल नमन या नमस्कार ही हो तो महान् अनर्थ होजाने की संभावना है। चोर, धोकेबाज, दुष्ट, खटमल, कुत्ते आदि सभी को प्रणाम किया जाय तो संसार में पाप एवं अशान्ति की तूती बोलने लगेगी। हम लोग नीचाशयों को प्रणाम करते करते कायर और आत्महीन होजावेंगे। वेद को दीनता और कायरता अभीष्ट नहीं है।

इस विवेचन से पाठक यह भली प्रकार समझ गए होंगे कि वेद में एक रुद्र और अनेक रुद्र किस प्रकार से माने हैं! एक रुद्र का जहाँ वर्णन है वह परमात्म देव का बोधक है और जहाँ अनेक रुद्रों का वर्णन है वहाँ प्रसंगानुसार सांसारिक जीवों और पदार्थों से संगति लगाकर अर्थ करने की आवश्यकता है। यही वैदिक रुद्र एवं रुद्रों का रहस्य है।

वैदिक राष्ट्र-गीत

(२)

[अनुवादक—काव्यमनीषी श्री पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार, एम० ए० एल० टी०, वैदिक धर्मविशारद]

(११)

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ॥
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ॥
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

गीतिका

हे मातृभू ! कान्तार तेरे, सौख्यकारी सब बनें ।
गुरुगिरि गुहा पर्वत प्रदेशों में, अघी अरि हम हनें ॥
ध्रुव विश्वरूपा जो रही कृषि पोषिणी भारत मही ।
हम वीर बनकर हों न हत, भोगें अजित अक्षत वही ॥११॥

(१२)

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ॥
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

हे मातृभू ! तव मध्य में, आकाश में वा जो रहे ।
मानव समूह बलिष्ठ हो, तव हेतु सब संकट सहे ॥
भूमि माता है हमारी, पुत्र हम उसके सभी ।
पर्जन्य पालक है पिता, जो अन्न दे आनन्द भी ॥१२॥

(१३)

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ॥ यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुतयः पुरस्तात् ॥ सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥

जिस भूमि में वेदी बने, वर वेद बोध विचार हो ।
सत्कर्मकर्त्ता सज्जनों का, यज्ञ से सत्कार हो ॥
वर वीर्य उन्नतिशील जन का, यज्ञ कर्म विशेष हो ।
निज मातृभू उद्धार हित, हम को सदा संदेश हो ॥१३॥

(१४)

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान् मनसा यो वधेन ॥ तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

जो दुष्ट हम से विश्व में विद्वेष व्यर्थ बढ़ा रहा ।
हम को दबाने के लिये जो सैन्य रखता हो महा ॥
मन से हमें वा मार कर जो दास करना चाहता ।
हे मातृभू ! कर नाश उसका, मूढ़ मरना चाहता ॥१४॥

(१५)

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ॥ तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन् सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

तुमसे हुए उत्पन्न जन जो नित्य तुम में ही रहें ।
मानव चतुष्पद आदि सब, तव ज्योति जीवन में वहें ॥
सूर्य किरणों से अमृतवत् ज्योति जिनको दे रहा ।
हे मातृभू ! हम मानवों ने आप का आश्रय गहा ॥१५॥

(१६)

ता नः प्रजाः संदुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

हे मातृ भूमे ! आप के हम, पुत्र प्यारे हैं सभी ।
वरदान दे माता हमें हम हों न कटु भाषी कभी ॥
प्रिय सत्य से संयुक्त वाणी में सुधा बहता रहे ।
दे शक्ति माता पुत्र नित, मधु इष्ट ही कहता रहे ॥१६॥

१—इसका पूर्व भाग 'श्रीमद्दयानन्द निर्वाणांक' में पृ० ६८ पर प्रकाशित हो चुका है ।

(१७)

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ॥ शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

सर्व औषधि आदि की जननी अटल निश्चल मही।
धर्म से धारण हुई वसुधा सुविस्तृत है वही॥
कल्याण कर सुखदा सदा हम मातृभू सेवा करें।
इसके लिये जीवें सदा इसके लिये ही हम मरें॥१७॥

(१८)

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे ॥ महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ॥ सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥१८॥

हे मातृभू! तुम हम सबों का एक वासस्थान हो।
नित्य संचालन तुम्हारा वेग सहित महान् हो॥
शत्रुनाशक इन्द्र आलसरहित हो रक्षा करे।
कनकवत तुम में न कोई द्वेष में पड़ कर मरे॥१८॥

(१९)

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो विभ्रत्यग्निरश्मसु अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥१९॥

अग्नि है इस भूमि में जल में, तथा पाषाण में।
अग्नि व्यापक ओषधी में, मनुज अन्तः प्राण में॥
अश्व में गो आदि पशु में, जो हमें मिलती सदा।
अग्नि वह धारण करें हों तेज युत हम भी तदा॥१९॥

(२०)

अग्निर्दिवः आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्। अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियमम् ॥२०॥

(दिक्पाल छन्द)

आकाश में तपे जो नित सूर्यरूप सारा।
उरु अन्तरिक्ष में भी जिस अग्नि का पसारा॥
संसार में रहे जो बहुरूप हव्यवाही।
दीपित घृतादि से जन उसको करें सदा ही॥२०॥

(क्रमशः)

अद्वैतवाद

[ले०—श्री प्रो० नन्दलालजी खन्ना एम० ए०]

जब से मनुष्य ने विचार करना प्रारम्भ किया है उसकी प्रवृत्ति और प्रयत्न इसी ओर रहे हैं कि संसार की समस्त वस्तुओं को अन्त में थोड़ीसी सत्ताओं में घटादे और अनुभूत विभिन्नता और बहुरूपता को बहुत थोड़े नित्य पदार्थों का परिणाम समझे। इस प्रयत्न का अन्तिम परिणाम स्वभावतः यह है कि जगत् की सब चीजों को एक ही कारण का कार्य या रूपान्तर मान लिया जाय और वास्तव में ऐसा ही हुआ। प्राचीनकाल से अबतक अनेक सिद्धान्त बारी बारी से समय २ पर प्रचलित रहे हैं जिनके अनुसार जगत् की अन्तिम सत्ता एक ही मानी गयी है। यथाः—

प्राचीन ग्रीस में सब से पहिला विचारक जिसका इतिहास में उल्लेख है थेलीज़ था। यह कहा करता था कि जगत् की अन्तिम सत्ता जल (Water) है। उसका शिष्य अनक्सिमान्डर एक ऐसे भौतिक पदार्थ को सब चीज़ों का आधार मानता था जो मात्रा में अनन्त और गुण में अनिश्चित हैं। उसका शिष्य अनाक्सि-

मेनीज़ कहा करता था कि आदि कारण वायु (Air) है। अग्नि, वाष्प, जल, पृथिवी आदि इसके गाढा और पतला होने के परिणाम हैं। आत्मा भी वायु के अतिरिक्त कुछ नहीं। हेरेक्लाइटस का सिद्धान्त था कि अग्नितत्व ही अन्तिम सत्ता है, यह क्रमशः वाष्प, पानी और पृथ्वी में परिवर्तित होता रहता है। और ये चीज़ें उल्टे क्रम से अग्नि में। जगत् में परिवर्त्तन ही परिवर्त्तन है, स्थिरता केवल भ्रम है। इलीटिक सम्प्रदाय (Eleatic school) का अद्वैतवाद शङ्कर के वेदान्त से बहुत मिलता है। प्रसिद्ध लेखक फ्रिंट की सम्मति है कि यदि ब्रह्म शब्द के स्थान पर 'सत्' (Being) शब्द रख दिया जाए तो वेदान्त लगभग इलीटिक (Eleatic) सिद्धान्त बन जायगा। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् में स्थिरता ही स्थिरता है। परिवर्त्तन और गति दोनों भ्रम हैं। विचार द्वारा ही सत्य जाना जा सकता है कि इन्द्रियां भ्रम का कारण हैं। विचार हमें बताता है कि केवल 'सत्' (Being) ही है और वह नित्य और अपरिवर्त्तनशील है। परिवर्त्तनशील इन्द्रियगोचर संसार की वास्तविक में सत्ता नहीं है। सत् (Being) नित्य है क्योंकि यदि इसका आरम्भ हुआ है तो यह सत् या 'सत्' अर्थात् भाव (Being) से उत्पन्न हुआ है या असत्, अभाव (Non-Being) से।। सत् (Being) यदि सत् (Being) से उत्पन्न हुआ है तो सत् (Being) पहिले भी मौजूद था अर्थात् नित्य हुआ, यदि असत् (Non-Being) से उत्पन्न हुआ है तो इसका मतलब है कि अभाव (Nothing) में से कुछ पैदा हो सकता है, जो अविचारणीय है। इसी प्रकार सत् का परिवर्त्तन और नाश भी नहीं हो सकता क्योंकि परिवर्त्तन या नाश का परिणाम सत् हो सकता है या असत (Non-Being) यदि सत् (Being) परिणाम हो तो सत् (Being) की सत्ता निरन्तर रही और यदि असत् (Non-Being) परिणाम है तो इसका मतलब है कि सत्ता से अभाव पैदा हो सकता है जो अविचारणीय है। गति भी असम्भव है क्योंकि गति खाली स्थान में ही हो सकती है। खाली स्थान या तो है, या नहीं है। यदि है तो 'सत्' (Being) है, और सत् सत् में गति नहीं कर सकता और यदि खाली स्थान नहीं है तो कोई चीज़ इसमें गति कैसे कर सकती है। सत् निरन्तर और अविभाज्य है, कहीं कोई खाली स्थान नहीं है। यदि कोई अन्तर या खाली स्थान हो तो यह या तो सत् या असत्। यदि सत् (Being) है तो सत् (Being) निरन्तर हुआ। बीच में खाली स्थान न रहा। यदि यह असत् (Non-Being) है तब भी खाली स्थान की सत्ता न रही और सत् (Being) निरन्तर हुआ। इसी प्रकार सत् (Being) आश्रित नहीं हो सकता और सत् (Being) एक ही है। इसी प्रकार की युक्ति का अनुसरण करते हुए उसी के एक शिष्य जेओर्जिस आफ़ लियोन्टिनम (Georgias of leontinum) ने सिद्ध कर दिया कि सत् (Being) की भी सत्ता नहीं हो सकती। यदि सत् (Being) की सत्ता है तो यह सत्ता नित्य ही होसकती है और नित्य सत्ता अनन्त होनी चाहिये क्योंकि यदि सीमा हो तो यह सत् (Being) होगी या असत् (Non-Being) परन्तु नित्य सत्ता समय और स्थान में नहीं हो सकती अर्थात् इसकी सत्ता कहीं नहीं।

एरिसटोटल (Aristotle) का झुकाव भी कुछ अंश में अद्वैत (Pantheism) की ओर है। संसार की

वास्तविकता (Reality) आकृति (Form) है सम्भावना रूप में वा प्रकट रूप (Potential form) में आकृति (Form) प्रकृति (matter) है और जब यह सम्भावना पूरी होजाय तो आकृति (Form) बन जाती है। एक पत्थर की चट्टान में बुत सम्भावनारूप में मौजूद है। जब काट कर बुत बना दिया जाय तो सम्भावना वास्तविक होजाती है और आकृति (Form) बन जाती है। संसार की चीजों में प्रकृति (Matter) और आकृति (Form) मिले हुए होते हैं। वृक्ष, मिट्टी, बीज आदि जिनसे कि यह बना हुआ है, इनकी अपेक्षा आकृति (Form) है और उस बैंच या मेज़ की अपेक्षा प्रकृति (Matter) है जो इससे बनाई जाएगी। पशु वनस्पति की अपेक्षा, मनुष्य पशु की अपेक्षा और आत्मा शरीर की अपेक्षा स्थूल आकृति (Form) है। इस प्रकृति और आकृति (Matter-Form) की शृंखला के अन्त में विशुद्ध आकृति (Pure Form) है। सब वस्तुएं आकर्षित होकर इसी की ओर जा रही हैं। जैसे मनुष्य आदर्श या सौन्दर्य्य के द्वारा आकर्षित होता है। किसी भी चीज़ का सार (Essence) उसका रूप या आकृति है। वृक्ष या पशु अपनी आकृति या रूप के कारण वृक्ष या पशु हैं। स्टोइक सम्प्रदाय (Stoic school) मानता था कि यह संसार समष्टि है और यही परमात्मा (God) है। मनुष्य का आत्मा जगत् के आत्मा (परमात्मा) का अंशमात्र है जो उसी से निकला है और अन्त में उसी में जा मिलेगा। नव-प्लेटोवाद (Neo platonism) का सबसे बड़ा विचारक प्लोटिनस (Plotinus) था। इसके अनुसार वास्तव में एक ही सत्ता है जिसे सत् (Being) कह सकते हैं यह सत्ता अवर्णनीय है। इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जासकता यह भी नहीं कि इसकी सत्ता है, सब जगत् इसी में से निकला हुआ है। परन्तु किस प्रकार? इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। किसी अलङ्कार द्वारा ही बताया जा सकता है। प्रत्येक अलंकार अपूर्ण होगा, सबसे कम त्रुटिवाला अलंकार प्रकाश का है जैसे लैम्प में से प्रकाश निकलता है और लैम्प में कुछ भी कमी आती प्रतीत नहीं होती इसी प्रकार उस सत् (Being) में से सब संसार निकलता है परन्तु सत् (Being) में कुछ परिवर्त्तन नहीं आता लैम्प का प्रकाश ज्यों २ दूर जाता है, पतला होता जाता है इसी प्रकार जो सत्ता 'सत्' (Being) से जितनी दूर है उतनी ही अवास्तविक (Unreal) है। सत् (Being) या परमेश्वर (God) में से सब से पहिले चित् (Spirit), फिर चित् (Spirit) में से आत्मा (Soul), और आत्मा (Soul) में से देह (Body) बनता है। चित् (Spirit), सत् (Being) से निकटतम है और इसलिये संसार में सबसे वास्तविक (Real) और प्रकृति (Matter) दूरतम है इसलिये सब से कम वास्तविक (Real) है। वास्तव में प्रकृति (Matter) अभाव (Non-Being) का नाम है। कोई चीज़ उतने ही अंश में प्राकृतिक (Material) है जितने अंश में यह नहीं है जितने अंश में कोई चीज़ है वह प्राकृतिक (Material) नहीं है। प्लोटिनस (plotinus) को इस बात में शर्म आया करती थी कि उसका कोई शरीर भी है। वह कभी अपना जन्मदिन या मां बाप का नाम नहीं बताया करता था। मनुष्य के अन्दर असन्तोष का कारण यह है कि वह फिर परमात्मा से मिलना चाहता है और अन्त में उसी में

लीन हो भी जाता है। ईसाई मत भी अद्वैत को रोक नहीं सका। नव-प्लेटोमत (Neo Platonism) का इस पर प्रभाव पड़ा और (आस्तिकवाद) (Gnostic system) पैदा हुआ जो अद्वैत मानता था और जिसने कुछ समय के लिये ईसाइयत पर छापा मार लिया, न कि शताब्दी में एरीजेना (Erigena) ने जो आयरलैण्ड (Ireland) का निवासी और अद्भुत पण्डित था, ईसाई सिद्धान्तों को अद्वैत के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया नवप्लेटोवाद (Neo-platonism) और नवपाइथोगोरसमत (Neo pytha goreanism) की सहायता से त्रैत (Triaity) सृष्टि आदि के सिद्धान्तों की व्याख्या की और कहा कि दैवी पुस्तक बाइबल (Bible) में परमात्मा चिन्ह (symbol) रूप में अपने आप को प्रकट कर रहा है। मध्यशताब्दियों में योरोप में कई मैथ्रिक लोगों के पन्थ ईसाइयों में मौजूद थे। जैसे बेगार्ड, वेगाइन, फ्रीस्पिरिट के भाई बहन, आत्मिक मुक्तिदाता (Beghard, Beguine, Brothers and sisters of the Free spirit, spiritual liberation) इत्यादि नव संस्कार (Reformation) के समय यह समाप्त हो गई। पश्चिम में आधुनिक काल में सब से पहला अद्वैतवादी ब्राण्ड (Brand) था। इसके सिद्धान्त दार्शनिक नहीं हैं, प्रत्युत एक प्रकार की कविता है। यह एबाटिक नवप्लेटोवादी, (Ebatic, Neo platonic) और प्राकृतिक अद्वैत (Naturalestic Pantheism) का मिश्रण है। सारी प्रकृति जीवित है, और इसके अन्दर एक जगदात्मा (world soul) मौजूद है। संसार एक शरीर है जो अनन्त है चराचर (Nature) में सर्वत्र जीवन-अनुभव (sensation) और ऐन्द्रियक रचना मौजूद है अनन्त जन्तु (Creatures) हैं प्रत्येक में परमात्मा की चित् (ज्ञान) का प्रतिबिम्ब है। सितारों में भी बुद्धि और इन्द्रियाँ हैं, वास्तविक सत्ता एक नित्य आत्मा है, अन्य सब चीज़ें इसकी प्रतिमा या छाया हैं। प्रकृति में परमात्मा के विचार प्रकट हो रहे हैं, सूर्य से किरणों की तरह सब जातियां परमात्मा से निकल रही हैं परन्तु छोटी २ चीज़ों में भी घास के पत्ते और रेत के कण में भी परमात्मा पूर्ण रूप से मौजूद है। परन्तु सब से प्रसिद्ध अद्वैती (Panthiest) स्पाइनोज़ा (Spinoza) है। इसके विचार में दर्शन (Philosophy) ऐसी ही चीज़ है जैसी रेखागणित (Geometry)। वह आठ लक्षण (Definitions) और सात स्वयं सिद्ध (Axioms) बनाकर चलता है और उनके आधार पर उसने सैंतीस साध्य (Propositions) बनाये हैं जिनमें परमात्मा के विषय में उसका सिद्धान्त आ जाता है। प्रत्येक उपपाद्य (Propositions) की इसी प्रकार सिद्धि की है जैसे रेखागणित (Euclid) में कोई उपपाद्य (Proposition) जैसे द्रव्य (Substance) वह है जिसकी अपने आप में सत्ता है और जो अपने आप में (बिना किसी अन्य चीज़ की सहायता के) सोचा जा सकता है। इसी प्रकार यह एक स्वयं सिद्ध (Axiom) है कि:—

Whatever can be thought of as non-existing does not in its essence involve existence अर्थात् जो अभावरूप में सोचा जा सकता है, वह स्वतः भाव को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह वाक्य स्वयं तो ठीक मालूम होता है परन्तु जो परिणाम इससे निकाला गया है वह भयङ्कर है जो स्वतः

भाव रूप में सोचा जा सकता है Whatever can be thought of as existing in its essence involves existence. वह सत्ता को प्रकट करता है। जगत में एक ही द्रव्य (Substance) है और वह परमात्मा है। उसके अनन्त गुण या धर्म (Attributes) हैं। मनुष्य केवल दो ही गुण जानजासकता है। एक विस्तार (Extension) और दूसरा ज्ञान (Thought) प्रत्येक गुण अपने आप में अनन्त (Infinite) है अर्थात् विस्तार (Extension) की कोई सीमा नहीं यद्यपि इसके अतिरिक्त और भी गुण मौजूद हैं इसलिये प्रत्येक गुण आपेक्षिक तौर पर अनन्त है और परमात्मा परम अनन्त (Absolutely Infinite) है। द्रव्य (Substance) के लक्षण से ही स्पाइनोजा परिणाम निकालता है कि द्रव्य (Substance) स्वतः अपना कारण आप होना चाहिये क्योंकि यदि ऐसा न हो तो इसका कारण कुछ और होगा। तब यह द्रव्य (Substances) नहीं रहेगा। क्योंकि द्रव्य (Substance) वह है जिसकी अपने आप में सत्ता है। फिर द्रव्य (Substance) अनन्त होना चाहिये यदि अनन्त न हो तो यह और द्रव्य (Substance) द्वारा सीमित होजायगा और इसलिये उन पर आश्रित हो जायगा और फिर यह द्रव्य (Substance) नहीं होसकता क्योंकि द्रव्य (Substance) वह है जिसकी अपने आप में सत्ता है। द्रव्य (Substance) एक ही है और वह किसी पर आश्रित नहीं, इसलिये अपने से बाहर किसी चीज़ का इस पर प्रभाव नहीं पड़ सकता और इसलिये स्वतन्त्र होना चाहिये, इसी प्रकार और भी कई गुण केवल लक्षण से ही निकाले हैं।

डा० फ्लिन्ट (Dr. Flint) इस सिद्धान्त के विषय में लिखता है कि स्पाइनोजा (Spinoza) का सबसे आवश्यक लक्षण परमात्मा का लक्षण है। परमात्मा एक पूर्ण रूप में अनन्त सत्ता है या परमात्मा एक द्रव्य (Substance) है जिसके अनन्त गुण हैं जिन में से प्रत्येक नित्य और अनन्त है। स्पाइनोजा (Spinoza) इसको एक निश्चित स्पष्ट और स्वयं सिद्ध सिद्धान्त समझता है जिसके आधार पर हम जहाँ तक चाहें युक्ति करते जायें क्योंकि इसको हम ऐसी अच्छी तरह जानते हैं जैसे रेखागणित (Euclid) में त्रिकोण (Triangle) या वृत्त (Circle) को, परन्तु वास्तव में यह धर्म के कठिन से कठिन सिद्धान्तों से भी अधिक रहस्ययुक्त और न समझ में आने वाला है। आश्चर्य की बात यह है कि स्पाइनोजा (Spinoza) एक ऐसे सिद्धान्त को स्वयंसिद्ध कैसे समझ सकता था। परमात्मा के लक्षण के अन्दर द्रव्य (Substance) गुण (Attribute) अनन्त (Infinite) अनादि (Eternal) शब्द आते हैं जिनके लक्षण अलग तौर पर करने की स्पाइनोजा (Spinoza) को आवश्यकता अनुभव हुई। इसलिये इन लक्षणों में जो कुछ आत्मविरोधी और न समझ में आनेवाला है वह परमात्मा के लक्षण में भी आगया है। उदाहरण के लिये द्रव्य (Substance) हो एक ऐसी चीज़ है जिसको न कभी किसी मनुष्य ने समझा है और न समझ सकता है। द्रव्य (Substance) का अपने आप में लक्षण करना या इस लक्षण के आधार पर युक्ति करना मनुष्य के विचार के आधारभूत नियमों को तोड़ना है। स्पाइनोजा (Spinoza) समझता था कि अपने आप से द्रव्य (Substance) का एक स्पष्ट विचार बनाया

जा सकता है और इसीलिये बड़े २ परिणाम उसने लक्षणमात्र से ही निकाल लिये। फिर गुण (Attribute) का लक्षण स्पाइनोज़ा (Spinoza) यह करता है कि (Attribute is that which the intellect perceives as constituting the essence of substance.) अर्थात् (Attribute) गुण वह है जिसको बुद्धि समझती है कि यह द्रव्य (Substance) का सार है। लक्षण से मालूम होता है कि गुणों (Attributes) की सत्ता को केवल बुद्धि समझती है अर्थात् द्रव्य (Substance) को बुद्धि गुण (Attribute) रूप में ग्रहण करती है। तब वास्तव में गुणों (Attributes) की सत्ता नहीं रहेगी और साथ ही द्रव्य (Substance) से अतिरिक्त मनों (Minds) की सत्ता माननी पड़ेगी जिनको गुण (Attribute) प्रतीत होते हैं। और तब अद्वैत नहीं रहेगा यदि गुणों (Attributes) की वास्तव में सत्ता है तो द्रव्य (Substance) में एकता नहीं रहेगी क्योंकि गुण (Attributes) अनन्त हैं और एक दूसरे से भिन्न हैं, एक दूसरे में घटाये नहीं जा सकते और गुण (Attributes) द्रव्य (Substance) का सार है इसलिये द्रव्य (Substance) गुण (Attributes) के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। इस प्रकार द्रव्य (Substance) के स्थान पर अनन्त गुण (Attributes) रह जायंगे जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

संसार की चीजें दरिया, पहाड़, मनुष्य, वृक्ष आदि रूप (Modes) हैं और रूप (Mode) का लक्षण है द्रव्य (Substance) का रूपान्तर (Modification of substance) है। जिसकी सत्ता किसी और में हो और अन्य की सहायता से सोचा जा सके। यदि द्रव्य (Substance) अपने गुणों (Attributes) में ही समाप्त होजाता है और गुणों (Attributes) का आवश्यक रूपान्तर रूप या प्रकार (Modes) हैं तो वास्तव में प्रकार (Modes) ही प्रकार (Modes) रह जाते हैं, संसार की भिन्न २ चीजों की ही सत्ता रह जाती है जिनमें कोई एकता नहीं और परमात्मा की सत्ता उड़ जाती है। फिष्टे (Fichto) के मतानुसार आत्मतत्व (Ego या Self) ही जगत् की अन्तिम सत्ता है। परन्तु आत्मा (Ego) स्वभाव से ही धर्म (Moral) है। धर्ममर्यादा (Morality) तभी होसकती है जब कोई बाधा हो जिसका दमन करना हो, इसलिये एक आत्मा (Ego) या एक अनात्मा (Non-Ego) संसार को पैदा कर लेता है ताकि इसे दमन करके अपने (Moral) धर्म-स्वभाव को पूरा करे अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार सारा संसार फिष्टे (Fichte) ने बनाया हुआ है परन्तु आगामी जीवन में फिष्टे (Fichte) वैयक्तिक आत्मा (Ego) के अतिरिक्त एक परम-आत्मा (Absolute Ego) भी मानता था जिसने अनात्मा (Non-Ego) संसार और वैयक्तिक आत्मा (Ego) बनाये हैं। परन्तु यह संसार से कहीं अलग नहीं अपितु संसार का धर्म नियम (Moral order) ही परमात्मा (Absolute) है। वेबर (Weber लिखता है कि फिष्टे (Fichte) का परमात्मा (Absolute) वास्तव में एक कैदी है क्योंकि यह दो परस्पर आवश्यक सम्बन्ध रखने वाली चीजें आत्मा (Ego) और अनात्मा (Non-Ego) में से एक है। परमात्मा (Absolute) वही होसकता है जिसका किसी और चीज के साथ आवश्यक सम्बन्ध नहीं। शेलिंग (Schelling) के अनुसार भी जगत् की अन्तिम सत्ता परमात्मा

(Absolute) है जो आत्मा (Ego) और अनात्मा (Non-Ego) (Self और not selt) दोनों से ऊपर है जिसके विषय में सर्वथा कोई ज्ञान नहीं। वह एक प्रकार की अन्धकारमय भित्ति (Dark back-ground) है परन्तु ऐसे परमात्मा (Absolute) का कुछ उपयोग नहीं क्योंकि इससे बिल्कुल पता नहीं लगता कि यह संसार क्यों और कैसे निकल आया। हीगल (Hegel) के अनुसार परमात्मा (Absolute) और मन (Reason) या प्रतीति (Thought) एक ही चीज़ हैं और यही जगत् की अन्तिम सत्ता है यह मन (Reason) प्रारम्भ में अचित् (Ur-consci-ous) और संसार के सर्गक्रम (Process) द्वारा चित् (Self-conscious) होरही है। संसार का सर्ग (Process) एक विकास है और इस विकास का अन्तिम परिणाम यह होगा कि मन (Reason) पूरे तौर पर सत्चित् या संवित् (Self conscious) हो जायगी यह विकास न्याय (Logic) के नियमों के अनु-सार हो रहा है और परमात्मा (Absolute) इस विकास के सर्गक्रम (Process) से बाहर नहीं, अन्दर है। आरम्भ से अन्त तक विकास-मार्ग ही परमात्मा Absolute) है। परन्तु यह बात प्रायः मानी हुई है कि हेगल (Hegel) ने संसार की जो व्याख्या की है वह विज्ञान के विरुद्ध है। रासायनिक, भौतिक और ऐन्द्रिक क्रियाएं विचार के नियमों के अनुसार होरही हैं। ऐसा परीक्षण सिद्ध नहीं करता। वास्तव में संसार की तर्क (Logic) के नियमों से व्याख्या (Explain) करने के लिये उसे तर्क (Logic) के ही आधारभूत नियम को तोड़ना पड़ा जो समानरूपता का सिद्धान्त (Law of Identity) है। शोपनहार (Schopenhauer) समझता है कि संसार जो हमें नजर आरहा है भ्रम है हमारा बनाया हुआ है वास्तव में एक ही सत्ता है और वह संकल्प (Will) है केवल मनुष्य के अन्दर वह संकल्प या कामना (Will) बुद्धि का रूप धारण कर लेता है, शेष संसार में बुद्धिरहित संकल्प (कामना) (Will) ही काम कर रहा है। जीवन एक कष्ट-क्षेत्र है केवल निर्वाण द्वारा ही इस कष्ट से छूट सकते हैं। प्रयत्न तभी होता है जब कोई कमी हो और कमी का मत-लब है कष्ट। जबतक कोई इच्छा पूरी नहीं होती, कष्ट रहता है और जब पूरी होजाती है तो इच्छा ही जाती रहती है और इसलिये आनन्द भी सम्भव नहीं, इच्छा देर तक रहती है परन्तु सन्तुष्टि क्षणिक होती है। एक इच्छा पूरी होती है तो दस अपूर्ण रह जाती हैं। इस जर्मन के आदर्शवाद (German Idealism) ने इंग्लैंड में प्रवेश किया और अद्वैतवाद के बहुत से विचारक अनुयायी होगये जैसेः—

ग्रीन, ब्राडले, वालेस, लूइस, नेटलशिप, रिशे और अमरीका में रोयेसे इन लोगों का विचार है कि यदि चीजें अन्त में एक न हों तो उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यदि ज़रा भी स्वतन्त्रता मान लो तो फिर कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता और यदि ज़रा भी सम्बन्ध मान लो तो अन्त में एकता माननी पड़ेगी। यह बात लोट्ज़े (Lotye) की मशहूर युक्ति द्वारा समझाई जा सकती है। कल्पना करो कि क, ख, ग, कई चीजें हैं जो परस्पर स्वतन्त्र हैं ऐसी अवस्था में क्या क कभी ख पर प्रभाव डाल सकता है? प्रभाव पड़ने का अर्थ क्या है? क्या प्रभाव क से अलग होकर ख के पास

चला जाता है यदि यह ठीक हो तो प्रभाव एक तीसरी चीज है और इसलिये प्रश्न यह नहीं कि क, ख पर कैसे क्रिया करता है ? परन्तु यह कि प्रभाव क पर कैसे क्रिया करता है ? यदि किसी और प्रभाव द्वारा, तो यह प्रभाव कैसे क्रिया करता है ? और प्रभावों की यह शृंखला अन्त में ख को कैसे ढूंढ लेती है, ग को क्यों नहीं ढूंढ लेती ? जबतक पहिले से ही ख के साथ कोई आन्तरिक सम्बन्ध न हो और फिर प्रभाव का अर्थ है कि ख में कुछ परिवर्त्तन हो अर्थात् ख कुछ जवाब दे। अब ख यह जवाब कैसे दे सकता है यदि ख में जवाब देने की योग्यता न हो अर्थात् ख पहले से ही किसी तरह क के अनुकूल न हो यदि क और ख परस्पर स्वतन्त्र होते तो किसी प्रकार का परस्पर प्रभाव असम्भव होता। यह युक्ति केवल शब्दों का खेल है। यदि चीजों को अन्त में एक कह दें तो परस्पर प्रभाव हो सकता है अन्यथा नहीं। क्या एक कह देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभाव कैसे पड़ता है। यदि किसी चीज को कोई नाम दे दिया जाय तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसमें केवल वही गुण है। जैसे किसी मनुष्य को 'सवार' कह दिया जाय तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह पैरों पर कभी चलता ही नहीं या चल ही नहीं सकता। इसी प्रकार स्वतन्त्र का यह अर्थ नहीं कि इनमें कोई सम्बन्ध ही नहीं। ब्राडले (Bradlay) कहता है कि एक से अधिक वास्तविकों (Reals) की सत्ता असम्भव है यदि सम्भव हो तो बहुत सी सत्ताएं होंगी जो परस्पर आश्रित न होंगी, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि बहुत्व (Plurality) और अनाश्रितपन परस्पर विरोधी हैं क्योंकि बहुतपना होने का अर्थ ही यही है कि उनमें परस्पर कुछ सम्बन्ध है, नहीं तो उनको इकट्ठा करके बहुत (Many) क्यों कहा ? जब तक वह एक समष्टि के हिस्से न हों इन को इकट्ठा करके बहुत (Many) कहा ही नहीं जा सकता। ऐसी युक्तियां उसी बौद्धिक तर्क (Intellectualist Logic) का परिणाम हैं जिसके अनुसार ब्राडले कहता है कि किसी विशेषण (Adjective) का किसी नाम (Noun) के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। हम नहीं कह सकते कि शक्कर मीठी है क्योंकि यदि शक्कर और मीठी एक ही न हों। शक्कर (Sugar) शक्कर है और मीठी मीठी है और है शब्द इनका संबन्ध जोड़ने में अशक्त है और यदि शक्कर और मीठा एक ही हों, अलग अलग न न हों तब भी सम्बन्ध जोड़ने का कोई अर्थ नहीं। प्रो० जेम्स (Prof. James) लिखता है कि यह मनुष्य का साधारण दोष है कि वह हाँ और ना में सोचता है कि कोई चीज सर्वथा काली या सर्वथा श्वेत है, बीच की नहीं हो सकती चीजें या तो एक ही होनी चाहियें या उनमें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। मनुष्य के अन्दर स्वतन्त्र कामना मौजूद है तो इसका यह अर्थ होना चाहिये कि एक अंग्रेजी जरनैल भी एक वहशी सरदार की तरह अपने सिपाहियों को खा सकता है। शैले की कविता में और इमर्सन (Emerson) के लेखों में भी एक प्रकार का अद्वैत (Pantheism) पाया जाता है परन्तु इनका कोई युक्तिपुष्ट सिद्धान्त नहीं जिसे दार्शनिक कहा जा सके। फ्रांस में कजिन इडेक्टीस (Cousin, Edecties) और रानान (Ranan) का झुकाव भी अद्वैत (Pantheism) की ओर कभी २ प्रतीत होता है। यूकारन

(Uacherot) कहता है कि परमात्मा की वास्तविक सत्ता नहीं केवल भान या प्रतीति (Abstract) अर्थात केवल विचार द्वारा और विचार के लिये है। इस प्रकार के सिद्धान्त को अद्वैत (Pantheism) नहीं कहा जा सकता क्योंकि जगत् का आधार होने के स्थान पर परमात्मा की सत्ता ही नहीं रहती।

भारतवर्ष में भी अद्वैत का एक बड़ा लम्बा इतिहास है और शायद संसार में कहीं भी अद्वैतवाद को इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी भारतवर्ष में। सबसे बड़ा अद्वैतवादी शंकर है जिसे प्रो० जेम्स एकतावादियों का सर्दार कहता है। वास्तव में केवल ब्रह्म की ही सत्ता है और सब कुछ धोखा है। माया या अविद्या के कारण जगत् और आत्माओं की प्रतीति होती है। इनकी सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होना चाहिये क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त कोई चीज़ एक नहीं हो सकती, परन्तु यह ज्ञान किसी चीज़ का ज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि इससे ज्ञाता ज्ञेय का भेद हो जाता है और दोनों सीमित हो जाते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार संसार क्या चीज़ है और कहां से आगया ? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं। यदि कहें कि प्रतीति है तो प्रतीति किस की है ? यह माया या अविद्या क्या चीज़ है ? यदि ब्रह्म से अतिरिक्त है तो अद्वैत न रहा यदि ब्रह्म ही है तो ब्रह्म का ब्रह्म पर आवरण कैसा ? यदि अनित्य है तो कहां से आगई ? यदि नित्य है तो इसका परिणाम संसार भी नित्य और वास्तविक होगा। यदि कहा जाय कि आत्मा और अन्य सब चीजें ब्रह्म में से निकली हुई हैं तब भी काम नहीं चल सकता। जो चीज़ वास्तव में एक है उसमें से कुछ निकल नहीं सकता। प्रकृति (Matter) में से चीजें निकल सकती हैं। जैसे—आग में से शरारे, क्योंकि प्रकृति (Matter) वास्तव में एक नहीं है। हमें तो बहुतसी चीज़ों का अनुभव होता है और अपने आप में अपूर्णता और सीमा का अनुभव होता है, परन्तु एक अनन्त पूर्ण सत्ता का अनुभव नहीं होता जो न ज्ञाता है न ज्ञेय और नहीं हमें यह अनुभव होता है कि हम और यह एक ही हैं। डा० बैलेन्टीस (Dr. Ballantyns) लिखता है कि वेदान्ती इस बात का क्या जवाब देता है कि हमें भ्रमात्मक ज्ञान क्यों होता है केवल यही कि अज्ञान के कारण, अर्थात् यह है कि हमें ज्ञान नहीं है। कहा जाता है कि संसारचक्र का कारण संस्कार है, परन्तु संस्कार के लिये तो दो चीज़ों की आवश्यकता होती है। एक संस्कार डालने वाले की और दूसरे जिस पर संस्कार पड़े। अद्वैत में दूसरी चीज़ कौनसी है ? फिर संस्कार समय में आरम्भ होने वाली चीज़ हैं, तो क्या ब्रह्म में परिवर्त्तन आते रहते हैं ? शंकर के अतिरिक्त भी भास्कर मानता था कि ब्रह्म से अतिरिक्त एक उपाधि है। उसका जब ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है तो संसार उत्पन्न होता है इसलिये ब्रह्म का और जगत् का भेद भी है। जीव का और ब्रह्म का भेद वास्तविक नहीं है इसलिये जीव के किये हुए कामों का लेप ब्रह्म में भी होता है और इन कर्मों से परवश हुआ २ ब्रह्म संसार को बनाता है। स्पष्ट तौर पर यदि उपाधि की वास्तविक सत्ता है तो यह अद्वैत नहीं रहता और फिर ब्रह्म परवश और परिवर्त्तनशील होना चाहिये। यादव मानता था कि ब्रह्म और अचित (माया) का

भेद भी स्वाभाविक है और अभेद भी स्वाभाविक है। इसी तरह चित् और ब्रह्म का भेद भी स्वाभाविक है और अभेद भी स्वाभाविक है। इसलिये अचित् के परिणामों और चित् के सुख दुःख आदि का भी सम्बन्ध परमात्मा के साथ है। रामानुज का यह मत है कि संसार में दो विशिष्ट पदार्थ प्रतीत होते हैं अचित् और ब्रह्म तथा चित् और ब्रह्म। अचित् प्रकृति है और चित् जीव। यह अचित् और चित् परमात्मा (ब्रह्म) के शरीर हैं, ब्रह्म इनमें आत्मारूप से नियामक है। इस सिद्धान्त को अद्वैत कहना कठिन है क्योंकि यह तो तीन अन्तिम सत्ताओं को मानता है। शरीर और आत्मा किसी द्रष्टा के लिये एक हो सकते हैं या उसी अर्थ में एक हो सकते हैं जिस अर्थ में प्रजा और राजा मिल कर एक हैं, या दो इकट्ठे काम करने वाले एक होते हैं।

(क्रमशः)

मनुस्मृति और राजसत्ता

[ले०—सम्पादक]

मनुस्मृति के अध्याय ७ तथा ८ में राजसत्ता का विस्तार पूर्वक वर्णन है। कई विद्वानों की धारणा है कि मनुस्मृति में राजा की उत्पत्ति में परमात्मा[1] को कारण माना है और साथ ही मनुस्मृति में राजा की उत्पत्ति में इन्द्र[2], वायु, यम, और सूर्य आदि देवताओं की नित्य अनादि मात्राओं को कारण कहा गया है इसलिये मनुस्मृति का राजा पूर्ण स्वच्छन्द, प्रजा के प्रति अनुत्तरदायी तथा किसी प्रकार के भी प्रतिबन्ध से सर्वथा हीन है।

गहरी दृष्टि से विचार न किया जाय तो ऊपर की दोनों युक्तियां, मनुस्मृति की राजसत्ता के अबाधित होने में, बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं। परन्तु देखना यह होता है कि ग्रन्थकर्त्ता ने किसी सम्बन्ध में जो युक्तियां दी हैं उन युक्तियों का ग्रन्थकर्त्ता की ही दृष्टि में क्या अभिप्राय तथा तात्पर्य है ?। तभी वास्तव में हम ग्रन्थकर्त्ता के साथ न्याय कर रहे होंगे।

१—सब से प्रथम हमें यह विचार करना चाहिये कि मनुस्मृति में राजा की उत्पत्ति का उद्देश्य क्या कहा गया है ?। मनुस्मृति में राजा की उत्पत्ति का एकमात्र उद्देश्य "प्रजा की रक्षा[3]" माना है। राज्य तथा शासन में राजा के वैयक्तिक सुखों और भोगों को मनुस्मृति में स्थान नहीं दिया[4]। यह उद्देश्य हमें अवश्य सहायता दे सकता है जिस द्वारा कि हम मनुस्मृति की राजसत्ता के अधिकारों तथा अनधिकारों के यथार्थ स्वरूप को थोड़ा बहुत समझ सकते हैं।

२—राजा की उत्पत्ति में परमात्मा को कारण मानने की युक्ति राजा के अधिकारों को अबाधित

१—राजानमसृजत् प्रभुः ॥ मनु० ७ । ३ ॥

२—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ मनु० ७।४॥

३-रक्षार्थमस्य सर्वस्य ॥ मनु० ॥

४—एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ॥ मनु० ७।३३॥

तथा निःसीम सिद्ध करती है—यह कथन हमें कुछ शिथिल सा प्रतीत होता है। कारण यह कि मनुस्मृति आस्तिक है। मनुस्मृति का यह विश्वास है कि सभी संसार परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, समग्र संसार का कारण परमात्मा है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरण में मनुस्मृति में लिखा है किः—

काल, काल के विभागों, नक्षत्रों, ग्रहों, नदियों, सागरों, पर्वतों, तथा ऊंचे नीचे प्रदेशों को प्रभु ने रचा[५]। तप, वाणी, रति, काम तथा क्रोध को उसने उत्पन्न किया[६]। लोगों की, विविध प्रकार से वृद्धि के लिये उसने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया[७]।

इस प्रकार जब सब संसार का ही कारण परमात्मा है, तो राजा का कारण परमात्मा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। मनुस्मृति की दृष्टि में राजा जिस प्रकार परमात्मा से उत्पन्न हुआ है उस प्रकार प्रजा भी परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है। आस्तिक राजनीतिज्ञ राष्ट्र के प्रत्येक अवयव तथा अंग की उत्पत्ति और सत्ता में परमात्मा को कारण मानेगा। मनुस्मृतिकार भी आस्तिक है। इसीलिये राजा की उत्पत्ति में मनु महाराज ने परमात्मा को कारण माना है, ऐसा हमें प्रतीत होता है। मनुस्मृति के प्रथमाध्याय में लिखा है कि परमात्मा ने तपश्चर्यापूर्वक अपने मुख से ब्राह्मण को उत्पन्न किया[१]। इस प्रकार मनुस्मृति के राजप्रकरण में राजा को यदि श्रेष्ठ सत्ता माना गया है तो मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ सत्ता माना है। वस्तुतः आस्तिक भावना को दृढ़ करने के हेतु से ही मनुस्मृति में राजा, ब्राह्मण तथा अन्यों और साथ ही साथ समग्र जगत् की उत्पत्ति में परमेश्वर को कारण माना है। राजा की अबाधित तथा निःसीम शक्ति के प्रदर्शन के अभिप्राय से राजा की उत्पत्ति का कारण परमात्मा दर्शाया गया है। यह कल्पना मनुस्मृति के लेखों के अनुकूल प्रतीत नहीं होती।

३—अब हम इस युक्ति का निरीक्षण करते हैं कि मनुस्मृति में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर[२] इनकी नित्य अनादि मात्राओं से राजा की उत्पत्ति कही गई है इसलिये मनुस्मृतिकार के मत में राजा कोई दिव्य तथा अलौकिक व्यक्ति है, और इसीलिये मनुस्मृतिकार की दृष्टि में राजसत्ता अबाधित तथा निःसीम वस्तु है।

मनुस्मृतिकार ने राजा को इन्द्र आदि दैवीय शक्तियों का पुतला क्यों माना? इसका उत्तर मनु महाराज ने स्वयं मनुस्मृति के ९ वें अध्याय में दिया है। जो कि निम्नलिखित है यथाः—

इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और

५—कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहाँस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥मनु० १।२४॥

६—तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥मनु० १।२५॥

७—लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ मनु० १।३१॥

१—तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ मनु० १।९४॥

२—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥मनु० ७।४॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥मनु० ७।७॥

पृथिवी आदि तेजों या शक्तियों के व्रतों का सदा राजा पालन करता रहे ।[3]

वर्षा ऋतु के चार मासों में जैसे इन्द्र वर्षा करता है वैसे ही राजा अपने राष्ट्र पर सदा अभीष्ट पदार्थों की वर्षा करते रहे—यह इन्द्र व्रत-का आचरण करना है[4] ।

आठ मास जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जल लेता रहता है राजा भी इसी प्रकार अपने राष्ट्र से करों का नित्य ग्रहण करे–यह सूर्य-व्रत का आचरण करना है[5] ।

वायु जिस प्रकार सब भूतों में प्रविष्ट होकर विचर रहा है इसी प्रकार राजा भी गुप्तचरों द्वारा प्रजा में प्रविष्ट रहे (अर्थात् गुप्तचरों द्वारा प्रजा के गुप्त व्यवहारों से सदा जानकारी रखे)—यह वायुव्रत का आचरण करना है[1] ।

जैसे यम उचित समय पर मित्र तथा शत्रु दोनों का निग्रह तथा नियमन करता है इसी प्रकार राजा भी प्रजाजनों का निग्रह तथा नियमन किया करे यह यमव्रत का आचरण करना है[2] ।

३–इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥मनु०९।३०३

४–वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ मनु०९।३०४॥

५–अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥मनु० ९।३०५॥

१–प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ मनु०९।३०६॥

२–यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥मनु०९।३०७॥

मनुष्य जैसे वरुण के फंदों से बन्धा हुआ ही दृष्टिगोचर होता है वैसे ही राजा भी पाप के कारण प्रजाजनों को बांधा करे—यह वरुणव्रत का आचरण करना है[3] ।

परिपूर्ण चन्द्र मण्डल को देखकर मनुष्य जैसे हर्ष को प्राप्त होते हैं वैसे ही प्रजाजन जिस राजा के दर्शन से प्रसन्न होते हैं वह राजा चन्द्रव्रत का आचरण करने वाला समझना चाहिये[4] ।

पाप कर्मों के करने वालों पर राजा सदा प्रताप और तेज के साथ चमकने वाला हो, तथा दुष्ट सामन्तों की हिंसा करने वाला हो – यह राजा का अग्निव्रत कहा गया है[5] ।

जैसे पृथिवी सब भूतों का धारण समदृष्टि से कर रही है इसी प्रकार राजा समदृष्टि से सब प्रजाजनों का धारण करे – यह राजा का पार्थिवव्रत है[6] ।

इन ऊपर के उद्धरणों द्वारा ज्ञात हो सकता है कि मनु महाराज के हृदय में राजा के सम्बन्ध में दैवीय कल्पना का वास्तविक अभिप्राय क्या था । मनु महाराज की यह कभी धारणा न थी कि राजसिंहासन पर बैठा हुआ कोई भी व्यक्ति चाहे वह सदाचारी हो या कदाचारी, प्रजा का रक्षक हो या भक्षक,—सदा ही

३–वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम्॥मनु०९।३०८॥

४–परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ मनु०९।३०९॥

५–प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ मनु०९।३१०॥

६–यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ मनु०९।३११॥

दैवीय शक्तियों का पुञ्ज हुआ करेगा। मनु महाराज तो राजा को दैवीय-व्यक्ति इसलिये कहते प्रतीत होते हैं कि राजा वास्तव में अपने आचरणों तथा व्यवहारों क दृष्टि से दैवीय-व्यक्ति बना रहे। राजा केवल राज-सत्ता की प्राप्ति होने के कारण ही दैवीय नहीं, अपितु वह दैवीय इसलिये कहा गया है ताकि उसे सदा स्मरण रहे कि उसने दैवीय बनना है, उसने इन्द्र, वायु, यम तथा सूर्य आदि के व्रतों का अपने जीवन में आधान करना है। इस दृष्टि से ही मनु महाराज ने राजा में इन्द्र आदि दैवीय-शक्तियों के अंशों या मात्राओं की सत्ता की कल्पना की है। इसलिये दैवीय कल्पना के आधार पर मनु महाराज की राज्य-शासन-व्यवस्था में राजा की शक्तियों को अबाधित तथा निःसीम मानना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता।

४—राजा की शक्ति अबाधित तथा निःसीम है इस कल्पना को उत्तेजना देते हुए मनुस्मृति में और भी दो एक श्लोक प्रतीत होते हैं। इन श्लोकों के यथार्थ भावों पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इन श्लोकों में लिखा है किः—

राजा चाहे बालक हो तो भी "यह मनुष्य ही तो है"—इस प्रकार से इसका अपमान न करना चाहिये, वास्तव में यह एक बड़ा देवता है जो कि मनुष्य के रूप में स्थित है[1]।

जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी और श्री का निवास है, जिसके पराक्रम में विजय तथा क्रोध में मृत्यु का वास है; वह राजा तो सब तेजों का पुञ्जरूप है[2]।

ये श्लोक स्पष्ट हैं। इन श्लोकों में मनुस्मृति के राजा की शक्ति को अबाधित तथा निःसीम मानने वालों को पर्याप्त मसाला मिलता है। बालक राजा को भी बड़ा देवता मानना और उसकी प्रसन्नता, पराक्रम और क्रोध में लक्ष्मी, विजय और मृत्यु का निवास मानना अवश्य भ्रम में डाल सकता है कि मनुस्मृति-कार तो राजा की शक्तियों को अबाधित तथा निःसीम ही चाहता था।

परन्तु यह परिणाम हमें ठीक प्रतीत नहीं होता। मनुस्मृति के अनुसार राज्य के 'तन्त्र' Constitution का मुखिया राजा है इसलिये राज्य के तन्त्र, Constitution के मुखिया के रूप में उपरोक्त वर्णन वास्तव में ठीक ही प्रतीत होता है। तन्त्र Constitution का मुखिया चाहे बालक भी हो, परन्तु क्योंकि वह मुखिया है इसीलिये वह बड़ा भी गिना जाना चाहिये इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं दीखती। तन्त्र Constitution के मुखिया के प्रति मान तथा पूज्यभाव के प्रदर्शन के लिये ही राजा को "महती देवता" अर्थात् बड़ा देवता कहा है। 'अतिथिदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इत्यादि वचनों में जैसे अतिथि, माता, पिता तथा आचार्य को भी 'देव' कहा गया है वैसे ही मनुस्मृति के श्लोक में भी राजा को "महती देवता" कहा है। अतिथि आदि के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया गया 'देव' शब्द जैसे उनके प्रति मान, प्रतिष्ठा तथा पूज्यभाव का द्योतक है इसी प्रकार राजा के

१—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ मनु० ७। ८॥

२—यस्य प्रसादे पद्मा श्री विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ मनु० ७।११॥

सम्बन्ध में भी प्रयुक्त देवता शब्द उसके प्रति मान, प्रतिष्ठा तथा पूज्यभाव को ही दृढ़ करने की दृष्टि से है, उसे लोकोत्तर या उत्पत्ति से ही स्वभावतः दिव्य मानने की दृष्टि से नहीं।

मनुस्मृति का राजा तन्त्र Constitution का मुखिया है यह बात मान लेने पर यह बात भी समझ में आसानी से आ जाती है कि इस राजा की प्रसन्नता, पराक्रम तथा क्रोध का कितना मूल्य और गौरव होना चाहिये या हो सकता है। आजकल के स्वतन्त्र राष्ट्रों के तन्त्रों Constitution के मुखियों के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि इसकी प्रसन्नता, पराक्रम तथा क्रोध में लक्ष्मी, विजय और मृत्यु का निवास है। आर ऐसा कथन करने से किसी भी समझदार व्यक्ति को भ्रम न होगा कि ऐसा राजा जिसके कि सम्बन्ध में उपरोक्त वर्णन हुआ है अवश्य ही अबाधित तथा निःसीम शक्ति वाला होगा।

५—राजा की शक्तियों पर मनु महाराज ने कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये हैं। सबसे प्रथम प्रतिबन्ध तो मनु महाराज ने धर्म का लगाया है। यह प्रतिबन्ध बहुत जबरदस्त है। राजा को यदि धर्म का वास्तविक भय हो जाय तो वह कभी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर नहीं सकता। यहां धर्म से अभिप्राय कुल-परम्परा से आया हुआ तथा वेद आदि सत्यशास्त्रों में कहा गया और विद्वानों द्वारा अनुमोदित राजतन्त्र Costitution जानना चाहिये। मनु महाराज ने राज-धर्म में धर्म शब्द का प्रयोग इस अर्थ में भी किया है।

मनुस्मृति के राजप्रकरण में धर्म शब्द निज कर्त्तव्य तथा परलोक के साधनों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त हुआ है। व्यक्ति को सच्चरित्र बनने तथा अन्यों के प्रति सत् तथा न्याय्य-व्यवहार करने में कई बार निज-कर्तव्य का भाव तथा परलोक का ध्यान भी विशेष रूप से सहायक हुआ करते हैं। संसार के धार्मिक इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि संसार में ऐसे व्यक्ति ही चरित्र, न्याय, उदारता, परोपकार तथा त्याग आदि के भावों का बीज बोने वाले हुए हैं जिनमें कि स्वयं निज-कर्तव्य तथा परलोक के सम्बन्ध की उच्च तथा उग्र भावनाएं विद्यमान थीं। ऐसे व्यक्तियों ने किन्हीं बाह्य बन्धनों तथा आदेशों से बद्ध या प्रेरित होकर धर्म के क्षेत्र में इतने ऊंचे तथा त्याग के काम नहीं किये। संसार का इतिहास हमें शिक्षा देता है कि सभा-समितियों के रूप में प्रजा द्वारा राज-शक्ति पर लगाये हुए बन्धन भी शिथिल और ढीले पड़ जाते हैं जब कि प्रजा में तथा प्रजा के प्रतिनिधि सभासदों में धर्म की सच्ची भावना नहीं रहती। कई परिस्थितियों में प्रजा तन्त्र शासन (Democracy) प्रजा के हित की दृष्टि से ही, विशेष घातक सिद्ध हो जाता है अपेक्षया एकतन्त्र राज्यशासन (Monocracy) के। इसलिये विशेष २ परिस्थितियों की दृष्टि से राजा में धर्म की भावना को उच्च करते हुए उस द्वारा प्रजा पर शासन कराना भी प्रजा के निमित्त विशेष हितकर सिद्ध होता है। साथ ही राज्यशासन के निमित्त मनु महाराज ने राजा में सत्यवादिता, समीक्ष्यकारिता तथा धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में पाण्डित्य का होना भी आवश्यक समझा है। ताकि राज्य का शासन वह अच्छे प्रकार कर सके[1]।

१—तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ मनु० ७।२६॥

६—मनु महाराज ने राजा को यह समझाने की भी कोशिश की है कि अकेले[1] व्यक्ति के लिये राज्य-कार्य को उत्तम रूप से चला सकना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिये राजा को चाहिये कि वह राज्य-शासन में अन्य व्यक्तियों की भी सहायता की अपेक्षा किया करे। मनु महाराज लिखते हैं कि:—

प्रातःकाल उठकर राजा ऐसे ब्राह्मणों का सत्संग किया करे जो कि त्रिविद्या के पारंगत हों और उनके आदेश के अनुसार कार्य किया करे[2]।

इन विद्वानों से नित्यप्रति शिक्षा लिया करे चाहे राजा कितना भी शिक्षित क्यों न हो[3]।

त्रिविद्या के पण्डितों से त्रिविद्या की तथा दण्ड-नीति की शिक्षा लिया करे, इसी प्रकार तर्कविद्या, आत्मविद्या तथा व्यवहारविद्या का भी ग्रहण किया करे[4]।

इस प्रकार राजा की शक्ति इन साधनों द्वारा बाधित तथा सीमित हो जाती है।

७—मनु महाराज के (Constitution) अर्थात् राज्य संचालन के मूल सिद्धान्तों में सचिवों या मन्त्रियों के रखने की भी पद्धति विद्यमान है। यह मन्त्रिसभा राजशक्ति को उन्मार्गगामी नहीं होने देती। मनु महाराज कहते हैं कि:—

स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, सफललक्ष्य अर्थात् सफल विचार वाले, कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित, सात वा आठ चतुर मन्त्रियों को नियत करे[5]।

इन मन्त्रियों के साथ सन्धि, विग्रह आदि विषयों का चिन्तन सदा किया करे[6]।

इन पर सब कार्यभार को सौंपे और उनके साथ मिलकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय कर कार्य आरम्भ करे[7]।

यदि ७ या ८ मन्त्रियों से राज्य-कार्य सुचारुरूप से न चल सके तो मन्त्रिसभा के सभासदों की संख्या बढ़ाई भी जा सकती है[8]।

८—मनु महाराज ने राजा को यह भी आदेश दिया है कि वह प्रतिदिन स्नान-ध्यान के पश्चात् सभा-

---

१—सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च मनु० ७।३०॥
तेन यद्वत्सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः। मनु० ७।३६॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोदयम्॥ मनु० ७।५५

२—ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने॥ मनु०७।३७॥

३—तेभ्योऽधि गच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्॥ मनु०७।३९॥

४—त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥ मनु०७।४३

५—मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥ मनु०७।५४॥

६—तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ मनु०७।५६॥

७—नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत्॥ मनु०७।५९॥

८—अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्॥ मनु०७।६०॥
निवर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ मनु०७।६१॥

स्थान में जाया करे। वहां प्रजाजनों से मिला करे और प्रसन्न कर उनका विसर्जन किया करे[६]।

इस प्रकार प्रजाजनों के साथ प्रतिदिन का मेल-मिलाप भी राजाको उच्छृंखल होने से बचाता रहता है।

९—प्रजा की शिकायतों के सुनने तथा मुकद्दमों के फैसले के निमित्त मनु ने राजा को यह आदेश दिया है कि वह इस निमित्त एक सभा नियत करे। जिसके तीन सभासद् हों और उन तीनों का एक सभापति चौथा सज्जन हो जो कि राजा के प्रतिनिधि रूप में सभा के कार्य को भली प्रकार निभा सके[१]।

यह सभा किसी के प्रति पूर्व-राग तथा पूर्व-द्वेष के कारण राजा द्वारा होसकने वाले अत्याचार की सम्भावना को कम कर देने में सहायक है।

१०—मनु महाराज ने धर्मस्थल में सन्देह की अवस्था में राजा को परामर्श देने के लिये राष्ट्र में एक परिषद् के निर्माण की भी आज्ञा दी है। इसका नाम दशावरा परिषद् है। अवस्थानुसार इसका नाम त्र्यवरा परिषद् भी है[२]।

भिन्न २ विषयों तथा व्यवहारों के ज्ञाता १० विद्वान् जिसमें कम से कम हों उसे दशावरा परिषद् कहते हैं। इसी प्रकार जिस परिषद् में ऐसे विद्वान् कम से कम तीन हों उसे त्र्यवरा परिषद् कहते हैं। इस प्रकार धर्म-क्षेत्र में भी राजा के स्वच्छन्द विचारों और इस द्वारा होने वाले अत्याचारों पर यह परिषद् पर्याप्तमात्रा में बन्धनरूप हो सकती है।

११—राजा कहीं अत्याचारी और स्वेच्छाचारी न होजाय, इस निमित्त मनु महाराज ने मनुस्मृति में स्थान २ पर राजा को सचेत भी किया है और दर्शाया है कि अत्याचारिता और स्वेच्छाचारिता के क्या २ परिणाम हो सकते हैं, ताकि राजा उन दुष्परिणामों का पूर्व से ही ध्यान रख सके और ऐसे मार्ग पर चल सके ताकि उन दुष्परिणामों के देखने का उसे कटु अवसर प्राप्त न हो। यथाः—

राजा दण्ड सोच-समझ कर दिया करे क्योंकि

६—उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्॥ मनु० ७।१४५
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वाः मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः॥ मनु० ७।१४६

१—यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥ मनु० ८।९॥
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥मनु०८।१०॥
यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्राह्मणस्तां सभां विदुः॥मनु०८।११॥

२—अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः॥मनु१२।१०८
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ मनु०१२।१०९
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥मनु०१२।११०॥
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥मनु० १२।१११॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥ मनु०१२।११२॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥मनु०१२।११३
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ मनु०१२।११४॥

मनुस्मृति में लिखा है कि दण्ड बहुत उग्रतेज[१] वाला है और वे लोग जिन्होंने कि अपने आपको वश में नहीं रखा उनके लिये दण्ड को नियमित करना मुश्किल है। यह दण्ड धर्म से विचलित हुए राजा की बन्धु-बान्धव समेत हत्या कर देता है।

मनुस्मृति में राजा को आगे और भी सचेत किया गया है। यथा:—

विद्वानों से जो कि अनुभवी हों, विनय की शिक्षा लिया करे, क्योंकि विनयशील राजा कभी नष्ट नहीं होता[२]।

बहुत से राजा विनय न होने के कारण अपने सहायकों समेत नष्ट हुए हैं और वानप्रस्थियों ने भी विनय के कारण राज्यों को प्राप्त किया है[३]।

राजा वेन और नहुष, पिजवन का लड़का सुदा, सुमुख तथा निमि-ये सब विनय न रहने के कारण राज्य से च्युत हो गये या नष्ट हो गये[४]।

विनय के कारण पृथु और मनु ने राज्य को प्राप्त किया, कुबेर ने धन के आधिपत्य को प्राप्त किया और गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने ब्रह्मपन को प्राप्त किया[५]।

आगे और भी लिखा है कि:—

जो राजा लोभ, मोह के कारण विना विचार के अपने राष्ट्र को नाना प्रकार के कष्ट पहुंचाता है वह बन्धु-बान्धव समेत शीघ्र ही अपने राज्य से और जीवन से भी नष्ट हो जाता है[६]।

शरीर को कष्ट पहुंचाने से जैसे प्राणियों के प्राण नष्ट हो जाते हैं वैसे ही राष्ट्र को कष्ट पहुंचाने से राजाओं के भी प्राण नष्ट हो जाते हैं[७]।

इसी प्रकार ९वें अध्याय में मनुस्मृति में लिखा है कि:—

बड़ी आपत्ति को प्राप्त हुआ भी राजा ब्राह्मणों को प्रकुपित न करे, क्योंकि वे कुपित होकर इसे सेना तथा अन्य सहायकों समेत शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं[१]।

इस प्रकार हमने देखा कि मनु महाराज ने राजा को सन्मार्ग से च्युत न होने देने के लिये पर्याप्त साधन उपस्थित कर दिये हैं। साथ ही उसे पर्याप्त सचेत भी किया गया है और इस सम्बन्ध में कतिपय प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों के दृष्टान्त भी उपस्थित किये हैं। साथ ही कतिपय प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों की मृत्यु का भी निर्देश किया है, जिनसे कि उनके अधिकारी होते हुए भी अविनय के कारण उनसे राज्य छिन गये और जिन्होंने विनय के कारण राज्य के अधिकारी न होते हुए भी राज्यों को प्राप्त किया था। ये दृष्टान्त और निर्देश राजा को अत्याचार से रोकने का पर्याप्त काम कर सकते हैं।

इसलिये जिन लोगों की यह धारणा है कि मनुस्मृति का राजा बिलकुल स्वतन्त्र और उच्छृंखल है, उसे प्रजा के दण्ड का बिलकुल भय नहीं, वे इस दृष्टि में भ्रम में प्रतीत होते हैं।

१—दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ मनु० ७।२८॥

२—तेभ्योऽधि गच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ मनु० ७।३९॥

३—बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ मनु० ७।४०॥

४—वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ मनु० ७।४१॥

५—पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ मनु० ७।४२॥

६—मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ।७।१११॥

७—शरीर कर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ मनु० ७।११२॥

१—परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥मनु० ९।३१३॥

स्वर और वैदिक छन्द

[ले० श्री दुर्गाप्रसादजी मिश्र काव्य मध्यम, एम० एस,सी (गणित) बी० एस, सी आनर्ज भौतिक एम०आई०ए(लण्डन)

स्वरस्तु भेदाय बभूव वृत्ते त्वर्थस्य बोधाय कदापि नेति ।
स्वरानभिज्ञाः प्रवदन्ति मिथ्या छन्दोनभिज्ञाश्च तथैव वेदे ॥१॥
ऋषिर्दयानन्दसरस्वती स ख्यातिं गतः पण्डितचक्रवर्त्ती ।
स्वरान् सदैवार्थयुतान् करोति वैशद्ययुक् सौवरभूमिकायाम्॥२॥
यदि तु निर्वचनेषु भवेन्मतिर्यदि च वैदिकभाष्यकुतूहलम् ।
सरलसुन्दरसौवरवाक्कतिं पठत पाणिनिसूत्रसरस्वतीम् ॥३॥

हम पहले ही कह देना चाहते हैं कि यह लेख हम विद्वानों के लिये नहीं लिख रहे हैं यह लेख केवल उन लोगों के लिये है जो भ्रमवश यह रट लगाया करते हैं कि वेदों में उदात्तादि स्वर केवल छन्दोभेद के लिये हैं न कि अर्थद्योतन के लिये।

इस भ्रम का कारण शायद अंग्रेजी भाषा का पिङ्गलशास्त्र ही है अतः अंग्रेजी के पिङ्गल का संक्षिप्त सारांश यहाँ पहिले दिया जाता है।

अंग्रेजी भाषा-विशारद लोग शायद यह अच्छी भाँति जानते हैं कि अंग्रेजी में एकाच् (Monosyllabic) शब्दों पर कोई स्वर (Stress accent) गद्य में नहीं होता साथ ही साथ अनेकाच् (Polysyllabic) शब्दों के किसी न किसी वर्ण (Syllable) पर अवश्य ही स्वर होता है। अंग्रेजी के कुछ लम्बे चौड़े शब्द ऐसे भी होते हैं कि जिनके दो दो अचों पर स्वर होता है। पहिले पर मुख्य (Primary) और दूसरे पर गौण (Secondary)। जैसेः—

This car'rige has been cir'cumgyráting for two hours.

इस वाक्य में एकाच् शब्दों पर कोई स्वर नहीं है और अनेकाच् 'Car'riage' के पहिले वर्ण (Syllable) Car' परस्वर है तथा Cir'cumgyáting के पहिले वर्ण 'cir'' पर मुख्य और चौथे वर्ण 'rá' पर गौण स्वर है।

पद्य में गणों का स्वरूप इन्हीं सस्वर और निस्वर वर्णों के क्रम पर निर्भर है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक प्रकार के छन्द के प्रतिचरण में सस्वर और निस्वर वर्णों का क्रम नियत रहता है। एकाच् शब्द गद्य में निस्वर होते हैं परन्तु पद्य में आवश्यकतानुसार वे सस्वर भी कर लिये जाते हैं। जैसेः—

Tis the sun'set of life' gives me mys'tical lor'e.

यहाँ पर इस चरण में तीसरे, छठे, नवें और बाहरवें वर्णों को सस्वर होना चाहिये अतः 'Lif'e' और 'Lor'e' एकाच् होते हुए भी सस्वर कर दिये गये।

इस संक्षिप्त इंग्लिश पिङ्गल के विवरण से यह प्रकट है कि अंग्रेजी में छन्द की परिभाषा के लिये दीर्घ और ह्रस्व वर्णों का कोई नियम नहीं है केवल सस्वर और निःस्वर वर्णों का क्रम ही नियत है।

अब जो लोग कूपमण्डूक बने हुए केवल अंग्रेजी भाषा के पिङ्गल ही को जानते हैं उनके लिये यह भ्रम स्वाभाविक है कि वेदों में स्वरभेद छन्दों के भेद के लिये है न कि अर्थभेद के लिये।

इस भ्रम को दूर करने के लिये अधिक शास्त्रार्थ

की आवश्यकता नहीं, वेदों में से उन मन्त्रों को ले लीजिये जिनका छन्द एक ही है। अब यदि स्वरभेद छन्दोभेद के लिये है तो अवश्य इन सब एक ही छन्द वाले मन्त्रों में उदात्तादि स्वरों का क्रम एक ही होगा और यदि स्वरभेद को छन्दोलक्षण से कोई मतलब नहीं तो स्वरों का कोई नियतक्रम नहीं हो सकता।

उदाहरण के लिये ऋग्वेद के पहिले मण्डल के पहिले सूक्त ही को लीजिये। सभी मन्त्रों का छन्द गायत्री है और सङ्गीतस्वर षड्ज है परन्तु उदात्तादि स्वरों का क्रम एक जैसा नहीं है।

अतः स्वरभेद में छन्दोभेदविषयक धारणा भ्रान्तिमात्र है और सम्भवतः इसका कारण इंग्लिश पिङ्गल के अपूर्व ज्ञान की कूपमण्डूकता ही है।

महर्षि पिङ्गलकृत पिङ्गलछन्दः सूत्र में तथा महर्षि शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य में वैदिक छन्दों के लक्षण विद्यमान हैं। इन लक्षणों में उदात्तादि स्वरों के क्रम को तो कौन कहे ह्रस्व और दीर्घ क्या गुरु वर्णों के क्रम तथा मात्राओं की सङ्ख्या का भी उल्लेख नहीं है। केवल प्रत्येक छन्द के लिये पादसङ्ख्या तथा प्रत्येक पाद के लिये वर्णसङ्ख्या नियत है। भला जो लोग वैदिक छन्दों के लक्षणों को देखे विना ही यह आन्दोलन करने लगते हैं कि उदात्तादि स्वरों को अर्थ से कोई मतलब नहीं, वे केवल छन्दोभेद के लिये हैं वे लोग यदि थोड़े से विवेक से कार्य्य लें तो यह ग़लत फ़हमी अवश्य दूर हो जावे। इस आन्दोलन का एक कारण और मालूम होता है।

शायद लोगों को यह बात भलीभांति अवगत है कि भौतिक विज्ञान (Physical science) को जानने के लिये गणित (Mathematics) की बड़ी आवश्यकता है, परन्तु हमारे भारतवर्ष ही में ऐसे लोग मौजूद हैं जो किसी न किसी प्रकार से भौतिक विज्ञान के पदों को ग्रहण किये हुए हैं परन्तु उनकी सम्मति में भौतिकविज्ञान को समझने और जानने के लिये गणित की आवश्यकता नहीं है और उसका मुख्य कारण यह है कि वे स्वयं गणित को भलीभांति नहीं जानते और जानने के लिये परिश्रम भी करना नहीं चाहते।

निःसन्देह भौतिक विज्ञान की ऐसी पुस्तकें भी लिखी जानी चाहियें जिनमें गणितीय उपपत्तियों की धूम न हो वरन् वे अगणितज्ञों की समझ में आ सकें, परन्तु भौतिक विज्ञान के सत्य और असत्य की परीक्षा के लिये गणित और प्रयोग दोनों ही की आवश्यकता है। पाठकों को यह मालूम होगा कि बेतार के तार की सम्भावना वर्षों पूर्व गणित की उन सिद्धान्तिकाओं द्वारा पूर्व ही से बतलाई जा चुकी थी जो ऋण एक (Minus one) के वर्गमूल (Square root) पर निर्भर हैं।

ठीक इसी प्रकार से कुछ लोगों को विना स्वरज्ञ बने वेदज्ञ कहलाने का चस्का पड़ गया है। वे सोचते हैं कि व्याकरण और स्वरों के झमेले में कौन पड़े। विलासप्रियता के साथ साथ गणित तथा पाणिनीय व्याकरण जैसे शास्त्रों को पढ़ना पड़ा कठिन है और पढ़कर फिर मौलिक अन्वेषणों में उपयुक्त करना और भी दुःसाध्य है। अतः उन लोगों ने सीधासादा मार्ग यह निकाल रक्खा है कि कह दो स्वरों का अर्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं और यदि कभी कोई पूछे कि आखिर हज़रत स्वर हैं किस मर्ज की दवा तो कह दो कि सिर्फ़ छन्दोभेद के लिये।

वेदमन्त्रों के अर्थ को सत्य और असत्य जानने के लिये तमाम साधनों में से स्वर भी एक साधन हैं। साथ ही साथ मेरा अनुभव यह भी बतलाता है कि उदात्तादि स्वरों के प्रतिबन्ध से वेदों का जो अर्थ किया जा सकता है वह प्रायः पोपलीला वाले अर्थों को असम्भव कर देता है। हां कभी कभी स्वरप्रतिबन्ध होने पर भी अनेकों अर्थ हो सकते हैं परन्तु इन अनेकों अर्थों के अन्तर्गत पोपलीला वाले अर्थ का होना प्रायः असम्भव हो जाता है।

निःसन्देह स्वर के अतिरिक्त हमारे पास अन्य साधन भी वेदार्थ करने के लिये विद्यमान हैं परन्तु यह निश्चय है कि जो अर्थ स्वरों के तारतम्य के प्रतिकूल है वह सत्य नहीं माना जा सकता।

निःसन्देह पाणिनिजी ने 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र में विकरणों का व्यत्यय माना है और महाभाष्यकार पतञ्जलिजीने इसी सूत्र पर 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छतिशास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन' इस कारिका द्वारा अन्य व्यत्ययों के साथ साथ स्वरव्यत्यय भी माना है। परन्तु ये व्यत्यय जहां कहीं भी वेद में हैं वहां स्पष्टरूप में विद्यमान हैं। हम को अपना मनमाना अर्थ करने के लिये खाहमखाह व्यत्यय न मानना चाहिये। नहीं तो वेदमन्त्र ऊपर लिखकर उसके नीचे हम कुछ भी लिख दें वह वेदार्थ हो जावेगा। जैसे—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ ऋ० १।१।१॥

इस मन्त्र का अर्थ व्यत्ययों का दिवाला निकालने से यह भी होसकता है कि हे मनुष्यो! तुम लोगों को परमात्मा इस मन्त्र में उपदेश करते हैं कि आग को मिल में डालो जिससे नगर का हित हो—इत्यादि। अब यदि कोई यह कहे कि 'मिल में डालो' यह अर्थ किन पदों का है तो उत्तर में व्यत्ययाधीश कह सकता है कि आखिर संस्कृत में कोई न कोई पदसमूह तो ऐसा है जिसका अर्थ 'मिल में डालो' होसकता है बस 'ईडे' यह पद उसी पदसमूह के स्थान में व्यत्यय से आदेश होगया है।

अब आया आप लोगों की समझ में कि व्यत्यय को प्रत्येक स्थान पर मानने से वेदों का जो अर्थ चाहें होसकता है और संस्कृत जानने का आवश्यकता भी नहीं रहती। भला ऐसी रामबाण औषधि का सेवन अपने को वेदज्ञ कहलवाने की लालसा रखने वाले क्यों न करें।

यदि आर्य्यसमाजियों को अपने सच्चे सिद्धान्तों पर अटल रहना है तो उनको चाहिये कि वे धैर्य्य और दूरदर्शिता से कार्य्य लें। यदि आज किसी ने कह दिया कि मैं स्वरों के आधार पर सिद्ध करता हूँ कि महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य दूषित है तो बस आर्य्यसमाजियों का धैर्य्यावसान होजाता है। वे झट कहने लगते हैं "अजी हज़रत्, स्वरों का अर्थ से क्या सम्बन्ध वे तो छन्दों में भेद उत्पन्न करने के लिये हैं"।

और यदि खुदानख्वास्ता कल को कोई कालेज का विद्यार्थी यह कह दे कि मैं वेदों के आधार पर सिद्ध करता हूं कि महर्षि दयानन्द का भाष्य दूषित है तो ये लोग झट यह कहने लगेंगे, कि 'वेदों का अर्थ से क्या मतलब, वे तो महज़ गाने के लिये नाज़िल हुए थे'।

भला इस पागलपन की कोई सीमा होसकती है। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप आर्य्यसमाज के पत्र

और पत्रिकाओं में निःस्वर वेदमन्त्र छपने लगे हैं कि जब आर्य्यसमाज में संस्कृतज्ञों और स्वरज्ञों का अभाव होजायगा और जो एतिराजात हमारे आर्य्य-समाजी उपदेशक कुरान की तरमीम व तरदीद पर किया करते हैं ठीक वहीं एतिराजात् मुसलमानों की ओर से वेदों पर होने लगेंगे।

इसलिये आर्य्यसमाज वेदमन्त्रों को जितनी जल्दी विकृतरूप में छापना छोड़ दे उतना ही अच्छा है

हम पाठकों को यह बतलाना उचित समझते हैं कि यद्यपि मेरा सम्बन्ध आर्य्यसमाज से एक साधारण सदस्य होने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हाँ सिद्धान्तों तथा कार्य्यों में वैदिकधर्म्म पर चलने से कोई रोक नहीं सकता है। फिर भी मैं भलीभांति जानता हूं कि इस समय आर्य्यसमाज में छुपे हुए वाममार्गियों की बहुत बड़ी संख्या प्रवेश कर गई है और यदि आर्य्यसममाज ने सावधान होकर जोश और होश दोनों से एक साथ ही काम न लिया तो उसका भविष्य बहुत ही बुरा दीख पड़ता है।

वेद और ज्योतिष

[ले०—श्री पं० प्रेमचन्द्रजी]

आर्यसमाज का तीसरा नियम है "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"। सचमुच वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। 'वेद' शब्द के अर्थ से ही यह प्रतीत होता है कि वेद ज्ञान के भण्डार अवश्य हैं। सब विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि वेदों में एक से एक बढ़कर ज्ञान भरे पड़े हैं। उनको पता लगाने वाले की आवश्यकता है। वेद ज्ञान के समुद्र हैं। समुद्रों में अनन्त रत्न कीमती से कीमती भरे पड़े हैं, उनको निकालने वाले की आवश्यकता है। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं कि जिसका वेदों में वर्णन न हो। ऋषि दयानन्द "ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका" के "वेद विषय विचार विषय" में लिखते हैं:—

"अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासना-ज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति।। तस्य परमेश्वरादारभ्यतृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयात्।"

अर्थात् 'वेद के विषय चार हैं—विज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन सब में से विज्ञानकाण्ड मुख्य है क्योंकि उसमें परमेश्वर से लेकर तृण तक सब पदार्थों का साक्षात् बोध होजाता है।"

परमेश्वर से लेकर तृण तक के अन्दर सब पदार्थ और सब विद्याओं का समावेश हो जाता है, कुछ भी इससे बाहर नहीं रह जाता। अभिप्राय यह है कि वेद में सब पदार्थ और सब विद्याओं का वर्णन मिल सकता है, जिसे भी चाहें निकाल सकते हैं। आधुनिक युग में यदि कोई विद्वान् अपने अविद्यान्धकार को हटाकर ज्ञान को प्रकाशित कर देता है तो वह

समझता है कि मैं ने एक नया ही आविष्कार संसार में किया है, एक नई ही अन्वेषणा मैंने कर डाली है। भोले भाले अन्य मनुष्य भी समझने लगते हैं कि इस विद्वान् ने नई ही खोज की है 'इससे पहिले इस बात का किसी को पता ही नहीं था। यह उनकी बड़ी भूल होती है। वैदिक युग में सब ज्ञान प्रकाशित था, धीरे २ क्रमशः अज्ञानान्धकार से वह प्रकाश ढका जाकर लुप्त होगया। इतनी बात तो अवश्य है कि उस विद्वान् ने इस युग में वह नया आविष्कार किया, नई बात का पता लगाया, पर यह कहना सर्वथा ही अनुचित है कि इससे पहिले कभी किसी को इस बात का ज्ञान था ही नहीं।

पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि 'सूर्य में सात रंगों की किरणें हैं। इस बात का सबसे पहले न्यूटन महोदय ने १६वीं शताब्दी में पता लगाया, उससे पहिले यह बात किसी को मालूम ही नहीं थी। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों के मतानुयायी प्राच्य विद्वानों को भी यह जान लेना आवश्यक है कि सूर्य की किरणों के सात रंगों का वर्णन और इससे भी अधिक चमत्कारयुक्त वर्णन दुनिया के सबसे पहिले साहित्य अर्थात् वेदों में मिल जाता है। इस बात की पुष्टि के लिये यहां दो एक उदाहरणों से दिग्दर्शनमात्र किया जाता है:—

१ सात रंग की किरणें

"सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य! शोचिष्केशं विचक्षणः"। ऋ० १। ५०। ९॥

अर्थात् हे सूर्य! तुम को रथ में जुड़ी हुई सात घोड़ियां (किरणें) ले जा रही है।

"एको अश्वो वहति सप्तनामा"। ऋ० १। १६४। २॥

अर्थात् सूर्य को एक घोड़ा ले जा रहा है, परन्तु उसके सात नाम हैं।

"अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः"।

अथर्व० १७। १०। १७। १॥

अर्थात् सूर्य की सात किरणें दिन को उत्पन्न करती हैं।

इन वेदमन्त्रों से यह स्पष्ट हो गया है कि सूर्य की सात रंगों की किरणें हैं। क्योंकि संस्कृत साहित्य में सूर्य का नाम 'सहस्ररश्मि' है, इसलिये सूर्य की सात किरणें होना असम्भव है। सात किरणों से अभिप्राय सातरंग की किरणों से ही है। किरणों में घोडियों का आरोप करके रूपकालंकार से वर्णन किया गया है। 'सूर्य को एक घोड़ा ले जा रहा है, परन्तु उसके सात नाम हैं' इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य की किरणों का प्रकाश आपाततः एक श्वेत ही दिखाई देता है, परन्तु उसमें सात रंग मिले हुए होते हैं। विज्ञान पढ़ने वाले विद्यार्थियों को इस बात के सिद्ध करने के लिये एक परीक्षण दिखलाया जाया करता है कि किसी गोल कागज़ पर सात रंग पृथक् २ बना देते हैं फिर उसे फिरकनी की तरह बड़े वेग से घुमाया जाता है। वेग से घूमने के कारण वे सातों रंग श्वेत रंग में परिणत हो जाते हैं और केवल एक श्वेत रंग ही दिखाई देने लग जाता है। इसी प्रकार सूर्य की किरणों में सात रंग हैं। सूर्य एक कीली पर बड़े वेग से घूम रहा है। वेग से घूमने के कारण वे सातों रंग एक श्वेत रंग को उत्पन्न कर देते हैं और सात रंगों के बजाय केवल एक श्वेत रंग ही प्रतीत होता है।

सूर्य की किरणों में कौन २ रंग हैं, इसका वर्णन भी छान्दोग्योपनिषत् में पाया जाता है:—

"असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ छा० ८ । ६ । १ ॥

अर्थात् 'सूर्य का रंग श्वेत है, परन्तु वास्तव में वह नीला, पीला और लाल है' । छान्दोग्योपनिषत् में तीन रंगों का ही नाम है यह बिलकुल ठीक है । वास्तव में रंग तीन ही हैं, शेष रंग तो इन्हीं तीनों रंगों के मेल से बन जाया करते हैं[1] । सूर्य की किरणों के सात रंग देखने के लिये सब से अच्छा साधन इन्द्र-धनुष है । सूर्य की किरणें, जब पानी वाले बादलों में से होकर गुजरती हैं तब आकाश में धनुष के समान गोलाकार में पृथक् २ सात रंगों में दिखलाई पड़ती हैं—इसी का नाम इन्द्र-धनुष है ।

२ सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः । ऋ०५। ४०॥

अर्थात् 'हे सूर्य ! तुम को स्वर्भानु अन्धकार से युक्त करता है । स्वर्भानु असुर है । सूर्य को चन्द्रमा की छाया और चन्द्रमा को पृथिवी की छाया ढांप लेती है, यही छाया असुर है, 'स्वर्भानु' है। जब चन्द्रमा की छाया सूर्य को ढांपती है तब सूर्यग्रहण होता है और जब पृथिवी की छाया चन्द्रमा को ढांप लेती है तब चन्द्रग्रहण हुआ करता है । छाया से ढंपे हुए होने के कारण ही सूर्य और चन्द्रमा नहीं चमका करते, यही सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण है ।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि:—

"स्वर्भानु र्वा असुरः सूर्यं तमसा विव्याध, स तमसा विद्धो न व्यरोचत ।"

अर्थात् "राहु (चन्द्रमा की छाया) सूर्य को अन्धकार से आच्छादित करता है, सूर्य अन्धकार से आच्छादित होने के कारण ही नहीं चमकता ।"

जब चन्द्रमा की छाया सूर्य को और पृथिवी की छाया चन्द्रमा को ढक लेती हैं तब वे नहीं चमकते, उनका ग्रहण होजाता है । और जब वह छाया हट जाती है तब चमकने लग जाते हैं । यही वेदानुकूल वर्णन आधुनिक ज्योतिषग्रन्थों में पाया जाता है । सूर्य-सिद्धान्त में लिखा है:—

छादको भास्करस्येन्दुरधस्थो घनवद्भवेत् ।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥

अर्थात् चन्द्रमा नीचे से बादल के समान सूर्य को ढक लेता है और पूर्व की ओर को पृथिवी की छाया में प्रवेश करता है ।

सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में लिखा है:—

"पूर्वाभिमुखो गच्छन् भूच्छायान्तर्यतः शशी विशति ।
तेन प्राक् ग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः।"

अर्थात जब चन्द्रमा पूर्व की ओर को जाता हुआ भूमि की छाया में चला जाता है तब पूर्वांश में चन्द्रग्रहण होजाता है और जब छाया से निकल जाता है तब पश्चिमांश से चन्द्रमा का मोक्ष होता है ।

चंद्रमा के दो पक्ष

चन्द्रमा के दो पक्ष हुआ करते हैं—शुक्ल पक्ष और और कृष्ण पक्ष । वेद में चन्द्रमा के इन दोनों पक्षों का इस प्रकार वर्णन पाया जाता है:—

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ॥ अथर्व० १८।४।८९॥

अर्थात् चन्द्रमा आकाश में पक्षी के समान दौड़ रहा है ।

पक्षी के भी दो डैने हुआ करते हैं और चन्द्रमा

१—लाल और नीले रंग के मिलाने से जामनी, नीले, और पीले रंग के मिलाने से हरा, लाल और पीले रंग के मिलाने से नारंगी, रंग बनते हैं । इसी प्रकार अन्य रंग भी ।

के भी दो पक्ष होते हैं। चन्द्रमा पृथिवी के चारों तरफ घूमा करता है। जब चन्द्रमा जिस देश के सामने घूमता २ आ जाता है उस देश में उसी समय चन्द्रमा दिखाई देता है। यही कारण है कि चन्द्रमा का दर्शन किसी स्थान पर किसी समय और किसी स्थान पर किसी समय होता है, सब स्थानों पर चन्द्र दर्शन एक ही समय नहीं होता। परन्तु रात्रिकाल में भी शुक्ल और कृष्ण पक्ष का यह कारण है कि चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में हमारे सामने रहता है और कृष्ण पक्ष में नहीं। शुक्ल पक्ष में जैसे २ चन्द्रमा की कला बढ़ती रहती हैं वैसे २ चन्द्रमा हमारे सामने अधिक आता रहता है और कृष्ण पक्ष में जैसे २ कला क्षीण होती रहती हैं वैसे २ चन्द्रमा हमारे सामने कम आने लगता है और पृथिवी की छाया से ढक जाता है। यही कारण चन्द्रमा के दो पक्ष बनाने का है। इन्हीं दो पक्षों का वेद में वर्णन है।

टूटने वाला तारा

शन्नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतञ्च यत् ॥अथर्व०१९।९।७

अर्थात् भूचाल वाली पृथिवी और पृथिवी की रगड़ से कुचला हुआ उल्का अर्थात् टूटने वाला तारा हमारे लिये शान्तिदायक हों।

उल्कापिण्ड १६ मील से २० मील तक पृथिवी से ऊपर रहते हैं। इन की गति प्रतिसेकण्ड १८ मील से ४० मील तक है पृथिवी भी अतिवेग से प्रति-समय सूर्य के चारों ओर घूमती रहती है। इसकी गति प्रतिसेकण्ड १८ मील है। जब पृथिवी के भ्रमणपथ पर उल्कापिण्ड घूमते २ आजाते हैं तब रगड़ कर चूर २ होजाते हैं। ये क्रियाएं रातदिन होती रहती हैं। उल्कापिण्ड के रगड़े जाने से चमक पैदा होती है यह चमक दिन में सूर्य के प्रकाश से ढकी होने के कारण नहीं प्रतीत होती, रात में ही दिखाई देती है। पृथिवी की आकर्षणशक्ति के कारण ये पृथिवी की ओर ही आते हैं। जब उल्कापात होता है तब उल्का के बड़े २ पिण्ड टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं। जो वजन में कई सौ मन भी होते हैं। इन पिण्डों में पत्थर, लोहा, कार्बन इत्यादि होते हैं। इनके गिरने से प्राणियों को बहुत हानि होती है, इसलिये वेद में इनके शान्तिदायक होने की प्रार्थना की गई है।

पंछुला तारा

पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि सब से पहिले १७ वीं सदी में न्यूटन महोदय ने यह अनुमान किया कि आकाश में केतु अर्थात् पंछुले तारे भी हैं। परन्तु सब से पुराने साहित्य के ग्रन्थ वेदों में इसका पहिले से ही वर्णन मिलता है। जैसे:—

"हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि। यतन्ते वृथगग्नयः" ॥ यजु० ३३। २॥

"शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥ अथर्व० १९। ९। १०॥

इन दोनों वेदमन्त्रों में धूमकेतु अर्थात् पंछुले तारे का जिक्र है। और धूमकेतु हमारे लिये कल्याणकारी हो—इस प्रकार की प्रार्थना भी की गई है। केतु भी घूमता रहता है और पृथिवी भी। कभी २ पृथिवी भी घूमती हुई इसके पुच्छ के बीच में से गुजर जाती है, तब टकरा जाने से इसके टुकड़े २ होकर पृथिवी पर गिर पड़ते हैं। उल्कापिण्ड की तरह इन टुकड़ों में भी पत्थर, लोहा, सीसा आदि पदार्थ होते हैं जिनसे भय की आशंका अवश्य ही होती है। इसीलिये वेद में कल्याण की प्रार्थना की गई है।

इस बात को सिद्ध करने के लिये इस छोटे लेख

में इतने उदाहरण पर्याप्त होंगे कि वेदों में ज्योतिष विद्या का भी भरपूर ज्ञान पहिले से ही विद्यमान है। न्यूटन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कोई नई मूल खोज नहीं की है। इन उपर्युक्त वेदमन्त्रों से सूर्यग्रहण, चन्द्र ग्रहण, उल्कापिण्ड और धूमकेतु आदि का वास्तविक स्वरूप भी प्रकट हो जाता है। साधारण जनता समझती है कि जब सूर्य और चन्द्र का ग्रहण होता है तब राहु राक्षस इनको ग्रसता है, कष्ट पहुंचाता है। इनकी वेदना को दूर करने के लिये दान-पुण्य किया जाता है। जब उल्कापात हुआ करता है तब समझा जाता है कि धर्मराज के दूतों द्वारा किसी मृत मनुष्य के प्राण खींचे जा रहे हैं इत्यादि सब केवल कल्पनामात्र हैं। परन्तु वेदमन्त्रों ने सूर्य और चन्द्र-ग्रहण के तथा उल्कापात आदि के कारण वास्तविक रूप में वर्णन कर दिये हैं। इस प्रकार हमने यह पता लगाया कि वेदों का जहाँ अन्य विद्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है और उन विद्याओं का वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान है, वहां ज्योतिष विद्या का भी वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान है।

सम्पादकीय टिप्पणी

१-भारतमें चुम्बक पत्थर द्वारा विचित्र परीक्षण-

भारत में चुम्बक पत्थर (Load stone या Magnet) का आविष्कार बहुत देर का है। भारतीय वैदिक दर्शनशास्त्रों में भी चुम्बक पत्थर का वर्णन मिलता है। दर्शनशास्त्रों में इसे 'अयस्कान्त' कहा गया है।

वैद्यक ग्रन्थों में तो चुम्बक-पत्थर का प्रयोग आश्चर्यकारी परीक्षणों में भी किया गया है।

"रसरत्न समुच्चय" नामक वैद्यक ग्रन्थ में "कान्त" की व्याख्या के प्रसंग में निम्नलिखित श्लोक आये हैं। यथा:—

(क) भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं द्रावकं तथा।
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तं च पंचमम् ॥
लोहनिरूपणे ८४ ॥

(ख) एकद्वित्रिचतुष्पञ्च सर्वतोमुखमेव तत्।
पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात्पृथक् पृथक् ॥
लो० नि० ८५ ॥

(ग) ....।
स्पर्शवेधि भवेत्पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रसायने ॥
लो० नि० ८६ ॥

रक्तवर्णं तथा वापि रसबन्धे प्रशस्यते।
(घ) भ्रामकं तु कनिष्ठं स्यात् चुम्बकं मध्यमं तथा ॥
लो० नि० ८७ ॥

उत्तमं कर्षकं चैव द्रावकं चोत्तमोत्तमम्।
(ङ) भ्रामयेल्लोहजातं तु तत्कान्तं भ्रामकं मतम् ॥
लो० नि० ८८ ॥

चुम्बयेत् चुम्बकं कान्तं कर्षयेत् कर्षकं तथा।
साक्षाद् यद्द्रावयेल्लोहं तत्कान्तं द्रावकं भवेत् ॥
लो० नि० ८९ ॥

तद्रोमकान्तं स्फुटितात् यतो रोमोद्गमो भवे
(च) कनिष्ठं स्यादेकमुखं मध्यं द्वित्रिमुखं भवेत् ॥
लो० नि० ९०॥

चतुष्पंचमुखं श्रेष्ठं उत्तमं सर्वतो मुखम्।

....॥

लो० नि० ९१ ॥

(छ) पात्रे यस्य प्रसरति जले तैलबिन्दुर्न लिप्तं
गन्धं हिङ्गु त्यजति च तथा तिक्ततां निम्बकल्कः।
पाके दुग्धं भवति शिखराकारतां नैति भूमौ
कान्तं लोहं तदिदमुदितं लक्षणोक्तं न चान्यत् ॥

लो० नि० ९४ ॥

इन उपरोक्त श्लोकों से निम्नलिखित भाव द्योतित होते हैं।

(क) भ्रामक (घुमाने वाला) चुम्बक (चूम लेने वाला) कर्षक (खींचने वाला) द्रावक (पिघला देने वाला) तथा रोमकान्त (जिसमें कि रोम या रेशे हों) इस प्रकार ५ तरह का कान्त या अयस्कान्त होता है।

चम्बुक पत्थर एक मुख वाला, दो मुख वाला, तीन मुख वाला, चार मुख वाला, पांच मुख वाला तथा सब ओर मुख वाला–इस प्रकार ६ तरह का होता है। रंगों की दृष्टि से यह चुम्बक–पत्थर तीन प्रकार का होता है–पीला, काला तथा लाल।

(ग)पीले रंग वाला चुम्बक–पत्थर स्पर्श करने पर वस्तु या लोहे को बींध देता है, काले रंग वाला चुम्बक-पत्थर रसायन में श्रेष्ठ होता है और लाल रंग वाला पारे को बान्ध देने में प्रशस्त गिना गया है।

(घ) "भ्रामक" चुम्बक-पत्थर गुणों में निचले दर्जे का गिना गया है, "चुम्बक" मध्यम गुणों वाला, "कर्षक" उत्तम गुणों वाला तथा "द्रावक" उत्तमोत्तम गुणों वाला होता है।

(ङ) लोहे को जो चक्कर दे या घुमा सके उस चुम्बक पत्थर को "भ्रामक" कहते हैं, जो चुम्बक-पत्थर लोहे को चूम ले, अपने साथ चिपका ले उसे "चुम्बक" कहते हैं, जो चुम्बक पत्थर लोहे को खींच ले (दूर से या शरीर में घुसे कील आदि को जोर से खींच ले) उसे "कर्षक" कहते हैं, जो लोहे को साक्षात् पिंघला दे उस चुम्बक पत्थर को "द्रावक" कहते हैं, तथा जिस चुम्बक पत्थर के टूटने पर उसमें रोम या रेशे दिखाई पड़ें उसे "रोमकान्त" कहते हैं।

(च) चुम्बक पत्थरएकमुखनिचले दर्जे के गुणों वाला होता है, दो और तीन मुखों वाला चुम्बक-पत्थर मध्यम गुणों वाला होता है चार तथा पांच मुखों वाला श्रेष्ठ या उत्तम गुणों वाला होता है, और सब ओर मुखोंवाला चुम्बक-पत्थर उत्तम से उत्तम गुणों वाला होता है।

(छ) कान्तलोह अर्थात् अयस्कान्त अथवा चुम्बक-पत्थर की पहचान यह है कि—

(I) इस पत्थर का एक पात्र बनाओ। इसमें जल डालकर उस पर तेल का एक बिन्दु छोड़ दो। यदि यह तैल-बिन्दु जल में न फैले तो समझ लो कि चुम्बक-पत्थर जिससे कि यह पात्र बना है, असली है।

(II)–तथा चुम्बक-पत्थर से बने इस पात्र में यदि हींग का लेप कर दिया जाय तो कुछ समय के बाद हम देखेंगे कि हींग ने अपना उग्र गन्ध छोड़ दिया है। यह हींग अपने उग्र गन्ध से हीन होकर भी गुणों की दृष्टि से पूर्ववत् ही रहेगा। यदि यह परीक्षण ठीक होजाय तो समझो कि पात्र असली अयस्कान्त या चुम्बक-पत्थर का बना है।

(III)–इसी प्रकार इस पात्र में यदि नीम की छाल डाल दो जाय तो नीम की छाल में कडुआपन नहीं रहता। इस परीक्षण द्वारा भी चुम्बक-पत्थर की असलीयत पर्खी जा सकती है।

(IV)–इसी प्रकार असली चुम्बक-पत्थर के बने पात्र में दूध डालकर यदि उबाला जाय तो दूध खौल कर शिखर के आकार की न्याई होता जायगा और बहुत खौलाने पर भी पात्र में से उछलकर भूमि न पड़ेगा।

इस प्रकार के नाना परीक्षण आयुर्वेद के ग्रन्थों में असली चुम्बक-पत्थर की पहचान के लिये दिये गये हैं। ये परीक्षण वर्त्तमान समय की दृष्टि से भी अत्युपयोगी हैं। आजकल जिस प्रकार कडुवी कुनीन के स्थान में फीकी कुनीन का आविष्कार हो चुका है और इसे बाल, युवा, वृद्ध तथा रोगी, सभी प्रसन्नता से ले लेते हैं, इसी प्रकार चुम्बक पत्थर के द्वारा हींग तथा नीम की छाल या नीम के रस पर भी परीक्षण करने चाहियें ताकि हींग का उग्र गन्ध और नीम का कडुवापन दबाया जा सके और ये उपयोगी वस्तुएं अधिक-व्यापी उपयोगों में प्रयुक्त की जा सकें। ऊपर के परीक्षण तथा वर्णन भारतीयों के चुम्बक-पत्थर सम्बन्धी ज्ञान की पराकाष्ठा को सूचित कर रहे हैं।

२—राजा भोज के समय में उड़ने वाला लकड़ी का महापक्षी तथा विमान

महाराजाधिराज श्री भोजदेव धारा नगरी में-जो कि इन्दौर के समीप है–११ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य करते थे। इस महाराधिराज ने "समराङ्गण-सूत्रधार" नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का प्रकाशन महामहोपाध्याय टी० गणपतिशास्त्री ने किया है। यह पुस्तक "गायकवाड़-प्राच्यपुस्तक माला" का एक अद्वितीय रत्न है। इस पुस्तक में नाना प्रकार के यन्त्रों तथा कलाओं का वर्णन है। ग्रन्थकार ने उन यन्त्रों तथा कलाओं का वर्णन देकर भी उनके निर्माण के प्रकार पर कोई प्रकाश नहीं डाला। इस अंक में "व्योमचारी विहङ्गयन्त्र" तथा "आकाशगामी दारुमय विमानयन्त्र" पर प्रकाश डाला जाता है। इस सम्बन्ध में समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय ३१ के ९५-९७ श्लोक निम्नलिखित हैं। यथा:—

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥९५॥

तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्तःपारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥९६॥

इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥९७

व्योमचारी विहङ्ग यन्त्र

इन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि "हल्की लकड़ी का एक यन्त्र बनाओ जो कि महापक्षी के आकार का हो। उसके पंख आदि अवयव उसके देह के साथ दृढ़ता से लगे हुए होने चाहियें। इसके पेट में रस-यन्त्र या पारा रखने के यन्त्र को स्थापित करो। इस रस-यन्त्र के नीचे एक अंगीठी सी रखो जिसमें कि आग जलती रहे। इसे व्योमचारिविहङ्ग यन्त्र (अर्थात् आकाश में चलने वाला पक्षियन्त्र) कहते हैं। पुरुष जब इस पर सवार हो जाता है तो इस यन्त्र के दोनों पंखों के चलने के कारण उत्पन्न हुई वायु द्वारा इस महापक्षी के अन्दर स्थित पारे की शक्ति से यह महापक्षी आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ आकाश में बहुत दूर तक चला जाता है[1] ॥९५,९६॥

(१) इस सम्बन्ध में देखो "हवाई नौका" नामक लेख वैदिक विज्ञान वर्ष १ अंक २,३ में। इस लेख में दर्शाया गया है कि वेदों में भी उड़ने वाले यन्त्र को "पतत्री" कहकर पक्षी का रूप दिया गया प्रतीत होता है।

आकाशगामी दारुमय विमानयन्त्र

इसी प्रकार लकड़ी का बना हुआ भारी विमान भी आकाश में उड़ाया जा सकता है। इसकी आकृति देव-मन्दिर के सदृश होनी चाहिये। इसमें विधिपूर्वक चार घड़े स्थापित करने चाहियें। ये बहुत दृढ़ होने चाहियें और इनमें पारा भरा रहना चाहिये ॥९७॥

इस प्रकार के नाना तन्त्रों तथा कलाओं का विचित्र वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। ग्रन्थकर्त्ता ने इन यन्त्रों तथा कलाओं की रचना की विधि पर प्रकाश नहीं डाला। ग्रन्थकर्त्ता की इस अपनी प्रवृत्ति का कारण ग्रन्थकर्त्ता ने इस ग्रन्थ में स्वयमेव निम्न लिखित दिया है। यथा:—

....

यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञताक्शात।

अध्याय ३१, श्लो० ७९ ॥

तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः।

....

अध्याय ३१, श्लो० ८० ॥

अर्थात् इन यन्त्रों की रचना का प्रकार इस ग्रन्थ में नहीं कहा गया। यह केवल इसलिये किया गया है ताकि यन्त्रों की रचना गुप्त रहे। मुझे रचना की विधियों का परिज्ञान नहीं-यह नहीं है। गोपन रखने का कारण यह है कि रचना की विधि विना गुरु से नियमपूर्वक सीखे आ नहीं सकती। ग्रन्थ में रचना की विधि का निर्देश कर देने पर प्रत्येक व्यक्ति, विना गुरु से सीखे, इन यन्त्रों के निर्माण का प्रयत्न करेगा, जो कि बहुत अंशों में निष्फल ही रहेगा। इसलिये रचना-विधि का वर्णन इस ग्रन्थ में करना या न करना, क्रियात्मक दृष्टि से, एक सा जानकर इस विधि का वर्णन इस ग्रन्थ में गुप्त रखा गया है।

साहित्य जगत्

यमपितृ-परिचय

लेखक श्री पं० प्रियरत्नजी आर्ष। पृष्ठ लगभग ४५० हैं। ८ पेजी फार्म में छापी गई है। कागज़ और छपाई उत्तम हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन "सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, देहली द्वारा हुआ है। मूल्य २) है, सजिल्द का मूल्य २।।) है।

वेदों में यम तथा पितरों का बहुत स्थानों में वर्णन आता है। वेदों के सूक्त के सूक्त यम तथा पितरों का वर्णन करते हैं। यम और पितरों के सम्बन्धी पौराणिक तथा आर्यजगत् में देर का झगड़ा है। योग्य लेखक ने "यम-पितृ-परिचय" नामक पुस्तक लिखकर यह निश्चित प्रमाणों से सिद्ध करने का यत्न किया है कि वेदों में यम और पितर कोई मृत पुरुष नहीं हैं। वास्तव में लेखक को अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता मिली है। इस पुस्तक में प्रायः उन सभी वैदिक स्थलों पर विचार किया गया है कि जिनका सम्बन्ध यम और पितरों से है। पुस्तक के अन्त में अकार आदि क्रम से उन मन्त्रों की सूची भी दे रखी है जिन मन्त्रों की व्याख्या इस पुस्तक में की गई है। प्रत्येक आर्यसमाजी सज्जन का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह इस पुस्तक को अपने स्वाध्याय का विषय बनाये। क्योंकि यह पुस्तक इस विषय के शास्त्रार्थ के लिये अतीव उपयोगी है।

सम्पादक

प्रथम भाग छप कर तैयार होगया।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्रबाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान न होते हुए भी इस कार्य को विना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफ़र करना पड़ा और एक-एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन-चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही रह गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर—

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, (जो देवेन्द्रबाबू के परम परिचितों में थे) ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी वर्षों परिश्रम और बहुतसा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हज़ारों छोटे छोटे पुर्जे, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग ८०० रायल अठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व तिरंगे चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हज़ार रुपया व्यय कूता गया है। इतना द्रव्य व्यय करने से एक पुस्तक पर लगभग ८) रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान ग्रन्थ आर्य-सभासद् तथा आर्यसमाजों के अतिरिक्त और कौन ले सकता है, आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और **प्रथम भाग छप कर तैयार भी होगया है।**

हज़ारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हज़ार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परम कर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेनी चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व व अमूल्य है, इसका बार-बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अतः आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाइरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रि० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।